ISSN : 2320-7604
RNI NO. : DELHIN/2008/27588
UGC Care Approved Research journal
October, 21, Part 1, Serial.No. 143

त्रैमासिक

बहुरि नहिं आवना

अंक-25
अक्तूबर, 2023 - दिसंबर, 2023
मूल्य : 200 रुपए

आजीवक महासंघ ट्रस्ट द्वारा निर्गत

संस्कृति, धर्म, दर्शन और साहित्य

अंक-25
त्रैमासिक
बहुरि नहिं आवना
अक्तूबर, 2023 - दिसंबर, 2023

वर्ष : 15
अंक : 25
अंक : अक्तूबर, 2023 - दिसंबर, 2023
संस्थाओं के लिए प्रति कापी : 100 रुपए
वार्षिक सदस्यता शुल्क : 3000 रुपए
आजीवन सदस्यता : 10000 रुपए

संपादकीय पता
जे-5, यमुना अपार्टमेंट,
होली चौक, देवली,
नई दिल्ली-110080
मोबाइल : 09868701556
Email: bahurinahiawana14@gmail.com
Website-www.bahurinahiawana.in

Advertisement Rate
Full Page Rs. 20,000/-
Half Page Rs. 10,000/-
Qtr. Page Rs. 5,000/-
Back Cover Rs. 40,000/- (four colour)
Inside Front Rs.35,000/- (four colour)
Inside Back Rs. 35,000/- (four colour)

Mechanical Data
Overall Size 27.5 cms x 21.5 cms
Full Pages Print Area 24 cms x 18 cms
Half Page 12 cms x 18 cms or
24 cms x 9 cms
Qtr Page12 cms x 9 cms

प्रधान संपादक
प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन'
संपादक
प्रो. दिनेश राम
सहायक संपादक
डा. अनिरुद्ध कुमार 'सुधांशु'
तान्या लाम्बा
भाषा सहयोग
डा. हेमंत कुमार 'हिमांशु'
डा. राजकुमार राजन
कानूनी सलाहकार
एड. सतपाल विर्दी
एड. संदीप दहिया

संपादकीय सलाहकार एवं विषय विशेषज्ञ
डा. वी. पी. सिंह, प्रो. राजेन्द्र बड़गूजर, बलवीर माधोपुरी, प्रो. फूलबदन, प्रो. नामदेव, प्रो. सुजीत कुमार, डा. चन्देश्वर, डा. दीनानाथ, डा. मोहन चावड़ा, विजय सौदायी, डा. यशवंत वीरोदय, डा. सुरेश कुमार, डा. मनोज दहिया

अप्रवासी समाज, संस्कृति और साहित्य के विशेषज्ञ
ओमप्रकाश वाघा, नरेन्द्र खेड़ा, राम बाबू गौतम, डा. गुलशन नजरोवना जुगुरोवा, डा. बयात रहमातोव, डा. सिराजुद्दीन नूरमातोव

* पत्रिका पूरी तरह अवैतनिक और अव्यावसायिक है।
* पत्रिका से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
* अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है।
* 'बहुरि नहिं आवना' के सारे भुगतान मनीआर्डर/चैक/बैंक ड्राफ्ट 'बहुरि नहिं आवना' के नाम से स्वीकृत किये जायेंगे।
* स्वामी, संपादक, प्रकाशक एवं मुद्रक प्रो. दिनेश राम की ओर से भारत ग्राफिक्स, सी-83, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, नई दिल्ली-20 द्वारा मुद्रित एवं एफ-345, लाडो सराय, नई दिल्ली–30 से प्रकाशित।
* 'बहुरि नहिं आवना' में प्रकाशित लेखों में आये विचार लेखकों के अपने हैं जिन से संपादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

अनुक्रम

संपादकीय	*—डा. ज्योति प्रसाद*	5
1. कुंवर नारायण : हिन्दी आलोचना के बहाने	*—प्रवीण कुमार*	7
2. पन्ना धाय का दलित पाठ : एक आत्मघाती चिंतन	*—सतनाम सिंह*	13
3. देवी दुर्गा एवं तारा के संदर्भ में ब्राम्हण और बौद्ध धर्म में शक्ति पूजा का तुलनात्मक विश्लेषण	*—डा. दिलीप कुमार कुशवाहा* *—किस्मत कुमारी*	19
4. धूमिल की कविता में यथार्थ	*—प्रीति तिवारी*	25
5. आजादी के अमृत महोत्सव में हिंदी की स्थिति	*—प्रो. रामपाल गंगवार* *—कु. सोनम पाण्डेय*	29
6. स्त्री विमर्श : 'कलिकथा : वाया बाइपास' एवं 'शेष' और 'कादम्बरी' के विशेष संदर्भ में	*—डा. शहनाज महेमुदशा सय्यद*	33
7. रामस्वरूप वर्मा का साहित्यिक शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण	*—आलोक यादव*	37
8. अभिशप्त शब्द थोपने के खिलाफ थे डा. आंबेडकर	*—प्रो. कन्हैया त्रिपाठी*	40
10. प्रेमचंदपूर्व उपन्यासों में स्त्री जीवन एवं चरित्रांकन	*—सरिता यादव*	44
11. हिन्दू-मुस्लिम संबंध तथा महात्मा गांधी के प्रयासों की विवेचना	*—डा. हरनाम सिंह, बिन्दु डनसेना*	47
12. चित्रा मुद्गल कृत 'आवां' में मजदूर संगठन का यथार्थबोध और संघर्ष	*—प्रखर*	51
13. इंटरनेट की दुनिया में हिन्दी	*—डा. कुलदीप कौर, सरबजीत कौर*	54
14. मनीषा कुलश्रेष्ठ : लेखन के विविध आयाम	*—सुनीता रानी*	57
15. 'पथ का चुनाव' लघुकथा संग्रह में अभिव्यक्त सामाजिक सरोकार	*—मोनिका मीणा, प्रो. चंद्रशेखर*	60
16. संत रविदास का सामाजिक-सांस्कृतिक प्रदेय	*—दीपांकर*	63
17. डा. रामकुमार वर्मा के ऐतिहासिक नाटक 'कौमुदी महोत्सव' का मूल्यांकन	*—प्रवेशिका पटेल*	66
18. आंचलिकता और यथार्थवाद का द्वंद्व : फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यास	*—डा. संगीता कुमारी*	69
19. भारतीय संस्कृति में नारी और भूमंडलीकरण	*—डा. प्रकाशवीर दहिया*	73
20. मृणाल पाण्डे की कहानियों में चित्रित नारी	*—अरविन्द द्विवेदी*	76
21. जम्मू-कश्मीर : समस्या समाधान में श्यामा प्रसाद मुखर्जी की भूमिका	*—डा. राजेश गर्ग* *—कुलदीप शर्मा*	80
22. टेलीविजन चैनलों पर प्रसारित खबरों का समाज पर प्रभाव	*—डा. रश्मि गौतम*	86
23. स्त्री स्वत्व के विशेष संदर्भ में 'अर्थान्तर' उपन्यास-एक अवलोकन	*—शमीना टी.* *—डा. शोभना कोक्काडन*	91
24. कबिरा तिनकी कौन गति ?	*—डा. नीतू गुप्ता*	95

25. भारतीय दर्शन की नास्तिक परम्परा में 'आत्मा' की अवधारणा	*–प्रो. विजय यादव*	99
26. 'दीक्षा' उपन्यास और स्त्री प्रश्न	*–कु. प्रियंका*	104
27. महिला सशक्तीकरण के वर्तमान युग में अधिकार एवं समाजिक जागरूकता	*–राहुल यादव* *–डा. वसुधा कुलश्रेष्ठ*	109
28. वाल्मीकि रामायण में वर्णित स्त्रियों में सैन्य दक्षता : एक अध्ययन	*–रूबी तब्बसुम*	113
29. दुर्गा प्रसाद पारकर कृत उपन्यास 'बहू हाथ के पानी' में छत्तीसगढ़ का लोक जीवन	*–शिवांगी पाठक* *–डा. श्रद्धा चंद्राकर*	115
30. चुनावी लोकतंत्र और भारतीय संस्कृति	*–अजय कुमार ओझा*	119
31. पश्चिमी गढ़वाल में जाग पूजन : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य	*–डा. सपना रावत*	123
32. भारत में उच्च शिक्षा की चुनौतियां : सम्भावनाएं एवं विकल्प	*–डा. सारिका श्रीवास्तव*	128
33. ग्रामीण एवं नगरीय समाज : समाजशास्त्रीय संकल्पना	*–जय प्रताप सिंह* *–डा. अतुल कुमार यादव*	132
34. हिन्दी एवं अंग्रेजी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों एवं छात्राओं का चैटबॉट के शैक्षिक उपयोग के प्रति जागरुकता के संदर्भ में तुलनात्मक अध्ययन	*–डी. पी. मिश्रा* *–कृष्ण कुमार जायसवाल*	136
35. गिरीश पंकज का व्यंग्य उपन्यास 'पॉलीवुड की अप्सरा' का चित्रण	*–श्रीमती निगिता रामटेके* *–डा. शंकर मुनि राय*	140
36. सूरदास की स्त्री चेतना	*–पूजा सरोज*	142
37. जम्मू-कश्मीर केंद्रित हिंदी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ	*–प्रियंका सरोज*	145
38. दलित आत्मकथाओं में अस्मितामूलक विमर्श	*–डा. अजय कुमार यादव*	149
39. शिवमूर्ति की कहानी 'कुच्ची का कानून' में टूटते सामाजिक-मूल्यों की पहचान	*–एमन कुमार*	153
40. हिंदी डायरी लेखन में प्रेमाभिव्यक्ति का स्वरूप	*–राम भवन यादव*	158
41. वर्तमान संदर्भों में दलित पहचान का संकट और समाज	*–डा. कुमार भास्कर*	161
42. भारतीय मीडिया में महिलाओं का प्रतिनिधित्व : एक अध्ययन	*–नीलेश साहू, डा. संतोष कुमार*	165
43. आधुनिक परिप्रेक्ष्य में कुपोषण का परिवर्तित स्वरूप (एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण)	*–सुश्री सीता पाण्डेय* *–कृष्ण कुमार विश्वकर्मा*	170
44. भारत में ऑनलाइन शिक्षा : एक दृष्टि	*–डा. रियंका सिंह* *–डा. आशीष कुमार*	176
45. भारत में शिक्षा अधिकार अधिनियम 2009 का क्रियान्वयन : एक दृष्टि	*–शुभम यादव* *–डा. आशीष कुमार*	182
46. प्लेटो की प्रारंभिक ज्ञान की अवधारणा : एक विमर्श	*–डा. विवेक सिंह*	186
47. निर्मल वर्मा कृत 'चीड़ों पर चाँदनी' में जीर्णोद्धार अभिव्यक्ति की पराकाष्ठा और संवेदनात्मक परिणति	*–प्रीति सिंह* *–रविरंजन कुमार*	190

48. हिंदी विज्ञान कथाओं की सामाजिक उपादेयता	*–डा. आशीष कुमार यादव*	194
49. शिक्षा, सेवा और राष्ट्र निर्माण-एक दार्शनिक विश्लेषण	*–डा. अनिल प्रकाश*	198
50. 'रासो' काव्य की भाषा में स्त्रीवाद	*–डा. धीरेन्द्र कुमार पाण्डेय* *–डा. गीता*	202
51. भारत की शैक्षिक नीतियों में वर्णित उच्च शिक्षा संबंधी प्रावधानों का विश्लेषणात्मक अध्ययन	*–धर्मेन्द्र कुमार* *–डा. सरिता शर्मा*	207
52. बिहार के मगही सांस्कृतिक प्रदेश में पर्यटन	*–डा. रत्नेश शुक्ल* *–डा. अनिल कुमार शर्मा*	214
53. उत्तराखण्ड में स्थायी स्वास्थ्य सेवा : बुनियादी सुविधा का वित्तपोषण	*–गरिमा पाण्डेय*	218
54. रामचरित मानस में वर्णित प्रसंगों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन	*–डा. गिरीश कुमार वत्स*	223
55. माध्यमिक स्तर के शिक्षकों का सतत व्यावसायिक कार्यक्रमों के प्रति दृष्टिकोण का अध्ययन	*–डा. सचिन कुमार* *–डा. दीपशिखा सक्सेना*	226
56. भारत के संदर्भ में महिला पत्रकारिता का विकास क्रम	*–डा. आलोक कुमार पाण्डेय*	230
57. कश्मीर केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में चित्रित निर्वासन की त्रासदी	*–सौम्या वर्मा*	234
58. सुख-मृत्यु : महात्मा गाँधी के विशेष संदर्भ में	*–डा. शीलत भारती*	238
59. कॉर्पोरेट जगत में महिलाओं की भागीदारी का विश्लेषण	*–डा. रेनू अग्रवाल*	244
60. महिला अधिकार : मुद्दा, चुनौतियाँ एवं संरक्षण	*–डा. अनिल कुमार शर्मा*	248
61. मीरा और महादेवी का तुलनात्मक अध्ययन	*–मनीषा ठाकुर*	253
62. उत्तर-छायावाद और गोपाल सिंह 'नेपाली'	*–डा. हेमंत कुमार हिमांशु*	257
62. भारत के सामाजिक विकास में चीनी उद्योग की भूमिका	*–डा. ज्ञान प्रकाश*	262
62. समग्र विकास में महिला शिक्षा एवं सशक्तीकरण का प्रभाव : एक विश्लेषण	*–डा. मनोज गुप्ता* *–डा. नन्दन सिंह*	265

संपादकीय

भारत के मुख्य न्यायधीश डी. वाई चंद्रचूड़ ने एक कार्यक्रम में बोलते हुए कहा कि काम का बोझ और वित्तीय चिंताएं वकीलों के मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाली मुख्य वजहें हैं। समझा जा सकता है कि भारत जैसे युवा देश में मानसिक स्वास्थ्य को बनाए रखना एक चुनौती से कम नहीं है। भारत सरकार मानसिक स्वास्थ्य जैसे विषय को लेकर कुछ गंभीर भी है। इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि टेली-मानस नाम की सरकारी मानसिक स्वास्थ्य हेल्पलाइन सेवा हफ्तों के सातों दिन और चौबीस घंटे दी जाती है। हेल्पलाइन नंबर 14416 है और यह सेवा सक्रिय भी है। इस नंबर पर दिन भर में लगभग हर राज्य और केंद्र शासित प्रदेशों से हजार से ज़्यादा फोन आ जाते हैं। इसमें चिंतित होने और राहत महसूस करने की दोनों बातें हैं। चिंतित इसलिए कि लोगों के आम जनजीवन में मानसिक बाधाएं बढ़ रही हैं और राहत की यह बात है कि लोग इसे लेकर जागरूक हैं।

10 अक्टूबर के दिन मानसिक स्वास्थ्य दिवस मनाया जाता है। कोरोना महामारी जैसी आपदा से गुजर चुकी इस पीढ़ी को न सिर्फ आजीविका चलाए जाने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है बल्कि स्वास्थ्य से जुड़े हर पहलू पर चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। इस महामारी के चलते ढेरों लोगों की जानें गईं। पीछे, जीवित बचे लोग अब जीवन में किसी तरह बने रहने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त मानसिक रोग और डिसऑर्डर्स भी मानसिक स्वास्थ्य के अंतर्गत आने वाली बिमारियों में शामिल हैं। भावनात्मक रूप से जीवन के आघातों से सामना होने पर कोई व्यक्ति मानसिक स्वास्थ्य को बनाए रखने से जूझता है तो कई बार इसके पीछे सामाजिक कारण भी हो सकते हैं। कहा जा सकता है कि व्यक्ति और उसके जीवन को छूने वाले तमाम तरह के आयाम मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित कर सकते हैं।

मानसिक स्वास्थ्य को समझना और उसके सूचकों की पहचान करना बहुत सरल नहीं होता। कई बार व्यक्ति का शारीरिक स्वास्थ्य ठीक होता है पर इसके बाद भी वह मानसिक स्वास्थ्य संबंधी कुछ दिक्कतों से गुजर रहा होता है। यह बात सभी जेंडर और उम्र के लोगों पर लागू होती है। कोई भी व्यक्ति सामाजिक, आर्थिक और पारिवारिक आदि स्थितियों में स्वयं को अस्थिर पा सकता है। इसके अतिरिक्त गरीबी, हिंसा, असमानता और भौतिक परिवेश में व्याप्त अस्थिरताएं व्यक्ति के मन-मानस पर असर डाल सकती हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन की वेबसाइट पर मिलने वाली जानकारी मानसिक स्वास्थ्य के बारे में कुछ हद तक बताती है।

एक जानकारी के अनुसार, मानसिक स्वास्थ्य एक ऐसी स्थिति है जब लोग जीवन में आने वाले दबावों, तनावों का सामना करते हैं। इस प्रक्रिया में वे अपनी क्षमताओं की पहचान करते हैं, ठीक प्रकार से सीखना और अपनी गतिविधियों को करना तथा अपने समुदायों में अपनी सक्रिय गतिविधियों द्वारा योगदान देना, सम्मिलित किया जाता है। हालाँकि, वेबसाइट इसके साथ ही अन्य बातों की ओर भी संकेत करती है। आधुनिक समय में जीवन में डर, असुरक्षा और तनावों

ने अब इतनी जगह घेर ली है कि व्यक्ति का आत्म बिखर रहा है। यह बिखराव व्यक्ति के भीतर घटित हो रहा है। इसे ऐसे ही नहीं रहने दिया जा सकता। व्यक्ति को व्यक्ति के साथ प्रेम और गरिमा के साथ खड़े होना ही होगा।

प्रसिद्ध वियतनामी शांति प्रचारक और बुद्धिस्ट मंक, तिक-नात-हान इस हीलिंग के लिए चार बुद्धिस्ट मंत्रों को सुझाते हैं। वे ओप्रा विन्फ्रे के टॉक शो में इनकी चर्चा विस्तार से करते हुए कहते हैं कि मंत्रों को ध्यानपूर्वक शारीरिक और मानसिक, दोनों स्तरों पर करना चाहिए। अगर मन कहीं भाग रहा है और शरीर की दशा अलग है तो मंत्रों को कहने से क्या होगा! जिन्हें हम प्रेम करते हैं उनका मुश्किल समय में साथ देना और अपने मुश्किल समय में साथ मांगने तक ये चार मंत्र जाते हैं। ये मंत्र ऐसे नहीं हैं कि एक जादू प्रकट होगा और सब बदल जायेगा। ये मंत्र दो लोगों के बीच संवाद की स्थापना करते हैं।

पहला मंत्र है, ''प्रिय, मैं तुम्हारे लिए उपस्थित हूँ।'' हम किसी को सबसे अमूल्य उपहार जो दे सकते हैं वह अपना साथ और अपनी उपस्थिति है। मुश्किल समय में यदि कोई निरंतर किसी लाभ की आशा के बिना, निःस्वार्थ भाव से हमारे साथ बना रहता है तो जीवन में एक उम्मीद तो बंध ही जाती है।

दूसरे मंत्र के बारे में हान बताते हैं, ''प्रिय, मुझे पता है तुम हो और मैं इस बात के लिए खुश हूँ।'' इस मंत्र में हम अपने प्रिय लोगों के वर्तमान में उपस्थित होने को स्वीकार करते हैं। उनकी अतीत और भविष्य की भूमिकाओं को छोड़कर उनके वर्तमान में उनको पूरी तरह से अस्तित्वमान मानना उन्हें खास महसूस करवाता है। इन दोनों मंत्रों में अपनी और अपने प्रिय की उपस्थिति को वर्तमान में स्वीकार कर साथ बने रहना मुख्य बातें हैं।

तीसरे मंत्र में हान कहते हैं, ''प्रिय, मुझे पता है कि तुम दुःख से गुजर रहे हो इसलिए मैं तुम्हारे साथ हूँ।'' हम जब दुःखी होते हैं और उस समय जिन्हें हम प्रेम करते हैं, यदि छोड़ कर चले जाएं तो जाहिर है दुःख और बड़ा और गहरा हो सकता है। इसलिए किसी के दुःख को जानना और उसे अपना साथ देना, कठिन से कठिन समय को जीने लायक बना देता है।

चौथा मंत्र मुश्किल है। हम भीतर ही भीतर घुटकर जीना पसंद करते हैं पर अक्सर सहायता मांगने में झिझकते हैं। जिसे हम प्रेम करते हैं, अगर वही हमारे दुःख की वजह हो तो दुःख और गहरा हो जाता है। हान चौथे मंत्र के बारे में कहते हैं, ''प्रिय, मैं दुःख से गुजर रहा हूँ, मेरी मदद करो।'' हम कभी-कभी अहंभाव से इतने भर जाते हैं कि किसी भी व्यक्ति के आगे कमजोर नहीं दिखना चाहते। हम मजबूत दिखने की भरसक कोशिशों में लगे रहते हैं। हान इसलिए इस चौथे मंत्र को मुश्किल कहते हैं पर उनके मुताबिक यह बिल्कुल सरल है।

इन चार बुद्धिस्ट मंत्रों की विशेषता यह है कि ये मानवीय संबंधों और वर्तमान की स्थितियों में प्रेम, साथ और गरिमापूर्ण संवाद की बात करते हैं। मानसिक अस्वास्थ्य के कारणों में हमारे और अन्य व्यक्ति के व्यवहार में थोड़ा बहुत भी परिवर्तन कर लिया जाए तो बहुत से तनाव हल हो सकते हैं। संवाद की कमी संबंधों को अप्रत्याशित क्षति पहुंचा सकती है। संवाद किसी भी तरह बना रहे इसके प्रयास होते ही रहने चाहिए।

डा. ज्योति प्रसाद

कुँवर नारायण : हिन्दी आलोचना के बहाने

—प्रवीण कुमार

आलोचना कवि और कविता में कुछ ऐसे एहसास ढूंढ़ निकालती है जिसे कई बार पाठक अपनी तमाम सजगता के बावजूद महसूस नहीं कर पाता या उससे वह छूट-सा जाता है। वैसे, एक कवि के रूप में कुँवर नारायण का स्वागत जितने खुले दिल से हिंदी आलोचना ने किया है, निराला के बाद शायद ही कोई कवि है जिसको ऐसा सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा। इसकी एक वजह शायद यह है कि कुँवर नारायण विवादास्पद कवि नहीं हैं। रचनाकार के विवादास्पद होने के कई कारण होते हैं—मसलन, रचना के शिल्प अथवा अंतर्वस्तु के प्रति अपनाई जाने वाली किसी एक विशेष प्रविधि को लेकर रचनाकार की अत्यधिक सजगता और शेष के प्रति असजगता। विवाद के कारण तो और भी कई गिनाये जा सकते हैं पर कुँवर नारायण की कविता 'विवाद की कविता' नहीं बल्कि सभ्यता में उठने वाले विवादों, आग्रहों और दृष्टियों के टकराहटों पर एक ऐसे सूक्ष्म नजरिए की कविता है जिससे असहमत होने की ज्यादा गुंजाइश न तो पाठक के पास है और न आलोचक के पास। सबको सहमत ही होना है, भले कोई कवि से झगड़ते हुए हों, पर अंततः सहमत ही होना है। यही कुँवर नारायण की सबसे बड़ी ताकत है, उनकी कविता 'अमीर खुसरो' कविता के शब्दों में कहें तो 'एक कवि के खयालात की तरह आजाद, एक पद्मिनी के सौंदर्य की तरह स्वाभिमानी, एक देवलरानी के प्यार की तरह मासूम, एक गोपालनायक के संगीत की तरह उदात्त और एक निजामुद्दीन औलिया की तरह पाक' कविता है।[1]

कुँवर नारायण की कविता का मूल्यांकन 1956 से ही हो रहा है। अर्थात, 'चक्रव्यूह' से लेकर 'वाजश्रवा के बहाने' (2008) तक और यह मूल्यांकन अभी भी जारी है। इस मूल्यांकन में न केवल आलोचक शामिल हैं बल्कि कवि, उपन्यासकार, संस्कृतिकर्मी और देशी-विदेशी विचारक तक शामिल हैं। उनका मूल्यांकन मुक्तिबोध से लेकर मंगलेश डबराल तक, नंददुलारे वाजपेयी से लेकर सुधीश पचौरी तक, बाल कृष्णराव से लेकर मरियोला ओफ्रेदी और अंग्रेजी भाषा और साहित्य के आलोचक हरीश त्रिवेदी तक, दुष्यंत कुमार से लेकर अशोक वाजपेयी तक ने किया है। इस तरह कुँवर नारायण का न केवल रचना-कर्म ही छह दशकों तक फैला हुआ है बल्कि उन पर की गई आलोचना भी छह दशकों में फैली हुई है।

हिंदी कविता के इतिहास में कुँवर की कविता किसी विस्फोट या बिजली की कौंध की तरह नहीं जन्मी बल्कि वह

धीरे-धीरे भावनाओं और विचारों की बढ़ियाई नदी की तरह आधुनिक भाव-बोधों का एक बड़ा हिस्सा घेर कर अमिट जगह बना गयी जैसा कि नए कवियों के साथ होता है। कुँवर नारायण की भी आरंभिक कविताओं को लेकर आलोचकों में काफी मतभेद रहा, एकाध आलोचकों ने 'चक्रव्यूह' के बारे में ''दुरूह और जटिल मनः स्थितियों का संग्रह'' कहते हुए कुँवर के सौन्दर्यबोध को ''भटका हुआ सौन्दर्यबोध'' माना। लेकिन जैसा कि पहले ही कहा गया, कुँवर की कविता धीरे-धीरे विराट भावबोध से लैस होती हुई हिंदी क्षेत्र में स्थायी रूप से पसर गयी। 'चक्रव्यूह' की सत्तर कविताओं को पढ़ते हुए जगद्दीश गुप्त ने टिप्पणी की, ''सारी कविताओं को पढ़कर ऐसा नहीं लगता कि जीवन के प्रति कवि की उदासीनता अथवा क्रूरता का भाव है। लगता ऐसा ही है कि जैसे गहरे में पैठकर उसने जीवन के कण-कण और क्षण-क्षण को जीने का यत्न किया है और तमाम उलझनों और विषमताओं के बावजूद वह उसे प्यार भी करता है।''[2] इस तरह कुँवर का पहला कविता संग्रह जीवन से पलायन की कविता न होकर जीवन-संग्राम और चक्रव्यूह में गहरे धंसकर जीवन जीने की प्रेरणा देने वाली कविता घोषित हुई। नेमिचंद जैन ने कवि की कुछ निजी सीमाओं के बावजूद यह माना कि ''चक्रव्यूह के कवि को जीवन के सतही सत्यों से मोह न होकर स्पष्ट ही गहराइयों की खोज है, और इसलिए इन कविताओं में एक प्रकार की गंभीरता और भारीपन है; साधारणतः प्रथम संग्रह में पाई जाने वाली यौवन के प्रथम ज्वार की भावुकता नहीं।''[3]

1961 में 'परिवेश-हम तुम' से कुँवर की कविता के क्षेत्र में स्वीकृति और भी बढ़ी और मुक्तिबोध को कहना पड़ा कि ''मुझे, व्यक्तिशः, इस बात की बहुत ख़ुशी है कि लेखक 'लाखों दिलों' से चौकन्ना है।''[4] साथ-साथ यह भी कह दिया, ''संक्षेप में, हमें कवि के अंतर्लोक में गहरी दिलचस्पी है। उससे हमारी ही आत्मा के गहरे सम्बन्ध-सूत्र जुड़े हुए हैं। कवि कुँवर नारायण, अपने अकेलेपन में भी, अकेला नहीं।''[5] दुष्यंत कुमार उस दौर के ताजे मगर स्थापित गजलकार थे, उन्होंने लिखा, '' 'एक मूड', 'कार्निस पर', 'सवेरे-सवेरे' आदि कविताएँ प्रकृति के 'पर्सोनिफिकेशन' के ऐसे ताजे, सहज और घरेलू चित्र हैं, जिनका निर्माण कुँवर नारायण जैसे संवेदनशील कवि के लिए ही संभव है।''[6] इस तरह हम देख सकते हैं कि कुँवर नारायण हिंदी आलोचना में एक कवि के रूप में गंभीरता के साथ बहुत जल्दी ही 'नोटिस' किये जाने लगे। देवीशंकर अवस्थी ने लिखा, ''इस संग्रह को पढ़ जाने के बाद पहला प्रभाव मन पर यही पड़ता है कि चक्रव्यूह की बेहद तनावपूर्ण स्थिति को कवि पार कर चुका है, 'भटके हुए सौन्दर्यबोध' का ज्वार उतर चुका है और कवि अधिक सहज रूप धार कर प्यार, प्रकृति और परिवेश को देख रहा है।''[7] इसके बाद आने वाले वर्षों में उनका काव्य-संग्रह हिंदी जगत में एक अनिवार्यता के साथ पढ़ा जाने लगा। जैसे-जैसे उनकी कविताओं में विचार और संवेदना के मार्मिक और सूक्ष्म प्रसंग कथा, मिथक, इतिहास, पुराण, आधुनिकता और समकालीन संक्रमण को समेटते हुए आते चले गए उनके ऊपर काव्य-आलोचना भी उसी अनुपात में लिखी गयी। इस बात को साफ-साफ समझने के लिए कुँवर की ही एक कविता का उदहारण ले सकते हैं, जिसका शीर्षक है, 'इतना कुछ था दुनिया में।' ''इतना कुछ था इस दुनिया में, लड़ने झगड़ने को, मारने मरने को, पर ऐसा मन मिला, कि जरा-से प्यार में डूबा रहा, और जीवन बीतता रहा।''[8] कविता की लय को पकड़ते हुए उस संवेदना-तंत्र के 'जरा-से' प्यार में डूबे हुए 88 वर्षीय कुँवर का लेखन आज भी जारी है, उनके यहाँ 'बीतता हुआ' कुछ और नहीं बल्कि वह रचनात्मक अनुभूति है जो हिंदी आलोचना को कसौटी के नए मानदंड तैयार करने के लिए बाध्य करती रही है। 'बाध्य' इसलिए कि कुँवर ने अपनी रचनात्मकता के आरंभिक दौर में ही लगभग यह साबित कर दिया था कि उनकी कविता का 'डिक्शन' अलग है और उस तक पहुंचने के लिए आलोचना को नए मानदंड अपनाने होंगे। यही कारण है कि जब 'आत्मजयी'(1965) का प्रकाशन हुआ तब हिंदी आलोचना (प्रभाकर श्रोत्रिय) को कहना पड़ा, ''कुँवर नारायण के सृजन-परिप्रेक्ष्य में 'आत्मजयी' लगता है, एक 'कृति' नहीं, 'मुद्दा' है, जो रचनाकार के भीतर दृढ़ से दृढ़तर होता रहा है। इसलिए महज संयोग नहीं है कि कुँवर अपनी सबसे व्यस्क कृति के लिए, दूसरे कवियों की तरह पौराणिक अथवा मिथकीय स्रोत का चयन न करते हुए औपनिषदिक प्रसंग चुनते हैं और वह भी उनके लिए अलगनी नहीं है, वरन धुरी है, जिसमें दो युगों की प्रश्न-विकल-बल्कि प्रश्नाहत-आत्माएं लगभग एक ही अर्थ में, एक ही इरादे से जुड़ी हैं। आत्म-मुक्ति और मानव-मुक्ति के लिए बेचैन 'नचिकेता' आरम्भ से ही कुँवर के कृतित्व में मौजूद है।''[9]

इस तरह कुँवर हिंदी में केवल कविता और अनुभूति ही लेकर नहीं आये थे, विचार-तत्व, मुद्दे और मनुष्य-जीवन की चरम 'उपस्थिति' को सही जगह विन्यस्त करने के लक्ष्य के साथ आये थे। चरम उपस्थति मतलब जीवन के वास्तविक लक्ष्य को पा लेना अर्थात, मुक्ति सबके साथ मुक्त होने में है, यह कुँवर का अपना समाज-दर्शन है जिसे

भारतीय परंपरा से ही निचोड़ कर कवि पुनःसृजित करता है। इसलिए कहा गया कि उनकी कविता आलोचना के मानदंड बदलने की मांग करती है और ऐसा करते हुए आलोचना भी संवृद्ध हुई। इटली के वेनिस विश्वविद्यालय की प्रोफेसर मरियोला ओफ्रेदी ने एक लेख लिखा 'मैन एंड सोसाइटी इन कंटेम्परैरी हिंदी पोएट्री', उसमें कुँवर नारायण के 'आत्मजयी' से लेकर 'आमने-सामने' (1979) तक की कविताओं की विवेचना है, उन्होंने एक ओर यह लिखा कि ''मुखर राजनीतिक प्रतिबद्धता, या व्यक्तिवादी विद्रोह आत्मजयी में अनुपस्थित है; अगर कोई अन्तर्निहित प्रतिबद्धता है तो मनुष्य-मात्र के प्रति है।''[10] वहीं उन्होंने दूसरी ओर 'आमने-सामने' के लिए लिखा, ''कवि द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण अब तक स्पष्ट हो चुका है। तो भी, यह वह विचारधारा है जो मनुष्य को बाकी सब से, सभी राष्ट्रों से ऊपर स्थापित करती है। वह खुद को अछूतों के साथ हो रहे भेदभाव तक सीमित नहीं रखता बल्कि अश्वेत लोगों ('काले लोग' कविता के सन्दर्भ में-आमने सामने संग्रह) के विरुद्ध श्वेत लोगों के नस्लवाद को भी निशाना बनाता है।''[11] इस तरह कुँवर बड़े सांचे (फ्रेम) के कवि हैं। मार्क्सवादी व गैर मार्क्सवादी सभी तरह के आलोचकों ने उन पर लिखा। विष्णु खरे ने तब लिखा था, ''हिंदी कविता में बौद्धिक तथा सामाजिक अनास्था के कई रूप हैं, जिनमें से एक अकविता का, दूसरा श्रीकांत वर्मा, कैलाश वाजपेयी की कविता का, तीसरा आत्मदया से भरे लघुमानववाद का तथा चौथा जुझारू वामपंथ का है। इन चार तरह की कविताओं के अतिवाद से अपने को बचाए रखना और तब भी अपनी कविता सुरक्षित रख पाना कुँवर नारायण सरीखे विरले सजग, समर्थ तथा सच्चे कवि के ही बूते की बात थी। कुँवर नारायण इस बात में विशिष्ट हैं कि उनके संशय, दुविधा और हिचक में कोई मुद्रा नहीं है। उनकी कविता एक दुखद रूप से जागरूक व्यक्ति की कविता है जो छह कर भी स्वयं को धोखा नहीं दे सकता है।''[12] उनकी कविता की विवेचना किसी खास ढर्रे से संभव नहीं, उन्हें देखने की कई दृष्टियाँ हैं क्योंकि उनकी कविता का स्पंदन-क्षेत्र एक वृहद् विश्व-दृष्टि से निर्मित है और निश्चित रूप से उसके निर्माण में भारतीय चिंतन परंपरा एवं दर्शन की भूमिका अग्रणी है। इसलिए कवि बार-बार दार्शनिक की तरह कहता है, ''आज नहीं, अपने वर्षों बाद शायद पा सकूँ, एक विशेष संवेदना जिसमें उचित हूँ।''[13] इसी 'विशेष संवेदना' में 'उचित' होने की मशक्कत में 'आमने-सामने' के बाद आयीं 'कोई दूसरा नहीं'(1993) 'इन दिनों' (2002) 'वाजश्रवा के बहाने' (2008) संग्रह की कविताओं ने हिंदी की काव्य-चेतना के फलक और भी विस्तृत कर दिया।

किसी ने एक भेंट-वार्ता में कुँवर नारायण से पूछा कि कविता में चिंतन और वैचारिक आग्रह की क्या भूमिका होनी चाहिए तो कुँवर का जवाब था, ''लगभग वही भूमिका जो उनकी हमारे जीवन में होनी चाहिए, यानी जीवन के प्रति बेहतर समझ, संवेदनशीलता और न्यायबोध।''[14] इस तरह जीवन और विचार की अद्वितीय समझ का आग्रह ही कुँवर नारायण की कविता का मूल्य है। वैसे, कुँवर नारायण का देशकाल कई वैचारिक आंदोलनों का काल रहा है और यह भी सच है कि घोषित रूप से कुँवर राजनीतिक प्रतिबद्धता के कवि नहीं हैं। पर उनकी पूरी रचनाभूमि पर गौर करें तो उसका काफी बड़ा हिस्सा सामाजिक और राजनीतिक वास्तविकताओं को प्रतिबिंबित करता है—वह चाहे आपातकाल का दौर हो, विवादित ढांचा गिराने का दौर हो या गोधरा-गुजरात का समय हो, उनकी कविता चुप नहीं रहती। 'कोई दूसरा नहीं', 'इन दिनों', 'वाजश्रवा के बहाने' संकलन की कविताएँ इस रूप से विशेष उल्लेखनीय हैं। 'काँधे धरी यह पालकी, है किस कन्हैयालाल की' कविता को 'कोई दूसरा नहीं' संग्रह का प्रतिनिधि भाव कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें साधारण-जनता का भाव काफी ताकतवर भाव से प्रकट हुआ है। अशोक वाजपेयी ने इस संग्रह की कविताओं पर लिखा, ''एक निरंतर क्रूर हिंस्र होते समाज में यह हाशिए पर से दुनिया को भरी नजर से देखने की कोशिश करती कविता है। आज जिन सरोकारों का बोलबाला है, उसमें राजनीति का वर्चस्व है, सामाजिक बोध की तूती बोली जा रही है। इन सरोकारों में नैतिक चेतना की जगह कहाँ? बीसवीं सदी राजनीति की सदी है, नीति की नहीं। कुँवर नारायण को राजनीति से गुरेज नहीं, पर वे राजनीतिक सच्चाई के नैतिक आशय को विन्यस्त करने की चेष्टा करते हैं।''[15] इसी संग्रह में एक कविता है, 'सम्मेदीन की लड़ाई' जिसमें कवि लिखता है, ''खबर है, कि भ्रष्टाचार के विरुद्ध, बिलकुल अकेला लड़ रहा है एक युद्ध, कुराहा गाँव का खब्ती सम्मेदीन...एक छोटे से चक्रव्यूह में घिरा है वह, और एक महाभारत में प्रतिक्षण, लहूलुहान हो रहा है सम्मेदीन।''[16] इन पंक्तियों के मार्फत हम देख सकते हैं कि संघर्ष को कवि केवल मिथकीय रूप में या महा-आख्यान या विराट दर्शन के रूप में ही देखने का आदि नहीं है। वह बेहद मामूली लगने वाली चीजों को वह महाआख्यान की तरह उठता है। औसत का संघर्ष भी महाभारत है जिसका 'नोटिस' लेना आजकल मीडिया ने भी छोड़ दिया है। कवि स्वयं भी स्वीकार करते हैं, '' 'कोई

दूसरा नहीं' में भाषा को लेकर मैं अत्यधिक सावधान रहते हुए भी बहुत सहज और सामान्य रहा हूँ।.... समाज और व्यक्ति को एक-दूसरे का पूरक माना है, द्वैतमूलक या वैकल्पिक नहीं...।''[17] हरीश त्रिवेदी को इस संग्रह की 'भूल चूक लेनी देनी' कविता इसलिए पसंद है, ''जिसमें उन्होंने (कवि ने) व्यापार के घिसे-पिटे चौकस मुहावरे में उदात्त मानवीय मूल्यों की साँस फूंकी है–विश्वास बनाये रखना, कभी बंद नहीं होंगे दुनिया में, ईमान के खाते।''[18] यह कवि आलोचकों की निगाह में मिथक, पुराण और दर्शन का ही कवि नहीं बल्कि आम आदमी के संघर्ष और उसकी जीवटता में भरोसा रखने वाला कवि है, क्योंकि यह कविता जहाँ खत्म होती है 'यह लड़ाई लड़ रहा है, किसी गाँव का कोई खब्ती सम्मेदीन' वह आम आदमी की जीवन-शक्ति में भरोसे की कविता सिद्ध होती है। संभवतः इसी आशय से प्रयाग शुक्ल ने लिखा है, ''इस संग्रह की कविताओं के स्वाभाव में कोई हड़बड़ी या जल्दबाजी नहीं है। उसमें बेचैनी है। एक तीव्र खोजी वृत्ति भी और अनुभवों के उत्ताल तरंगों का सामना करने की इच्छा और कर्म शक्ति भी भरपूर मात्रा में है पर एक गहरा धीरज भी है।... निजी और सामाजिक-राजनीतिक प्रश्नों को मुद्दों और मुकदमों के रूप में पेश करती हुई 'कोई दूसरा नहीं' की बहुतेरी कविताएँ विट और ह्यूमर का भी विलक्षण इस्तेमाल करती हैं तथा और भी सनक गयी, और जटिल हो गयी दुनिया की सनकी हुई चीजों पर मर्मभरी टिप्पणी करती हैं।''[19]

'इन दिनों' (2002) कविता संग्रह जब आया तो ऐसा लगा कि हमारी समकालीन रचनाशीलता कविता में सर्वोत्तम उपलब्धि है। भूमंडलीकरण के बाद भारत जिस हिसाब से बदला है उसमें जीवन एक तरह से बाजार की जरूरत भर बनकर रह गया है। कवि इस 'बाजार' में खुद को बहुत अकेला पाता है मगर 'और एक खुशी, कुछ-कुछ सुकरात की तरह कि इतनी ढेर-सी चीजें, जिनकी मुझे कोई जरूरत नहीं।''[20] लोलुपता जीवन की नैतिक धुरी को ही ध्वस्त करती है, यह वास्तविक प्रश्नों और चिंताओं पर फरेब की परत चढ़ाती है। कवि के पास वही दृष्टि है जो मध्यकाल के आधुनिक कवि कबीर के पास थी 'कबीर माया पापिणी, भर भर मारे बाण', कबीर के यहाँ जो माया है वही आधुनिक भारत का भूमंडलीकरण है। परंपरा का चिंतन कवि इक्कीसवीं सदी में खींच लाता है। बाजार से भय है और यह वैसा ही है जैसे हिंसा का, दुर्घटना का या असुरक्षा का भय होता है। यह धीरे-धीरे जीवन के सामान्य परिवेश में विकसित हुआ है। इसी संग्रह की एक कविता है–'वे भीड़ नहीं, हम हैं जिसमें कवि देख लेता है, ''लगता है कोई भीषण दुर्व्यवस्था, हमारी रक्षा कर रही...।''[21] यह केवल भाषा का श्लेष नहीं बल्कि जीवन-स्थितियों का भी अद्वैत है–जो खतरनाक है। कुँवर नारायण मुक्तिबोध की तरह भले ही 'भयानक खबरों के कवि' नहीं हैं पर उनकी कविता में भयावह स्थितियाँ कम नहीं और ना ही उस भयावहता में आम आदमी के भीतरी भरोसे में कोई कमी आयी है। पंकज चतुर्वेदी ने लिखा, '' 'कोई दूसरा नहीं' में तो वे (कवि) अपनी काव्य-चिंताओं को इतना विस्तृत कर लेते हैं कि दुनिया में किसी को भी अपने लिए 'दूसरा' या 'पराया' महसूस नहीं कर पाते। तब उन्हें इस सत्य का अभिज्ञान होता है कि जिस समाज में कोई व्यक्ति 'मामूली' नहीं होगा, वहीं उदात्त मानवीय मूल्य की कोई संस्कृति विकसित हो सकेगी। इसे इस तरह से फिलहाल, उस काव्य-यात्र का शीर्ष बिंदु भी कहा जा सकता है।''[22]

2008 में कुँवर नारायण की एक और प्रबंधात्मक कृति 'वाजश्रवा के बहाने' आई जिसे 'आत्मजयी' (खंड काव्य-1965) की ही आत्मा का विस्तार माना गया। यह दो खण्डों में विभाजित है, 'नचिकेता की वापसी' और 'वाजश्रवा के बहाने'। इस संग्रह पर बात करने से पहले मंगलेश डबराल की कुछ पंक्तियों को उद्धृत करना जरूरी होगा जो कवि कुँवर नारायण के समूचे रचनाकर्म पर एक टिप्पणी की तरह है। ''उत्तर-आधुनिकतावादी चिंतन में वैयक्तिक को ही राजनैतिक मानने की धारणा खासी प्रचलित रही है। पर्सनल इज पोलिटिकल। लेकिन कुँवर नारायण की कविता के सन्दर्भ में इसे कुछ बदल कर इस तरह कहना चाहिए कि 'नैतिक ही राजनैतिक' है यानी एथिकल इज पोलिटिकल। वैयक्तिकता की राजनैतिकता कभी-कभी अ-राजनैतिक भी हो सकती है और देरिदा जैसे बड़े अपवादों को छोड़ कर उत्तर-आधुनिकों में ही इसके कई उदहारण मिल जायेंगे, लेकिन नैतिकता हमेशा राजनैतिक (भी) होती है और कई तरह से घायल और लहूलुहान किये जा रहे समकालीन भारत के सन्दर्भ में तो यह और भी सच है और एक सारभौमिकता लिए हुए है यानी यह एक 'वैयक्तिक-नैतिक-राजनैतिक-सारभौमिक' अवस्थिति है जिसमें कुँवर नारायण की ऐसी कविताएँ भी शुमार की जा सकती हैं, जो प्रत्यक्ष सामाजिक-राजनैतिक की बजाय किसी बहुत आंतरिक अनुभव को व्यक्त करती हैं।''[23] मंगलेश डबराल के इस कथन को हम इस तरह से समझ सकते हैं कि कुँवर नारायण के यहाँ जो निजता है, एक व्यक्ति का 'व्यक्तितत्व' है उसमें सबको छोड़छाड कर केवल अपने दुःख की बात, मुक्ति या कल्याण की प्राथमिकता नहीं, बल्कि सबके लिए कल्याण का 'तत्व' है। राजनीति

हो या समाज दोनों में समूह से कल्याण पर ही किसी व्यक्ति का कल्याण टिका हुआ है। मंगलेश डबराल जो कह रहे हैं, वह कुछ और नहीं कुँवर की काव्य-प्रकृति का खाका खींच रहे हैं, 'अबकी लौटा तो, मनुष्यत्तर लौटूंगा.., अबकी लौटा तो, हताहत नहीं, सबके हिताहित को सोचता, पूर्णतर लौटूंगा।'' इस तरह सम्पूर्णता का सच सामूहिकता में है। ध्यान रहे कि इस तरह की काव्य-पंक्तियाँ मिथकीय पात्रों के संबोधन के रूप में है। 'नचिकेता की वापसी' और 'वाजश्रवा के बहाने' में यही बोध बार-बार घुमड़ता रहता है। समकालीन कविता के बहुतेरे कवियों में यह एक अनिवार्यता की तरह है, उनकी यह प्रतिबद्धता समकालीन कविता का अनिवार्य गुण है, परन्तु कुँवर नारायण अपनी मिथकीय-चेतना का प्रयोग जिस गंभीरता से करते हैं। संभवतः हिंदी कविता में उनकी बराबरी का कोई नहीं। क्योंकि कुँवर की एक बड़ी पहचान उनकी 'मिथकीय-चेतना' से बनी है। 'आत्मजयी' से लेकर 'वाजश्रवा के बहाने' तक उनकी कविता में जीवन, मृत्यु और सार्थकता के प्रश्न जलवायु की तरह स्थिर हैं, कविता का मौसम भले बदलता रहे पर जलवायु अडिग है—बोध के स्तर पर बल्कि सजग स्थिरता का भाव है, ''ये पंक्तियाँ मेरे निकट आईं नहीं, मैं ही गया उनके निकट, उनको मनाने... ।''[24] उनके मिथकीय प्रयोगों के सन्दर्भ में पूछे गए एक सवाल का जवाब देते हुए कुँवर नारायण ने कहा, ''यह सोचना ठीक नहीं कि 'मिथक' पुराने जमाने के किस्से-कहानी भर हैं। उनके आदि रूपों में और आज के रूपों में दिलचस्प समानता है। इस समानता की जड़ें मनुष्य के उन बुनियादी भयों, आशाओं, निराशाओं, आकांक्षाओं, इच्छाओं आदि में है जो आज भी ज्यादा नहीं बदले हैं। मनुष्य केवल यथार्थ-जीवी नहीं स्वप्न-द्रष्टा भी है। जीवित रहने के लिए उसे ऐसे सपनों और आदर्शों का बल भी चाहिए जो उसे एक उद्देश्य दे और निराशा से उसे बचाए।''[25] इस तरह उनके यहाँ मिथक इतिहास-पुराण या दर्शन-चिंतन का केवल मामला न होकर विगत, वर्तमान और आगत के बीच पसरा एक स्थायी लोक है जिससे गुजर कर ही मायने मिलते हैं। वे इसके सहारे सत्ता और सम्पदा की लोलुपता पर प्रश्न खड़े करते हैं, मृत्यु-बोध के सहारे आज मनुष्य के जीवन को झकझोरते हैं, करुणा और वास्तविक अनुभूति का उद्रेक करते हैं। झूठ, चमत्कार, प्रदर्शन, बाजार, पूंजी और दंभ से भरे आज के मानव-जीवन को मिथकीय अनुभूति में गलाकर अर्थ भरना कुँवर की कविताओं का अपना धर्म रहा है। नचिकेता और वाजश्रवा युग्म नहीं दो पहिये हैं जीवन के; चक्रव्यूह और अभिमन्यु वास्तविक अनुभूति के प्रतिबिम्ब हैं। एक पिता के कर्मकांड और विश्वजीत होने के सपने से असहमत है, आत्म-मुक्ति और मानव-मुक्ति के लिए बेचैन है तो दूसरा महाभारत के चक्रव्यूह में फंसा चीख-चीख कर कह रहा है कि उसके जन्म से भी पहले यह युद्ध उसके लिए नियत कर दी गयी थी। मानवीय विवेक-चेतना के दोनों प्रतिनिधि हैं, नचिकेता भी और अभिमन्यु भी। वाजश्रवा और चक्रव्यूह उनके प्रतिपक्ष हैं। यहाँ दो अलग-अलग कथाएं हैं, एक कठोउपनिषद् से है तो दूसरी महाभारत से, मगर दोनों कथाओं का प्रयोजन एक जैसा लगता है—अंततः मिलना क्या है? यही मूल प्रश्न है।

वस्तुतः एक कवि को उसकी समग्रता में ही समझा जा सकता है। कवि की चेतना एक रेखीय नहीं होती, उस चेतना में इतिहास, पुराण, मिथक, परंपरा, संघर्ष और आधुनिकता-बोध के मिश्रण से एक विशेष सौन्दर्य आकार लेकर छटपटाता रहता है, ''वह एक छंद है जिसके अन्दर, मेरी एक अटपटी इच्छा बंद हैं।''[26] फिर भी सौन्दर्य बस इतना भर नहीं है, प्रेम, प्रकृति, अडोस-पड़ोस, नदी, जंगल, झील, पर्वत-पठार सब हैं, पर इस बोध के साथ जो कवि के भीतर शुरू से विराजमान है। ''आमाशय, यौनाशय, गर्भाशाय. जिंदगी का यही आशय, यही इतना भोग्य, कितना सुखी है वह... ।'' इस तरह एक संतुलन बैठाया है कवि ने भोग और जीवन के बीच, जिनके लिए जीवन के आशय बहुत छोटे और केवल ऐन्द्रिक हैं 'कितना सुखी है वह' कहकर कवि उसकी मूढ़ता को ही रेखांकित करता है जिसे आज के बाजारवाद-संस्कृति ने और बढ़ा दिया है। एक वाक्य में यदि कुँवर नारायण की कविताओं पर टिप्पणी की जाए तो थोड़े साहस के साथ इतना तो कहा ही जा सकता है कि उनकी कविताएँ सभ्यता-संतुलन के लिए चौकस पर रागात्मक काव्याभिव्यक्ति हैं। जीवन के अर्थ को, सौन्दर्य को, अनुभूति को पाने के लिए एक खास तरह का संतुलन और रागात्मक तटस्थता, अपनी इस भावभूमि को ही स्पष्ट करते हुए कवि बार-बार कहता है, 'तट पर हूँ पर तटस्थ नहीं।'' कविता में यदि संघर्ष है तो इस बोध के साथ कि यह अकेले का नहीं है, प्रेम है तो इस आस के साथ कि मोक्ष मिल जाना है, सौंदर्य-चेतना है तो इस भाव के साथ कि यह फिर नहीं मिलने वाला, प्रश्न है तो अकेले का नहीं, अनुभूति है तो किसी साझेदार की तलाश है, ज्ञान है तो इस चिंता के साथ कि यह सबको मिल जाए और यदि घृणा है तो इस वास्तविकता के साथ कि किसके प्रति, कितना और कब तक? एक अनुपात चलता रहता है कुँवर नारायण की कविताओं में, जिससे पैदा हुए सौंदर्य को आलोचकों ने अपनी-अपनी आँखों कई तरह से देखा है।

सन्दर्भ

1. कुँवर नारायण, प्रतिनिधि कविताएँ, सं. पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, पहली आवृत्ति-2012, पृ. 225
2. कुँवर नारायण, उपस्थिति, सं. यतींद्र मिश्र, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण-2002, पृ. 29
3. वही, पृ. 39
4. वह. पृ. 45
5. वही. पृ. 47
6. वही. पृ. 53
7. कल्पना, जनवरी- 1963, पृ. 61
8. कई समयों में, सं. दिनेश कुमार शुक्ल, यतींद्र मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ, पहला संस्करण-2012, पृ. 182
9. कुँवर नारायण, उपस्थिति, सं. यतींद्र मिश्र, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण-2002, पृ. 68
10. वही. पृ. 79
11. वही. पृ. 92
12. आलोचना, जनवरी-अप्रैल, 1981, पृ. 35
13. कुँवर नारायण, प्रतिनिधि कविताएँ, एक स्थापना, सं. पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, पहली आवृत्ति-2012, पृ. 63
14. तट पर हूँ तटस्थ नहीं, सं. विनोद भारद्वाज, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण- 2010, पृष्ठ-30
15. कुँवर नारायणः उपस्थिति, सं. यतींद्र मिश्र ,राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण-2002, पृ. 174
16. कुँवर नारायण, प्रतिनिधि कविताएँ, एक स्थापना, सं. पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, पहली आवृत्ति-2012, पृ. 124
17. समावर्तन, सितम्बर 2009, पृ. 21
18. कुँवर नारायण, उपस्थिति, सं. यतींद्र मिश्र, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण-2002, पृ. 413
19. कुँवर नारायण, उपस्थिति, सं. यतींद्र मिश्र, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण-2002, पृ. 209
20. कुँवर नारायण, प्रतिनिधि कविताएँ, सं. पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, पहली आवृत्ति-2012, पृ. 185
21. कुँवर नारायण, प्रतिनिधि कविताएँ, सं. पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, पहली आवृत्ति- 2012, पृ. 199
22. कुँवर नारायण, उपस्थिति, सं. यतींद्र मिश्र, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण- 2002, पृ. 428
23. कुँवर नारायण, उपस्थिति, सं. यतींद्र मिश्र, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण-2002, पृ. 395
24. समावर्तन, सितम्बर 2009, पृ. 23
25. समावर्तन, सितम्बर 2009, पृ. 29
26. कुँवर नारायण, प्रतिनिधि कविताएँ, सं. पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, पहली आवृत्ति- 2012, पृष्ठ -171
27. कुँवर नारायण, उपस्थिति, सं. यतींद्र मिश्र, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण- 2002, पृ. 323

प्रवीण कुमार

सहायक प्रोफेसर

सत्यवती कालेज, दिल्ली विश्ववविद्यालय

दिल्ली

पन्ना धाय का दलित पाठ : एक आत्मघाती चिंतन

–सतनाम सिंह

बिहारी लाल हरित हिंदी के दलित साहित्यकारों की पहली पीढ़ी में स्वामी अछूतानंद हरिहर के बाद दूसरे बड़े रचनाकार थे। वे स्वामी जी के समकालीन थे। उन्होंने दर्जनों साहित्यिक पुस्तकों का लेखन किया। उनमें से एक पुस्तक थी 'पन्ना का बलिदान'।[1] यह एक सांग शैली की काव्य रचना थी। दलित साहित्य में हरित जी का नाम बहुत बड़ा है। वे 'हरित साहित्य मंडल', 'दिल्ली हिंदी साहित्य सम्मेलन', 'साहित्य कला संगम' तथा 'भारतीय दलित साहित्य मंच' के संस्थापक सदस्य रहे थे।[2] एक जनकवि के रूप में बिहारी लाल हरित और गोरधन दास की जोड़ी की बहुत ख्याति थी। इसके बाद सन 1986 में डी. सी. दिनकर ने अपनी पुस्तक 'स्वतंत्रता संग्राम में अछूतों का योगदान' में पन्ना धाय को अनुसूचित जाति के अंतर्गत आने वाली धानुक जाति की वीरांगना लिखा।[3] हालांकि यह पुस्तक भारत के स्वतंत्रता संग्राम पर है और पन्ना का इस संग्राम से कोई लेना-देना नहीं था, लेकिन लेखक डी. सी. दिनकर द्वारा उसे दलित सिद्ध करने की होड़ में अपनी इस पुस्तक में भी समेट लिया गया था।

सन 1989 में दलित लेखक करन सिंह दिवान की पुस्तक 'चमार जाटव सम्राट' छपी। इस पुस्तक में दिवान ने पन्ना धाय को चमार जाति की वीरांगना बता दिया।[4] इन पुस्तकों के छपने के बाद दलित विमर्श में यह नेरेटिव स्थापित हो गया कि पन्ना धाय दलित थी। वरिष्ठ दलित साहित्यकार मोहनदास नैमिशराय अपनी चर्चित ग्रंथ माला 'भारतीय दलित आंदोलन का इतिहास' में एक अध्याय बनाते हैं–'धानुक जाति और उसका गौरवशाली इतिहास' और उसकी शुरुआत ही पन्ना धाय से करते हैं। इस अध्याय को वे मुख्य रूप से पन्ना पर ही केंद्रित रखते हैं। मानों की धानुकों के पूरे इतिहास में एक पन्ना ही प्रमुख पात्र हो। ग्रंथमाला के खंड एक में वे लिखते हैं–"भारत जातियों-उपजातियों का देश है और उसी के आधार पर लोगों का मूल्यांकन होता है। ज्यादातर लोगों का मत है कि पन्ना धानुक जाति की है, लेकिन दलित जातियों की अस्मिता और इतिहास के साथ जैसा खिलवाड़ हुआ, वैसा ही धानुक जाति के साथ भी हुआ। दाई मां को ही धाय या धात्री कहते हैं। उत्तर भारत के हिंदी भाषी प्रांतों में बच्चा जनने और उनकी देखभाल करने का काम धानुक जातियाँ ही करती हैं। यह भाषा के अनुरूप प्रत्येक प्रांत में चाहे जैसे पुकारी जाती हों–धानुक, धाणुक, धाणक पर उनका पैतृक काम दाई का ही है।"[5]

नैमिशराय जी आगे लिखते हैं कि "हिरण्य धानुक के पुत्र एकलव्य ने गुरु दक्षिणा में द्रोणाचार्य को अपना अंगूठा दान कर दिया था।[6] मतलब नैमिशराय जी कहना यह चाहते हैं कि हर युग में धानुकों में ऐसे लोग होते रहे हैं जो दूसरों के लिए या तो अपने बच्चों को मरवाते रहे हैं या फिर अपने ही अंग-भंग स्वयं ही करते रहे हैं और वे इसी को धानुकों का गौरवशाली इतिहास बता रहे हैं। बाद में दलित विमर्श की गैर साहित्यिक, सूचनापरक पुस्तकों से होता हुआ पन्ना धाय का यशोगान हमारे समकालीन दलित कथा साहित्य में भी प्रवेश कर गया। दलित साहित्यकार कैलाश नाथ ने 'पन्ना धाय' नामक उपन्यास लिखकर पन्ना का प्रवेश दलित कथा साहित्य में भी करवा डाला।[7] जबकि चित्तौड़ के किले के भीतर बिकने वाली पुस्तक 'वीरता एवं शौर्य की भूमि चितौड़गढ़' में 'पन्ना धाय का त्याग' लिखा गया है। वहाँ पर पन्ना धाय की जाति खींची राजपूत वंश लिखी गई है।[8] विकिपीडिया पर भी पन्ना को खींची वशं की राजपूतानी लिखा गया है। इसके अतिरिक्त आबिद रिजवी ने पन्ना धाय की जाति 'गूजर' लिखी है।[9] उधर डा. गोपाल ब्यास ने पन्ना को 'गडरिया यानी गूर्जर वंश' बताया है।[10] जबकि भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'पन्ना धाय' पुस्तक में पन्ना धाय की जाति का जिक्र ही नहीं है।[11] ऐसे में प्रश्न उठता है कि फिर डी. सी. दिनकर को कहाँ से टेलीग्राम आ गया था कि पन्ना धाय धानुक सामाज की थी। दिनकर अपनी पुस्तक में पन्ना धाय को पन्ना धाई लिखते हैं।[12] पन्ना धाय ने स्वामी भक्ति की पराकाठा स्वरूप अपने ही बच्चे का कत्ल करवाकर जो कार्य किया था मुझे उस पर कोई टिप्पणी नहीं करनी है। मेरा प्रश्न तो सिर्फ दलित साहित्यकारों से यह है कि दलित विमर्श से जुड़े लेखक जबरन पन्ना को दलित घोषित करके और उसका यशोगान गाकर दलित समाज के सामने क्या आदर्श रखना चाहते हैं?

दलित साहित्य अस्मिता मूलक है। इसीलिए 'अस्मितादर्श', 'अस्मिता' और 'दलित अस्मिता' जैसी पत्रिकाएं हैं जो दलित साहित्य के प्रचार में लगी हैं। वरिष्ठ दलित साहित्यकार ओ. पी. वाल्मीकि 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' में लिखते हैं– 'सवर्ण वर्चस्व के विरुद्ध दलित लेखक में अपनी अस्मिता की तलाश है।'[13] प्रोफेसर विमल थोराट के अनुसार 'दलित साहित्य उस विद्रोह का उन्मेष है जो किसी विशिष्ट जाति या व्यक्ति के विरुद्ध नहीं बल्कि 'स्व' की खोज में निकले हुए एक पूरे समाज का पूर्व परंपराओं से विद्रोह है एवं अपने अस्तित्व की स्थापना का प्रश्न है।'[14]

अब प्रश्न यह है कि यह 'अस्मिता', 'स्व' और 'अस्तित्व' क्या अपनी ही नस्लों को मरवाकर स्थापित हो पायेगा? ऐसे में देखा जाए कि जब स्वामिभक्ति की पराकाष्ठा में दलित अपना वंश ही खत्म करा देने के विमर्श खड़े कर रहा हो तब अस्मिता की गुंजाइश ही कहाँ बचती है। डा. धर्मवीर ने इसीलिए लिखा था कि 'सारी दुनिया के लोग अपनी पहचान बनाने के लिए लड़ रहे हैं, जबकि दलित लोग अपनी पहचान खोने के लिए लड़ रहे हैं।' 'पन्ना धाय' उपन्यास के लेखक के. नाथ ने फ्लैप मैटर में लिखा है–'पन्ना धाय धानुक जाति की थी, लेकिन इतिहासकारों ने उसे गूजरी या खींची राजपूतानी लिखकर दलित वर्ग के बलिदान को छिपाने का प्रयास किया है। इस पुस्तक को लिखने से दलित जाति तो गौरवान्वित होती ही है। धानुक या धाणक जाति भी सम्मान की गणना में आयेगी। यह इतिहास की अमर नायिका जिसने अपने बेटे कानन-कनक अर्थात चंदन का बलिदान दे कर सिसौदिया कुल की रक्षा की। उसी उदय सिंह का बेटा महाराणा प्रताप था जिसने हल्दी घाटी में अकबर से युद्ध लड़ा था। यदि पन्ना धाय उदय को न बचाती तो इतिहास जिस हल्दी घाटी के युद्ध को लिखकर गर्व महसूस करता है वह न हो पाता।'[15] के. नाथ के इस वक्तव्य में 'गौरवान्वित' और 'सम्मान' शब्दों पर गौर करिए। पूछा जा सकता है कि पन्ना धाय मान लिया कि आप के अनुसार दलित धानुक ही थी। वह स्वामी भक्ति में अपने बेटे को ही मरवाए जा रही है तो फिर इसमें दलित जाति 'गौरवान्वित' कैसे हो जायेगी? अपनी कोखें उजड़वाकर कोई गौरवान्वित हुआ है? वैसे भी पन्ना धाय ने अपने जिस बेटे को मरवाया था वह अकेले उसी का नहीं था। वह बालक उतना ही अपने पिता का भी था। बिना अपने पति की अनुमति से उसे मरवा डालने का उसके पास कोई भी नैतिक अधिकार नहीं था।

उपन्यास में पन्ना द्वारा अपने बेटे को मरवा देने का प्रसंग इतनी सहजता से चित्रित हुआ है कि जैसे दलित बच्चों की जान की उसकी मां की नजर में भी कोई कीमत ही न हो। यथा–'पन्ना और बनबीर का सीढ़ियों पर ही घमासान युद्ध हुआ। वह अकेली थी और बनबीर के साथ सरदारों की टोली थी। वह खून से रक्तरंजित थी। खून से लथपथ भी, लेकिन एक स्त्री कितनी देर तक तलवार चलाती।' बनबीर ने कहा–'पन्ना! बता उदय कहाँ सोया है? उसने अपने बेटे की तरफ इशारा करते हुए कहा–'जो पलंग पर सोया है वही उदय है। चूंकि पन्ना ज्यादा देर युद्ध में फंसना नहीं चाहती थी। यदि सवेरा हो गया तो उदय और बारी घोड़े सहित पकड़े जायेंगे। अपने बेटे का बलिदान

कराना ही उचित होगा। बनबीर पलंग के पास पहुंचा और तलवार से चंदन की गर्दन उड़ा दी।'[16] लेखक से पूछा जा सकता है कि किसी गैर को इतनी सहजता से तो कोई घर में रखे 'तरबूज' के बारे में भी न बताए जितनी सहजता से वह कातिल को अपने बेटे के बारे में बता रही है। इसके अतिरिक्त लेखक दलित समाज को स्वर्ग-नरक के भ्रमजाल में भी फंसाता है। रास्ते में उदय पूछता है—'धाय मां चंदन कहाँ हैं?' पन्ना शांत आसमान की ओर देखती हुई कहती है—'वह स्वर्ग में है।' उदय—'स्वर्ग कैसा होता है?' पन्ना—'वहाँ परियाँ रहती हैं। वह परियों की कथा सुनने की जिद करता था। मैंने उसे वहीं भेज दिया।'[17]

उपन्यास में कैलाश नाथ पन्ना धाय ही नहीं बल्कि चितौड़गढ़ में स्थित वराह भगवान मंदिर को भी 'दलित मंदिर' बताने में जुटे हुए हैं—'यह सब कुम्भा महल के परिवार में बने हैं। यही कुम्भन श्याम का मंदिर है जिसमें विष्णु के वराह अवतार व कृष्ण की मूर्तियाँ स्थापित हैं। मंदिर के सामने ऊंची छतरी में गरुड़ की मूर्ति स्थापित है। गाइड इसे विष्णु का वराह अवतार बताते हैं बल्कि सूअर का मंदिर बनाने का क्या औचित्य है। सूअर के मंदिर से स्पष्ट है कि यह दलित जातियों के राजाओं का मंदिर है।'[18] इससे स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ऐतिहासिक उपन्यास लिखने बैठे हैं, लेकिन उनमें इतिहास चेतना बिल्कुल भी नहीं है। लेखक को पता होना चाहिए था कि उस समय तक वराह मंदिर देश के कई भागों में बनाए गए थे। राजतरंगिनी में ही 12वीं शताब्दी में कश्मीर में वराह भगवान का विशाल मंदिर राजा द्वारा बनाने का जिक्र है। उस मंदिर की वजह से ही उस स्थान का नाम 'वराह मूल' पड़ गया था। वही स्थान आज का 'वराह मूला' है। अपने इसी चेतना विहीन इतिहास लेखन की वजह से के. नाथ घोषणा कर बैठते हैं—'राजपूत राजवंश दलितों का राजवंश है जिन्हें केवल आन-बान के लिए मरना है।'[19]

इसी आधार पर कहना पड़ता है कि यह उपन्यास दलित विमर्श की रचना न होकर 'राजपूत विमर्श' की रचना प्रतीत होता है। उन्हीं के किले का, उन्हीं के युद्ध का, उन्हीं की प्रथाओं का, उन्हीं की आन-बान शान का और उन्हीं के वंश-वंशज का इसमें भरपूर गुणगान है। लेखक ने सारे उपन्यास में पन्ना को पन्ना धाय लिखा है लेकिन अधिकांश संवादों में कुंवर उदय सिंह पन्ना को 'दाई मां' ही कहता है।[20] दाई के काम पर जो औरतें रखी जाती थीं उनके बारे में प्रसिद्ध इतिहासकार प्रोफेसर चारू गुप्ता ने अपनी पुस्तक 'जाति और लिंग' में दिखाया है कि किस तरह से कोलोनियल काल में जब चमार दाई ने अपने काम की वाजिब मजदूरी मांगनी शुरू की तब उसके पेशे को गंदा, अस्वच्छ और हीन बताया जाने लगा।[21] मुंशी प्रेमचंद की लिखी 'दूध का दाम' कहानी एक उदाहरण है जिसमें एक दलित मां सवर्ण जमींदार के बेटे की दाई भी है और दूध पिलाई भी। अपने मालिक के बच्चे को दूध पिलाने के लिए वह अपने बच्चे को भूखा रखती है, इस सबके एवज में भी उसे बचा खुचा भोजन ही जूठन के रूप में दिया जाता है।[22] इसका अर्थ यह हुआ कि दलित साहित्यकार समाज के आगे पन्ना धाय को दलित बता कर यह आदर्श रखना चाहते हैं कि जिस काम को करने से न पूरी मजदूरी मिले, न ही इज्जत मिले उस काम को करते हुए स्वामी का वंश बचाने के लिए अपना वंश मिटा लेना चाहिए? अब यदि पन्ना धाय को दलित बना कर उसके तथाकथित बलिदान को दलित साहित्य में जायज मान लिया जाए तो फिर एकलव्य का अंगूठा कटना तो बिल्कुल ही जायज ठहरता है, क्योंकि वहाँ पर एक गुरु द्वारा अपने स्वामी के बेटे को सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर बनाने की मजबूरी है और द्रोण एकलव्य का लगता भी कुछ नहीं। बावजूद इसके एकलव्य का अंगूठा कटने पर दलित साहित्यकारों को घोर आपत्ति है। दलित कवि दयानंद बटोही ने लिखा है—*सुनो द्रोण सुनो/एकलव्य के दर्द में सनसनाते हुए घाव को/महसूसता हूं/एक बारगी दर्द हरियाया है।*[23] ऐसे में प्रश्न खड़ा होता है कि 'अपने मिथक' एकलव्य का स्वयं द्वारा काट कर दे दिया गया अंगूठा बर्दाश्त नहीं है तो फिर अपने 'यथार्थ वंशज' की अपनी मां द्वारा ही कटवा दी गयी गरदन स्वीकार कैसे हो सकती है?

स्वामी अछूतानंद हरिहर ने अपनी रचनाओं के माध्यम से दलित साहित्य की सीमा रेखा भी तय की हैं। पन्ना धाय के बलिदान की जिस बहस से हम उलझ रहे हैं उसके बारे में स्वामी जी अपनी कविता— 'निज वंश डुबाना न चाहिए' में लिखते हैं— *"स्वार्थियों की सलाह में आ निज वंश डुबाना न चाहिए। बाप बना गैरों को नस्ल अपनी को मिटाना न चाहिए॥"*[24] स्वामी जी तो यह कह रहे हैं कि गैरों और स्वार्थियों के लिए हमें अपने वंश और नस्ल को न डुबाना चाहिए और न ही मिटाना चाहिए। ऐसे में पन्ना धाय को दलित बना कर उसके तथाकथित बलिदान के पंवाड़े गा कर हम अपने उस महान पुरखे की वैचारिकी से कोसों दूर चले जा रहे हैं। लगे हाथ यह भी देख लिया जाए कि दलितों के स्वामियों ने दलितों के साथ कैसे-कैसे व्यवहार किए हैं। उनसे बेगारें करवायी हैं। कम मजदूरी पर काम करवाए हैं। उनके साथ दुर्व्यवहार-दुराचार किए हैं। अपने पसीने की वाजिब मजदूरी मांगने पर उनके सामूहिक नरसंहार

किए हैं। पहले दलित साहित्यकार स्वामी अछूतानंद हरिहर का समूचा साहित्य और आंदोलन दलितों के स्वामियों के द्वारा दलितों पर किए जा रहे 'मार', 'गार', 'बेगार' और 'दुराचार' के विरुद्ध ही था।

राज परिवारों की दलितों के प्रति क्या मंशा थी इसको भी लगे हाथ देख लिया जाए। राज परिवारों के दलितों के प्रति दृष्टिकोण को 1857 की क्रांति के समय बेगम हजरत महल के पुत्र बिरजिस कद्र के बयान से समझा जा सकता है। प्रसिद्ध इतिहासकार प्रोफेसर चारू गुप्ता लिखती हैं– ''कद्र को 1857 के विद्रोहियों ने 5 जुलाई, 1857 को उनकी माता की छत्रछाया में अवध के सिंहासन पर बैठाया गया था।[25] कद्र ने अपनी ताजपोशी के मौके पर जारी किए घोषणा पत्र में कहा था–'कोई नीच पाजी, चुहड़ा, चमार, धानुक या पासी बराबरी का दावा नहीं कर सकेगा।' अपने घोषणा पत्र में कद्र ने यह भी कहा था कि अंग्रेज ऊंची जमात के लोगों की इज्जत को नीची जमात के मेहतरों और चमारों के बराबर ले आए हैं, और 1857 के विद्रोह की कामयाबी इसका अंत करेगी।'[26] इसी के समानांतर 25 अगस्त, 1857 को बहादुर शाह जफर के घोषणा पत्र में भी यह कहा गया था कि ब्रिटिश सरकार द्वारा एक अदने रैयत, नौकरानी अथवा गुलाम द्वारा दाखिल मुकद्दमें में इज्जतदार जमींदारों को अदालत में लाया जाता है और फिर गिरफ्तार कर अपमानित किया जाता है, लेकिन बादाशाही हुकूमत में जमींदारों का मान और उनकी इज्जत सुरक्षित रहेगी।[27]

के. नाथ ने 'पन्ना धाय' उपन्यास की भूमिका में ही लिखा है–'शुक्ल जी ने धानुक को धनुर्धर लिख कर भगवान की ओर इंगित किया है, जबकि जायसी ने धानुक योद्धाओं को लक्ष्य में बेधने वाला लिखा है। पूरी पद्मावत काव्य गाथा धानुक योद्धाओं की शौर्य वर्णन से भरी है लेकिन लोगों ने कहीं धानुक को विष्णु से जोड़कर या राम से जोड़ कर धनुर्धर कहा है। कहीं पताकों और भौहों को धनुक लिख कर समझाने का प्रयास किया है।[28] लेखक ने धानुक वीरों का जिक्र पद्मावत के निम्नलिखित काव्यांश में दिखाया है–भौंहे स्याम जनु ताना/जा सहुं हेर भार विज जाना/उहै धनुक किरसुन पर अहा/उहैं धनुक राधौ कर महा/ओहि धनुक रावन संघारा/ओहि धनुक कंसासुर मारा/ओहि धनुक बेधा हुत राहू/मारा ओहि सहस्रबाहु/उहै धनुक मैं लायहं चीन्हा/धानुक आप बेझ जग कीन्हा/भौंहे धनुक, धनि धानुक, दूसर सरि न कराइ/गगन धनुक ओ ऊगे, लाजहिं सो छपि जाई/[29] वास्तव में धनुक शब्द जायसी की भाषा में विविध अर्थों का द्योतक है। उपरोक्त काव्यांश को देख कर समझा जा सकता है कि सन 1986 में क्यों डी. सी. दिनकर ने अपनी पुस्तक में पन्ना धाय को धानुक जाति का लिखा होगा।

मुझे धानुक जाति की वीरता पर कोई संदेह नहीं। यह जाति वीर धनुर्धर रही ही है। धानुक ही क्यों सभी दलित जातियाँ वीर रही ही हैं। राजतरंगिणी में 12वीं शती में चांडालों को जगह-जगह पर वीरता प्रदर्शित करते हुए दर्शाया है। राजतंरगिणी के अनुसार एक श्रीदेव नामक ग्राम चांडाल ने एक ही प्रहार से घोड़े पर बैठे राजा जज्ज को मार डाला था।[30] ठीक इसी तरह से कश्मीर के उराश गाँव में जब राजा शंकर वर्मा ऊंचे टीले पर खड़ा होकर ग्रामवासियों और अपने सैनिकों के बीच मारपीट को देख रहा था तब अचानक वह एक चांडाल द्वारा छोड़े गए तीर से घायल हुआ और बाद में मर गया था।[31]

अब देखा जाए कि दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र दलित साहित्यकार और दलित साहित्य से क्या अपेक्षा करता है? इस पर ओ. पी. बाल्मीकि लिखते हैं–'दलित साहित्य आंदोलन मात्र एक साहित्यिक आंदोलन नहीं है। यह एक सांस्कृतिक एवं सामाजिक आंदोलन भी है। हजारों वर्षों से अंधेरे कुहासे में बंद दलित समाज ज्ञान से वंचित रह रहा है। दलित साहित्य इन शोषितों, पीड़ितों की इच्छाओं, आकांक्षाओं का चित्रण करने वाला साहित्य है। उनके उठ कर खड़े होने का संघर्ष, दिन-प्रतिदिन होने वाले, अपमान, उनके अनुभव और समूचे घटनाक्रमों को देखने का उनका दृष्टिकोण है। इन सबका प्रतिबिम्ब साहित्य में पड़ना अपरिहार्य है। लेखक भी इसी समाज की उपज है। घटनाओं को देखने का अपना दृष्टिकोण और उसके विविध अंगों के अर्थ लगाने की विचार शक्ति उसके पास है। यदि नामवर जी स्याह को सफेद बताएं तो यह दलित लेखक की स्वतंत्रता है कि वह कैसे रिएक्ट करे। धारणाओं और शास्त्रीय मापदंडों को नए सिरे से खंगाले। उन पर चर्चा करे।'[32]

पत्रिका के संपादक प्रो. दिनेश राम दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कालेज में हिंदी साहित्य पढ़ाते हैं। लेख को प्रकाशित कराने के दौरान उनसे बातचीत हुई तो उन्होंने मुझ से बताया कि इसी विषय पर दीपदान नाम से रामकुमार वर्मा द्वारा लिखित एक एकांकी को वे हिन्दी साहित्य के बच्चों को पढ़ाते हैं। उन्होंने मुझे बताया कि उन्हें मां के रूप में पन्ना धाय का व्यक्तित्व प्रभावित नहीं करता। वे पन्ना धाय के तथाकथित बलिदान को एक मां की क्रूरता के रूप में देखते हैं। उनका कहना है कि अपने ही बेटे को मरवा कर महान बनने की बजाए उसे दोनों ही बच्चों को

बचाने के लिए जान की बाजी लगा देनी चाहिए थी। इसमें परिणाम जो भी होता। इस युद्ध में या तो सब बचते या सब मरते। यदि वह दोनों ही बच्चों को बचाने में लड़ते हुए शहीद हो जाती तब उसकी महानता थी।[33]

दिनेश राम जी की टिप्पणी पर मुझे जीव-जंतुओं पर डिस्कवरी चैनल पर दिखाई जाने वाली एक डॉक्युमेंटरी फिल्म का स्मरण हो आता है। बील्डर वीस्ट के प्रव्रजन करते एक झुंड को उस फिल्म में दिखाया गया है। झुंड में एक मां अपने नन्हें बच्चे के साथ नदी पार कर रही होती है। उसका नन्हा-सा बच्चा पानी में तेजी से तैर नहीं पा रहा है। वह पीछे छूट रहा है। देखा कि अचानक एक मगरमच्छ उसकी ओर बढ़ा चला आ रहा है। मगरमच्छ उस बच्चे तक पहुंचने ही वाला था कि मां उछल कर बीच में आ जाती है और मगरमच्छ का निवाला बन जाती है और बच्चा लड़खड़ाता हुआ सुरक्षित किनारे पर पहुंच जाता है। जब मां मगरमच्छ के जबड़ों के बीच फंसी होती है तब भी वह दूर अपने बच्चे को सुरक्षित किनारे तक जाते हुए सकून भरी निगाहों से निहार रही होती है। यह उस 'जानवर मां' का बलिदान है जो रूलाए बिना नहीं रहता। मगर पन्ना धाय जैसी 'इंसान मां' का बलिदान प्रश्न चिह्न खड़े करता है।

पंजाब के इतिहास में पन्ना धाय से मिलता-जुलता मगर उससे उम्दा बलिदान दर्ज है। वह बलिदान बिल्कुल दिनेश राम जी के विचारों के अनुरूप है कि पन्ना को अपने और अपने मालिक के बच्चे को बचाते हुए शहीद होना था। 18वीं शताब्दी में महान सिख योद्धा मेहताब सिंह थे। जब मस्सा रंगड़ नामक अहंकारी ने दरबार साहिब को अपवित्र किया था तब इससे क्रुद्ध होकर मेहताब सिंह और सुक्खा सिंह ने मस्सा रंगड़ की हत्या कर दी। इस बात से लाहौर का गवर्नर आग-बबूला हो उठा। उसने दोनों को पकड़ने के लिए अपनी सेनाएं भेजीं। वे दोनों तो नहीं मिले लेकिन मुखबिर से पता चला कि मेहताब सिंह का एक सात व्रर्षीय बेटा 'राय सिंह' नत्थू खैरा नामक व्यक्ति के संरक्षण में है। गवर्नर के सैनिकों ने नत्थू खैरा के गाँव को घेर लिया और उससे राय सिंह को सौंपने के लिए कहा। नत्थू खैरा ने इनकार कर दिया। सैनिकों ने नत्थू और उसके परिवार पर हमला कर दिया। नत्थू खैरा अपने परिवार सहित अपने दोस्त के 7 वर्षीय बेटे राय सिंह की रक्षा करते हुए शहीद हो गया।[38] नत्थू खैरा यदि चाहता तो अपने दोस्त के बच्चे को सेना के सुपुर्द कर सकता था या फिर पन्ना धाय जैसा बलिदान भी कर सकता था लेकिन उसने अपने दोस्त के बच्चे को बचाते हुए अपने सहित अपना सारा परिवार ही शहीद करवा लिया। उसके इस महान बलिदान के लिए ही आम जनता में एक मुहावरा प्रचलित हो गया था—'ऐरा-गैरा न नत्थू खैरा', अर्थात हर कोई नत्थू खैरा जैसा नहीं हो सकता। बाद में यह मुहावरा बदल कर 'ऐरा-गैरा नत्थू खैरा' हो गया और इसका अर्थ ही बदल गया। मगर इतिहास के पन्नों पर और लोगों के मनों में नत्थू खैरा का सपरिवार बलिदान अमर है। पंजाब के गुरदासपुर जिले के बटाला में आज एक 'नत्थू खैरा' गाँव है। यह गाँव उपजिला मुख्यालय से 13 किलोमीटर, जिला मुख्यालय से 37 किलोमीटर और हरगोविंदपुर से 7 किलोमीटर दूर है। यह गाँव पंजाब के माझा क्षेत्र में पड़ता है। इसका क्षेत्र 151 हैक्टेयर है। जानकारों का मानना है कि यह गांव उसी नत्थू खैरा की याद में आबाद है और इसी स्थान पर नत्थू खैरा और उसके परिवार की शहादत हुई थी।

संदर्भ

1. मोहनदास नैमिशराय, भारतीय दलित आंदोलन का इतिहास, भाग-2, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृ. 296
2. वही, पृ. 296
3. डी. सी. दिनकर, स्वतंत्रता संग्राम में अछूतों का योगदान, बोधिसत्त्व प्रकाशन, 68/363, छितवापुर पजावा, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, द्वितीय संस्करण, 1990, पृ. 19-20
4. करन सिंह दिवान, चमार जाटव सम्राट, दिवान प्रेस, 1002, ए/9, गोविंदपुरी, कालकाजी, नई दिल्ली, 1989, पृ. 84
5. मोहनदास नैमिशराय, भारतीय दलित आंदोलन का इतिहास, खंड-1, राधाकृण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृ. 269
6. वही, पृ. 269
7. कैलाश नाथ, पन्ना धाय (उपन्यास), आकाश गंगा प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2013
8. वीरता एवं शौय की भूमि चितौड़गढ़, चितौड़गढ़ टूरिस्ट पब्लिकेशन गाईड बुक, 2023, पृ. 24
9. कैलाश नाथ, पन्ना धाय (उपन्यास), आकाश गंगा प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2013 पृ. 29
10. डा. गोपाल ब्यास, मेवाड़ का प्रारंभिक इतिहास, हिमांशु पब्लिकेशन, उदयपुर, राजस्थान, 2016
11. क्षमा शर्मा, पन्ना धाय, सूचना प्रसारण मंत्रालय, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार
12. डी. सी. दिनकर, स्वतंत्रता संग्राम में अछूतों का योगदान, बोधिसत्त्व प्रकाशन, 68/363, छितवापुर पजावा, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, द्वितीय संस्करण, 1990, 19-20
13. ओम प्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ. 62
14. वही, पृ. 65
15. कैलाश नाथ, पन्ना धाय (उपन्यास), आकाश गंगा प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2013, फ्लैप मैटर
16. वही, पृ. 171-72

17. वही, पृ. 172-73
18. वही, पृ. 21-22
19. वही, पृ. 23
20. वही, पृ. 149
21. चारू गुप्ता, जाति और लिंग, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2023, पृ. 71-87
22. प्रेमचंद, मान सरोवर, भाग-2, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1984, पृ. 204-214
23. दयानंद बटोही, कविता–'द्रोणाचार्य सुनें : उनकी परंपराएं सुनें', कविता कोश
24. सतनाम सिंह, स्वामी अछूतानंद 'हरिहर' को लोककवि सिद्ध करता है विविध लोकछंदों में निबद्ध उनका काव्य, पुस्तक– स्वामी अछूतानंद हरिहर : जीवन एवं कृतित्व, संचयन एवं संपादन कपिल किशोर सारथी, स्वामी अछूतानंद स्मृति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 2015, पृ. 248
25. चारू गुप्ता, जाति और लिंग, वाणी प्रकाान, नई दिल्ली, 2023, पृ. 144
26. Forein Secret Consultation No. 68-69, 25 June, 1858, National Arehives of India (NAI), m)'r : The Chand, History of the freedom movement in India, Vol. II, Delhi, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India, 1967, p. 46
27. S.A.A. Rizvi and M.L. Bhargava, eds. Freedom Struggle in Utter Pradesh, Vol. I, 1857-59, Nature and Origin, Utter Pradesh, Publication Bureau Information Department, 1957, p. 455-58
28. कैलाश नाथ, पन्ना धाय (उपन्यास), आकाश गंगा प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2013 पृ. 11
29. मलिक मोहम्मद जायसी, पद्मावत, नखशिख खंड, उद्धृत, कैलाश नाथ, पन्ना धाय, पृ. 11
30. राजतरंगिणी, श्रीरामतेज शास्त्री पांडेय, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 2004, 4; 477, पृ. 109
31. वही, 5; 219, पृ. 141
32. ओमप्रकाश बाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण, नई दिल्ली, 2011, पृ. 97
33. प्रोफेसर दिनेश रामजी से साक्षात्कार, नई दिल्ली, 20 जून, 2023
34. दि प्रिंट, चितलीन सेठी, 13 सितंबर, 2023

सतनाम सिंह
सम्यक प्रकाशन
32/3, पश्चिमपुरी
नई दिल्ली

देवी दुर्गा एवं तारा के संदर्भ में ब्राम्हण और बौद्ध धर्म में शक्ति पूजा का तुलनात्मक विश्लेषण

–डा. दिलीप कुमार कुशवाहा
–किस्मत कुमारी

सारांश

देवी दुर्गा और तारा की पूजा ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों में किस प्रकार से होती है। हम इस तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से विभिन्न सांस्कृतिक परंपराओं की विविधता और समानताओं को समझेंगे जो अद्भुत शक्ति को उजागर करते हैं। यह लेख आप को ब्राह्मण और बौद्ध समुदायों के बीच शक्ति पूजा की आपसी तुलना करने में मदद करेगा और हमें यह समझने में मदद करेगा कि ये दोनों धर्म कैसे अपनी अद्भुत सांस्कृतिक विरासत को आज भी बनाए रखे हैं।

देवी दुर्गा

किंवदंतियाँ देवी दुर्गा को हिंदू देवगणों में तीन सबसे शक्तिशाली देवों –ब्रह्मा (निर्माता), विष्णु (संरक्षक) और शिव (संहारक) की रचना के रूप में बताती हैं। दुर्गा के जन्म की कहानी देवी भागवतम् में वर्णित है। इस पवित्र ग्रंथ के अनुसार, एक बार महिषासुर नामक पुत्र, एक असुर (दानव) के यहाँ पैदा हुआ। असुर के रूप में जन्म लेने के कारण उसने हर लड़ाई में असुरों पर देवों की विजय देखी। असुरों की लगातार हार से खिन्न होकर महिषासुर ने देवताओं को प्रसन्न करने के लिए तपस्या (एक लंबा तप) करने का निर्णय लिया। वर्ष बीतते गए। महिषासुर के समर्पण से प्रभावित होकर, भगवान ब्रह्मा ने उसे एक वरदान देने का निर्णय लिया। इस अवसर पर उत्तेजित होकर महिषासुर ने ब्रह्मा से उसे यह वरदान देने के लिए कहा कि कोई मनुष्य और न ही कोई भगवान उसे मार सके। इस प्रकार, उसकी मृत्यु केवल एक महिला के हाथों में होगी–जो उसके संज्ञान में असंभव था। वरदान का लाभ उठाकर महिषासुर ने अपनी असुरों की टुकड़ी के साथ पृथ्वी पर आक्रमण कर दिया। उसने दंड मुक्ति भाव के साथ लूटपाट मचाई और हत्या की। जल्द ही शक्ति से उग्र होकर, इस विश्वास के साथ कि वह तीनों लोक का शासक हो सकता है, उसने स्वर्ग पर कब्जा करने का निर्णय लिया।

असुरों और देवों के बीच का युद्ध भयंकर था। महिषासुर ने अंत में अमरावती में इंद्र की सेना को हराया। इस घटना से अपमानित देवतागण एक समाधान खोजने की उम्मीद से त्रिदेव से मिले। देवों की हार पर खिन्न और क्रोधित त्रिदेव ने इस पर चिंतन किया। असुर को दिए वरदान के बारे में सोचकर भगवान ब्रह्मा ने कहा, ''केवल एक स्त्री ही महिषासुर का वध कर सकती है।'' लेकिन तीनों लोकों में कौन-सी इतनी शक्तिशाली महिला थी जो युद्ध कर सके? त्रिदेव ने अपनी एकजुट सोच के साथ अपनी शक्तियों का उपयोग करके ऊर्जा का निर्माण किया जिसने देवी दुर्गा का रूप धारण किया। महिषासुर को मारने में मदद करने के लिए प्रत्येक देवता ने देवी को अपना अस्त्र दिया। हिमालय के देवता हिमवत ने देवी को सवारी करने के लिए एक शेर प्रदान किया।

प्रारंभ में, दुर्गा के अमरावती पहुँचने पर, महिषासुर एक स्त्री से युद्ध लड़ने के बारे में सोचकर ही हँसने लगा। लेकिन युद्ध छिड़ने पर, महिषासुर को एहसास हुआ कि देवी के भीतर सन्निहित सर्वोच्च शक्तियों का कोई मुकाबला नहीं है। दस दिनों की लड़ाई में, असुर देवी को भ्रमित करने के लिए कई रूप बदलता रहा, लेकिन देवी का निशाना कभी नहीं चूका। जैसे ही असुर अपने मूल रूप, एक भैंस, में बदल गया, दुर्गा ने तेजी से उसका सिर धड़ से अलग कर दिया और इस प्रकार स्वर्ग और पृथ्वी को अत्याचारी शासक से मुक्ति दिला दी। इसलिए, दुर्गा महिषासुर मर्दिनी (महिषासुर की संहारक) के रूप में जाने जाने लगीं। इस अंतिम दृश्य को दुर्गा पूजा में स्थापित देवी की कई मूर्तियों में दिखाया जाता है। कुछ मूर्तियों में असुर की हत्या करते हुए माँ दुर्गा की मुद्रा, तांडव करते हुए शिव की मुद्रा के समान है।

दुर्गा पूजा का इतिहास

आश्विन (सितंबर–अक्टूबर) के महीने में मनाई जाने वाली, दुर्गा पूजा (जिसे पूजा के रूप में प्रेमपूर्वक संदर्भित किया जाता है) भारत, विशेष रूप से पश्चिम बंगाल के सबसे प्रतीक्षित त्यौहारों में से एक है। एक आराध्य के रूप में देवी की उत्पत्ति काफी समय पहले की है। देवी का उल्लेख समय के साथ, हमें वैदिक युग के विभिन्न ग्रंथों और रामायण एवं महाभारत में भी मिलता है। इसके बाद भी 15वीं शताब्दी में कृत्तिवासी द्वारा रचित रामायण के वर्णन के अनुसार रावण संग युद्ध से पहले भगवान राम द्वारा दुर्गा की पूजा 108 नील कमल और 108 पवित्र दीपों से की जाती है। जिस दिन भगवान राम ने रावण को हराया था उस दिन को दशहरे के रूप में मनाया जाता है जो दुर्गा पूजा के दसवें दिन (दशमी) को पड़ता है। लगभग 16वीं शताब्दी के साहित्य में हमें पश्चिम बंगाल में जमींदारों (भूमि मालिकों) द्वारा दुर्गा पूजा के भव्य उत्सव के प्रथम उल्लेख मिलते हैं। विभिन्न आलेख अलग-अलग राजाओं और जमींदारों की ओर इशारा करते हैं जिन्होंने पूरे गाँव के लिए दुर्गा पूजा मनाई और उनका वित्त पोषण किया। बोइन्दो बारिरी पूजो (जमींदारों के घर में पूजा) अभी भी बंगाल में एक प्रथा है। बड़े घराने, लोगों के आगमन और देवी दुर्गा की प्रार्थना के लिए, मूर्ति को अपनी हवेलियों के आँगन में रखते हैं। कोलकाता के सबसे प्रसिद्ध संस्थानों में से एक बेलूर मठ है। रामकृष्ण मठ और मिशन का मुख्यालय, बेलूर मठ, स्वामी विवेकानंद द्वारा स्थापित किया गया था। हुगली नदी के पश्चिमी तट पर स्थापित यह मठ एक बहुत लोकप्रिय दुर्गा पूजा का आयोजन करता है। यहाँ पहली दुर्गा पूजा 1901 में स्वामी विवेकानंद ने खुद आयोजित की थी। प्रारंभ में, एक छोटे से पंडाल के अंदर मनाई जाने वाली बेलूर मठ की दुर्गा पूजा अब हर साल हजारों लोगों को आकर्षित करती है।

देवी तारा

भारत में शक्ति पूजा की परंपरा प्राचीन काल से देखी जा सकती है। शक्ति ब्रह्मांड की जननी है, सर्वोच्च मौलिक शक्ति रचनात्मक शक्ति, मातृका का प्रतिनिधित्व करने वाली शक्तिशाली देवी को हस्तांतरित की गई, जिसे बाद में सती या देवी (दुर्गा/पार्वती) के विभिन्न नामों के तहत शक्ति या प्रकृति में विकसित किया गया, जिसे पुराण-इतिहास और तंत्र साहित्य में दर्शाया गया है। शक्ति की पूजा एक अखिल भारतीय घटना के रूप में, हर प्रकार के संस्कृत प्रभाव से पहले की है। वहाँ कई महत्वपूर्ण हैं। भारत के उड़ीसा को सबसे महत्वपूर्ण शक्ति केंद्रों में से एक माना गया है।

देवी तारा-तारिणी को दक्षिण उड़ीसा के लगभग हर घर में इष्टदेवी (इस्ता-देवी) के रूप में माना जाता है। यह महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध शाक्त पीठ रुशिकुल्या नदी के दक्षिणी तट पर ब्रह्मपुर के उत्तर में 30 किलोमीटर की दूरी पर एक पहाड़ी की चोटी पर स्थित है। पहाड़ी की ऊंचाई लगभग 708 फीट है और कुल क्षेत्रफल 180 एकड़ भूमि में फैला हुआ है। यह पहाड़ी तारा तारिणी पहाड़ी (पर्वत) के नाम से मशहूर है और प्राकृतिक सुंदरता से घिरी हुई है। पहाड़ी की चोटी से नीचे तक मंदिर का सुरम्य दृश्य रुशिकुल्या नदी प्रत्येक तीर्थयात्री आगंतुक को अपार आनंद और प्रकृति

और दिव्यता का रोमांचक अनुभव देती है और अक्सर उसके मन और आत्मा को मोहित कर लेती है।

पहाड़ी की चोटी पर एक छोटे लेकिन सुंदर मंदिर में तारा-तारिणी का प्रसिद्ध मंदिर दिखाई देता है। शाक्त पंथ के इस महत्वपूर्ण केंद्र में पूजा-अर्चना अनादि काल से होती आ रही है। सोने और चांदी के आभूषणों के साथ मानवरूपित और मानव चेहरे के आकार के दो पत्थर इस मंदिर के मुख्य मंदिर हैं जो देवी तारा और तारिणी का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके बीच में उनकी चलंती प्रतिमा के रूप में दो पूरी तरह से प्रतिष्ठित और सुंदर पीतल के सिर रखे गए हैं। ऐसा कहा गया है कि तारा-तारिणी एक आदिवासी पंथ से हैं। आर्यीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से इसे शक्ति पंथ में बदल दिया गया है। बेशक, तारा नाम जो महायान बौद्ध पंथियन का आदि देवता है, तारा-तारिणी पूजा में तत्व के बौद्ध प्रभाव को इंगित करता है जो एक आदिवासी पंथ और बौद्ध प्रभाव के समावेश का सुझाव देता है। इसके हिंदूकरण से पहले यह दिखाने के लिए कोई ऐतिहासिक और अन्य रिकॉर्ड नहीं हैं कि पहली शताब्दी ईसा पूर्व से पहले तांत्रिक प्रथाओं ने बौद्ध धर्म में कब प्रवेश किया था, हालांकि, कुछ सही अनुमान चीन, तिब्बत, सिंहली (श्रीलंका) नेपाल और भारत में उपलब्ध साहित्य से लगाए जा सकते हैं। मौजूदा ऐतिहासिक अभिलेख कनिष्क के शासनकाल तक क्रमिक रूप से बुलाई गई महान बौद्ध परिषदों से आगे नहीं बढ़ते हैं। इन महान परिषदों ने नए अपरंपरागत सिद्धांत के उदय पर चर्चा की, जैसा कि महासंगिकों ने समर्थन किया था। इस अवधि के दौरान रचित महावस्तु से पता चलता है कि प्रथम शताब्दी के दौरान महायानवाद कैसे परिदृश्य में उभरा। शताब्दी ईसा पूर्व और बौद्ध धर्म और हिंदू धर्म के सभी प्रचलित धार्मिक सिद्धांतों, प्रथाओं और विश्वास को भी अपने दायरे में ले लिया। इस प्रकार, बौद्ध धर्म ने अपने ऐतिहासिक दार्शनिक और सामाजिक पहलुओं में, अपने विचार और परिणामी प्रथाओं में शक्ति पूजा से संबंधित हिंदू तंत्र को स्वीकार किया और शामिल किया।

ऐसा माना जाता है कि जब अशोक ने कलिंग साम्राज्य पर विजय प्राप्त की, तब तक उन्होंने पाया कि यह बौद्ध धर्म का एक प्रसिद्ध केंद्र था। इसमें कोई संदेह नहीं है कि उड़ीसा का यह हिस्सा, विशेष रूप से रुशिकुल्या नदी के तट पर गंजाम क्षेत्र, बौद्ध गतिविधियों में बहुत सक्रिय था। यह अशोक साम्राज्य के दक्षिणी कलिंग की राजधानी सामापा (आधुनिक जौगाड़ा) में मात्र 4 किलोमीटर की दूरी पर पाए गए अशोक के विशेष शिलालेख से स्पष्ट होता है। तारा-तारिणी पहाड़ी से हालाँकि जौगड़ा में अशोक के विशेष शिलालेख का बौद्ध धर्म से कोई लेना-देना नहीं है। विशेष रूप से अपने अधिकारियों को संबोधित करते हुए, अशोक की इस राजधानी और उसके आसपास बौद्ध धर्म के प्रचार को खारिज नहीं किया जा सकता है। इसलिए तारा-तारिणी पहाड़ी और तारा-तारिणी में महायान बौद्ध संप्रदाय के आदि देवता तारा की पूजा की संभावना है। इसी परिकल्पना के आधार पर इस समय से एक प्रसिद्ध बौद्ध तंत्र पीठ की स्थापना की जा सकती है। इसके अलावा आज तक इसे सबसे महत्वपूर्ण तंत्र पीठों में से एक माना जाता है। मुख्य मंदिर के गर्भगृह के अंदर ध्यानमग्न बैठे हुए बुद्ध की एक छोटी सी छवि दिलचस्प है। यह इस स्थल के शाक्त पंथ के प्राचीन केंद्र होने के दावे को पुष्ट करता है।

बौद्ध तांत्रिकों द्वारा तारा की पूजा के अलावा कलिंग के समुद्री इतिहास से यह भी पता चलता है कि साधवों, व्यापारियों और समुद्री लोगों द्वारा अपनी समुद्री यात्रा शुरू करने से पहले तारा की पूजा की जाती थी। एक समय रुशिकुल्या नदी नौपरिवहन के लिए अनुकूल थी और संभवतः समुद्री गतिविधियों में शामिल इस क्षेत्र के लोगों के बीच तारा की पूजा की प्रथा रही है। यहाँ तक कि तारा-तारिणी पहाड़ी के निचले भाग में रुशिकल्या नदी के दक्षिणी तट पर मुकुंदपुर गाँव में ईंटों की नींव के कुछ खंडहर और इसके निकट तथाकथित गंडा (गहरी नदी) कुछ समृद्ध समुद्री गतिविधियों की ओर इशारा करते हैं। इस क्षेत्र में रुशिकुल्या नदी के माध्यम से। अतः इन साक्ष्यों के आधार पर तारा-तारिणी में शक्ति की पूजा बहुत प्राचीन काल से मानी जा सकती है

पहाड़ी की चोटी पर तारा-तारिणी तीर्थ की उत्पत्ति से संबंधित कई दिलचस्प कहानियाँ, मिथक किंवदंतियां और लोक कथाएं हैं। पौराणिक परंपरा की किंवदंतियों में से एक इस तीर्थ को दक्ष यज्ञ से जोड़ती है, जहाँ तारा-तारिणी की प्रसिद्ध शक्तिपीठ देवी या सती की लाश के अंगों से उत्पन्न हुई थी। इस कथा के अनुसार एक बार देवी सती के पिता दक्ष प्रजापति ने एक यज्ञ किया जिसमें उन्होंने जानबूझ कर अपनी बेटी और उसके पति भगवान शिव को आमंत्रित नहीं किया। जब देवी को यह बात नारद से पता चली तो वह अपने पति से अनुमति लेकर उनके पास आईं। उसके पिता ने उसके पति भगवान शिव को योगयान में क्यों नहीं आमंत्रित किया। दक्ष ने भगवान शिव के प्रति अपमानजनक शब्द कहे जो सती को सहन नहीं हुए। इसके परिणाम स्वरूप वह यज्ञ कुंड में कूद गईं और अपने प्राण त्याग दिए। जब भगवान शिव को यह पता चला तो

वे बहुत क्रोधित हुए और सती के मृत शरीर को लेकर तांडव नृत्य शुरू कर दिया जिससे महाप्रलय (विशाल विनाश) हो सकता था। देवताओं के अनुरोध पर भगवान ब्रह्मा, विष्णु और शनि ने सती की लाश में प्रवेश किया और उसे टुकड़े-टुकड़े कर दिया। परिणाम स्वरूप उन स्थानों पर शाक्त पीठों की उत्पत्ति हुई जहाँ सती के अंग गिरे थे। ऐसा कहा जाता है कि स्तन सती की मूर्ति रुशिकुल्या नदी के तट पर कुमारी पहाड़ियों पर गिरी और इस प्रकार इस स्थान पर प्रसिद्ध तारा तारिणी शक्ति पीठ का उदय हुआ।

कुछ अन्य किंवदंतियाँ भी तारा तारिणी को दो खूबसूरत लड़कियों के रूप में उनके मानव रूपों से जोड़ती हैं जो कुछ समय तक अपने भक्तों के साथ रहती थीं (जो बाद में उनके पुजारी बन गईं) उन्होंने भक्तों को उनकी उपस्थिति का एहसास कराने और उनकी पूजा के लिए कदम उठाने के लिए चमत्कार किए। ऐसी किंवदंती से पता चलता है कि पुरुषोत्तमपुर के पास खरिदा वीरा जगन्नाथपुर सासन के एक विद्वान ब्राह्मण वासु प्रहराज को दो बहनों तारा-तारिणी के पालक पिता बनने का अवसर मिला, जिन्होंने तारा -तारिणी के दिव्य आदेश के अनुसार समय के साथ आवश्यक कार्य किया। यज्ञ किया और दैनिक पूजा के लिए पहाड़ी की चोटी पर एक मंदिर में तीर्थ की स्थापना की। तिब्बती बौद्ध धर्म में प्रतिष्ठित तारा महायान बौद्ध धर्म में एक महिला बोधिसत्व के रूप में और वज्रयान बौद्ध धर्म में एक महिला बुद्ध के रूप में दिखाई देती हैं। रहस्यों के योग पर ग्रंथ के अनुसार तारा तिब्बती बौद्ध धर्म में सबसे महत्वपूर्ण बौद्ध देवी में से एक है। तारा अनेक रूपों में प्रकट होती है। क्या तारा आकृति की उत्पत्ति बौद्ध या हिंदू देवी के रूप में हुई थी, यह स्पष्ट नहीं है और यह विद्वानों के बीच जाँच का स्रोत बनी हुई है। हिंदू पुराणों में माना जाता है कि तारा की उत्पत्ति देवी दुर्गा के एक रूप के रूप में हुई है। उन्हें बौद्ध धर्म और शक्ति-हिंदू धर्म दोनों में दस महाविद्याओं में से एक के रूप में पूजा जाता है। तारा को बाद में सिद्ध ज्ञान की करुणा की अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाने लगा, उसका प्रारंभिक पाठ्य संदर्भ मंजुश्री-मूल-कल्प (लगभग 5वीं-8वीं शताब्दी ई.पू.) था। तारा की सबसे प्रारंभिक, पहचान योग्य छवि आज भी पाई जाती है। तिब्बत में, इन रूपों में हरी तारा की नेपाली राजकुमारी भृकुटी के रूप में अभिव्यक्ति और सफेद तारा की चीनी राजकुमारी कोंगजो के रूप में अभिव्यक्ति शामिल थी।

उन्हें मुक्ति की माँ के रूप में जाना जाता है और काम और उपलब्धियों में सफलता के गुणों का प्रतिनिधित्व करती है, जिसे एक ही गुणवत्ता के विभिन्न पहलुओं के रूप में अधिक उचित रूप से समझा जाता है, क्योंकि बोधिसत्वों को अक्सर बौद्ध तरीकों का अवतार माना जाता है। बौद्ध धर्म के कुछ विद्यालयों में इक्कीस ताराओं को मान्यता दी गई है। इक्कीस ताराओं की स्तुति नामक एक अभ्यास पाठ तिब्बती बौद्ध धर्म में तारा पर सबसे महत्वपूर्ण पाठ है। एक अन्य प्रमुख पाठ तंत्र है जो सभी तथागतों की माता तारा के सभी कार्यों का स्रोत है। हिंदू धर्म में, देवी तारा दस (दस) महाविद्याओं में से दूसरी हैं। वह दुर्गा या महादेवी, काली या पार्वती की तांत्रिक अभिव्यक्तियाँ हैं। काली और तारा दिखने में एक जैसी हैं। उन दोनों को एक लेटे हुए शव पर खड़े हुए के रूप में वर्णित किया गया है, जिन्हें कभी-कभी शिव के रूप में पहचाना जाता है। हालाँकि, जहाँ काली को काले रंग के रूप में वर्णित किया गया है, वहीं तारा को नीले रंग के रूप में वर्णित किया गया है। तांत्रिक परंपराओं में, उन्हें दुर्गा, पार्वती या महादेवी का अवतार माना जा सकता है। देवी तारा ज्ञान प्राप्ति की यात्रा करने वालों के साथ-साथ सांसारिक यात्रियों की भी रक्षा करती हैं। तारा नीली है जबकि माँ काली काली हैं, वह बाघ की खाल पहनती हैं जबकि माँ काली नहीं पहनती हैं और वह अपने दो हाथों में कैंची और नीला कमल रखती हैं जबकि माँ काली नहीं रखती हैं। काली वह शक्ति है जो किसी भी प्रतिकूलता को टालती और नष्ट कर देती है। तारा वह शक्ति है जो लगभग सभी नकारात्मकता को तुरंत नष्ट कर देती है। माँ तारा के 8 रूप हैं। उनमें से प्रत्येक की पूजा तांत्रिक तरीके से पंचमकार विधि से की जाती है जिसमें मछली, मांस, चावल, शराब और सेक्स शामिल हैं, जो पंच महाभूतों का प्रतीक है यानि वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी और आकाश। हिंदू धर्म में सफेद तारा को सरस्वती के नाम से जाना जाता है। दो अलग-अलग देवियाँ हैं जिनका नाम तारा (संस्कृत में 'तारा' है)। अब तक की सबसे प्रसिद्ध देवी तारा वज्रयान बौद्ध धर्म और हिंदू तंत्र और शक्तिवाद दोनों में पूजनीय हैं। उसका नाम अक्सर बौद्धों और हिंदुओं द्वारा समान रूप से व्याख्या किया जाता है जो उसे आध्यात्मिक पथ पर एक मार्गदर्शक प्रकाश के रूप में संदर्भित करता है, जैसे नाविकों के लिए एक भौतिक सितारा। वास्तव में वह सांसारिक यात्रा में भी नाविकों की संरक्षक भी है। उसके कई रूप और पहलू हैं, कम से कम 108 विभिन्न रूप। बौद्ध धर्म में उन्हें अक्सर बोधिसत्व के रूप में समझा जाता है, हालांकि कभी-कभी पूर्ण बुद्ध के रूप में भी। वह बौद्ध पंथ में सबसे शक्तिशाली देवी है जो चीन और मंगोलिया तक व्यापक रूप से लोकप्रिय

है, जहां वह विशेष रूप से सात आंखों के तारा के रूप में लोकप्रिय है, उसकी हथेलियों में आंखें, पैरों के तलवे और तीन आंखें हैं। उसके चेहरे पर वह वज्रयान बौद्ध धर्म में अत्यंत शक्तिशाली रक्षक और दया की देवी हैं, जो अनुग्रह और वरदान प्रदान करती हैं। हिमालयी बौद्ध धर्म में, विशेष रूप से तिब्बत में (जहाँ उसे सग्रोल-मा कहा जाता है) और नेपाल में, तारा को केवल बोधिसत्व की तुलना में एक सर्वोच्च देवी के रूप में देखा जाता है; उन्हें सभी बुद्धों की माता कहा जाता है। उन्हें अक्सर बौद्ध ग्रंथों में अवलोकितेश्वर की पत्नी के रूप में वर्णित किया गया है, जो सभी बोधिसत्वों में सबसे अधिक पूजनीय हैं; हिंदू परंपरा में वह शिव की पत्नी के कई रूपों में से एक है (और शिव और अवलोकितेश्वर को अक्सर एक दूसरे के साथ पहचाना जाता है)। उसका सार शुद्ध करुणा है। बौद्धों का कहना है कि उन्होंने लाखों प्राणियों को पीड़ा से मुक्ति दिलाई है। बौद्ध और हिंदू समान रूप से उन्हें सिद्ध बुद्धि का अवतार, सार्वभौमिक करुणा की देवी कहते हैं। वह तंत्र की महान ज्ञान देवियों, महाविद्याओं में से एक हैं। उनके सबसे आम रूप हैं हरा तारा, एक रूप जो उनके चीनी राजकुमारी के रूप में अवतार से जुड़ा है और सफेद तारा, एक रूप जो उनके नेपाली राजकुमारी के रूप में अवतार से जुड़ा है। नीला तारा उनका क्रूर, विनाशकारी रूप है जिसे उग्र-तारा या एकजटा भी कहा जाता है। लाल तारा प्रेम की देवी हैं जिन्हें कुरुकुल्ला भी कहा जाता है। उनका एक और रूप है जांगुली, एक नाग देवीय। ये सभी रूप हिंदू धर्म में भी लोकप्रिय हैं (क्षेत्र के अनुसार अलग-अलग)। पीली तारा का दूसरा क्रोधित रूप है जिसे भृकुटी कहा जाता है और भी बहुत कुछ हैं। ग्रीन तारा क्रिया की देवी है। सक्रिय ज्ञान को व्यवहार में लाया जाता है। अपने जीवन में अन्य लोगों की मदद करके करुणा को सक्रिय रूप से अपनाया जाता है। इसके बावजूद, वह सितारों, चंद्रमा और रात की देवी हैं। वह छाया में और गुप्त रूप से काम करती है, महिमा की तलाश किए बिना मदद करती है (फिर भी वह इसे प्राप्त करने से बचने में असमर्थ रही है)। वह उर्वरता और पौधों, विशेषकर फूलों और पेड़ों की वृद्धि और पोषण की देवी भी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें सोम देवता के समान कुछ आध्यात्मिक गुण हैं जो अन्य देवी तारा के साथ एक दिलचस्प संबंध की ओर इशारा कर सकते हैं।

देवी दुर्गा एवं तारा

विभिन्न विशेषताओं और व्यक्तित्व पहलुओं के साथ कल्पना की गई प्रमुख बौद्ध देवी तारा को बौद्ध धर्म में वही दर्जा प्राप्त है जो ब्राह्मण में देवी या दुर्गा को प्राप्त है। जैसे विभिन्न ब्राह्मण देवियाँ देवी के विभिन्न रूपों की तरह दिखती हैं, अधिकांश बौद्ध देवता तारा के 'भेद' –अभिव्यक्तियों की तरह दिखते हैं। चूँकि देवी सभी देवताओं से पहले थीं, इसलिए प्रज्ञापारमिता –बुद्धि की पूर्णता और उच्चतम आध्यात्मिक सिद्धांत के रूप में तारा को बुद्ध से भी पहले प्राथमिकता देने का दावा किया जाता है। देवी की तरह, जिन्होंने विष्णु को बताया कि वह कौन थे और वहाँ क्यों थे, बौद्ध धर्म में, तारा प्रकाश और बुद्धत्व का प्रमुख स्रोत था और इस प्रकार सभी बुद्धों का देवी की तरह, जो शिव की पत्नी हैं, तारा की कल्पना अवलोकितेश्वर की पत्नी के रूप में की गई है। देवी की तरह जो सर्वोच्च क्रम के देवताओं की माँ हैं, तारा, कम से कम महायान बौद्ध धर्म में, सभी बुद्धों और बोधिसत्वों की माँ हैं। तारा की बौद्ध पंथ में प्रारंभिक उपस्थिति थी। हालाँकि, यह काफी हद तक छठी-सातवीं शताब्दी के आसपास देवी पंथ के उद्भव के बाद था कि तारा किसी भी अन्य बौद्ध देवता के बराबर स्तर पर पहुंच गई और कभी-कभी खुद महान गुरु की तरह पूजनीय थी। तिब्बती बौद्ध धर्म में स्थानीय पहचान वाले हजारों देवता हैं। तारा वह देवता है जिसे हर कोई जानता है और उसका मंत्र-स्तोत्र हर होंठ पर है। तिब्बत में वह लगभग उसकी राष्ट्रीय देवी है। विद्वानों ने महाभारत जैसे प्रारंभिक ग्रंथों में एक शब्द 'तारिणी' की खोज की है जिसका अर्थ है वह जो अपने भक्तों को संकट के सागर से पार ले जाता है और इसे तारा के साथ जोड़कर उसकी प्रारंभिक उत्पत्ति और ब्राह्मणवादी संबंध का सुझाव देता है। तारा का स्वरूप, जैसा कि बाद में तंत्र में या महाविद्याओं में से एक के रूप में उभरा, महाभारत या मुख्य अठारह पुराणों के लेखकों को ज्ञात नहीं था। इतनी जल्दी नहीं, वह निस्संदेह महाविद्याओं से पहले थी, क्योंकि जब दस नहीं, बल्कि एक महाविद्या के साथ महाविद्या-पंथ विकसित हो रहा था, तारा के पास उसका पूर्ण विकसित रूप था। महाविद्याओं में से एक के रूप में उनका परिवर्तन बहुत समय बाद हुआ। दूसरी महाविद्या के रूप में उनके उद्भव से पहले तारा की अवधारणा बदलती रही। अग्नि पुराण में, वह एक योगिनी है, देवता नहीं। मायादीपक में उनका एक रूप है जबकि महाविद्या के रूप में दूसरा। शैव परंपरा उन्हें महान माया, महामाया का रूपांतर मानती है। समुद्र-मंथन के दौरान आगजनी के बाद शिव का उपनाम अक्षोभ्य था –अविचल, और तारा उनकी पत्नी थी। हालाँकि, तारा की प्रमुख उपस्थिति तंत्र में है। ब्राह्मणवादी तंत्र-ग्रन्थ छठी शताब्दी से आगे नहीं जाते। जाहिर है, ब्राह्मण तारा का

उद्भव इसके बाद ही हुआ होगा। जावा शिलालेख, दिनांक 778, और चालुक्यन दिनांक लगभग 1095-96, उनके सबसे पहले ज्ञात अभिलेखीय अभिलेखों में शामिल हैं। तारा दक्षिण में उतनी लोकप्रिय नहीं है जितनी उत्तर में, तारा सभी महत्वपूर्ण तंत्रों की प्रमुख देवी है। ब्राह्मण ग्रंथों में भी, चीनाचार-क्रम –चीन में प्रचलित पूजा-पद्धति, उनकी पूजा की स्वीकृत पद्धति थी। इसके अलावा, किंवदंती है कि ऋषि वशिष्ठ बुद्ध से तारा की पूजा करने की विधि सीखने के लिए महाचीन गए थे, क्योंकि यह बात किसी और को नहीं पता थी, साथ ही तारा का रूप अन्य सभी ब्राह्मण देवताओं से अलग था, जिससे पता चलता है कि बौद्ध तारा उनका प्रोटोटाइप था।

हालाँकि, देवी की दो अवधारणाएँ व्यापक रूप से भिन्न हैं। इसके बावजूद कि बौद्ध धर्म में तारा की कई अभिव्यक्तियाँ हैं, वह लगभग हमेशा परोपकारी, दयालु, सौम्य, चंचल, युवा, चमकदार और सुरक्षात्मक है। ब्राह्मणवादी तारा, विशेष रूप से महाविद्या के रूप में, लगभग हमेशा उग्र होती है, अक्सर देखने में भयानक होती है, और संभावित रूप से खतरनाक होती है, काली के समान। उसे आम तौर पर शमशान में एक शव की सवारी के रूप में, या एक धनुर्धर प्रत्यालिद मुद्रा में खड़े होने के रूप में कल्पना की जाती है। ऐसा नहीं है कि तारा का बौद्ध धर्म में उग्र रूप नहीं है, या ब्राह्मण धर्म में सौम्य रूप नहीं है, सामान्य तौर पर, पहले संदर्भ में वह सौम्य पहलू प्रकट करती है, जबकि बाद में, उग्र रूप। ब्राह्मण ग्रंथ उनके कई रूपों का उल्लेख करते हैं, हालांकि, उनमें से तीन–एकजटा, नीलासरस्वती और उग्रा अधिक महत्वपूर्ण हैं। तारारहस्य, तारातंत्र, तंत्रसार और मंत्रमहोदधि तारा के तांत्रिक-पंथ पर प्रमुख ब्राह्मण ग्रंथ हैं।

तारा की उत्पत्ति

तारा की उत्पत्ति के स्थान और काल दोनों के संबंध में अस्पष्टता बनी हुई है। बुद्ध महिलाओं को संघ में प्रवेश देने के अनिच्छुक थे। इसलिए, स्त्री सिद्धांत की प्रारंभिक पूजा-पंथ एक दूरस्थ संभावना हो सकती है। पश्चिमी विद्वान, पत्थर में उनके 7वीं-8वीं शताब्दी के चित्रण से गुमराह होकर, उनकी उत्पत्ति तब और कहीं हिमालय क्षेत्र, संभवतः तिब्बत या उसके आसपास तय करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है, निशिक, एलोरा, कन्हेरी आदि की गुफाओं में तारा की प्रारंभिक सचित्र प्रस्तुतियाँ 6ठी-7वीं शताब्दी की हैं, लेकिन एक अवधारणा या एक आध्यात्मिक सिद्धांत इतने व्यापक रूप से और कला में इतनी प्रमुखता के साथ-साथ उभरेगा। उत्पत्ति को स्वीकार करना कुछ कठिन है। किसी धार्मिक अवधारणा की उस मन से यात्रा, जिसमें वह पैदा हुई थी, उस मन में जो उस पर विश्वास करता था और उससे भी आगे पत्थर या किसी अन्य माध्यम में जो उसका प्रतिनिधित्व करता था, औपचारिक रूप से कल्पना करने तक, इसमें काफी लंबा समय लग सकता था, कुछ शताब्दियाँ या उससे भी अधिक। अधिक तर्कसंगत रूप से, तारा की उत्पत्ति आम युग की प्रारंभिक शताब्दियों के दौरान हुई थी, शायद आदिवासियों या अन्य लोगों के बीच पहले से ही प्रचलित एक पंथ के रूप में, जिसे उदार बौद्ध धर्म ने आसानी से अपनाया था।

संदर्भ ग्रंथ

1. भारतीय संस्कृति मंत्रालय भारत सरकार
2. भारत वार्ता
3. ओडिशा सरकार के आधिकारिक स्त्रोत
4. एक्सोटिक इंडिया आर्ट
5. पूर्व एमेरिटस, इतिहास के प्रोफेसर, (1963–2001)
6. जिला प्रशासन गंजम, ओडिशा सरकार
7. लेखक चंद्रभूषण नवभारत टाईम्स
8. 52वीं शताब्दी में कदम, आर. पी. आर्यद्वारा, प्रकाशन इतिहास संकलन योजना, नई दिल्ली, पृष्ठ 12
9. भा. प्रौ. सं. मुंबई
10. इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
11. संस्कृति मंत्रालय की सभी संस्थाएँ
12. धर्मपथ संस्थान–तारा तारिणी शक्तिपीठ एक ऐतिहासिक परिचय
13. संस्कृति मंत्रालय भारत सरकार की आधिकारिक वेबसाइट
14. रामप्रसाद त्रिपाठी लेखक स्वतंत्र टिप्पणीकार, शोधार्थी दिल्ली विश्वविद्यालय, मीडिया प्रचार प्रभारी 'तारातारिणी डेवल्पमेंट बोर्ड' व माइक्रोस्टेटडॉटइन (उपबतवेजंज.पद) के प्रमुख सह संस्थापक और मुख्यकार्यकारी अधिकारी हैं।
15. पूर्व एमेरिटस, इतिहास के प्रोफेसर, (1963–2001)
16. पूर्व एमेरिटस, इतिहास के प्रोफेसर 1961 में स्नातक की उपाधि भारत के इतिहास का अध्ययन किया।

डा. दिलीप कुमार कुशवाहा
और शोधार्थी किस्मत कुमारी
गुरुकुल कांगड़ी (सम विश्वविद्यालय)
हरिद्वार, उत्तराखंड

धूमिल की कविता में यथार्थ

–प्रीती तिवारी

सारांश

धूमिल लोक के कवि हैं। लोक के बीच में रहकर उसके यथार्थ को जिस तरह धूमिल ने व्यक्त किया है अन्यत्र दुर्लभ है। मूल्यहीनता और आदर्शहीनता की स्थिति से सामाजिक पतन का जो विवरण धूमिल की कविताओं में मिलता है, वह बेजोड़ है। कविता तो धूमिल की चेरी है। भाषा लोक के वातावरण से आती हुई यथार्थ की धरा पर विराजमान है। गाँव के किसान, मजदूर, नौजवान की मानसिक और मनोवैज्ञानिक स्थिति का जो चित्र धूमिल ने खींचा है वह केवल उन्हीं के वश की बात थी। मानवीय कमजोरियों पर प्रहार करते हुए धूमिल गाँव, गरीब की सेवा को ही राष्ट्र सेवा मानते हैं।

सामाजिक सरोकार के कवि धूमिल गरीबी और शोषण में पिसते समाज की प्रगति चाहते हैं। एक कविता को कवि लिखता है और एक कविता को कवि जीता है। धूमिल कविता को जीना चाहते हैं। वह अपनी कविताओं के माध्यम से यह स्पष्ट करने में सफल रहे हैं कि आज समाज में आपसी संबंधों में आत्मीयता, सौहार्द, हमदर्दी, सहानुभूति, प्यार, ईमानदारी, लगभग समाप्त हो चुकी है और अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए कुछ लोग ''चन्द चालाक लोगों'' के साथ मिल कर अमानवीयता पर उतर आए हैं। इन्होंने अपना विवेक चन्द सुविधाओं के लालच में गिरवी रख दिया है। हर तरफ मूल्यहीनता व्याप्त है और व्यक्ति के सामने सम्मान-अपमान नैतिक-अनैतिक, श्लील-अश्लील, सही गलत का कोई प्रश्न आज शेष नहीं रह गया है। 'मोचीराम' कविता में धूमिल ने मोची के माध्यम से स्पष्ट किया है कि जब जीवन में आदर्श, सिद्धान्त, नैतिकता, मूल्य शेष नहीं रह जाता तो क्या होता है? वे लिखते हैं–*और बाबू जी!/ असल बात तो यह है कि जिन्दा रहने के पीछे/अगर सही तर्क नहीं है/तो राम नाम बेचकर या रण्डियों की/दलाली करके रोजी कमाने में/कोई फर्क नही हैं।*[1]

इन्हीं पंक्तियों में कवि धूमिल मूल्यों से रहित, आदर्श विहीन, निरर्थक समकालीन जिन्दगी का आकलन करते नजर आते हैं। धूमिल एक किसान और मजदूर की चेतना में अंतर की बात करते हुए कहते हैं कि मजदूर अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण अधिक क्रांतिकारी होता है जबकि किसान अपनी भूमि के प्रति लगाव, गाँव की अवस्था, पिछड़ी हुई

संस्कृति के किसान अपनी भूमि के प्रति लगाव, गाँव की अवस्था, पिछड़ी हुई संस्कृति के कारण परिवर्तन और क्रांति का इच्छुक होते हुए जागरूक नहीं हो पाता है। वे लिखते हैं– *'इतनी हरियाली के बावजूद/अर्जुन को नहीं मालूम/ उसके गालों की हड्डी/ क्यों उभर आयी हैं/ उसके बाल सफेद क्यों हो गए हैं/लोहे की छोटी सी दुकान में बैठा हुआ आदमी/सोना और इतने बड़े खेत से खड़ा आदमी'*[2]

धूमिल की काव्य रचना प्रक्रिया से गुजरने पर यह एहसास होता है कि वह जन सामान्य के कवि थे–और तत्कालीन सामान्य जन भूख, गरीबी, दरिद्रता का जीवन व्यतीत कर रहा था। परिवेश चाहे ग्रामीण हो या शहरी, धूमिल ने गरीबी के कारण मार्मिक पीड़ा देने वाली असहनीय दारुण भूख का बड़ा ही भयावह दृश्य अपनी कविताओं में प्रस्तुत किया है। धूमिल का मानना है भूख आदमी को पालतू बनाती है, यही कारण है कि भूखा आदमी अपने आप को बेच कर व्यवस्था का गुलाम बन जाता है, अपना अस्तित्व गंवा देता है। भूख व्यक्ति के लिए रोटी, रिश्तों, परिवार और यहाँ तक कि आजादी से भी बड़ी है और जिस जनता की भूख ही नहीं मिटेगी वो क्या खाक आजादी को मानेगी। उनका कहना है कि रोटी की मार सबसे कठिन है कवि रोटी के सवाल को सबसे बड़ा मानता है और जनता की भूख मिटाने की बात पहले करता है, धूमिल कविता का विषय रोटी और भूख को मानते हुए कहते हैं–*कहीं कोई भाषा नहीं/भूख के केन्द्र में*[3]

1967 में देश में अकाल पड़ता है। जन सामान्य को अनाज की कमी का गंभीरता से सामना करना पड़ता है। क्योंकि धनाढ्य वर्ग ने अपने गोदामों में अनाज जमा कर लिया था। विदेशों से अनाज मंगाने पर भी समस्या का हल नहीं निकल पाता है। धूमिल ने उन्हीं सन्दर्भों को अपनी कविता में स्थान दिया है। वे लिखते हैं–*वहाँ बंजर मैदान/कंकाल की नुमाइश कर रहे थे/गोदाम अनाज से भरे पड़े थे और लोग/लोग भूखे मर रहे थे/लोग बिलबिला रहे हैं (पेड़ों को नग्न करते हुए)/पते और हाल खा रहे है/मर रहे है"*[4] धूमिल सत्ता, व्यवस्था और संसद की सच्चाई को अच्छी तरह जानते, समझते हैं इसलिए वे सत्ता में बैठे लोगों से सवाल करते हैं कि एक समय में एक आदमी रोटी बेल रहा होता है और एक आदमी उसी रोटी से खेल रहा होता है एक तीसरे आदमी की कार गुजारियों पर मेरे देश की संसद मौन क्यों है? वे लिखते हैं–*एक आदमी रोटी बेलता है/एक आदमी रोटी खाता है/एक तीसरा आदमी भी है/जो न रोटी बेलता है व रोटी खाता है /वह सिर्फ रोटी से खेलता है /मैं पूछता हूं/यह तीसरा आदमी कौन है?/मेरे देश की ससंद मौन है।*[5] रोटी से खेलने वाले तीसरे आदमी पर संसद का मूक रहना, बतलाता है कि वह तीसरा आदमी संसद में बैठा राजनेता और पूंजीपति वर्ग से है, और उत्पादन से जुड़े हुए लोग रोटी के लिए संघर्ष कर रहे हैं। उनका संघर्ष बतलाता है कि सत्ता, संसद, राजनेताओं और पूंजीपतियों ने उन लोगों को किस तरह से एवं किन-किन स्तरों पर ठगा है। धूमिल ने उन दृश्यों को अपनी कविता संयुक्त मोर्चा में लिखते हैं–*आज की भूख से भूख के अगले पड़ाव तक/यह रास्ता जनतंत्र की ओर जाता है।*[6] धूमिल की कविता में भूख, संताप जैसे विषय हमेशा हमें पूर्व मूल्यांकन की तरफ ले जाते हैं। उनकी कविता 'प्रवेश पत्र' भूख की ही समस्या को परिभाषित करती है।

धूमिल ग्रामीण जीवन से भलीभांति जुड़े रहे, 'गाँव की कीर्तन' उनकी कविता गाँव वालों को विवशता दर्शाता है, सूरज रंगों की मुहर तोड़ कर फसलों की एक पूरी दुनिया सामने रख देता है, किन्तु अपनी ही समस्याओं में खो कर किसान इसे कहाँ समझ पाता है जब मन विसंगतियों में उलझा हो तो आत्मा में रंग कहाँ भरता है? जीवन के अनुभव से गुजरते कवि रोज सच्चाइयों से जूझते हैं। देहात की समस्याओं से जुड़े देहाती कवि धूमिल कई मामलों में बात-बात पर देहाती भाषा से भी जुड़ते चलते हैं। उनका प्रत्येक संदर्भ यथार्थ से जुड़ा हुआ दिखलायी पड़ता है। उनका यथार्थ हमेशा गाँव देहात से जुड़ा हुआ ही उनके साथ रहता है। उन्होंने नारी के महत्व को अपनी कविताओं में बड़े पैमाने पर व्यक्त किया है। उनका मानना है कि यदि नारी गुलाब की तरह कोमल और सुन्दर है तो परिस्थितिवश पत्थर भी। वे विषमताओं से लड़ते, अभावों से जूझते अभावग्रस्त व अव्यवस्थित जिन्दगी जीते हैं। उनकी कुंठा उन्हें अंदर से झकझोरती है। उनकी कविता 'पराजय बोध' की कुछ पंक्तियाँ इसकी प्रमाण हैं। वे लिखते हैं–*पता नहीं कितनी रिक्तता थी/जो भी मुझमें होकर गुजारा बीत गया/पता नहीं कितना अन्धकार था मुझ में/मैं सारी उम्र चमकने की कोशिश में बीत गया।*[7]

धूमिल को पता है कि चोट मजदूरों, कामगारों के पेट पर पड़ती है तो विरोधी उनके उस रूप को व्यापक संदर्भ में प्रकट करते हैं जो अवसर पाकर उँगलियों में गड़ता है। उनकी कविता 'मोचीराम' के पेट पर लात पड़ती है तो विरोध दर्ज करने के लिए वह 'चीर कील' जानबूझ कर छोड़ देता है। इस चोर कील के माध्यम से मजदूर और सर्वहारा वर्ग चरित के द्वारा पूंजीवादी वर्ग चरित्र का विरोध होता हुआ दिखता है। उनका मानना है कि कोई भी आदमी पैसे एवं पेड़ों के आधार पर छोटा और बड़ा नहीं

होता है। दुनिया के तमाम आदमी बराबर हैं। साथ ही वे कहते हैं कि आज के समय प्रत्येक आदमी में मरम्मत की जरूरत है। वे 'मोचीराम' कविता में लिखते हैं–*न कोई छोटा है/न कोई बड़ा है/मेरे लिए, हर आदमी एक जोड़ी जूता है/जो मेरे सामने/मरम्मत के लिए खड़ा है।*[8]

धूमिल प्रतिरोध की ताकत को अच्छी तरह पहचानते और समझते हैं। उन्हें पता है कि प्रतिरोध चुप्पी के साथ किया गया हो अथवा चीख के द्वारा, दोनों भविष्य में अपनी-अपनी जगह एक ही किस्म का फर्ज अदा करते हैं। उनका मानना है कि भविष्य को गढ़ने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। धूमिल 'मोचीराम' कविता में कहते हैं–*जबकि मैं जानता हूँ/ कि 'इनकार से भरी हुई एक चीख'/और 'एक समझदार चुप'/दोनों का मतलब एक है/भविष्य गढ़ने में 'चुप' और 'चीख'/अपनी-अपनी जगह एक ही किस्म से/अपना-अपना फर्ज अदा करते हैं।*[9] जीवन के स्तर को धूमिल ने नए ढंग से व्याख्यायित किया है। कवि जीवन में आम सुविधाओं के अभाव के कारण अपनी माँ की झुर्रियों भरे चेहरे और उसी की उम्र की पड़ोसिन के चेहरे पर अपनी प्रेमिका के चेहरे सी लोच देखकर क्षुब्ध हो जाता है। चेहरे की रौनक का यह अंतर जीवन स्तर की विषमता का उद्घाटन करती है।

धूमिल भावनाओं को जिन्दा करने के आकांक्षी कवि हैं। वह जन से सवाल करते हैं कि कभी आप ने रोटी को बाँटा है, यदि नहीं तो कवि की कुछ पंक्तियाँ मन को छू लेती हैं। उन्होंने सामाजिक और राजनीति स्थितियों को भी अपने काव्य में व्यक्त किया है। उनकी कविता 'आज मैं लड़ रहा हूँ' में उनका वही तेवर देखते बनता है–*कविता की नसों में बहता हुआ खून/जरूरत की जगह, जहमत बन गया है।*[10] उनका संदर्भ केवल समाज को जागरूक करना ही नहीं बल्कि उन्हें राष्ट्र के सेवा भाव का उद्देश्य देना भी है-वह युवाओं को राष्ट्र का कर्णधार समझते हैं और उनके भटकने पर वह उसे दुर्भाग्य मानते हैं। इसी को उन्होंने अपनी कविता में बिम्ब रूप में प्रदर्शित करते हैं। वे लिखते हैं–*मैंने राष्ट्र के कर्णधारों को/सड़क पर किस्तियों की खोज में/भटकते देखा है।*[11] धूमिल ने बेरोजगारी और व्यर्थता-बोध से उत्पीड़ित युवा वर्ग में बढ़ते अंसतोष की समस्या को रेखांकित करने का प्रयास किया है। आज का युवा रोजगार के संसाधनों की कमी के कारण दिग्भ्रमित हो रहा है। समकालीन विसंगत यथार्थ ने उसे उत्तेजित और क्रोधित बनाया है। धूमिल लिखते हैं–*वे मेरे देश के हम उम्र नौजवान/जिनकी आँखों में/रोजगार-दफ्तर की छड़ी देतों का अक्स/झिलमिला रहा है/वे मेरे दोस्त।*[12]

किस तेजी से तोड़ना चाहते हैं भाषा का भ्रम का लिखित रोजगार न मिलने से परेशान ये नौजवान एक बार तो व्यवस्था को उलटने की दिशा में बढ़ते भी हैं लेकिन दूसरी ओर एकता का अभाव इन्हें ऐसा नहीं करने देता। बेरोजगारी की समस्या हमारे देश की मुख्य समस्या है। कवि इससे प्रभावित युवाओं की दशा का चित्रण करता है। समकालीन व्यवस्था की नीतियों से परिचित युवा-वर्ग अब रोजगार मिलने की असीम आस की लगभग छोड़ चुका है। रोजगार न मिलने के पीछे क्या कारण है, यह कवि अच्छी तरह जानता है। इसके पीछे व्यवस्था की कारगुजारियाँ हैं। इस मानव विरोधी व्यवस्था से कुछ ऐसे लोग हैं जिन्हें कवि को बूढ़े और रक्त लोलुप मशालची कहा है। ये अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए पूरी पीढ़ी को ही झोंक देना चाहते हैं। ऐसे विषमाग्रस्त यथार्थ को देखकर युवा वर्ग का उत्साह ठण्डा पड़ गया है और जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण निराशावादी हो गया है–उसका अंसतोष बढ़ रहा है। वे लिखते हैं–*'हर आदमी/भीतर की बतियाँ बुझा कर/पड़े-पड़े सोता है/क्योंकि वह समझता है/कि दिन की शुरुआत का ढंग/सिर्फ हारने के लिए होता है।'*[13]

धूमिल बुनियादी कवि रहे इसलिए वे अपने काव्य में बुनियादी संदर्भ की ही बातें करते हैं। वे समाज से प्रश्न करते हैं कि भूख उपजाता कौन है? नेता जनसंख्या मानते हैं जबकि कवि आम जन की जड़ता और उदासीनता को इसका कारण मानते हैं। चूंकि, वह ग्रामीण जन जीवन के कवि हैं, इसलिए ग्रामीण बोध की कई उनकी कविताएं अर्थ विषमता को दर्शाती हैं। वे कहते हैं कि जब इंसान भाग्यवादी होने लगता है तो जीवन में अकर्मणता प्रवेश करने लगती है। वह आर्थिक रूप से ग्रसित हो जाता है और अर्थ उसे इतना कमजोर कर देता है कि आर्थिक विषमता के कारण संबंध विच्छेद हो जाते हैं। वे लिखते हैं–*मेरे गाँव में/वह आलस्य, वही रूश/वही कलह वही तटस्थता/हर जगह और हर रोज/और मैं कुछ नहीं कर सकता/मैं कुछ नहीं कर सकता।*[14] उनका मानना है कि व्यक्ति को जनतंत्र और समाजवाद जैसे झूठे वादे लगाने वाले लोगों से उन्हें सख्त नफरत है। उन पर नक्सलवाद का प्रभाव भी है। वहीं वे नयी व्यवस्था के पक्षधर भी हैं। वे लिखते हैं–*आज अंधेरा है और/ खून लगा हुआ है हाथों में/जिसे हमने हासिल किया है/वह पालने में नहीं रक्त लथपथ/करोड़ों की बगल में पड़ा है।*[15]

वे सदैव 'जनतन्त्र की दुहाई देते हुए लोगों को अगाह करते हैं। उनके काव्य में किस्सा जनतन्त्र में जनतन्त्र का घिसा चेहरा दिखता है। वे कहते हैं–आफत खुद बोलता

है। वह लिखते हैं—*करछुल बतलोही से बतियाती है/ और चिमटा तवे से मचलता है/चूल्हा कुछ नहीं बोलता/चुपचाप जलता है और जलता रहता है/*[16]

आजादी के बाद के हिन्दी कविताओं में देश, लोकतन्त्र और आम आदमी की पीड़ा को ससंद के गलियारे तक मुखर करने वाले धूमिल ने भूखमरी, महंगाई और बेरोजगारी पर किसी कविद्रष्टा की तरह अपनी कलम चलाया है। उनकी कविताओं के कल की पंक्तियां आज के वर्तमान समय की सच बोलती हैं। वे लिखते हैं—*एक सही कविता पहले/एक सार्थक व्यथा होती है कविता/भाषा में आदमी होने की तमीज है/*[17] जिन पंक्तियों को धूमिल ने आज 52 वर्ष पूर्व लिखा था, वही आज के समय में पूर्ण रूप से चरितार्थ हो रहा। वह समय से आगे चलने वाले कवि हैं। उनकी रचनाधर्मिता केवल आगाह ही नहीं करती समय को बल्कि समय से आगे चलती है। उनका काव्य बिम्ब हमेशा अपने समकालीन कवियों से पृथक रहा, वह समाज के उच्च वर्ग के संबंध में लिखते हैं—*जिसके पास थाली है/हर भूखा आदमी/उसके लिए सबसे भद्दी गाली है।*[18]

वे आधुनिक कवियों में ऐसे कवि रहे जो आम जन को सच्चाई और यथार्थ से रूबरू करवाते हैं। वे भूख और नफरत, प्यार और जिंदगी से रूबरू करवाते हैं। वे चाहते हैं कि ठहरे हुए, सुस्त पड़े लोगों में हरकत हो, उदासी टूटे व्यवस्था को बदलने के लिए वो जिंदगी की ताप से भर जाए। उन्हें अच्छी तरह पता है कि शोषित, पीड़ित, उपेक्षित वंचित लोग जब साहस के साथ विचारों से लैस होकर शोषकों, पूंजीपतियों, राजनेताओं और सत्ता संरचना के मनुष्य विरोधी चरित्र के विरुद्ध उठ खड़ा होंगे तो परिस्थितियाँ बदलेंगी और लोगों को उनका हक और अधिकार हासिल होगा, वे कविता के द्वारा हस्तक्षेप के माध्यम से कहते हैं—*जब मैं उसे भूख और नफरत और प्यार और जिदंगीका मतलब बतलाता हूँ/ जब मैं ठहरे हुए को हरकत में लाता हूं/ एक उदासी टूटत है, टेढ़ापन खत्म होता है/ और वह जिन्दगी के ताप से भर जाता है/*[19]

अतः हम कह सकते हैं कि धूमिल ने अपनी कविता में व्यंग्य के साथ यथार्थ का जो स्वरूप आधुनिक कविता में परोसा है, वह एक विचारणीय सपंर्क है। वह सही अर्थों में जन की पक्षधरता और सत्ता के अमानवीय चरित्र के विरुद्ध संघर्षरत कवि हैं। वह जन के लोगों की बात कविता के माध्यम से संसद तक पहुंचने वाले कवि रहे हैं। वे कविता में सब कुछ कहने के पर्याय रहे। वे आज के समसामयिक दौर में प्रासंगिक हैं। उनकी कविताएं समय के सापेक्ष जन को संकेत करती हुई आगे बढ़ती हैं। सही अर्थों में वे जन-यथार्थ कवि थे।

सन्दर्भ

1. संसद से सड़क तक, धूमिल, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2018, पृ. 40
2. वही, पृ. 41
3. धूमिल की कविता में यथार्थ बोध, डा. चमनलाल गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012, पृ. 9
4. वही, पृ. 11
5. सुदामा पाण्डे का प्रजातंत्र, धूमिल, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2016, पृ. 48
6. वही, पृ. 49
7. वही, पृ. 50
8. कल सुनना मुझे, धूमिल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010, पृ. 87
9. वही, पृ. 88
10. वही, पृ. 89
11. आधुनिक हिंदी कविता के कुछ हस्ताक्षर (खंड-1), सं. डा. मुकेश कुमार मिश्र, नमन प्रकाशन, कानपुर, 2014, पृ. 155
12. वही, पृ. 156
13. धूमिल और उनका काव्य संघर्ष—डा. ब्रह्मदेव मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2013, पृ. 52
14. वही, पृ. 53
15. सुदामा पाण्डे का प्रजातंत्र, धूमिल, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2016, पृ. 52
16. वही, पृ. 53
17. आजकल (मासिक), पत्रिका, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पृ. 23
18. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2014, पृ. 96

प्रीती तिवारी
शोधार्थी, हिन्दी विभाग
बुन्देलखंड विश्वविद्यालय झांसी

आजादी के अमृत महोत्सव में हिंदी की स्थिति

–प्रो. रामपाल गंगवार
–कु. सोनम पाण्डेय

भारतवर्ष का गौरवशाली अतीत स्वर्ण अक्षरों में दर्ज है। हमारा देश विविधता, बहुलता, बहुभाषा-भाषी, विभिन्न धर्म, जाति और समुदाय का केंद्र रहा है। आज देश आजादी का अमृत महोत्सव मना रहा है। आजादी की लड़ाई में विभिन्न धर्म, जाति, समुदाय तथा विभिन्न भाषा-भाषियों ने एकता के सूत्र में बंध कर आजाद भारत की नींव रखी। किसी भी देश या राष्ट्र को आगे बढ़ाने में भाषा का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आजादी की लड़ाई के समय हिंदी भाषा का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। हिंदी ने भाषा के स्तर पर राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त किया है। इसकी महत्ता का स्थापन स्वाधीनता संग्राम से हो रहा है जो समूचे देश में सबसे सशक्त और लोकप्रिय संपर्क भाषा बन गई थी। उस समय के स्वाधीनता संग्राम के वाहकों ने भी माना कि अगर देश को एक सूत्र में कोई भाषा बांध सकती है तो वह हिंदी ही है। बहुभाषिकता की दृष्टि से भारत विश्व भर में सर्वाधिक विविधता वाला देश है। हजारों साल से यहाँ हजारों मातृभाषाएं बोली जा रही हैं। जब विभिन्न भाषा-भाषियों के बीच विचारों का आदान-प्रदान होता है तो अलग अलग सन्दर्भ में अनेक भाषाएं एक कड़ी का काम करती हैं। किन्तु आज विश्व का ऐसा कोई भी देश नहीं है जिसकी कोई राष्ट्रभाषा न हो, चाहे वह विकसित या विकासशील या फिर अविकसित देश ही क्यों न हो। सभी देशों की अपनी पहचान उसके राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीयध्वज, राष्ट्रगान एवं मुद्रा से होती है। किन्तु यह कितना दुखद है कि भारत एक ऐसा देश है जिसकी कोई राष्ट्र भाषा ही नहीं है। उस पर महात्मा गाँधी जी कहते हैं कि ''राष्ट्र भाषा के बिना राष्ट्र गूंगा है।''[1] वे आजीवन हिंदी को राष्ट्र भाषा के पद पर प्रतिष्ठित होने का सपना देखते रहे। भाषा जन समाज के अनुभूति, अभिव्यक्ति, संवेदना और स्वाभिमान की भाषा होती है। किन्तु हिंदी को भारत की संवैधानिक राजभाषा के रूप में मान्यता प्राप्त है, यथार्थतः संपर्क भाषा भी है। परन्तु राष्ट्र भाषा के रूप में उसकी संवैधानिक मान्यता आज भी नहीं है। इसी से सम्बंधित भाषा विषयक उपबंध अनुच्छेद 120, अनुच्छेद 210 एवं संविधान के 17वें भाग में अनुच्छेद 343-351 में राजभाषा विषयक प्रावधान सम्मिलित हैं। 343वें अनुच्छेद की उपधारा में राष्ट्रपति के आदेश द्वारा हिंदी के साथ गैर-राष्ट्रीय भाषा अंग्रेजी को सहभाषा के रूप में 15 वर्ष की अवधि के बाद तक व्यव्हार में लाने की अनुमति दे दी जाती है। इसके साथ ही संविधान की 8वीं अनुसूची में 22 भाषाएं शामिल

हैं जिन्हे 'राष्ट्र की राज भाषाएं' कहा गया है। इन प्रावधानों के पालन के लिए राजभाषा अधिनियम 1963 (यथा संशोधित 1967) तथा राजभाषा अधिनियम 1976(यथा संशोधित 1987) बनाये गए।"[2] इसी नियम में हिंदी के प्रयोग के सम्बन्ध में भारत के क्षेत्रों को तीन (क, ख, ग) वर्गों में विभाजित किया गया जिसमें प्रधान भाषा के रूप में हिंदीं और अन्य प्रादेशिक भाषाओं के प्रयोग हेतु नियम दिए गए और आज भी इन्ही नियमों के आधार पर द्विभाषिक नीति का पालन हो रहा है। हालाँकि, यहाँ भी अंग्रेजी को ही सहभाषा के रूप में अनिवार्य कर दिया गया है ताकि देश की एकता और अखंडता बनी रहे।

हिंदी क्षेत्र की पाँच उपभाषाओं और 17 बोलियों का सामूहिक नाम बन गया। किंतु कहीं-कहीं 18 बोलियाँ भी मिलती हैं जिसे आज हम हिंदीं भाषा या 'क' क्षेत्र कहते हैं। लेकिन राजभाषा के रूप में स्वीकृत किए जाने पर इसका अर्थ सिर्फ खड़ी बोली के परिनिष्ठित रूप तक सिमट कर रह गया था। हिंदी भाषा ने हजार साल से भी ज्यादा की यात्रा में अनेक उतार चढ़ाव देखे हैं। लेकिन उसके इस विकास यात्रा की एक बड़ी विशेषता यह है कि ''वह सदैव जन-मन की भाषा की ओर प्रवाहित होती रही है, चाहे वह बोलिओं और भाषाओं के बीच संपर्क की बात हो, चाहे व्यापार-वाणिज्य हो या फिर ज्ञान-विज्ञान से लेकर धर्म-अध्यात्म, राष्ट्रीयता की चेतना और संपूर्ण भारतीय संचार की बात हो या फिर विश्व में फैले हिंदुस्तानियों की पहचान की बात हो, हिंदी इन सभी भूमिकाओं को भलीभाँति निभा रही हैं। इसमें लोगों से जुड़ने की अद्भुत शक्ति हैं।"[3] इसीलिए, ''क्षेत्र में हिंदी को प्रसारित करने के लिए सन् 1953 में वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने प्रतिवर्ष 14 सितंबर को हिंदी दिवस के रूप में मनाना शुरू किया।"[4]

हिंदी दीर्घ काल से सारे देश में जन-मन के सांस्कृतिक एवं पारस्परिक संपर्क की भाषा रही है।" सिर्फ उत्तर भारत की भाषा नहीं बल्कि दक्षिण भारत के आचार्यों जैसे वल्लभाचार्य, रामानुजन आदि की रचनाओं में भी दिखलाई पड़ती है। इन्होंने इसी भाषा के माध्यम से अपने मतों का प्रचार किया था। अहिन्दी भाषी राज्यों के भक्त एवं कवियों जैसे शंकर देव, गुजरात के नरसी मेहता, महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वर व नामदेव तथा बंगाल के चैतन्य महाप्रभु आदि ने इसी भाषा को अपने धर्म और साहित्य के प्रचार का माध्यम बनाया था। सिद्ध गोरखनाथ पंथियों, कबीर जैसे संतों की वाणी में भी हिंदी के आरंभिक रूप मिलते हैं।"[5] आज हिंदी पूरे देश में प्रचलित है। इस दिशा में संविधान में हिंदी की स्थिति को लेकर हुई बहस को हम यदि ध्यान से पढ़ें तो हिंदी का समर्थन हिंदीतर प्रांत के लोगों द्वारा ही हुआ था जिन्होंने अपनी पत्र-पत्रिकाओं एवं रचनाओं के माध्यम से हिंदी के प्रचार प्रसार में सक्रिय योगदान दिया जिनमें मदन मोहन मालवीय,राजामोहन राय 'हिंदोस्थान' 'अभ्युदय', पुरुषोत्तम दास टंडन, वेंकटेश नारायण तिवारी, दयानंद सरस्वती जो गुजराती भाषी थे। इन सभी को हिंदी का सिर्फ काम चलाऊ ज्ञान था।[6] इसके बावजूद, अधिक से अधिक लोगों तक अपनी बात पहुंचाने के लिए तथा देश की एकता को सुदृढ़ करने के लिए आप ने अपना सारा धार्मिक साहित्य हिंदी में लिखा। वे कहते थे कि मेरी आंखें उस दिन को देखना चाहती है जब उत्तर से लेकर दक्षिण तक सभी भारतीय एक ही भाषा समझने और बोलने लग जाएं।

गांधी जी का भी हिंदी से इस तरह से रिश्ता बन चुका था कि वह मानते थे कि आजादी का सवाल जितना महत्वपूर्ण था उससे कम महत्वपूर्ण सवाल भाषा का नहीं था। अर्थात् गांधी जी भी भाषा को एक महत्वपूर्ण औजार मानते थे आजादी की लड़ाई में। तमिल के लोगों को एक साल में हिंदी भाषा को सीखने की अपील की। उसके ठीक अगले दिन 28 दिसंबर, 1916 में लखनऊ के अखिल भारतीय सम्मेलन में भाषण देते हुए कहा कि ''मैं गुजरात से आता हूं। मेरी हिंदी टूटी-फूटी है। मैं आप सब भाइयों से हिंदी में बोलता हूं, क्योंकि थोड़ी सी अंग्रेजी बोलने में भी मुझे मालूम पड़ता है मानो मुझे इससे पाप लगता है।''[7] गांधी जी हमेशा हिंदी भाषा के पक्ष में खड़े रहे। वे तीन बार हिंदी साहित्य सम्मेलन में भाग भी लिए तथा वे हिंदी के प्रबल समर्थक थे। 29 मार्च, 1918 में इंदौर के हिंदी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता की और आप ने एक भाषण में यह कहा कि ''मैं आप से प्रार्थना करता हूं कि आप हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने का गौरव प्राप्त करें। हिंदी सब समझते हैं, इसे राष्ट्रभाषा बना कर हमें अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए।"[8] इसके बाद आप ने इस सम्मेलन में अंग्रेजी के एक शब्द भी ना उच्चारण करने के लिए कहा और इसी अधिवेशन में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि प्रतिवर्ष 6 दक्षिण भारतीय युवक हिंदी सीखने प्रयाग भेजे जाएं और 6 उत्तर भारतीय युवकों को दक्षिणी भाषा सीखने और हिंदी भाषा का प्रचार प्रसार करने के लिए दक्षिण भारत भेजा जाए। इसी अधिवेशन में महात्मा गांधी जी ने हिंदी के कार्यों को राष्ट्रीय व्रत बना लिया था। 1925 में कांग्रेस ने भी कानपुर अधिवेशन में गांधी जी की ही प्रेरणा से अपने समस्त कार्यों को हिंदी में करने

का निर्णय लिया। यह गांधी जी का हिंदी के प्रति अटूट प्रेम दिखाई पड़ता है। उनके इस बात का प्रभाव हिंदी भाषा के साहित्यकारों पर भी पड़ा जिन्होंने अपनी रचनाओं एवं पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से जैसे प्रताप नारायण मिश्र ने हिंदी-हिन्दू -हिंदुस्तान का नारा दिया और भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हरिश्चंद्र मैगजीन, कवि वचन सुधा, महावीर प्रसाद द्विवेदी का सरस्वती, प्रेमचंद शिवपूजन सहाय, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, बनारसी दास चतुर्वेदी आदि बहुत सारे लेखक एवं कवियों ने हिंदी भाषा पर विशेष रूप से जोर देना प्रारंभ कर दिया।

इसके अलावा, मैं यहां पर दो-तीन व्यक्तिगत संघर्ष कर्ताओं का उल्लेख करना जरूरी समझती हूं कि अभी भी भारत के कुछ विश्वविद्यालयों में हिंदी का शोध प्रबंध अंग्रेजी में करना होता है। ऐसे में वेद प्रताप वैदिक में राजनीति शास्त्र का शोध प्रबंध तथा इंजीनियरिंग कॉलेज रुड़की के एक शोधार्थी ने अपना शोध प्रबंध हिंदी में प्रस्तुत करना चाहा तो उन दोनों व्यक्तियों को बहुत संघर्ष करना पड़ा। किंतु इन संघर्षों का शुभ परिणाम यह हुआ कि मानवीकी एवं विज्ञान के विषयों में हिंदी शोध प्रबंध लिखने की परंपरा स्थापित हो गई। यही नहीं भूतपूर्व राष्ट्रपति जैल सिंह सहित अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों के संघर्ष द्वारा सर्वोच्च परीक्षाओं यूपीएससी में भी हिंदी को स्वीकृति दिलाई। यही नहीं स्वतंत्रता प्राप्ति के समय तक हिंदी विश्व में तीसरी सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा का स्थान प्राप्त था। इसके बोलने वालों की संख्या 30 करोड़ के आस पास है। हिंदी को जानने समझने वाले हिंदी भाषी देश-विदेश में हिंदी का प्रयोग करने वालों को जोड़ लिया जाए तो हिंदी विश्व की सबसे ज्यादा बोली जाने वाली भाषा होगी। हिंदी की इस विश्व व्यापी विस्तार का श्रेय संचार माध्यमों को जाता है। आज की 21वीं शताब्दी में टीवी विज्ञापनों से लेकर कौन बनेगा करोड़पति में भाग लेने वाला व्यक्ति चाहे वह किसी भी राज्य का क्यों न हो जिसको हिंदी न आती हो। किन्तु कुछ ऐसे लोकप्रिय कार्यक्रम हैं जो हिंदी में बोलता भर है लिखता अंग्रेजी में है क्योंकि अंग्रेजी के साथ मान-सम्मान, हस्ती-रुतबा आदि का प्रश्न जुड़ा रहता है। ऐसे में लोगों से यह आशा करना कि वह बच्चों को अंग्रेजी में न पढ़ाएं, इस सच को अनदेखा करना होगा। अंग्रेजी हमारे लिए उपयोगी भाषा है। वह हमें उत्तराधिकार में मिली है और हम उसका लाभ भी उठा रहे हैं तथा वह ज्ञान विज्ञान की भी भाषा है फिर भी ध्यान रहे कि वह है तो विदेशी भाषा और विदेशी भाषा से हमारी सृजनात्मक प्रतिभा का विकास नहीं कर सकती है।

इन सब के बावजूद, हिंदी की स्थिति इतनी दयनीय नहीं है जिस तरह से बताया जा रहा है। हमें हिंदी को एक दिवस से बढ़ कर उसके महत्व को स्वीकारना होगा और बड़े पैमाने पर उसके अस्तित्व को अपनाना होगा। आज तकनीकी के माध्यम से हिंदी नए रूप में आ रही है। हिंदी संचार माध्यम की मदद से हिंदी की संप्रेषण क्षमता का बहुआयामी विकास हो रहा है। चाहे पौराणिक कार्यक्रम हो या ऐतिहासिक, राजनीतिक, पारिवारिक, जासूसी, वैज्ञानिक एवं हास्य धारावाहिकों का प्रदर्शन विभिन्न चैनलों पर हिंदी माध्यम से हो रहा है। रेडियो भी हिंदी और भारतीय भाषाओं का माध्यम बन रहा है। प्रसन्नता की बात यह है कि हिंदी के कार्यक्रम चाहे किसी भी विषय से संबंधित हो देशभर में सर्वाधिक देखे जाते हैं। अन्य विदेशी भाषाओं के जानकारी पूर्ण और मनोरंजनात्मक कार्यक्रम हिंदी में डब करके प्रसारित करके देखे जाते हैं।

यही नहीं फिल्म जगत ने भी हिंदी के क्षेत्र में अपना अहम योगदान दिया है। फिल्म निर्माता देश में ही नहीं यूरोप, अमेरिका और खाड़ी देशों को ध्यान में रख कर फिल्म बना रहे हैं तथा हिंदी सिनेमा ऑस्कर तक पहुंच चुका है। इसमें संदेह नहीं कि सिनेमा से हिंदी की लोकप्रियता और व्यावहारिकता में बढ़ोत्तरी हुई है। सूचना क्रांति के फलस्वरूप भारत के ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में जो प्रगति हुई है। वह अन्य पड़ोसी देशों की तुलना में अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारत के सभी राज्यों में प्रौद्योगिकी संस्थान स्थापित हो चुके हैं; जैसे हैदराबाद बंगलुरु दिल्ली में बड़े संस्थान कार्य कर रहे हैं। ''डेटाबेस, ई बैंकिंग, ई. कॉमर्स आदि विषयों पर कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। हिंदी में ईमेल की सेवाएं तो पहले से ही थी, अब तो ई. चैट, ई. वाणिज्य, ई. प्रशासन आदि अनेक सेवाएं आ गई हैं।''[9]

मोबाइल और कंप्यूटर, इंटरनेट, वेबसाइट की सुविधा से पत्र पत्रिकाओं के ई. संस्करण तथा ऑनलाइन पत्र पत्रिकाएं उपलब्ध करा कर सर्वथा के लिए दुनिया के समक्ष एक रास्ता बन गया है तथा आज हम हर प्रकार की जानकारी इंटरनेट पर प्राप्त कर सकते हैं। मुद्रित और इलेक्ट्रॉनिक दोनों ही प्रकार की जनसंचार माध्यम में विकास के आयाम छू रहे हैं। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, फिल्म उद्योग, विज्ञापन उद्योग, मोबाइल बैंक, लैपटॉप, आईपॉड, टैबलेट और सोशल मीडिया तक मे हिंदी की बहार आ गई है।

देश में 100 करोड़ से भी ज्यादा हिंदी भाषी हैं तथा देश के बाहर नेपाल, पाकिस्तान, इंडोनेशिया, बांग्लादेश, ओमान, दुबई, अमेरिका में भी लाखों की संख्या में हिंदी

बोलने वाले हैं। कुछ देश ऐसे भी हैं जहाँ हिंदी विषय के रूप में पढ़ाई भी जा रही है जैसे ड्यूक, वाशिंगटन इत्यादि। हिंदी में प्रयोग के अमूल्य योगदान से इसकी सार्थकता और बढ़ गई है फिर भी वर्तमान समय में हिंदी को सिर्फ वही लोग महत्व देते हैं जिनका रोजगार हिंदी से जुड़ा है, जैसे हिंदी शिक्षक, हिंदी शोधार्थी और अनुवादक। कुछ विद्वान ऐसे भी इस देश में है जिन्हें अंग्रेजी की एबीसीडी भी नहीं आती, अंग्रेजी की जानकारी और समझ अच्छी बात है, इसे हम मना नहीं कर सकते लेकिन हमारे भारत देश में इसकी इतनी उपयोगिता नहीं की रोजगार इसी से चले इसलिए कहीं ना कहीं हिंदी को लेकर लोगों में हीनता का बोध देखने को मिलता है। ऐसी स्थिति में हिंदी को बढ़ावा देने के लिए इसे रोजगार की भाषा बनने पर जोर देना होगा और नौकरियों में भी हिंदी को जानने समझने वाले को ही प्राथमिकता देनी होगी तथा परीक्षाओं का माध्यम भी हिंदी हो, इस पर भी बल देना होगा। इन छोटे-छोटे प्रयासों से ही हिंदी के अस्तित्व को सुरक्षित रखा जा सकता है। इसके अलावा हिंदी में ई. प्रौद्योगिकी के अमूल्य योगदान से इसकी सार्थकता और बढ़ गई है। विज्ञान से जुड़ना हिंदी ज्ञान पाठकों को अनवरत एवं विशेष रूप से हिंदी को अंतर्राष्ट्रीय गौरव प्रदान किया है। जिस तरह से आज हमारा देश जब आजादी का अमृत महोत्सव मना रहा है उसमें भी हमारे हिंदी का अहम योगदान है। किंतु हमें अपनी भाषा के स्वरूप पर भी विचार करना आवश्यक है क्योंकि जिस अधिनियम (1963) में हम अपनी भाषा को छोड़ कर आए थे उसका पुनर्विस्तार कैसे हो सकता है? अर्थात हिंदी को राष्ट्रभाषा का दर्जा कैसे दिलाया जा सकता है? इस पर भी हमें विचार करना चाहिए। संचार के इस युग में भी हम दुनिया के अन्य भाषाओं के साहित्य से कटे हुए हैं। दक्षेस देशों में लिखा जाने वाला साहित्य हमारे पास हिंदी भाषा में बहुत कम मौजूद है। उसके विषय में भी हमें विचार करना आवश्यक है। हम अपने खांचे में इतना बंधे है कि हमारे पास भारतीय उपमहाद्वीप के बारे में ठीक जानकारी उपलब्ध नहीं है कि वहाँ क्या लिखा जा रहा है। विश्व पटल पर लिखे गए साहित्य पर विचार करने की आवश्यकता भी है और हिंदी भाषा के लिए जरूरी है और यह हिंदी भाषा के लिए एक बड़ी चुनौती है साथ ही अंतरराष्ट्रीय स्तर पर विश्व हिंदी के स्वरूप को रुपायित करने की भी जरूरत है। फिर भी हमें निराश होने की जरूरत नहीं है क्योंकि हिंदी के अंतरराष्ट्रीय स्वरूप के साथ ही साथ विश्व हिंदी का भी एक सुंदर स्वरूप दिखाई पड़ रहा है। विश्व हिंदी दिवस एवं विश्व हिंदी सम्मेलनों में हिंदी के अंतरराष्ट्रीय स्वरूप पर भी विचार हो रहा है, क्योंकि हिंदी का उत्सव एक राष्ट्रीय उत्सव है जैसे हर देश अपने राष्ट्रभाषा का सम्मान विशाल उत्सव के रूप में करता है हमें भी करना चाहिए। इस प्रकार हम सब भारतवासी को स्वयं को गौरवान्वित महसूस करते हुए यह कह सकते हैं कि सिर्फ भारत का अमृत महोत्सव नहीं बल्कि हिंदी का भी अमृत महोत्सव मनाया जा रहा है।

संदर्भ ग्रंथ

1. सरस्वती पत्रिका, अक्टूबर-दिसंबर 2020, पुनर्वांक, संपादक, देवेंद्र शुक्ल, प्रयागराज, पृ. 13
2. भाषा के बढ़ते कदम, ऋषभ देव शर्मा, तेज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015 पृ. 33
3. वही, पृ. 24
4. वही, पृ. 25
5. आधुनिक हिंदी व्याकरण और रचना, भारती भवन प्रकाशन, 23वाँ संस्करण, पटना, पृ. 10
6. योजना (साहित्य और आजादी) कुलश्रेष्ठ कमल, डॉक्टर ममता रानी, अगस्त, 2022, पृ. 33
7. आजकल, संपादक, फरहत परवीन, अक्टूबर, 2019, पृ. 12
8. वही, पृ. 17
9. हिंदी भाषा का आधुनिकीकरण, डॉ कैलाश चंद्र भाटिया, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015 पृ. 24
10. न्यू इंडिया समाचार पत्रिका, अगस्त, 2022, जयदीप भटनागर, नई दिल्ली
11. हिंदी उद्भव, विकास और स्वरूप, हरदेव बाहरी, किताब महल
12. हिंदी उर्दू और हिंदुस्तानी, पदम सिंह शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
13. हिंदी में हम, अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2023
14. विकिपीडिया इंटरनेट
15. दैनिक समाचार पत्र, अमर उजाला, जनसत्ता, हिंदुस्तान, दैनिक जागरण आदि।

प्रो. रामपाल गंगवार
बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर केन्द्रीय
विश्वविद्यालय, लखनऊ
कु. सोनम पाण्डेय
शोधार्थी
बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर केन्द्रीय
विश्वविद्यालय, लखनऊ

स्त्री विमर्श : 'कलिकथा : वाया बाइपास' एवं 'शेष' और 'कादम्बरी' के विशेष संदर्भ में

–डा. शहनाज महेमुदशा सय्यद

सारांश : मनुष्य मन को सजग बनाते हुए नए क्रांतिकारी विचारों का निमार्ण उसे प्राचीन रूढ़िवादी मूल्यों से जूझने की शक्ति प्रदान करती है। स्त्री संबंधी अवधारणा, चिंतन, परिकल्पनाएं अपना रूप बदल रही हैं। स्त्री मुक्ति संघर्ष का उद्‌भव स्त्री को मनुष्य के रूप में स्थापित करने के लिए हुआ है। समकालीन स्त्री उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में स्त्री के बदलते जीवन संदर्भ, बदलती मानसिकता तथा संघर्ष को विशेष महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उसका उद्‌देश्य अत्याचारों के प्रति विद्रोह, रूढ़ियों का खण्डन, शोषण के खिलाफ आवाज और अस्तित्व के लिए संघर्ष रहा है। स्त्री का संघर्ष समाज की उस संकीर्ण मानसिकता से है जो उसे अबला, लाचार, कमजोर और निर्बल मानती है। स्त्री की शिकायत पुरुष की उस मानसिकता से है जिसने उसे कभी पहचाना ही नहीं। हिंदी की महिला लेखिकाओं ने स्त्री विमर्श के लिए आवाज उठायी और उसे अपने अधिकारों के साथ जोड़ा और समाज की कुंठित मानसिकता को बदलने का पूर्ण प्रयास अपने लेखन के माध्यम से किया।

बीज शब्द : स्त्री-लेखन, पुरुषसत्ता, शोषण, अत्याचार, संघर्ष, स्वाभिमान, मुक्ति।

जीवन की अनुभूतियों एवं यथार्थ का प्रस्तुतीकरण ही साहित्य है। यही जीवन में उर्जा भरने का कार्य करता है। निराशा, दुःख दीनता में साहस बंधा अंधेरे में प्रकाशमान होने का संदेश देता है। निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि अपूर्ण मनुष्य को पूर्ण करने की शक्ति साहित्य में है, क्योंकि साहित्यकार की पुकार समाज की पुकार होती है। साहित्यकार जिस समाज में जीता है, वहीं से साहित्य सृजन की प्रेरणा भी लेता है। साहित्य और समाज का संबंध अन्योन्याश्रित होता है। इसीलिए साहित्य में अपने युग की आवाज होती है। उसमें समाज का दस्तावेज, व्यक्ति की अनुभूति, तत्कालीन संस्कृति का इतिहास होता है। साहित्य समाज बदलाव की भूमिका का निर्माण करता है। सामाजिक परिवर्तन में साहित्यकार की भूमिका निर्णायक होती है। वह अपनी रचना के माध्यम से सुषुप्त जनमानस में नई दृष्टि, नई

चेतना का संचार एवं उन्मेष करने की कोशिश करते हुए सामाजिक विकास की गति को बाधित करने वाली शक्तियों के खिलाफ आवाज उठाता है।

आधुनिक युग की परिस्थितयों ने नई चेतना का संचार किया। समता, बंधुता, सामाजिक न्याय, लघु मानव की प्रतिष्ठा आदि विचारों के कारण परिवर्तन की प्रक्रिया तेज हुई। अनेक समाज सुधारकों ने स्त्री जीवन में सुधार, मुक्ति की भावना निर्माण करने का प्रयत्न किया। स्त्री में शिक्षा से सुधार शुरू हुआ तथा वह आर्थिक स्वालंबन से स्व-अस्तित्व के प्रति सचेत होने लगी।

आधुनिक युग में स्त्री-विमर्श, दलित विमर्श, अदिवासी विमर्श, कृषक विमर्श आदि ने पाठकों, साहित्यकारों, समीक्षकों का ध्यान बहुत अधिक आकर्षित किया। परंतु इन सबमें सबसे अधिक चर्चा का विषय रहा 'स्त्री-विमर्श'। इसमें कोई संदेह नहीं कि 'स्त्री-विमर्श' ने हिंदी साहित्य में स्त्री को देखने–समझने की नई दृष्टी दी है। भारतीय साहित्य में भी प्राचीनकाल से ही स्त्री किसी-न-किसी रूप में चिंतन का विषय रही है। केवल नारी की पुरुषों से बराबरी का मुद्दा ही महत्वपूर्ण नहीं है। समाज के हर क्षेत्र में अपनी अस्मिता, स्वतंत्रता, निजता एवं अधिकारों के लिए लड़ना स्त्री विमर्श का लक्ष्य है। वास्तव में जब हम स्त्री विमर्श की बात करते हैं तो इसका तात्पर्य है स्त्री का जीवन तथा उससे जुडी समस्याएं एवं उसके दुःख-दर्द के अनुभवों को अभिव्यक्ति देना और इस दिशा में स्त्री मुक्ति के संघर्ष को अभिव्यक्त करना। स्त्री विमर्श को लेकर मैत्रेयी पुष्पा जी का मंतव्य हैं –''नारीवाद ही स्त्री विमर्श है, नारी की यथार्थ स्थिति की चर्चा करना ही स्त्री विमर्श है।''[1] ऐसा ही कुछ विचार रेखा कस्तवार जी ने भी व्यक्त किया हैं –''स्त्री का स्त्री के लिए, स्त्री के द्वारा लेखन स्त्री-विमर्श है।''[2]

अलका सरावगी के उपन्यासों में नारी संबंधी एक नवीन जीवन दृष्टि और मूल्यबोध का परिचय मिलता है। इनके साहित्य में निम्न, मध्य और उच्च वर्ग की स्त्रियों से सीधा साक्षात्कार कराता है। स्त्री की विविशता, दीनता, शोषण, अत्याचार, संघर्ष और अदम्य साहस का प्रमाण है आपका साहित्य। हिंदी कथा साहित्य में प्रमुख महिला लेखिकाओं में अलका जी का नाम शीर्ष स्थान पर आता है। कहानी और उपन्यास साहित्य में आप का उल्लेखनीय योगदान है। 2001 का साहित्य अकादमी पुरस्कार, श्रीकांत वर्मा पुरस्कार, बिहारी पुरस्कार से आप को सन्मानित किया गया है।

कलिकथा : वाया बायपास यह अलका सरावगी जी का पहला उपन्यास है जिसकी बेहद चुस्त तथा सधी भाषा इस उपन्यास का प्राण है। यह उपन्यास 'साहित्य अकादमी' पुरस्कार से सम्मानित है जिसमें अकाल के समय की महिलाओं की दयनीय स्थिति को प्रस्तुत किया गया है। साथ ही नारी मानसिकता और उसके त्रासदीपूर्ण जीवन को अलग-अलग दृष्टिकोण से चित्रित किया है जिसमें स्त्री कभी संघर्ष करती है, तो कभी जीवन के मायने तलाश करती है। इसमें कुल मिला कर छह पीढ़ियों की महिलाओं की चर्चा की गई है जो समय-समय पर कथा के संदर्भानुसार उपन्यास को सजीव, रोचक और घरेलू बना देती है। स्त्री धैर्य और साहस की प्रतिमूर्ती होती है। इसलिए जीवन में आने वाली किसी भी प्रकार की समस्याओं से विचलित नहीं होती। जैसे–''माँ की तरलता को आने से पहले सोख लेती है। वे अपने शब्दों को मजबूती से सहारा दे कर खड़ा करती है।''[3] अलका जी का यह कथन स्त्री के धैर्य और साहस को ही उजागर करता है।

इस उपन्यास में अनेक पात्र ऐसे हैं जो वैधव्यता का जीवन जी रहे हैं। जो अपनी मनोदशा किसी के सामने नहीं रख पाते हैं। बस पल-पल मृत्यु का इंतेजार कर दिन काट रहे हैं। किशोरबाबू की माँ, उनकी शांता भाभी इस के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, दूसरी तरफ उनकी बड़ी मामी, पति के जीवित रहते नितांत अकेली है, क्योंकि उनका पति-पत्नी से ज्यादा वेश्याओं के पास जाने को महत्व देता है। इसी गम में घुलते हुए उसे राजयक्ष्मा होता है, परंतु बीमारी से अच्छी होने या जिंदा रहने के लिए मामी कोई दवा नहीं लेती, क्योंकि उसके अनुसार वह ठीक हो कर करेंगी भी क्या जब पति ही उसका नहीं। पति को होश तब आता है जब बिमारी लाईलाज हो जाती है। उसने कोठे पर जाना छोड़ दिया, परंतु पत्नी ने भी अपने देह को त्याग दिया। गजब तो यह है कि कुछ ही दिनों में सबकी सहमति से उन्होंने दूसरी शादी भी कर ली, परंतु किशोर बाबू की शांता भाभी केवल दो महीने ही पति के साथ वैवाहिक जीवन जी कर विधवा हो गई थी, उनके भविष्य के विषय में किसी ने भी कुछ नहीं सोचा। उनके मित्र शांतनु के कहने के बाद भी किशोर बाबू की प्रतिक्रिया मौन रही। पुरुष कुछ भी करे सही, उनके किसी भी प्रकार के निर्णय से परिवार की प्रतिष्ठा पर कोई कलंक नहीं लगता, परंतु स्त्री परिस्थिति वश भी कोई कार्य करे, कोई निर्णय ले, पूरे समाज की निगाहों में बुरी, कंलकित, दोषी बन जाती है। अमोलक की माँ मारवाड़ी दुकान पर पिकेटिंग का काम करने जाती है तो उसके समाज के लोग उनका साथ देने की जगह उन्हें वेश्या कह कर संबोधित करते हैं। उपन्यास की स्त्री पात्र विमली का जीवन भी विवशता से भरा है। जिस मर्यादा में

रहने का फरमान उसके लिए जारी किया गया है, उसमें वह अपनी तकलीफ को किसी से कह पाने में असमर्थ है। जैसे, ''माँ को दादी के ऐसे कहने से बहुत तकलीफ होती पर वे कुछ कर नहीं पाती थीं। वे न पिताजी को ऐसा करने से रोक सकती थी और न दादी को ऐसा कहने से।''[4] सच पूछे तो भारतीय स्त्री के जीवन व्यथा का कारण वह स्वंय ही है। परंपरा एवं मर्यादा के नाम पर वह अपने आप को उस जगह खड़ा ही नहीं होने देती जहाँ समाज उससे सवाल करे।

भारतीय समाज में स्त्री जीवन की सम्पूर्ण झलक दिखलाता यह उपन्यास वास्तव में तारीफ के काबिल है। जब किशोर बाबू की बेटियाँ अपने पिता के व्यवहार से तंग आ कर अपनी बड़ी माँ से पूछती हैं–''बड़ी माँ, तुम बताओ कि पापा इस तरह क्यों सोचते हैं लड़कियो बारे में?''[5] किशोर बाबू लड़कियों के उच्च शिक्षा के खिलाफ हैं। वे लड़के-लड़कियों के बीच फर्क करते हैं। उनकी मान्यता है कि ''समाज में एकबार किसी बात की हवा उड़ गई, तो हमेशा के लिए बदनाम हो जायेंगे। इतने बरसों का किया-कराया सब धरा रह जायेगा।''[6] आधुनिक युग में भी अधिकांश परंपराओं को मानने वाले मध्यमवर्गीय पुरुष लड़कियों के विषय में ऐसी ही मानसिकता रखते हैं। स्त्री को अपने छोटे-छोटे निर्णय के लिए पुरुष की स्वीकृती आवश्यक होती है। पिता, भाई, पति, बेटा जैसे पुरुष सत्ता के रिश्ते उसके जीवन की डोर हर समय कसने के लिए तैयार है।

'शेष कादम्बरी' उपन्यास की नायिका जीवन के सत्तर बसंत देख चुकने के बाद भी उम्र के इस पड़ाव पर अपनी अस्मिता और अस्तित्व की पहचान के लिए संघर्षरत दिखाई देती है। सत्तर वर्ष की रूबी दी पिछले छब्बीस सालों से सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में समाज में अलग-अलग प्रकार से सताई हुई असहाय निर्बल, दुखियारी अबलाओं की सहायता करने के लिए 'परामर्श' नामक संस्था चलाती है। वे इस संस्था के माध्यम से अलग-अलग समस्याओं से ग्रसित स्त्रियों की सहायता कर उसका निवारण करने का प्रयास करती है। 'शेष कादम्बरी' में सविता नामक नारी के चित्रण से उपन्यास की शुरूआत होती है। इस में कथा के माध्यम से स्त्रियों के विचारों को प्रकट करने की कोशिश की गई है, जिस में अलका जी सफल भी हुई है। रूबी, सविता, कादंबरी, सायरा, आभा जैन, शीला, कम्मों, माया बोस, शकुंतला, गौरी, फरहा, श्यामा, मिसेज सूद, निवेदिता जैसे नारी पात्र परंपरागत मूल्यों के साथ आधुनिक मूल्यों का भी बोध कराते है।

मर्यादा एक ऐसा भयानक शब्द है जो स्त्री को हर तरफ से डराने और बाँधकर रखने के लिए कारगर है। यही वह शब्द है जो उसे अनेक दुःखों और कष्टों को सहते हुए उसी जीवन में रहने के लिए मजबूर कर देता है। हर प्रकार के दुःख दर्द और पीड़ा को सहते हुए वह सहनशीलता की मूर्ति बन जाती है। स्त्री का जीवन दुःखों का महासागर होता है और इस महासागर को विचारों का अभाव दूगुना कर देता है। उपन्यास में सविता नामक लड़की के द्वारा इस सीमित सोच को दर्शाया गया है। परंतु देखा जाए तो स्त्री के इस सीमित सोच के लिए जिम्मेदार उसका वह समाज है जिसमें वह पैदा होकर बडी होती है। जैसे–''जिस दुनिया में वह बड़ी हुई थी, वहाँ इस तरह की कोई निजी बात, जिसको पूछने का कोई विशेष मकसद न हो किसी से पूछना अमर्यादित व्यवहार था।''[7] उपन्यास की नायिका रूबी दी भी घर-गृहस्थी के अंर्तद्वंद्व में कैद है। रूबी जब घर से बाहर सामाजिक कार्य कर वापस अपने घर आते समय गंगा का बेलीस पुल पार करने के बाद आज तक केवल अपने घर गृहस्थी के बारे में ही सोचती है। पुल पार करते ही उनकी दुनिया का वह हिस्सा जिसमें वह दूसरों के लिए जीती थीं एकदम कटकर अलग हो जाता है। रूबी दी के जीवन से जुड़ा यह तथ्य स्त्री के जीवन की सीमा को दर्शाता है। क्योंकि इसी सीमा में कैद रह कर जीने वाली स्त्री ही चरित्रवान कहलाती है जो इस सीमा को लांघ कर अपनी पहचान बनाने की कोशिश करती है उसे समाज चरित्रहीन मानता है। इस संदर्भ में राजेंद्र यादव जी का मन्तव्य है–''प्रारंभिक काल में नारी की भूमिका बैठक में होने वाली बहसों में हिस्सा लेकर वापस रसोई घर और शयन घर तक सीमित थी। आज की नारी घर और बाहर के द्वंद्व में फंसी है। इसलिए आज की लेखिकाएं स्वयं को अपनी दृष्टि से देखती हैं। वह वस्तु से व्यक्ति और फिर व्यक्तित्व बनती है।''[8] इनका यह मत आज के प्रसंगों में भी सटीक लगता है।

घर-परिवार से उपेक्षित स्त्री को इस में दर्शाते हुए रूबी गुप्ता का चित्रण किया है। रूबी गुप्ता को जिन माता-पिता ने जन्म दिया उनके पास वह कभी नहीं रही, क्योंकि उसका पालन पोषण उसके मामा-मामी ने किया। उसे इस बात का पता ग्यारह साल की उम्र में होता है, जब मामा-मामी और उसकी माँ के बीच आधी रात को उसे लेकर बात-चीत हो रही थी उसे वह सुन लेती है। दूसरी ओर मामा-मामी उसे कानूनी तौर पर गोद भी नहीं लेते जिसकी वजह से रिश्तेदार, समाज, जान-पहचान वाले सभी उसे पाली हुई लड़की के नजरिए से देखते हैं।

उपन्यास में अत्याचार और शोषण की वास्तविक एवं गहरी अनुभूति प्रकट करने वाला चित्र उपस्थित होता है। 'माया बोस' नामक स्त्री शोषण और अत्याचार पीड़ित स्त्री का जीता-जागता उदाहरण है जो अपने साथ हुए यौन शोषण के बारे में भी किसी को कुछ बता नहीं पाती। रूबी दी को वह बताती है–''आठ साल की उम्र में मेरा जीवन नष्ट किया उस आदमी ने कोई और कहीं एकदम करीबी रिश्तेदार है वह घर में रहने वाला साँप। मैंने शादी कर ली तो साँप कौन पालेगा और मुझे उसने विषकन्या बना दिया। रूबी दी, मैं क्या किसी के लायक रह गई?''[9] माया बोस पर उसका सगा पिता बलात्कार करता है तो दूसरी लड़की सायरा पर उसका सगा भाई बलात्कार कर उसे गर्भवती बनाता है। केवल उपन्यास में ही नहीं आज वास्तव जीवन में भी स्त्री कहीं भी सुरक्षित नहीं है, स्वयं अपने घर में भी नहीं। स्त्रियों को लेकर भले ही अनेक कानून बनाए गए हो, परंतु स्त्री को लेकर वास्तविकता हम सभी जानते हैं। सामूहिक रूप से बलात्कार तो जैसे आज आम बात हो चुकी है, उन्हें नग्न करके गाँवों में घुमाने में भी हमारे अनेक सज्जन, विद्वान, स्वयं को कानून, धर्म का रक्षक समझने वाले पुरुषों को लज्जा महसूस नहीं होती। स्त्री आज भी विविध स्तरों पर असुरक्षित और भोग-विलास की वस्तु ही बनी है। अनेक स्त्रियाँ आज इन जंजीरों को तोड़ कर मुक्ति का प्रयास कर रही है किंतु समाज उसके इस प्रकार के व्यवहार को इतनी सफलता से स्वीकार कर पायेगा? इस बारे में मृणाल पांडे जी के विचार हैं–''नारीवाद पुरुषों का नहीं उसकी मानवीयता घटाने वाली उन मुखौटों का प्रतिकार करता है जो मर्दानगी के तौर पर गढ़ा गया है और जिसके पीछे झूठी अहंमन्यता और उत्पीड़न–प्रकृति के अलावा कुछ नहीं है। नारीवाद लेखन की उल्लेखनीय प्रकृति के बावजूद नारी शोषण और संघर्ष के विविध आयामी स्वरूप में समाहित है।''[10] सविता नामक स्त्री विवाह बंधन में बंध कर कुंठित जीवन, पति से यौन तृप्ति न हो पाने की पीड़ा चुपचाप सहती है और उसका पति बाहर अन्य स्त्रियों से संबंध रखता है, फिर भी परिवार एवं समाज की नजरों में वही दोषी है। बाप के होते हुए भी वह अनाथ है। समाज का हर शख्स उसे गिरी हुई निगाह से देखता है। सविता द्वारा इसका स्पष्टीकरण करते हुए अलका जी कहती है–''इस लड़की में भला ऐसा क्या दोष है कि कोई इसे अपने साथ नहीं रखना चाहता, न पिता, न बड़े भाई-भाभी, न पति।''[11] इस तरह सभी परिवार वालों के बीच सविता अकेली ही है तथा अकेलेपन का जीवन जी रही है।

बेबस, अनपढ़ ही नहीं, पढ़ी लिखी स्त्री के साथ भी समाज और परिवार का नजरिया कोई खास अच्छा नहीं होता। अगर मायके में रईसी हो तो उसकी कीमत भी उसे ससुराल में चुकानी पड़ती है। रूबी दी अपनी ससुराल में हमेशा अपनी सास और जेठानी से अपमानित होती रहती है, क्योंकि वह पढ़ी लिखी थी और उसके पास अपना पैसा था। जैसे, ''सतपीढ़ियाँ शहाने अपनी बेटी की विदाई करते समय दहेज के रूप में कुछ कागज सौंप दिए थे परंतु उसमें से रूबी के हस्ताक्षर बिना रुपए निकाल नहीं सकते थे। इसलिए रूबी दी कहती है कि 'ये औरत, तूने जब भी किसी भी कोने में पुरुष से अलग अपना कुछ बनाया है, तो तुझे इसकी कीमत देनी पड़ी है लेकिन तुम अपने इस पैसे को जो कभी तुम्हारा नहीं था और न कभी तुम्हारे हाथ में था, आखिर कितनी कीमत चुकाओगी?''[12] इसी पैसे के कारण रूबी दी को न कभी माँ का प्रेम मिला, न कभी बेटी का और न ही सास का।

संदर्भ सूची

1. मंजू रुस्तगी, अनामिका का काव्य, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2015 पृ. 13
2. रेखा कस्तवार, स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2006 पृ. 20
3. कलिकथा : वाया बायपास, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998, पृ. 16
4. वही. पृ. 31-2
5. वही. पृ. 58
6. वही. पृ. 58
7. शेष कादंबरी अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2001, पृ. 06
8. मेरी तेरी उसकी बात, (हंस पत्रिका), राजेंद्र यादव, दिसंबर, 2000, पृ. 06
9. शेष कादंबरी, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृ. 66
10. समकालीन हिंदी कहानियों में नारी चेतना, डा. मृत्युंजय उपाध्याय, संपादक, डा. कामना कामलेरान, सितंबर-दिसंबर 1998, पृ. 30
11. शेष कादंबरी, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2001, पृ. 07
12. वही. 2001

डा. शहनाज महेमुदशा सय्यद
बलवंत महाविद्यालय, विटा
तहसील खानापुर, जि. सांगली
महाराष्ट्र

रामस्वरूप वर्मा का साहित्यिक शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण

–आलोक यादव

श्रेष्ठ समाज व श्रेष्ठ भारत निर्माण में वर्मा जी स्वयं मानववाद की स्थापना के लिए तमाम विरोधों के बावजूद मानववादी साहित्य की रचना कर रहे थे। आज से लगभग पाँच दशक पहले वे एक राजनेता थे। इसके साथ-साथ एक उच्च कोटि के दार्शनिक व चिंतक तथा लेखक भी थे। इनकी रचना-धर्मिता से पुष्पित पल्लवित साहित्य जो समाज को समर्पित है, वह इस प्रकार है–'क्रांति क्यों और कैसे', 'मानववाद बनाम ब्राह्मणवाद', 'मानववादी प्रश्नोत्तरी', 'अछूतों की समस्या और समाधान', 'ब्राह्मण महिमा क्यों और कैसे', 'अंबेडकर साहित्य जब्ती और बहाली', 'निरादर कैसे मिटे', 'मनुस्मृति राष्ट्र का कलंक', 'अर्जक संघ सिद्धांत वक्तव्य विधान कार्यक्रम' आदि उनकी प्रमुख रचनाएं हैं। साहित्य और राजनीति दोनों पर उनका समान अधिकार था। वे समाजवादी विचारधारा से ओतप्रोत थे। इसलिए उनके साहित्य और राजनीति में समाजवादी विचारधारा घुल-मिल गई है। वर्मा जी के समाजवाद में न किसी तरह का छल है न भेदभाव। वे समाज = सम+आज अर्थात् आज सभी बराबर हैं, के सदैव पोषक रहे। समाज में व्याप्त गैर बराबरी और ब्राह्मणवादी संस्कृति से मुक्ति पाने की छटपटाहट उनमें सर्वाधिक मुखर होती दिखाई देती है। वे समाज को समता के भाव में व वर्णाश्रम की संस्कृति से रहित देखना चाहते थे जिसमें राम, रावण, द्रोणाचार्य, एकलव्य व अर्जुन जैसे काल्पनिक पात्रों का सृजन न हो। ऐसे में मिथकों से भी अर्जक साहित्य को दूर रखना होगा।

रामस्वरूप वर्मा का साहित्य व उनका साहित्यिक दृष्टिकोण वर्णाश्रम व्यवस्था के साहित्य के दृष्टिकोण के खिलाफ है। वे भाग्यवाद, पुनर्जन्म और तर्कहीन रचनाकर्म के पक्षधर नहीं थे। इससे समाज में अज्ञानता और अंधविश्वास का प्रसार होता है। वर्मा जी का मानना है कि उच्च शिक्षा में जो साहित्य उपलब्ध है उनमें काल्पनिक पात्रों, भाग्यवाद और पुनर्जन्म जैसी बातों की भरमार है। साहित्य में कहीं भी दलित, उपेक्षित एवं अर्जकों की समस्याओं को शीर्षक के रूप में नहीं रखा गया है। साहित्य में लेख, कविता, कहानी, उपन्यास और नाटक आदि आते हैं। इनके माध्यम से वर्मा जी समता का साहित्य समाज के बीच उपलब्ध कराने की वकालत करते दिखाई पड़ते हैं। उनका मोटो है कि लोगों में वैज्ञानिक सोच पैदा हो और जाति के नाम पर जो भेदभाव होता है उस संस्कृति का अंत हो। इसके लिए कहानी, उपन्यास व नाटक को वे प्रबल प्रचार के साधन माने। चूँकि कहानी किसी एक घटना से संबंधित होती है उसका

समय अल्प होता है। यों तो साहित्य को किसी सधे ढले रास्ते पर ही ले चलना न तो साहित्य के विकास के लिए हितकर है न उसमें नवीनता ही रह जाती है। फिर भी हमें इनकी सीमाओं पर ध्यान देना ही पड़ता है। वहीं उपन्यास को उन्होंने कहानी से विस्तृत बताया। उन्होंने नाटक, ड्रामा और नौटंकी को भी मानववादी साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए उचित साधन माना है। वे कहते हैं—"हमें तो इस समय केवल इस बात पर विचार करना है कि इन साहित्य के माध्यमों के जरिए हम किस प्रकार अर्जक संघ की विचारधारा को जनमानस तक पहुंचा सकते हैं।"[1]

रामस्वरूप वर्मा अपने साहित्य में समता का साहित्य आवश्यक, लोक साहित्य जनमानस का प्रतिबिंब हो, श्रम शोषण के खिलाफ बगावत, समाज साहित्य का अनुगामी हो जैसे साहित्यिक उद्देश्यों को उन्होंने अपनी दृष्टि दी। वे लिखते हैं, ''अब तक का सारा उपलब्ध भारतीय साहित्य मुख्यतः वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रचारक रहा है। इतिहास, पुराण, स्मृति, उपनिषद, वेद, नाटक, कथाएं, महाकाव्य, आदि में इसी संस्कृति की छाप है। पुनर्जन्म, वर्ण व्यवस्था और भाग्यवाद का येन-केन प्रकारेण प्रतिपादन इनमें मिलता है। प्रायः सारा भारतीय साहित्य राजा महाराजाओं और प्रजा की स्तुति, निंदा से परिपूर्ण इन पुस्तकों में धनी उच्च-वर्णीय लोगों के मनोविकारों के चित्रण का ही प्रयास किया गया है। उनके ही हर्ष, शोक, सुख, दुख, घृणा, प्रेम, ह्रास-विलास आदि भावों का चित्रण करना साहित्यकारों का ध्येय रहा है। इसलिए सारा समाज ऊपर देखूं बनकर रह गया।"[2] वास्तव में साहित्य समाज का दर्पण है तो भारतीय साहित्य में समाज के अंतिम पायदान पर खड़े वंचित, शोषित, दमित समुदाय का प्रतिबिंब दर्पण रूपी साहित्य में दिखना चाहिए। जबकि ऐसा नहीं है, हमेशा से इस दर्पण में राजाओं-महाराजाओं, धनिकों, जमीदारों का प्रसंग ही प्रतिबिंबित हुआ है। चूंकि वर्मा जी ने जब भी साहित्य रूपी दर्पण को निहारा है, उसका निरीक्षण किया है तो उसमें समाज को बांटने और समाज में ऊंच-नीच की भावना को फैलाने का भाव ही नजर आया है। अब तक के लिखे गए साहित्य पर वर्मा जी का चिंतन स्पष्ट रूप में हमारे सामने है जो विकृतियों से भरा पड़ा है। यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो आसानी से कहा जा सकता है कि भारत का साहित्य गरीबों के मनोविकारों के प्रति उदासीन और उच्चवर्णीय धनियों के मनोविकारों से प्रभावित रहा है।

रामस्वरूप वर्मा को 'राजनीत का कबीर' कहा जाता है जिसका असर उनके साहित्य चिंतन में दिखाई देता है। उनके साहित्य चिंतन में कबीर के सिद्धांत, कबीर के विचार, कबीर जैसा श्रमिक समर्थक होना देखा जा सकता है। चूंकि, कबीरदास बुनकर जाति से आते थे। उनका पेशा श्रमिकों का था। कबीर श्रम करते थे और उससे जो कुछ अर्जित होता था अपना पेट पालते थे। कहीं न कहीं वर्मा जी का अर्जक विचार कबीर के श्रमशील होने से प्रभावित है जिसे रामस्वरूप वर्मा अपने साहित्य में अर्जक के रूप में पेश करते हैं। मानववाद के स्थापना पर जोर भी देते हैं। कबीर दास का विचार उनके 'साखी' में वर्णाश्रम विरोधी और मानवता को स्थापित करने वाला है। कबीर जैसे महान समाज सुधारक जिनमें आडंबर करने वालों, धर्म के ठेकेदारों को कड़ी फटकार लगाने की अपार क्षमता थी, जबकि दुर्भाग्य की बात यह है कि ऐसे महान विचारक के साखियों, बानियों को सांप्रदायिक कहा गया। इसे यहीं तक नहीं सीमित रखा बल्कि सांप्रदायिक कहकर उन्हें साहित्य की श्रेणी से बाहर रख दिया गया। ऐसा करके कुछ-एक परंपरा के पोषक साहित्य के इतिहासकारों ने कबीर के साथ अन्याय किया। ऐसी ही चिंता रामस्वरूप वर्मा जी के साहित्य को लेकर भी है। इतना महत्वपूर्ण विचार उन्होंने अपने लेखन कर्म के माध्यम से परोसा है किंतु उन्हें भी साहित्य के अंतर्गत जगह नहीं मिल पायी है। हम देखते हैं कि इन सबके बावजूद रामस्वरूप वर्मा जी साहित्य के स्वरूप परिवर्तन की जिम्मेदारी उठाए जो हमारे समाज के लिए उपयोगी है। इससे मानव मस्तिष्क को लकीर का फकीर बनने के बजाए ज्ञान एवं तर्क से भरा जा सकता है। जिस ब्राह्मणवादी साहित्य से समाज को बचाने की चिंता वर्मा जी कर गए हैं उनमें ऊंच-नीच की संस्कृति में ऊंचों के दुखों के प्रति लोगों में दया भाव के लिए रचनाएं की गई हैं। लेकिन कंगाल समाज के निरादृत लोगों के बारे में उन्होंने कभी करुणा नहीं जगाई जिससे मानवता फलती-फूलती और मानव-मानव की बराबरी का सिद्धांत प्रतिष्ठित होता है। यदा-कदा भारतीय वांग्मय में ऐसी रचनाएं मिल जाती हैं जिनमें छुआछूत, ऊंच-नीच के प्रति आक्रोश या गुस्सा है। ऐसी जो कुछ रचनाएं आज के दौर में हैं भी तो उन्हें साहित्य की मुख्यधारा से अलग-थलग रखा गया है। पाठ्यक्रमों में शामिल करने से बचा गया है। हालांकि, ऐसी रचनाएं सारे भारतीय साहित्य में नगण्य हैं। अतः अब अर्जक साहित्यकारों का ध्यान इस ओर जाना चाहिए।

मुंशी प्रेमचंद ने जमीदारों के अत्याचारों के खिलाफ कितने उपन्यास और कहानियां लिखी, इसका ज्ञान अगर

पढ़े लिखे लोगों को है तो फिर अर्जक साहित्यकारों के हृदय में मानव-मानव की गैर बराबरी और श्रम शोषण के खिलाफ बगावत करनी चाहिए। उनकी बगावत मर्मस्पर्शी कहानियों, उपन्यासों, नाटकों के जरिए आनी चाहिए। जैसा कि प्रेमचंद ने यथार्थपरक उपन्यास 'गोदान' में किसान की त्रासदी को लेकर मार्मिक चित्र खींचा है। इसमें किसान होरी जमींदार के पैरों तले अपनी गर्दन देने को त्रस्त है। होरी पुनर्जन्म और भाग्यवाद जैसी बात पर विश्वास करने को मजबूर है। होरी का कथन है, ''उन्होंने पूर्वजन्म में जैसे कर्म किए हैं, उनका आनंद भोग रहे हैं। हमने कुछ नहीं संचा तो भोगें क्या?''[3] यहाँ प्रेमचंद होरी के माध्यम से पुनर्जन्म और भाग्यवाद पर कड़ा प्रहार किया है। वे होरी के पुत्र गोबर के माध्यम से अंधविश्वास का खंडन कराते हैं जो तर्क भी करना जानता है और जमीदारों तथा पाखंडियों के खिलाफ अपने पिता को समझाता भी है। ऐसे ही कई उपन्यास जिनमें एक 'कर्मभूमि' भी है जिसमें हिंदू-मुस्लिम एकता, अछूतोद्धार एवं दलित किसानों के उत्थान की कथा है। उनकी कहानियों में 'सद्गति' कहानी है जिसमें उन्होंने वर्णाश्रम संस्कृति की नग्नता को उधेड़ कर रख दिया है। इस तरह से और भी आधुनिक लेखकों के साहित्य में ऐसे घटनाक्रम देखने को मिल जाते हैं जो फिर भी नगण्य हैं।

अभी तक शंबूक और एकलव्य के कथानकों पर ही विभिन्न लेखकों ने अपने नाटक व काव्य लिखे जिसमें उच्चवर्णीय लोगों पर अनाचार अत्याचार की कहानी है। लेकिन आज के यथार्थ जीवन में अनेक इससे अधिक हृदयस्पर्शी घटनाएं घट रही हैं जिनको लेकर साहित्यिक रचनाएं बन सकती हैं। उनमें अधिक सजीवता और नवीनता होगी। ये जीवन की वर्तमान विकृतियों को स्पष्ट रूप से रखकर उनके प्रति अनास्था जगाने में अधिक सहायक होंगी। रामस्वरूप वर्मा के साहित्य चिंतन के दायरे में हाल ही में 12-13 अगस्त, 2022 को राजस्थान में घटित घटना जिसमें एक सवर्ण अध्यापक के द्वारा दलित छात्र की पीट-पीटकर हत्या कर दी जाती है। वजह बस इतना कि वह छात्र अध्यापक के लिए रखे पानी पीने के मटकी से पानी पी लेता है जिस पर आग बबूला हुआ अध्यापक छात्र की जान ले लेता है। यह घटना बहुत ही मार्मिक व हृदयविदारक है। अतः इस तरह की घटनाओं को अंजाम देने में कहीं न कहीं ब्राह्मणवादी साहित्य का प्रभाव है। इस तरह की घटनाएं भारत में बढ़ती जा रही हैं, जिसमें दलितों व दलित महिलाओं के साथ अभद्रता, मारपीट, यहां तक कि जिंदा जला दिया जा रहा है। वर्मा जी का चिंतन इसी तरह की घटनाओं पर अर्जक साहित्यकारों में चेतना जागृत करता है ताकि वे इस तरह की घटनाओं को अपनी कहानी, उपन्यास का फलक बनाकर अत्याचारियों, कुत्सित मानसिकता वाले लोगों का पर्दाफाश करें।

इन सबके साथ रामस्वरूप वर्मा ने उत्तर प्रदेश में आज से पाँच-छह दशक पहले वर्तमान शिक्षा-प्रणाली पर भी चिंतन प्रकट किया था। ''आश्चर्य की बात तो यह है कि आजादी की लड़ाई लड़ने वाले जब आजाद हो गए तो रूढ़िवादी विचारधारा से अभिभूत होने के कारण निजी स्वार्थों की पूर्ति में लोग लग गए और यह नहीं सोचा कि शिक्षा का उद्देश्य स्थित करके उसके अनुरूप शिक्षा प्रणाली चलाने पर ही नवराष्ट्र निर्माण संभव है।''[4] उन्होंने तब शिक्षा प्रणाली को दोषपूर्ण कहा था और इसे बदले बिना देश तरक्की नहीं कर सकता, ऐसा मानना था वर्मा जी का। साहित्य के प्रति उनकी सतर्कता आज भी उन्हें प्रासंगिक रूप में स्थापित करती है। उनका मानना था कि ''उद्देश्यहीन शिक्षा का पाठ्यक्रम अज्ञानतावर्धक है।''[5]

संदर्भ ग्रंथ

1. कटियार भगवान स्वरूप, संपादक, रामस्वरूप वर्मा समग्र, भाग-1, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2014, पृ. 132
2. वही, पृ. 132
3. प्रेमचंद, गोदान, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण, 2019, पृ. 19-20
4. कटियार भगवान स्वरूप, संपादक, रामस्वरूप वर्मा समग्र भाग-1, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2014, पृ. 433
5. वही, पृ. 435

आलोक यादव

शोधार्थी

हिंदी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, 226025

अभिशप्त शब्द थोपने के खिलाफ थे डा. आंबेडकर

–प्रो. कन्हैया त्रिपाठी

गजब की है यह दुनिया। यहाँ मनुष्य जन्मता है जैविक रूप से, लेकिन जीता है अपने इस सामाजिक और संस्थानिक व्यवस्था के तानेबाने में। 'दास प्रथा' इस धरती की बहुत बड़ी क्रूर कथा है जिसके पीछे यही व्यवस्थाएं हैं। मनुष्य अपने जन्म के बाद स्वयं का मालिक बन कर जीने के काबिल भी नहीं रह जाता है, तो इसके पीछे मनुष्यों द्वारा मनुष्यों के लिए बनायी गयी व्यवस्था और परिस्थितियाँ हैं। दुनिया में दासों की भी बहुत बड़ी संख्या रही है। प्राचीन काल में चाहे वह राजशाही हो, जारशाही हो या विपणन की व्यवस्था, सभी जगह दासों की उपस्थिति मिलती है। ये दास आखिर होते क्यों थे, ये दास आखिर होते क्यों हैं और ये दास आखिर होंगे क्यों, कभी इन सवालों से जूझकर देखेंगे तो पाएंगे कि ये दास जैसी परिस्थितियाँ सार्वकालिक हैं। यह विषय सार्वकालिक है। यह जड़ीभूत व्यवस्था का क्रूर सचाई है कि हमारी सामाजिक अवरसंरचना में दास थे। दास हैं और दास बने रहने की सम्भावना है। हाँ, यह जरूर हुआ है कि कभी वे यतीम थे, गुलाम थे और आज कुछेक वे हैं जो गुलाम हो कर दास मनोवृत्ति से ही जी लेने के लिए आतुर हैं।

बाबा साहेब डा. भीमराव रामजी आंबेडकर ने इस दास व्यवस्था से मुक्ति के लिए चिंता व्यक्त की थी। केवल चिंता नहीं, अपितु उनकी जीवनचर्या, उनकी परिस्थितियों, उनकी छटपटाहट को वे बहुत सूक्ष्म तरीके से अध्ययन करके, इसको भारतीय समाज के लिए अभिशाप मानते थे। डा. आंबेडकर ने 'हू वेयर शुद्राज' में आर्य, दास और दस्यु से जुड़े प्रश्नों को बहुत ही गंभीरता से विचार किया है। दासों के बारे में गढ़े गए मनोविकार को भी रेखांकित किया है। ऋग्वैदिक काल में दास शब्द की व्याख्या जो थी, उससे वे भिज्ञ थे। डा. आंबेडकर ने अपनी पुस्तक में शूद्र और दास नामक व्याख्या को रेखांकित किया है और लिखा है कि ऋग्वेद में 'दास' शब्द 54 बार तथा 'दस्यु' शब्द 78 बार पृथक-पृथक आया है। इससे यह तथ्य प्रकट होता है कि दोनों भिन्न थे, क्योंकि यदि दोनों भिन्न नहीं थे, तो फिर इनके वर्णन में भिन्नता क्यों है? संभावना यही है कि दोनों पृथक-पृथक समुदायों या जातियों के थे। जहाँ तक शूद्रों का प्रश्न है यह कहना कि वे भी दासों और दस्युओं की जाति के थे, निराधार है।[1] उन्होंने ऐसी किसी भी व्याख्या को नकारा जो उन्हें अतार्किक लगी और अनुचित लगी। वे दास शब्द के अनेक विश्लेषण के साथ इस सवाल पर पहुंचते हैं कि ऋग्वेद में स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि आर्यों ने अपने लोगों को दास बनाया। फिर प्रश्न उत्पन्न होता है कि

उन्होंने विशेष रूप से शूद्रों को दास क्यों बनाया? इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि शूद्र दासों के लिए उन्होंने पृथक विधानों की रचना क्यों की?

दरअसल, दास लोगों के लिए अलग से विधान, अलग आचार-संहिताएं, अलग से जीवन-शैली और अलहदा सा जीवन के रंग, ये सभी किसी भी सभ्य समतामूलक समाज के हिस्सा नहीं माने जा सकते। लेकिन विडंबना यही है कि भारत समेत विश्व की तमाम सभ्यताओं में जब भी दास विषयक विमर्श आते हैं, वे अनेक पीड़ाओं की गठरी लिए होते हैं जिसमें उनको न ही उनका कोई स्व होता है और न ही उनकी कोई अस्मिता। डा. आंबेडकर ने भारत में शूद्र जीवन दास जीवन शैली के रूप में महसूस किया। वे अपने समय के साथ अपनी विरासत से इसीलिए सवाल करते हुए हमें मिलते हैं। वे इस पूरे विमर्श को आर्यावर्त की लम्बी परम्परा में देखते हैं तो उन्हें यह महसूस होता है कि दास तो पहले राजा भी थे, पुरोहित भी थे। श्रेष्ठ कर्म-चेतना विस्तार के पुरोधा थे, योद्धा भी थे, तो बाद में ऐसी स्थितियाँ जो शूद्र तक उन्हें लाती हैं, वे कहाँ से आ गईं? निःसंदेह बाबा साहेब के भीतर इसके लिए हजार उदहारण हैं, हजार खुद से संवाद हैं, अपने अतीत से संवाद, अतीत के अवलोकन व पुनरावलोकन हैं।

वैश्विक स्तर पर दास के बारे में जो अनेक विपणन से जुड़े अतिक्रमण हैं, उसे भारत में भी हम पाते हैं। लेकिन डा. आंबेडकर ने जो तर्क भारतीय परिप्रेक्ष्य में प्रकट किया दास बनने की प्रक्रिया के बारे में, वह कुछ इस प्रकार थे, 'संस्कारों के संबंध में कोई विस्मय नहीं है। प्रत्येक समाज संस्कारों को स्वीकार करता है। आर्य अथवा अनार्य सभी उपनयन के पात्र थे। उनके लिए सामाजिक महत्व का कोई स्थान नहीं था। यह सभी के लिए समान संस्कार था। यह मुट्ठी भर लोगों का विशेषाधिकार नहीं था। जब शूद्र इससे वंचित कर दिए गए तो यह प्रतिष्ठा का प्रश्नचिह्न बन गया और इसका वर्जन दासत्व की निशानी बन गया'।[2] इस प्रकार भारत में डा. आंबेडकर ने इस दास शब्द की व्याप्ति का कारण ही सांस्कृतिक कारण बताया है। उसे वह साजिश मानते हैं और यह थोपी हुई, एक बनायी हुई प्रथा या व्यवस्था करार देते हैं। डा. आंबेडकर ने बहुत साफ शब्दों में इस दास और दासता को नकारते हुए कहा कि 'दासता से मुक्त होने पर ही मनुष्य विवेक और आचरण की सर्वोच्च पूर्णता अपने लिए प्राप्त कर सकता है'।[3] वह इसके पीछे यह तर्क देते हैं कि 'वर्गीकृत असमानता का सिद्धांत है, जिसे ब्राह्मणवाद ने समाज की हड्डियों और मज्जा में घोल दिया। अन्याय को समाप्त करने के लिए समाज को पंगु बनाने के लिए इससे अधिक बुरा कुछ और नहीं किया जा सकता था। हालांकि, इसके प्रभाव स्पष्ट रूप से नजर नहीं आते लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि इसके कारण हिंदू पंगु हो गए।'[4] और इसके बाद डा. आंबेडकर कहते हैं कि 'असमानता अधिक दिनों तक नहीं रहती। जहाँ केवल असमानता होती है, वहाँ दो बातें होती हैं। उससे 'असंतोष' जन्म लेता है जो 'क्रांति का बीज' होता है।'[5]

दास की स्थिति स्वामित्व के बरक्स खड़ी करके समझी जा सकती है। भारत या विश्व में कहीं भी स्वामित्व और आधिपत्य के संस्कृतीकरण ने दास जैसे अभिशप्त अभिप्राय को समझाया। भारत से गए गिरमिटिया समाज इसके सबसे बड़े उदहारण हैं। यहाँ पर डा. आंबेडकर ने दास शब्द को समझने और उसके पीछे की सांस्कृतिक राजनीति का बहुत ही बेहतरीन विश्लेषण किया है लेकिन जब अंग्रेज आए या भारत में मुगल रहे उन दिनों में भी दास प्रथा थी। भारत के महान शासकों में अशोक का नाम बहुत आदर से लिया जाता है। उसके भी राज्य में दास थे। इससे यह स्वतःसिद्ध है कि दास बनाने की संस्कृति पहले बनायी गयी, बाद में मिट गयी, ऐसा कोई नहीं कह सकता। लेकिन दास लोगों के जीवनचर्या से जुड़े जो प्रश्न हैं वे जरूर आज भी विचारणीय हैं जिसे देखकर डा. आंबेडकर के मन में इसकी तह तक जाने का, उसकी प्राच्यता व अर्थगाम्भीर्य समझने का भाव आया, ऐसा प्रतीत होता है।

स्मरण आते हैं दासता पर लिखने वाले, पीड़ा को महसूस करने वाले जनकवि जिन्होंने दासता की जिंदगी जी रहे लोगों के अंतस से अपनी बात कही। जो कुछ इस प्रकार थे-*गुलामी, हे गुलामी!/मैं जन नहीं कर सकती/ न्यायाधीश और मजिस्ट्रेट कार्यमुक्त क्यों नहीं होते?/मेरे पददलित लोग तेरे हाथ के नीचे से,/उन्हें उनकी आजादी लौटाओ,/और उन्हें उनकी जमीन दे दो...*।[6] यह गुलाम लोगों की आवाज थी जो सैमुअल राइट ने 'गुलामी को संबोधित' करते हुए लिखी थी। कहते हैं कि यह कविता 1860 में अमेरिकी गृहयुद्ध की पूर्व संध्या पर लिखी गई थी और इसमें एक उन्मूलनवादी का गुलाम की दुर्दशा के प्रति सहानुभूति व्यक्त करती हुई अपनी संवेदना है। इस प्रकार के विश्व में अनेक काव्य हैं, उपन्यास हैं, कहानियाँ हैं और संस्मरण हैं, जो गुलामी या दासता की असीमित पीड़ा की दास्तान के रूप में हमें मिलती हैं।

पश्चिम में दासता और गुलामी पर बहुत कुछ लिखा-पढ़ा गया है। लैंगस्टन ह्यूजेस की *'याद रखें'* कविता पढ़ें—*याद करो/बंधन के दिन-/और याद रखना-स्थिर मत खड़े रहो. /सबसे ऊंची पहाड़ी पर जाओ/और शहर को नीचे जरा देखो/जहां आप अभी भी गुलाम हैं./कैरोलिना के किसी भी कस्बे को नीची दृष्टि से देखो/या माइन का कोई भी शहर, उस मामले के लिए/या अफ्रीका, जो आपकी मातृभूमि-/और आप देखोगे कि मैं आपके देखने का क्या मतलब रखता हूँ-/श्वेत हाथ-चोर हाथ.../श्वेत चेहरा- गिरा चेहरा.../श्वेत शक्ति-बेईमान सत्ता/वह तुम्हें बनाते है/कि आज तुम कितने भूखे मनहूस हो।*[7] ह्यूजेस (1901-67) पुनर्जागरण के सबसे प्रसिद्ध कवियों में से एक थे। 'याद रखें' में, वह अपने साथी अफ्रीकी-अमेरिकियों को याद दिलाते हैं कि वे चोरी करने वाले 'श्वेत हाथ' और झूठ बोलने वाले 'चमकदार श्वेत चेहरे' के कारण गुलामी के उन्मूलन के बाद भी 'गुलाम' बने हुए हैं। यह सफेद हाथ दुनिया में हर जगह है और गुलामी की समाप्ति के बाद भी पूरी दुनिया में अफ्रीकी लोगों को गुलाम बनाकर रखता है।

एक बार पुनः सैमुअल राईट की कविता पढ़ें तो उनकी अगली पंक्तियाँ कुछ इस प्रकार हैं—*'तर्क की तेज़ आवाज़ लगातार रोती रहती है,/हे मैमोन के प्रेमियों, तुम कब बुद्धिमान होगे? कब तक तुम्हारे दिलों में मिथ्याचार का राज रहेगा?'*[8] इन पंक्तियों को पढ़ें और बाबा साहेब डा. आंबेडकर को पढ़ें 'हू वेअर शूद्राज' तो इन दोनों पाठ के बहाने इस निष्कर्ष पर पहुंच जाएंगे कि सैमुअल की भांति बाबा साहेब डा. आंबेडकर सबको जगाने का प्रयास करते हैं। डा. आंबेडकर अपने विश्लेषण से उस भावना को ही त्यागने का आग्रह कर रहे हैं जिसकी वजह से किसी को दास संबोधित हम कर रहे हैं। वह उन सन्दर्भों को बार-बार उद्धृत करते हैं जिसे हमारे संस्कृत वांग्मय में लिखा गया है। वे समझाने का यत्न करते हैं कि निरंतर दास को दास समझने वाले और कहने वाले लोग यह जान लें कि दास शब्द रूढ़ भी नहीं है बल्कि इसे प्रचीन समय में कई लोगों ने अपने नाम के साथ जोड़ा, सुदास उनमें से एक हैं जिन्हें भारतीय धरती पर राज करने का भी अवसर मिला था। वैसे भारत में गुलामी के लिए हमेशा नए-नए हथकंडे अपनाये गए। कैसे गुलाम बनाया जा सकता है, इसे आजमाया गया और गुलाम होने की एक लम्बी आजमाईश को रघुबीर सहाय अपनी कविता 'गुलामी' में कुछ इस प्रकार अभिव्यक्त किये हैं—*मनुष्य के कल्याण के लिए/पहले उसे इतना भूखा रखो कि वह और कुछ/सोच न पाए/फिर उसे कहो कि तुम्हारी पहली जरूरत रोटी है/जिसके लिए वह गुलाम होना भी मंजूर करेगा/फिर तो उसे यह बताना रह जाएगा कि/अपनों की गुलामी विदेशियों की गुलामी से बेहतर है/और विदेशियों की गुलामी वे अपने करते हों/जिनकी गुलामी तुम करते हो तो यह भी क्या बुरी है/तुम्हें रोटी तो मिल रही है एक जून।*[9]

थोड़ा ही समय बीता है। न्यूयॉर्क के संयुक्त राष्ट्र मुख्यालय में दासता—''डच औपनिवेशिक दासता की दस सच्ची कहानियाँ'' नामक एक बड़ी प्रदर्शनी लगायी गई थी। इस प्रदर्शनी में शामिल रिज़्क्स म्यूजियम में इतिहास की प्रमुख वालिका स्मूल्डर्स ने कहा था, 'दासता की विरासत हर दिन हमारे बीच है। हमें इसके बारे में बात करनी होगी, विशेष रूप से सभी प्रकार के भेदभाव और नस्लवाद की, जो अब भी मौजूद हैं।'[10] अगस्त 2023 में ही संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन-यूनेस्को की महानिदेशक ऑड्री अज़ूले ने दास व्यापार और उसके उन्मूलन के लिए अन्तरराष्ट्रीय स्मरण दिवस पर शोषण का तत्काल अन्त किए जाने की पुकार लगाई है। उन्होंने कहा कि, 'यह समय, सदैव के लिए मानव शोषण का उन्मूलन करने और हर एक व्यक्ति के लिए गरिमा सुनिश्चित करने का है। एक खास दिलचस्प बात यह है कि दास व्यापार के लाखों पीड़ितों ने बयाँ ना की जा सकने वाले अन्याय को भोगा। उनकी और इस दमनकारी प्रथा का उन्मूलन करने के पक्ष में खड़े हुए नायकों की स्मृति को न्यूयॉर्क में संयुक्त राष्ट्र मुख्यालय में 'ऑर्क ऑफ रिटर्न' नामक एक स्मारक में संजोया गया है। इस स्मारक का नाम, त्रिभुजाकार दास व्यापार के मानचित्रों और सेनेगल के एक द्वीप पर दासों के एक दुर्ग की कहानी से प्रेरित है, जहाँ उन्हें जहाज पर भेजे जाने से रखा जाता था।'[11]

मैक्सिको के कैनकून की डेनिएला पेरेडेस जो प्रदर्शनी को देखने गई संयुक्त राष्ट्र में उसने बहुत भावुक कर देने वाली बात कही थी, 'सरकारें गुलामी को अनदेखा नहीं कर रही हैं और मानती हैं के ये आज भी किस तरह मौजूद है। इससे मालूम होता है कि समाज के लिए अपनी गलतियों से सीखना सम्भव है। मुझे इससे मानवता की भलाई के लिए एक उम्मीद मिलती है।[12] इन सभी के साथ उस प्रदर्शनी में यह बताया गया था कि 1700 और 1850 के बीच, इस भयावह यंत्र से गुलामों को नियंत्रित किया जाता था। ट्रोन्को को, वर्ष 1960 के दशक में नैदरलैंड्स के एक शहर जीलैंड के एक खलिहान से बरामद किया गया था। ये सभी गुलामी के विमर्श में उपेक्षित समाज की अशेष पीडाएं हैं। उनके दर्द हैं। उनके जख्म हैं। उनके जीवन की त्रासदी है। उपनिवेश ने कुछ ज्यादा ही ऐसे त्रासदपूर्ण

जोखिम भरे कृत्यों को जन्म दिया जिसकी चपेट में विश्व का हर कोना गुलामी के घाव को जब-जब सोचता है, उसे अपना घाव ताजा लगने लगता है। अपना घाव हरे हो जाने का उनमें डर एक बार पुनः आँखों के सामने आ जाता है। कैलाश सत्यार्थी[13] का बंधुआ मजदूरों की गुलामी व संघर्ष खिलाफ आन्दोलन, 'बचपन बचाओ आन्दोलन' बहुत प्रतिष्ठित हुआ जिसे नोबेल पुरस्कार से मलाला युसुफजई के साथ नवाज़ा गया, वह भी एक गुलामी का ताजा और अभी भी दुनिया के विभिन्न कोने में विद्यमान उदहारण है। इसके अतिरिक्त एक और अतिचारी सोच और कृत्य सामने आई, 'दो यजीदी महिलाओं को दिया गया है, ये महिलाएं तथाकथित इस्लामिक स्टेट (आईएस) की यौन दासता के चंगुल से भाग कर आईं थीं। नाडिया मुराद बसी[14] और लामिया अजी-बशर[15] उन हजारों यजीदी लड़कियों में शामिल थीं जिन्हें आईएस ने यौन गुलाम बनाने के लिए 2014 में अगवा कर लिया था।' ये गुलामी कितनी भयावह और आतंकित करने वाली रही हैं, इसके परिणाम मनोवैज्ञानिक रूप से कितने भयानक असर गुलामों पर किये हैं, इसकी कल्पना करना मुश्किल है।

ये सभी प्रतीक, कहानियाँ, कविताएं हमारे अच्छे होने के प्रमाण नहीं हैं। आज भी मानवतावादी नेतृत्व हमसे दास-संस्कृति से प्रतिरोध करने की मांग कर रहे हैं। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से डा. आंबेडकर की भी इसमें एक छवि देखी जा सकती है जिन्होंने दास-संस्कृति का प्रतिकार भारत में अपने तरीके से किया। दास शब्द के प्राचीन विरासत को प्रकट किया और अभिशप्त शब्द थोपने की सही मायने में आलोचना की। इसके पीछे उनकी यह भावना प्रकट होती है कि लोग दास शब्द को निकृष्टता से जोड़कर न देखें यदि कोई इस दशा में है भी तो उसके स्वाभिमान में, अपने स्वाभिमान की छवि और उसकी पीड़ा देखें, उन्हें उस अंधेरे से निकालें। सभ्य समाज में कहीं भी दासता और दास प्रथा का स्थान नहीं है। विडंबना यह है कि आज भी संपूर्ण विश्व में लोग दास बनाए जा रहे हैं चाहे वे किन्हीं परिस्थितियों के वश बनाए जा रहे हों।

सन्दर्भ

1. बाबा साहेब डा. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्.मय, खंड 13, पृ. 88
2. संपूर्ण वाङ्मय, खंड 13, पृ. 47
3. संपूर्ण वांग्मय, खंड 7, पृ. 77
4. संपूर्ण वाङ्मय, खंड 7, पृ. 197
5. वही
6. सैमुअल राइट,"ADDRESS TO SLAVERY" by Samuel Wright, Anglo-African Magazine, Thos Hamilton, New York, June, 1859)
7. लैंगस्टन ह्यूजेस की 'याद रखें' "Remember" from (New Haven: Beinecke Library, Yale University, January 2009 https://www.poetryfoundation.org/poetrymagazine/poems/52006/remember-56d2302470412
8. सैमुअल राइट "ADDRESS TO SLAVERY" by Samuel Wright, Anglo-African Magazine, Thos Hamilton, New York, June, 1859
9. रघुवीर सहाय, द्रष्टव्य कविता 'गुलामी', हिंदी समय डॉट कॉम
10. https://news.un.org/feed/view/hi/story/2023/03/1066652
11. (https://news.un.org/feed/view/hi/story/2023/08/1070607)
12. https://news.un.org/feed/view/hi/story/2023/03/1066652
13. https://www.nobelprize.org/prizes/peace/2014//satyarthi/facts/
14. https://www.nobelprize.org/prizes/peace/2018/murad/biographical/
15. https://www.europarl.europa.eu/meetdocs/2014_2019/documents/d-iq/dv/4a_biographiesnmuradlhajibashar_/4a_biographiesnmuradlhajibashar_en.pdf

प्रो. कन्हैया त्रिपाठी
चेयर प्रोफेसर
डा. अम्बेडकर चेयर
पंजाब केन्द्रीय विश्वविद्यालय
बठिंडा, पंजाब

प्रेमचंदपूर्व उपन्यासों में स्त्री जीवन एवं चरित्रांकन

–सरिता यादव

प्रेमचंद पूर्व उपन्यासों में स्त्री जीवन दशाओं पर बात करने से पहले हमें हमारी विरासत में मिले पौराणिक ग्रन्थों में स्त्रियों की जीवन दशा को जान लेना जरूरी है। प्राचीन वैदिक सभ्यता में स्त्रियों को समाज में उचित स्थान और सम्मान प्राप्त था। उनको वे सारी सुविधाएँ व अधिकार प्राप्त थे, जो एक मनुष्य होने के नाते प्राप्त होने चाहिए, जिसके लिए तात्कालिक समय में स्त्रियों को संघर्ष करना पड़ रहा है। लेकिन इतिहास हमें बताता है कि भारतीय नारी वैदिक युग के इस सम्मानित पद पर अधिक दिनों तक आसीन न रह सकी। धीरे-धीरे उनके सम्मान एवं अधिकार में ह्रास होने लगा और वे सहचरी के महान पद से दासी के निम्न स्तर पर आ पहुंची जिसके सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक कारण थे। यदि इतिहास का पृष्ठ पल टकर देखा जाये तो पता चलता है कि स्त्रियों को लगभग 600 ईसा पूर्व तक यज्ञ आदि कार्यों में समान अधिकार प्राप्त था। 200 ईसा पूर्व तक कन्याओं का भी उपनयन संस्कार होता था। ये सब धीरे-धीरे बंद हो गया जिससे वे वेद पढ़ने के अधिकार से वंचित हो गयी और इसका परिणाम यह हुआ कि उनके शिक्षा का महत्व भी कम हो गया। इस प्रकार यज्ञाधिकार और वेदों के अध्ययन से विहीन होकर नारी शूद्रों के तुल्य समझी जाने लगी।

गुप्त युग के बाद नारियों की विवशता और पुरुषों की प्रभुता सर्वमान्य हो गई थी। पुरुष की शारीरिक शक्ति और स्वामित्व की भावना तथा स्त्री की शारीरिक निर्बलता और उसके लिए संरक्षण की आवश्यकता ही उसके पराधीनता का महत्त्वपूर्ण कारण बना। इस समय का सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य–धर्मसूत्र, पुराण, स्मृति, रामायण, महाभारत आदि नारी के प्रति अनादर और निन्दा सूचक वाक्यों से भरे हुए हैं। यदि स्त्री कहीं तार्किक होकर सवाल करने लगे तो संदर्भ में वैदिक ग्रन्थों के 'याज्ञवल्क्य और गार्गी संवाद' नामक प्रसंग के माध्यम से जाना जा सकता है। इतिहास विदित है कि किस तरह से याज्ञयवल्क्य गार्गी के जिज्ञासु मन को शान्त न कर पाने की स्थिति में उग्र हो जाते हैं। चिल्ला पड़े थे कि 'मूर्ख स्त्री' चुप रहो नहीं तो जुबान खींच लूंगा। स्त्री हो स्त्रियों की तरह मर्यादा में रह कर आचरण करो। रोहिणी अग्रवाल अपने आलोचनात्मक ग्रन्थ 'हिन्दी उपन्यास का स्त्री पाठ' में लिखती हैं–''याज्ञवल्क्य गार्गी संवाद क्या महज एक पौराणिक घटना है? मैं सोचती हूं और सिहर जाती हूं। यह सजग सचेत ढंग से आत्म निर्णय-सम्पन्न विचारशील, स्वाभिमानी स्त्री

को उसकी औकात बताने का सामाजिक षडयंत्र है जिसे व्याख्या के जरिये क्रमशः व्यवस्था और आचार संहिता में ढाल लिया जाता है।''[1]

इसी प्रकार दिन-ब-दिन नारी की स्थिति और भी गिरती गयी। ईशा पूर्व की तीसरी शती से नारी के लिए पराधीनता, निंदा, अशिक्षा, पर्दा, बाल विवाह, बहुविवाह निषेध, सती प्रथा, सतीत्व आदि के एकांकी आदर्श और नैतिकता के दोहरे मानदण्ड द्वारा जो चतुर्दिक घेरा डाला गया वह तमाम धार्मिक, राजनैतिक परिस्थितियों के कारण उत्तरोत्तर बढ़ता गया। तदोपरांत विभिन्न आन्दोलनों कानूनों को लागू कर स्त्रियों की इस हीन दशा से मुक्ति दिलाने हेतु कार्य किया जाने लगा। जिससे स्त्रियों की दयनीय दशा में धीरे-धीरे परिवर्तन आना शुरू हो गया।

सर्वप्रथम राजा राममोहन राय (सन् 1774-1833 ई) का ध्यान स्त्रियों की इस हीन दशा की ओर गया। उन्होंने महिलाओं के अधिकारों की रक्षा के लिए कई मुहिम चलाई जिसमें तात्कालिक समय में सबसे ज्यादा प्रचलित कुरीति 'सती प्रथा' थी। इस प्रथा के खिलाफ उन्होंने बहुत संघर्ष करके 1829 ई. में कानूनी रोक लगवाई। इस तरह नारी के उत्थान के इतिहास का भारत में आरम्भ हुआ। बाद में ईश्वरचंद विद्यासागर ने विधवा की दयनीय स्थिति को देखते हुए 'विधवा-विवाह' का आन्दोलन चलाया, जिसके फलस्वरूप सन् 1856 ई. में विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम बनाया गया। इसी क्रम में सावित्री बाई फुले अपने पति जोति राव फुले के साथ मिल कर स्त्री अधिकारों एवं बालिकाओं की शिक्षा के लिए (1848 ई.) में एक विद्यालय की स्थापना की। इसके अलावा आर्य समाज भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक परिषद् (1887) आदि भी स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए तमाम प्रयास किए।

इस प्रकार स्त्रियों की दयनीय स्थिति में परिवर्तन लाने वाले प्रयास जारी थे जो 19वीं सदी तक के सुधारों के प्रयत्न स्वरूप हो रहे थे। किन्तु वर्तमान सदी के आरम्भ के बाद ही उनके सुपरिणाम देखने को मिले। इस समय तक उच्च शिक्षा प्राप्त नारियाँ अपने नए उत्तरदायित्वों का अनुभव करने लगी। उनका कार्य क्षेत्र बढ़ रहा था। सेवा की भावना और राष्ट्रीय प्रगति की आकांक्षा उनके हृदय में स्थान ग्रहण कर रही थी। इन बदलावों के दरम्यान ही साहित्य जगत में भी परिवर्तन तेजी से हो रहा था और साहित्य के क्षेत्र में कथा, कहानी जैसी गद्य विधाएं आकार ले रही थीं जिसमें कुछ समय तक प्राचीन लोक कथाएँ, तिलस्मी, जासूसी आदि कथाएं ही लिखी गई, परन्तु कुछ कालोपरान्त सैकड़ों साल पुरानी कल्पित कथाओं से बाहर आकर यथार्थ के खुरदुरी जमीन की सच्चाईयों का उद्घाटन होने लगा जिसके केन्द्र में मनुष्य और उसके जीवन से जुड़ी समस्याएं कथानक के रूप में बुनी जाने लगी।

प्रेमचंद पूर्व अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय नारी के सामाजिक और पारिवारिक जीवन में अनेक उतार चढ़ाव आये। पश्चिमी सभ्यता के अनुकरण के कारण उच्चवर्गीय भारतीय स्त्री-पुरुषों में विलासिता, वाह्याडम्बर आदि बढ़ने लगे और समाज में कुरीतियों का बोलबाला होने लगा। ऐसे संक्रमण काल में पश्चिमी विचारों से प्रभावित साहित्यकार अपने उपन्यासों के माध्यम से भारतीय समाज को उपदेश देने की चेष्टा कर रहे थे। आधुनिक युग में जब गद्य लेखन की शुरूआत होती है तो उसमें सबसे अच्छी बात यह है कि समाज में व्याप्त तमाम कुरीतियाँ—जैसे बाल विवाह, विधवाओं की दशा, समाज में व्याप्त अशिक्षा आदि समस्याएं शुरूआती उपन्यास साहित्य के केन्द्र में रहती हैं।

हिन्दी का प्रथम उपन्यास गोपालराय के अनुसार गौरीदत्त का 'देवरानी जेठानी की कहानी' है जिसमें समकालीन स्त्री की सामाजिक पारिवारिक स्थिति की विषयवस्तु लेकर लिखी गयी है। इस संदर्भ में गोपालराय लिखते हैं, ''देवरानी जेठानी की कहानी यद्यपि स्त्रियों के पढ़ने लिखने तथा उन्हें गृहस्थधर्म का उपदेश देने के लिए लिखी गयी थी।''[2] प्रेमचंद पूर्ववर्ती उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में स्त्री जीवन का जिक्र आरम्भ से ही करना शुरू कर दिया था। उपन्यास लेखन के प्रथम दौर में लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षा गुरु' अंग्रेजी ढंग का पहला उपन्यास माना गया है। यह कथ्य की दृष्टि से पूर्ववर्ती उपन्यासों की परम्परा में होते हुए भी राष्ट्रीय परिवेश से जुड़ा हुआ उपन्यास है जो स्त्रियों के आदर्शवादी होने का भरपूर समर्थन भी करता दिखाई देता है।

19वीं शताब्दी के 9वें दशक में स्त्री जीवन की समस्याएं और चरित्रांकन से सम्बन्धित कुछ अन्य उपन्यासकार हुए हैं जिनमें किशोरी लाल गोस्वामी के उपन्यासों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। गोस्वामी जी ने तत्कालीन स्त्री जीवन का चित्रण पैनी दृष्टि के साथ किया है।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने लिखा है— ''किशोरी लाल गोस्वामी के पात्र और चरित्र मध्यवर्गीय समाज के प्रतिनिधि हैं। यद्यपि उनका चित्रण सामाजिक वास्तविकता की भूमि पर हुआ है। गोस्वामी जी ने ऐतिहासिक, सामाजिक, गार्हस्थिक और काल्पनिक सभी प्रकार के

उपन्यास लिखे परन्तु सबके मूल में प्रेम चर्चा ही मुख्य रूप से पायी जाती है।''[3] प्रेमचंदपूर्व युग में मध्यवर्ग की स्त्रियों की समस्याओं का चित्रण करने वाले गोस्वामी जी हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में स्त्री समस्याओं का चित्रण प्रमुख रूप से दो दृष्टिकोणों से किया है। एक पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण की पद्धति के कारण समाज, दूसरी नारी के आदर्श रूप में प्रतिष्ठा जिसमें स्त्री जीवन पर महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। 'स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी' जो वेश्याओं के जीवन पर आधारित हिन्दी साहित्य का प्रथम उपन्यास है। प्रेमचंद के पूर्ववर्ती उपन्यासकारों ने एक तरफ जहाँ 'ऐय्यारी', 'जासूसी', 'तिलस्मी' उपन्यास लिख कर पाठकों से वाहवाही लूट रहे थे वहीं दूसरी तरफ तत्कालीन सामाजिक विषमाताओं की ओर यदा-कदा लेखकों की दृष्टि चली जाती थी जो कि अपर्याप्त थी। राधाकांत लिखते हैं–''यह समाज की विभिषिका थी जिसकी ओर अब तक के उपन्यासकार अपनी आँखें बंद किये हुए थे और अपने पाठकों से केवल आदर्श भारतीय नारीत्व के गुण गिनाने, पर्दा प्रथा एवं वेश्यावृत्ति का समर्थन करने या विधवा विवाह की निंदा करने में ही अपने कर्त्तव्य की पूर्णता समझते थे।''[4]

वस्तुतः पुराने रिवाज को आगे बढ़ाना ही उनका लक्ष्य था। इस पुरानेपन से बाहर निकलकर नया मार्ग निर्धारित करने वाला लेखक साहित्य क्षेत्र में अभी उत्पन्न नहीं हुआ था। सांस्कृतिक पुनरुत्थान का स्वर तो तीव्र हो चला था, किन्तु सामाजिक चेतना का अभ्युदय अभी तक नहीं हो सका था। इसलिए नारी जीवन की समस्याओं के चित्रण में निश्चित आदर्शों का अभाव था। स्त्री का मानवीय रूप न हो कर सम्पूर्ण नारी सिर्फ देवी थी, या फिर कुलटा या प्रेमिका स्पष्ट नहीं हो पाया। उसका सौन्दर्य ही तत्कालीन समाज में प्रधान था। इस समय लेखक रीतिकालीन शृंगारिकता को प्रधान विषय बना कर साहित्य सृजन करने में लगे थे। इसलिए इन उपन्यासों की नारियाँ केवल व्यक्तित्वविहीन कठपुतलियाँ थी। न उनके सामने जीवन का कोई ठोस लक्ष्य था, न ही उद्देश्य। लेखक जिधर कलम की छोर घुमाते, बस उस ओर नायिकाएं चल पड़ती थी। इसलिए उन नारियों का चरित्र बड़ा दुर्बल लगता है। केवल स्त्री को मनोरंजन या भोग की वस्तु मानने में ही लेखक समर्थ थे। इसलिए प्रेमचंद से पूर्व हिन्दी उपन्यास प्रयोग की अनिश्चित अवस्था में थे।

प्रेमचंद पूर्व उपन्यासों में अयोध्या सिंह उपाध्याय के दो उपन्यासों 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' स्त्री जीवन पर ही आधारित उपन्यास है। इनके उपन्यासों में मध्यवर्गीय प्रेम समस्या का जिक्र पूर्ण रूप से हुआ है। इसलिए उनमें दुर्बलताओं का विकास स्वाभाविक है। ''दुर्बलताओं पर विजय केवल पतिव्रता की ढाल से ही सम्भव है, विजयिनी बनकर नारी देवी बन जाती है। तब उनका अनुकरण समस्त सिद्धियाँ करती हैं। ऐसी देवी दशा देश और समाज का भूरि-भूरि कल्याण कर सकती हैं।''[5] लेखक की दृष्टि मध्यवर्ग की नारी और पुरुष दोनों के विविध समस्याओं के साथ सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक आस्थाओं और विश्वासों के साथ ही साधु संतों के ढोंगी मनोवृत्ति श्राद्धकर्म आदि की तरफ भी गयी है।

भारतीय समाज में स्त्रियों का संघर्ष काफी लम्बा तथा बहुआयामी और बहुस्तरीय रहा है। पुरुष समाज में स्त्री के चरित्र को स्वर्गिक देवों के गुणों और शक्तियों के ढाँचे से ऐसा मंडित करता है कि देवीत्व के बोझ तले उसका मनुष्यत्व जाने कब घुट-घुट कर दम तोड़ देता है वह स्वयं भी नहीं जान पाती है। महादेवी वर्मा कहती हैं–''स्त्री न घट का अलंकार मात्र बनकर जीवित रहना चाहती है, न देवी की मूर्ति बन कर प्राण-प्रतिष्ठा चाहती है। कारण वह जान गई है कि एक का अर्थ अन्य की शोभा बढ़ाना है तथा दूसरे का अर्थ उपयोग न रहने पर फेंक दिया जाना है।''[6]

सन्दर्भ

1. हिन्दी उपन्यास का स्त्री पाठ, रोहिणी अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि. श्री नेता जी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली
2. हिन्दी उपन्यास का इतिहास,गोपालराय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 28
3. आधुनिक साहित्य, नंददुलारे वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली
4. सेवा सदन, प्रेमचंद, प्रभात प्रकाशन, प्रथम संस्करण
5. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, त्रिभुवन सिंह, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण
6. शृंखला की कड़ियाँ, भारतीय नारी की समस्या का विवेचन, महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 105

सरिता यादव
शोध छात्रा
हिन्दी विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

हिन्दू-मुस्लिम संबंध तथा महात्मा गांधी के प्रयासों की विवेचना

–डा. हरनाम सिंह
–बिन्दु डनसेना

शोध सार

भारत में बहुआयामी, विविधतापूर्ण सभ्यताएं और संस्कृतियां तथा धर्म और मजहब साथ-साथ अस्तित्वमान है। लेकिन यह आश्चर्यजनक है कि मध्यकाल में मुगलों के आगमन के पश्चात वर्तमान आधुनिक भारत तक, देखा जाए तो भारत की बड़ी समस्याओं में एक हिंदू-मुस्लिम संबंधों में एकता या सामंजस्यता की है। कबीर, गुरु नानक अनेक संतों महापुरुषों से लेकर महात्मा गांधी ने भी, हिंदू-मुस्लिम संबंधों में समन्वय के लिए ईमानदारी पूर्वक प्रयास किए लेकिन आज तक यह एकता फलीभूत नहीं हो पाई। यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो महात्मा गांधी के असामयिक अवसान के कारण, में भी यही समस्या विद्यमान है। हिंदू-मुस्लिम संबंधों में, आपस में समन्वय नहीं हो पाता, इसके क्या कारण है ? प्रस्तुत शोधपत्र में महात्मा गांधी के दृष्टिकोण को समक्ष रखकर, इस समस्या की जांच पड़ताल की गई है तथा यह समझने का प्रयास किया गया है कि हिंदू मुस्लिम संबंध में महात्मा गांधी द्वारा किए गए समन्वय के प्रयास या प्रयोग विफल क्यों हुए।

महात्मा गांधी को लगभग 155 वर्ष पूरे होने जा रहे हैं। भारत के स्वतंत्रता संग्राम आंदोलन में गांधीजी का अवदान पत्थर की लकीर की तरह है। गांधीजी केवल भारत ही नहीं अपितु पूरे विश्व में किसी न किसी रूप में लोकप्रिय हैं। अंग्रेजों ने, जिनके खिलाफ महात्मा गांधी ने अपने आंदोलनात्मक प्रयोगों का सूत्रपात किया था, उन्होंने भी लंदन में, ब्रिटिश पार्लियामेंट के बाहर, उनकी विशाल प्रतिमा लगाकर, उन्हें याद रखा है। गांधी जी का चिंतन विविध आयामी और समग्र है इसलिए गांधीवाद सार्वभौमिक है तथा गांधीजी युगपुरुष हैं। किंतु कई स्थानों पर गांधीजी के प्रयोग विफल भी हुए

हैं, उनमें से एक हिंदू-मुस्लिम संबंधों में उनके द्वारा किया जाने वाला, एकता संबंधी प्रयास है। यह तो स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति की एक महत्वपूर्ण विशेषता मिश्रणशीलता, समन्वय की है। अनेकों आक्रमणकारी और आहार की तलाश में, अपनी संस्कृति और धर्म के साथ, भारत आने वाली जातियां, जब यहां बस गई तो भारतीय संस्कृति ने उन्हें उनकी निजता के साथ स्वीकार किया। परस्पर समन्वय तथा अंतर्भुक्तिकरण भारतीय संस्कृति की एक विशेषता रही है। लेकिन यह आश्चर्यजनक है कि मध्यकाल में मुगलों के आगमन के पश्चात, आधुनिक भारत में, वर्तमान तक, कबीर, गुरु नानकदेव अनेक महापुरुषों, समाज सुधारको से लेकर महात्मा गांधी तक किए गए अथक प्रयासों के बावजूद हिंदू-मुस्लिम संबंधों में एकता या समन्वय संभव नहीं हो पाया है।

आज भी यह आधुनिक भारत की यह समस्या है। इसके क्या कारण हो सकते हैं ? महात्मा गांधी के दृष्टिकोण को आधार बनाकर, इसका अध्ययन किया जाये तो हम कह सकते हैं कि अपने पूरे जीवन में गांधी जी ने किसी न किसी रूप में हिंदू-मुस्लिम संबंधों में सामंजस्यता स्थापित करने की ईमानदारी पूर्वक कोशिश की थी और इसी कारण खासकर जीवन के अंतिम दिनों में वे बेहद दुखी और व्यथित भी रहे। यही नहीं ध्यान पूर्वक देखें तो उनके असामयिक अवसान के कारण में भी यही एक मूल समस्या रही थी। हिंदू-मुस्लिम संबंधों में एकता के लिए प्रथम विश्व युद्ध के बाद, महात्मा गांधी ने पूरी निष्ठा के साथ खिलाफत आंदोलन में सक्रिय सहयोग दिया और इस एकता को सुदृढ़ करने के लिए उन्होंने 21 दिन का व्रत भी रखा था। लोगों द्वारा आपत्ति करने के बावजूद वह प्रार्थना सभा में कुरान की आयतें पढ़ते थे और कहते थे–''मैं समझता हूं मैनें इससे हिंदू धर्म को फायदा ही पहुंचाया है। यह मैं आज से थोड़े ही कर रहा हूं, एक अरसे से ऐसा कर रहा हूं और मैं समझता हूं इससे हिंदू धर्म को कोई धब्बा नहीं लगा, इसके द्वारा मुसलमान जो मेरे दोस्त हैं उनको मैं अधिक अपना सका हूं।''[1]

महात्मा गांधी के विचारों का हिंदू मुस्लिम संबंध के संदर्भ में अध्ययन किया जाए तो आश्चर्यजनक तथ्य प्राप्त होते हैं। उन्होंने कभी भी दोनों के संबंधों में समन्वय संबंधी मूल आधारों या कारणों पर ध्यान नहीं दिया वरन वे तो केवल दोनों धर्मों के धर्म ग्रंथों के प्रति आदर की सर्वोच्च भावना से ओतप्रोत रहे। वे कहते भी हैं–''आत्मसंतोष के लिए जब मैं भिन्न-भिन्न धर्म की पुस्तकें उलट रहा था तब मैंने ईसाई, इस्लाम, जरथुस्त्र, यहूदी और हिंदू इतनों की पुस्तकों का अपने संतोष भर के लिए परिचय कर लिया था। मैं कह सकता हूं कि इस अध्ययन के समय सभी धर्मों के प्रति मेरे मन में समभाव था। मैं यह नहीं कहता कि इस समय मुझे ज्ञान था उस समय समभाव शब्द का पूरा परिचय न रहा होगा, परंतु उस समय की अपनी स्मृतियां ताजा करता हूं तो मुझे याद नहीं आता कि उन धर्मों के संबंध में टीका टिप्पणी करने की इच्छा तक हुई हो वरन उनके ग्रंथों को धर्म ग्रंथ मानकर आदरपूर्वक पढ़ता और सब में मूल नैतिक सिद्धांत एक जैसे ही पाता था।''[2]

सभी धर्मों के प्रति यदि आदर भाव रख कर, प्रार्थना सभा में उस धर्म या मजहब की चुनी हुई पंक्तियों को शामिल कर और हर धर्म या मजहब की अच्छाइयों का बखान करें तो क्या मात्र, इस प्रयास द्वारा धार्मिक समन्वय संभव है? अथवा इस हेतु हमें किसी भी धर्म या मजहब के मूल स्वरूप या स्वभाव को जानना आवश्यक है। दरअसल, हिंदू धर्म और इस्लाम मजहब के धार्मिक और सामाजिक आचार संहिता में बड़ा अंतर है। दोनों धर्मों के लोकाचार, साधन मूल्य भिन्न भिन्न हैं। हिंदू धर्म में देवी देवता और आराधना पद्धतियां असीम हैं लेकिन जबकि इस्लाम मजहब में नमाज रूपी इबादत और खुदा एक है। हिंदू, देवी-देवताओं की असंख्य मूर्तियों का पूजक है जबकि मुसलमान मूर्ति विरोधी है। हिंदू पूर्व दिशा में ईश्वर की आराधना करता है जबकि मुसलमान पश्चिम में इबादत अदा करता है। हिंदुओं के धार्मिक समारोह संगीत के बिना संपन्न नहीं होते हैं जबकि मुसलमानों में मस्जिद के समीप गाना बजाना निषिद्ध है। हिंदू गाय को पवित्र मानता है जबकि मुसलमान गाय वध को अनुचित नहीं मानता है। हिंदू धर्म की उत्पत्ति हिंदुस्तान में हुई जबकि इस्लाम धर्म का उद्‌भव अरब में हुआ। श्री आशुतोष वार्ष्णेय ने शोध कर, अपनी पुस्तक हिंदू मुस्लिम रिश्ते–नए शोध नए निष्कर्ष, में एक स्थान पर लिखा है कि हम कह सकते हैं–''यह दो अलग सभ्यताओं का हिस्सा है जिनमें विचारों और अवधारणाओं के स्तर पर कोई मेल नहीं है...इनके धार्मिक ग्रंथ अलग हैं महाकाव्य अलग हैं, नायक अलग हैं...अक्सर एक का नायक दूसरे के लिए खलनायक है। इसी प्रकार एक की जीत दूसरे की पराजय मानी जाती है।''[3]

इसे और स्पष्ट करते हुए रामधारी सिंह दिनकर ने अपनी पुस्तक–संस्कृति के चार अध्याय, में लिखा है–''औसत मुसलमान आचार में उदार, विचारों में कट्टर होता है। मिलने जुलने खानपान और सामाजिक सौजन्य में वह किसी का भी अनादर नहीं करता, लेकिन विचार के धरातल पर उसमें विरोधी मतों के लिए सहानुभूति बहुत

कम होती है। मसलन, मुसलमान के लिए इस संभावना को कबूल करना कठिन है कि दुनिया के अन्य धर्म इस्लाम की छाया भी छू सकते हैं। हिंदू का हाल ठीक इसके विपरीत है। वह विचार के धरातल पर अत्यंत उदार होता है। संसार के अन्य धर्मों को अपने ही धर्म के समान मान कर उन पर श्रद्धा रखने में कठिनाई, कदाचित ही किसी हिंदू को होगी। परंतु सामाजिक आचार के मामले में हिंदू जितने संकीर्ण होते हैं उतने संकीर्ण दुनिया के और कोई लोग नहीं है।''[4]

उपर्युक्त उद्धरण हिंदू मुस्लिम धार्मिक स्वभाव की मूल विशेषता को प्रकट करता है। मुसलमान अपने मजहब के सर्वश्रेष्ठत्व के दंभ से पीड़ित है और अपने धार्मिक उदारवादी स्वरूप में हिंदू भी अपने अंदर इसी श्रेष्ठत्व की भावना को प्रक्षिप्त किए हुए हैं। फलस्वरुप, दोनों के आचार और व्यवहार में दोष है। सवाल उठता है कि क्या मुसलमान अपने मजहबी विचारों के साथ-साथ अन्य धर्मों की मान्यताओं के प्रति सहिष्णुतापूर्ण रवैया रख सकते हैं? क्या वे हिंदू देवी-देवताओं को अपने खुदा के समतुल्य, स्वीकार कर सकते हैं? तथा हिंदू जो अपने सामाजिक-जातिगत गठन में अमानवीय भेद रखे हुए हैं और मुसलमानों के प्रति, हिकारत का दृष्टिकोण रखते हैं, क्या उसे खत्म कर सकते हैं? देखा जाए तो प्रत्येक धर्म या मजहब की प्रारंभिक पहचान उसकी वेशभूषा, प्रतीक और चिन्हों आदि आचार संहिता पर आधारित होती है और धार्मिक या मजहबी संगठनो में इसे सर्वाधिक महत्व दिया जाता है, लेकिन अनुयाई इसे ही वास्तविक धर्म समझने लगता है, जबकि यह प्रारंभिक भेद है जो कि स्वाभाविक है तथा प्रत्येक धर्म या मजहब का सौंदर्य है। इसके आगे परमसत्ता के स्तर पर सभी में समानता दिखलाई पड़ती है।

इस्लाम के उद्भव के समय परिस्थितियां अत्यंत कठोर थीं। लोगों के अलग अलग कबीले थे, उन्हें एक साथ लाने के लिए एक महत्वाकांक्षी और विस्तारवादी, कठोर सामाजिक आचार व्यवस्था और राजनैतिक संगठन की आवश्यकता थी। हजरत मोहम्मद पैगंबर ने मजहब को आधार बना कर कठोर नियमो पर आधारित सामाजिक-राजनैतिक संरचना को तैयार किया जिसमें तत्कालीन समय के अनुकूल, हिंसा भी जायज थी। लेकिन अब परिस्थितियां भिन्न हैं, लेकिन आज भी इस्लाम के अनुयायियों का इस जीवन शैली में, अटूट विश्वास है और इसके प्रति घोर आग्रह है। यह जानते हुए भी कि अति आत्म सम्मोह से बहिष्कार, बहिष्कार से आक्रामकता और हिंसात्मक आतंकवाद का जन्म हो सकता है, हुआ भी है किंतु आज भी मुसलमान इसे सुधारने का वह साहस नहीं कर पाते।

इसी प्रकार हिंदू धर्म की महान सांस्कृतिक विरासत की अद्भुत धार्मिक स्वतंत्रता की विशेषता का परिणाम, देखा जा सकता है कि इससे व्यर्थ के कर्मकांड, चमत्कार, आडंबर, भावनात्मक शोषण करने वाला, इसका एकल और कार्पोरेट रूप ही प्रकट हुआ है। पहले तथाकथित साधक होते थे जिनकी लंबी-लंबी जटाएं, गेरुआ वस्त्र, घंटियां, तिलक, मनकों वाले हार, मुद्राएं आकर्षित करते थे, अब करोड़पति संत और बाबाओं का इसमें, जमावड़ा है। ये भव्य गुरु अपने व्यवसाय के साथ, धर्म के चमत्कार पक्ष का जमकर प्रचार करते हैं। प्रसिद्ध विचारक शंभूनाथ अपनी पुस्तक 'धर्म के दुखांत', में कहते हैं–''नवजागरण की मूल परियोजना नए भौतिक विकासों के साथ, राष्ट्रीय आत्म पहचान और मानवीय भौतिक विकास को दृढ़ता पूर्वक जोड़ने की थी, जबकि नए युग के धर्म रक्षक गुरुओं का लक्ष्य अमानवीय और अराजक भौतिकवाद की ओर झुंड के झुंड बढ़ते महानागरिकों के मन में महज आध्यात्मिक आकर्षण पैदा करना है, भले ही वह कितने मूल्यविहीन रह जाएं। नए गुरु भारत की उच्च धार्मिक परंपराओं का व्यवसायिक उद्देश्य से आध्यात्मिक कैप्सूलीकरण करके, एक तरह से उन परंपराओं का अंत कर देते हैं।''[5]

यह समस्या हिंदू धर्म में प्रारंभ से ही रही है। धर्म का चमत्कारिक और व्यवसायिक पक्ष, देवी देवताओं के अविश्वसनीय चित्रण, अंधविश्वास पर आधारित पाखंडपूर्ण कर्मकांडो को हिंदू तीर्थस्थानों पर देखा जा सकता है। इन्हें सुधारना तो दूर, इनकी तार्किक व्याख्या करना और इन पर गर्व करना हिंदू धर्म के अनुयायियों का स्वभाव है। ऐसे ही कुछ महत्वपूर्ण कारण हैं जिनके कारण हिंदू और मुस्लिम संबंधों में एकता स्थापित नहीं हो पाती है।

महात्मा गांधी ने हिंदू मुस्लिम संबंध में एकता और सर्वधर्म समभाव के लिए अहिंसा को प्रमुख माना। वे कहते हैं–''हममें यदि वास्तविक अहिंसा मौजूद रहे तो हम बैरभाव से बच जाते हैं, क्योंकि अधर्म देखते हुए भी उस अधर्म का आचरण करने वाले के प्रति, तो प्रेम भाव होगा। इससे या तो वह हमारी दृष्टि स्वीकार कर लेगा अथवा हमारी भूल हमें दिखायेगा या दोनों एक दूसरे के मतभेद को सहन करेंगे। अंत में विपक्षी अहिंसक ना हुआ तो वह कठोरता से काम लेगा तो भी हम अहिंसा के सच्चे पुजारी होंगे तो इसमें संदेह नहीं कि हमारी मृदुता उसकी कठोरता को अवश्य दूर कर देगी।''[5]

हम कल्पना कर सकते हैं कि क्या हिंदू मुस्लिम कट्टरवादी, ऐसा व्यवहार एक दूसरे के प्रति कर सकते हैं ?

यह एक आदर्शात्मक और असंभव समाधान था। जब विभाजन के पश्चात भीषण और दर्दनाक दंगों का दौर चल रहा था, लाखों लोगों के समक्ष, अपनों के हत्याओं के, हृदय विदारक नजारे थे वे लूट पिटकर, बेघर होकर भटक रहे थे तब महात्मा गांधी प्रार्थना सभा में कह रहे थे–''आप जितने हिंदू हैं वह सब पहरेदार बन जाए और जिन मस्जिदों में मूर्तियां रखी हैं वहां से उनको हटा दें। जो मस्जिदें बिगड़ी हुई हैं हमको कहना चाहिए कि हम उनकी मरम्मत कर देंगे।''[6] यही नहीं उनका कहना था–''मैं चाहूंगा कि हिंदू कुरान पढ़ें जैसे वे भगवद्गीता पढ़ते हैं। सिख भी वही करें और मैं चाहूंगा कि मुस्लिम भाई बहन भी अपने घरों में ग्रंथ साहब पढ़ें और उनके माने समझें जैसे हम अपने धर्म को जानते हैं, वैसे दूसरे धर्म को भी माने।''[7]

क्या यह संभव था? दंगों के समय क्या हिंदू-मुस्लिम अनुयायी, महात्मा गांधी के कहने पर, एक दूसरे से संतो जैसा मानवीय व्यवहार कर सकते थे? क्या हिंदू उनके प्रति सहिष्णु हो सकते हैं, जिन्होंने उनके घर संपत्ति पर कब्जा किया था और बेरहमी से उनके कत्ल किए थे या फिर मुसलमान सिख धर्म ग्रंथों और देवी-देवताओं को अपने धर्म स्थलों पर में रख सकते थे? ''कुरान के अनुसार कुफ्र का सबसे बुरा रूप शिर्क और शिर्क का सबसे बुरा रूप मूर्तिपूजा है और हिंदुस्तान मूर्तिपूजकों का देश है।''[8] ऐसा संभव ही नहीं था कि हिंदू और मुस्लिम मानवीय मूल्यों को धारण कर, परस्पर सहयोग, समन्वय और सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार एक दूसरे से करते? इसलिए हिंदू-मुस्लिम संबंधों में एकता के लिए किए गए महात्मा गांधी के प्रयास, एक संत के दृष्टिकोण से की जाने वाली कोशिश, कही जा सकती है जो तभी संभव हो सकती थी जब एक ऐसा आदर्श समाज होता जिसमें सद्गुणों से भरे जागरूक मानव रहते। महात्मा गांधी जी ने हिंदू-मुस्लिम संबंधों में समन्वय करने वाले मूल कारणों पर, कभी अपना ध्यान केंद्रित नहीं किया इसलिए उनका प्रयोग तत्कालीन समय में व्यावहारिक और विफल सिद्ध हुआ।

संदर्भ ग्रन्थ

1. गांधी साहित्य, प्रार्थना और प्रवचन, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, 1967, पृ. 21
2. गांधी साहित्य, धर्म नीति, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, 1962, पृ. 120
3. वार्ष्णेय आशुतोष, हिंदू मुस्लिम रिश्ते–नया सोच नया निष्कर्ष, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 85
4. दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ. 285
5. शंभूनाथ, धर्म का दुखांत, आधार प्रकाशन पंचकूला, हरियाणा, पृ. 211
6. गांधी साहित्य, प्रार्थना और प्रवचन, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, 1967, पृ. 149,
7. गांधी साहित्य, धर्म नीति, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, 1962, पृ. 315
8. दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 2002, पृ. 271

डा. हरनाम सिंह अलरेजा
सहायक प्राध्यापक (दर्शनशास्त्र)
शासकीय दिग्विजय महाविद्यालय,
राजनांदगांव (छ.ग.)

बिन्दु डनसेना
शोधार्थी, हिन्दी
शासकीय दिग्विजय महाविद्यालय,
राजनांदगांव (छ. ग.)

चित्रा मुद्गल कृत 'आवां' में मजदूर संगठन का यथार्थबोध और संघर्ष

—प्रखर

शोध सार

भारत में भी मजदूर संगठन या ट्रेड यूनियन की स्थापनाएं हुईं जिनकी जिम्मेदारी मजदूरों को बुनियादी सुविधायें मुहैया करवाना व मालिकों के शोषण से मुक्ति दिलवाना था। वे संगठन तथा उसके नेतृत्वकर्ता आपसी प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, एक-दूसरे के प्रति षड़यंत्र, उन्हें कमजोर बनाने की योजनाओं तथा पूंजीपतियों, मालिकों से मिल कर साठ-गांठ कर अपने स्वार्थ व हितों की पूर्ति में लगे रहे। चित्रा जी का व्यास सम्मानित उपन्यास 'आवां' बंबई के मजदूरों के संगठन तथा उनकी आपसी प्रतिस्पर्धा, शक्ति व उनकी कमजोरियों को अभिव्यक्ति करता है। उपन्यास के केन्द्र में 'कामगारी आघाड़ी' संगठन है जिसके नेता अन्ना साहब हैं जो मजदूरों की मांगों को पूरा करने की कोशिश करते हैं परंतु उनकी भी कमजोरियाँ हैं जिसे उपन्यास में अभिव्यक्त किया गया है। उनके साथ काम करने वाले नेता जैसे पवार की प्रतिस्पर्धा भी दिखाई गयी है तो लोकशाही सेना जैसे मजदूर संगठन से आपसी संघर्ष, षड़यंत्र को भी दिखाया गया है। इन संगठनों की आपसी संघर्ष में मजदूर जीवन भी पीसा जाता है। इसी आपसी संघर्ष को 'आवां' बहुत सहजता व यथार्थ रूप में अभिव्यक्त करता है।

बीज शब्द : संघर्ष, संगठन, शोषण, अधिकार, बुनियादी, राजनीति आदि।

शोध पत्र

प्रत्येक युग में समाज सामान्यतः कई वर्गों में विभाजित रहा है। यह वर्ग धनी-निर्धन, सुविधा-सम्पन्न, सुविधा-विहीन, अमीर-गरीब, जमींदार-किसान राजा-प्रजा आदि रहे हैं। प्राचीन काल से ही जो वर्ग आर्थिक रूप से मजबूत रहे हैं उन्होंने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये हाशिये पर खड़े वर्गों का किसी न किसी रूप में शोषण किया है। समाज चाहे भारत का हो या पश्चिमी दुनिया का, कमजोरों का शोषण बहुत पुराना है। यह आज 21वीं सदी में भी चला आ रहा

है। कार्लमार्क्स का कहना है कि मनुष्य जाति का सम्पूर्ण इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास रहा है। समाज हमेशा शोषक व शोषित वर्ग में बंटा रहा है। एक तरफ शोषक पूंजीपति, उद्योगपति हैं जिनका समाज की अधिकतर सम्पत्ति पर अधिकार है तो दूसरी तरफ सर्वहारा वर्ग है जो भूमिहीन, धनहीन है। मार्क्स पूंजीपतियों को छोड़कर पूरे समाज को सर्वहारा वर्ग की श्रेणी में लाते हैं जो पूंजीपतियों के अंतर्गत या उनके अधीन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से काम करते हैं। मार्क्स विश्व के सर्वहारा वर्ग को एक करने की बात करते हैं। हम यह कह सकते हैं कि मजदूरों के एक होने, संगठित होकर एक साथ अपने अधिकारों की मांग करने के पीछे मार्क्स के विचार रहे हैं। कई दशक बीत जाने पर आज वर्तमान में लोकतांत्रिक सरकारों के गठित होने के बाद मजदूरों की आवाज पहले की अपेक्षा सुनी जाने लगी है। सरकारें उनकी मांगों को पूर्ण करने का प्रयास करती रही हैं परंतु फिर भी जो आर्थिक रूप से मजबूत होता है वह सरकार को भी प्रभावित करता है और अपने हितों का ध्यान रखता है। वर्तमान में मजदूर अपने अधिकारों के प्रति सक्रिय है जिसके पीछे उनके संगठन की ताकत होती है परंतु यही संगठन कभी-कभी पूंजीपतियों की कठपुतली बन जाते हैं और नेता अपने हितों की पूर्ति करने लगते हैं। लेखिका चित्रा मुद्गल जी विशेषकर मजदूरों के संगठन व मजदूर जीवन को बहुत करीब से देखकर उनकी समस्याओं को पहचाना है। उनकी कलम में अनुभव की ताकत रही है। उन्होंने सम्पत्ति से ज्यादा मानवीय मूल्यों, संस्कृति से सम्पन्न एक नये समाज को महत्त्व दिया है। चित्रा मुद्गल जी का व्यास सम्मान प्राप्त प्रसिद्ध उपन्यास है 'आवां'। यह मजदूर जीवन तथा उसके संघर्षों से सम्बन्धित हिन्दी साहित्य का प्रथम उपन्यास है। इस उपन्यास में मजदूरों की भूख, गरीबी तथा उनके जीवन जीने के संघर्ष को मार्मिकता से व्यक्त किया गया है। बंबई औद्योगिक नगरी है। यह ट्रेड-यूनियन यानी मजदूरों के संगठनों का केन्द्र रहा। चित्रा जी को इन संगठन के प्रभाव वाले क्षेत्रों घाटकोपर, चेम्बूर, चर्चगेट, कल्याण, पवई लेक आदि का विस्तृत ज्ञान रहा है। चित्रा जी 'आवां' की भूमिका में लिखती हैं कि ट्रेड यूनियन से मैं बहुत थोड़े समय के लिये जुड़ी रही। लेकिन श्रमिक परिवारों से मेरा लम्बा नाता रहा। हमारे घर के अहाते के बाहर चारों ओर मजदूर बस्तियाँ फैली हुयी थी। चित्रा जी कहती हैं, ''लेकिन जिस दुर्घटना ने मेरे छात्र जीवन की दिशा बदल दी वह थी ट्रेड यूनियनों की आपसी प्रतिद्वंद्विता, अंतर्विरोध और उसमें अपराधी गिरोहों की ठेकेदारी।''[1] मजदूर संगठन तथा उसके नेताओं की कार्यशैली, आपसी प्रतिस्पर्धा, पूंजीपतियों के स्वार्थ की कठपुतली बनने के. षडयंत्र के बीच मजदूरों का शोषण तथा उनके जीवन को जीने के संघर्ष का यथार्थ चित्रण आवां उपन्यास में है। वे लिखती हैं कि ट्रेड यूनियन का इतिहास-अंकन मेरे मानस का दबाव नहीं। उसे लिखने की भी जरूरत नहीं, वह तो श्रमिकों के मलिन मुख पर हरफ-दर-हरफ अंकित है।''[2] चित्रा जी संगठन के बारे में लिखती हैं–''संगठन अजेय शक्ति है, संगठन हस्तक्षेप है, संगठन प्रतिवाद है, संगठन परिवर्तन है, क्रांति है। किंतु यदि वही संगठन शक्ति सत्ताधिकारियों की लोलुपताओं के समीकरणों की कठपुतली बन जाये तो दोष उस शक्ति की अंधनिष्ठा का है या सवारी कर रहे उन दुरुपयोगी हाथों का जो संगठन शक्ति को सपनों के बाजार में बरगलाए-भरमाए वोटों की रोटी सेंक रहे? ये खतरनाक कीट बालियों को नहीं कुतर रहे, बल्कि फसल अंकुआने से पूर्व जमीन में चंपे बीजों को ही खोखला किये दे रहे हैं।''[3] उपन्यास का केन्द्र 'कामगार अघाड़ी संगठन है जिसके नेता अन्ना साहिब हैं जो प्रसिद्ध मजदूर नेता डा. दत्ता सामंत के प्रतिरूप हैं। देवी शंकर पाण्डेय अन्ना मजदूरों के लिये उनका वेतन, भत्ता, सुविधायें, जैसे आवास, स्वास्थ्य, मुआवजा की समस्याओं को लेकर कारखानों के प्रबंधकों से संघर्ष करता है। 'विटरम ग्लास' के प्रबंधन के खिलाफ हड़ताल का आह्वान मजदूर नेता देवी शंकर करते हैं परंतु उनके अनशन स्थल पर बैठने के स्थान पर फायरिंग हो जाती है। उसी बीच उन पर कोई प्राणघातक हमला कर देता है जिसकी वजह से वे लकवाग्रस्त हो जाते हैं। वे अपना पूरा-पूरा दिन अघाड़ी कार्यालय में बिता देते। वे अपने 'कामगार अघाड़ी' का सपना इस प्रकार लिखते हैं–'दाल चाहिये, भात चाहिये और बच्चों की शिक्षा है/बुनियादी हक की लड़ाई, नहीं मांगते भिक्षा। आज नहीं तो कल तुमको होगा देना हिसाब/पैरों तले रौंद रखे हैं जिन ख्वाबों के ख्वाब! हमसे जो टकरायेगा, मिट्टी में मिल जायेगा।''[4] पूंजीपति कभी नहीं चाहेगा कि मजदूर एक हों क्योंकि अगर मजदूर एक हो जायेंगे तो उन्हें उनकी मांगों को मानना पड़ेगा। इसलिये मजदूरों के संगठन में आपसी मतभेद पैदा करवा दिया जाता है और एक संगठन को लालच देकर दूसरे के विरुद्ध कर दिया जाता है। रिचर्डसन बेबरी में कामगार अघाड़ी के अतिरिक्त दूसरा संगठन सेना की लोकशाही है। इन दोनों में मशीनों को लेकर मिल के आंगन में घोर संघर्ष हुआ, कई मजदूर जख्मी हुए। लोकशाही सेना के

नेताओं ने घर-घर जाकर अन्ना साहब को एक महत्वाकांक्षी, पूंजीपति मजदूरों का दुश्मन घोषित किया जिससे कामगार अघाड़ी संगठन कमजोर हो जाता है। मजदूर नेता एक तरफ संगठन पर अपनी पकड़ बनाने के लिये साजिश रचते हैं और अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये अपने पद का अधिकतम दुरुपयोग भी करते हैं। वे मजदूरों के हित में कम काम करते हैं अपने हितों की ज्यादा चिंता करते हैं। कामगार अघाड़ी की तरह मजदूरों के घर की महिलाओं को रोजगार देने का काम 'श्रमजीवा' नामक महिला संगठन करता है। वहाँ मजदूर महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाने की कोशिश की जाती है। 'श्रमजीवा' में महिलाओं को दस रुपये सैकड़ा की दर से पापड़ बेलने की मजदूरी मिलती है। इस संगठन की संचालिका शाहबेन महात्मा गांधी की शिष्या हैं जो हिंसा का विरोध करती हैं। एक बार संगठन के कार्यालय में काम करने वाला वृद्ध माली रामभाउ की मृत्यु हो जाती है तो शाहबेन उसकी विधवा पत्नी की मदद देने के लिये पापड़ बेलने वाली औरतों की आधी दिहाड़ी चंदे के रूप में इकट्ठा करती हैं। जब कई मजदूर महिलायें विरोध करती हैं तो शाहबेन कहती हैं– ''संवेदनाएं सूख गयीं तुम्हारी? संस्था कहां से पैसा लाए? संस्था समाज सेवा कर रही है।''[5] शाहबेन बालिकाओं से काम कराने का विरोध करती है। 'श्रमजीवा' की तरह ही महिलाओं की आवाज उठाने वाला एक संगठन 'अघाड़ी महिला मोर्चा' है जिसका नेतृत्व विमलाबेन करती हैं जो कामगार महिलाओं को कानूनी सहायता करती है जो पढ़री बाई नाम की महिला की कानूनी सहायता करती है जो कुंवारी है परंतु मां बन गयी है जिसे कम्पनी छुट्टी देने से मना कर देती है। विमलाबेन एक और 'जागोरी' नामक संगठन के माध्यम से देह व्यापार करने वाली महिलाओं का उत्थान करती है। वह वेश्यावृत्ति में लिप्त करीब सात-आठ महिलाओं को जय हिंद आयल मिल में काम में लगाती है। चित्रा जी कामगार अघाड़ी, लोकशाही जैसे संगठनों के माध्यम से यह दिखाती हैं कि संगठनों के बीच पद, प्रतिष्ठा को लेकर प्रतिस्पर्धा आपसी षड़यत्र होते हैं जिसके बीच से मजदूरों की आवाज कहीं खो जाती है। विमलाबेन भी कहीं न कहीं अपने पद व सम्मान को आंच नहीं आने देना चाहती है। अन्ना साहब अपने को समाज के सामने अच्छा प्रदर्शित करने के लिये अपने साथी देवी शंकर की मृत्यु के बाद उनका पद उनकी पुत्री नमिता को देते हैं। परन्तु उससे कार्यालय में हस्तमैथुन करवा कर अपनी वासना से लिप्त मानसिकता का परिचय भी देते हैं। दलित वर्ग की चेतना में जातिभेद नहीं था। ऐसा ही एक पात्र पवार जो दलित है। वह अन्ना साहब के मजदूरों के उद्धार के कार्य को झूठ दिखावा बताता है और खुद दलित मजदूरों का नेतृत्व करना चाहता है। वह कोई अलग संगठन की स्थापना नहीं करना चाहता परंतु अन्ना साहब के ही संगठन 'कामगार अघाड़ी' में सक्रिय होकर अन्ना साहब को पदच्युत करके स्वयं संगठन का प्रमुख बन जाना चाहता है–''दलितोत्थान हेतु स्वयं ऐसा ही नियंता बनना चाहता हूँ मैं। संगठन-प्रमुख! इस ताकत को गेहूं में घुन सदृश्य पैठ अपनी बुद्धि-चातुर्य से हासिल किया है मैंने। अन्ना साहब से क्यों जुड़ा मैं? सोचो! कोई अलग से संगठन खड़ा करना चाहता तो निश्चित ही पूरा जीवन होम हो जाता। आसान होता है कि मजबूत संगठन में प्रवेश कर, जातीय साम्प्रदायिकता के बलबूते उसका महत्वपूर्ण धड़ा बन जाना उसी संगठन में मोलभाव की औकात पैदा कर लेना। उनके लिये चुनौती बन जाना। सुअवसर देख पूरे अवसर के साथ विभाजित हो, स्वतंत्र पार्टी कायम कर लेना।''[6] यथार्थ में राजनीति, षडयंत्र देश की हर संस्था के अंदर एक ऐसी बुराई है जो किसी भी संस्था या संगठन के कार्य, उसकी प्रगति को बाधित कर देता है। मजदूर संगठन भी इस राजनीति, षड़यंत्र, भेदभाव, झूठे प्रदर्शन से अछूते नहीं है। यही बुराइयाँ मजदूरों की समस्याओं, उनकी मांगों को कहीं पीछे ढकेल देती हैं और हमारे सामने झूठा प्रदर्शन ही होता रहता है। वास्तव में समाज में हाशिये पर खड़े मजदूर, श्रमिक, किसान, महिलाओं को स्वयं मजबूत होना होगा। संगठन नेताओं के आपसी संघर्ष, प्रतिद्वंदिता से दूर रहना होगा। किसी भी समस्या से डटकर मुकाबला करने की शक्ति सभी मजबूत संगठन में होती है, परंतु यह शक्ति तभी सफल व कार्यान्वित होती है जब संगठन अपने लक्ष्य को न भूले।

संदर्भ सूची

1. मुद्गल चित्रा, आवां, सामयिक प्रकाशन, संस्करण, 2017, पृ. 9
2. वही, पृ.10, 3. वही, कवर पेज,
4. वही, पृ. 92,
5. वही, पृ. 168,
6. वही, पृ. 247-248

प्रखर
शोधार्थी, हिन्दी विभाग
हे.न.ब.ग.केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
श्रीनगर, उत्तराखण्ड

इंटरनेट की दुनिया में हिन्दी

–डा. कुलदीप कौर
–सरबजीत कौर

भूमिका

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में दुनिया तीव्रगति से सिकुड़ती और पास आती जा रही है और जनसंचार माध्यमों का दायरा बहुत विस्तृत और व्यापक हो गया है। सूचना और टैकनोलाजी के क्षेत्र में हुई इस क्रांति ने ही ग्लोबल विलेज जैसी धारणा को साकार किया। भूमंडलीकरण ने भारत जैसे देश में संचार क्रांति लाने में अहम योगदान दिया है। इस संचार क्रांति ने आम आदमी के जीवन जीने के ढंग ही नहीं बल्कि उसके सामाजिक ताने-बाने को ही बदल कर रख दिया है। आज के समय में अधिकतर लोग प्रौद्योगिकी से घिरे हुए हैं। आज की दुनिया में मनुष्य के जीवन में इंटरनेट का दखल किस तरह से बढ़ गया है, किसी से भी यह बात छिपी नहीं है। मोबाइल फोन और ब्राडबैंड के बढ़ते चलन के कारण इंटरनेट का इस्तेमाल महानगरों और शहरों के साथ-साथ ग्रामीण क्षेत्र के लोगों के द्वारा भी किया जाने लगा है। इंटरनेट ने दुनिया भर की बहुत सी भाषाओं को समृद्ध किया है और इसी प्लेटफार्म पर सवार होकर हिन्दी भाषा भी विकास की नई रफ्तार पकड़ रही है। हिन्दी भाषा ने सूचना प्रौद्योगिकी के बदलते परिवेश में अपना स्थान धीरे-धीरे प्राप्त कर लिया है। सूचना प्रौद्योगिकी के इस युग में हिन्दी का प्रचार-प्रसार नयी चुनौतियों के साथ समृद्ध हो रहा है।

दुनिया में चीनी भाषा के पश्चात् सबसे ज्यादा बोली जाने वाली भाषा हिन्दी है। तकनीकी क्षेत्र में आज हिन्दी लगातार उन्नति कर रही है। इंटरनेट की दुनिया में एक समय था जब केवल अंग्रेजी भाषा ही नजर आती थी। हिन्दी का प्रयोग भी कभी इंटरनेट पर किया जाने लगेगा, यह किसी ने भी नहीं सोचा होगा, क्योंकि यह जगह हिन्दी के लिए बिल्कुल भी मुफीद नहीं मानी जा रही थी। लेकिन पिछले कुछ वर्षों से इसमें बदलाव देखने को मिला है। हिन्दी भाषा ने इंटरनेट की दुनिया में अपना स्थान धीरे धीरे प्राप्त कर लिया है। आज इंटरनेट पर हिन्दी सामग्री का बाजार हर बर्ष 95

प्रतिशत तक बढ़ रहा है। महानगरों, छोटे शहरों तथा गांव कस्बों में प्रत्येक हिन्दी भाषा बोलने व समझने वाले मनुष्य तक पहुंचने के लिए बहुराष्ट्रीय कंपनियां इंटरनेट का प्रयोग करने लगी हैं। यही कारण है कि आज अंग्रेजी भाषा के साथ-साथ अच्छी हिन्दी जानने वालों की मांग भी बढ़ रही है। यकीनन आगे आने वाले समय में देश में हिन्दी भाषा में इंटरनेट उपयोग करने वालों की संख्या अंग्रेजी भाषा में इंटरनेट का प्रयोग करने वालों से अधिक हो जाएगी।

भारत में इंटरनेट सेवा की शुरूआत 15 अगस्त, 1995 से विदेश संचार निगम लिमिटेड (VSNL) के द्वारा अपनी टेलीफोन लाइन के माध्यम से भारत में स्थित कंप्यूटरों को दुनिया के दूसरे देशों में स्थित कंप्यूटरों के साथ जोड़ने से हुई। वर्तमान समय में इंटरनेट का प्रयोग जीवन के सभी क्षेत्रों जैसे–शिक्षा, बैकिंग, सोशल मीडिया, ई-मेल, इंफार्मेशन, ऑनलाइन शापिंग, बीमा, अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी तथा अन्य सेवाओं के लिए किया जा रहा है। भारत की ज्यादातर आबादी किसी न किसी रूप में इंटरनेट का इस्तेमाल कर रही है, चाहे वह मोबाइल के माध्यम से हो या कम्प्यूटर के माध्यम से।

इंटरनेट और हिन्दी भाषा

हिन्दी भाषा ने श्री विनय छजलानी और उनकी टीम के अथक प्रयासों के बाद इंटरनेट पर अपना पहला कदम सन् 1999 में अपनी पहली वेबसाईट (website) www.webduniya.com के रूप में रखा। सन् 1999 से पहले अंग्रेजी के बिना इंटरनेट की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। जब से हिन्दी की यह पहली वेबसाईट अस्तित्व में आई है तभी से इंटरनेट पर दिन व दिन हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार की रफ्तार गति पकड़ रही है। आज बे-बदुनिया के माध्यम से पाठक पल भर में साहित्य, आलेख, मनोरंजन, धर्म आदि की ज्ञानवर्धक जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। वर्तमान समय में हिन्दी ने इंटरनेट पर अपनी छाप छोड़नी प्रारंभ कर दी है।

हिन्दी बलॉग्ज

ब्लॉग एक प्रकार से व्यक्तिगत वेबसाइट है जिसमें व्यक्ति अपने अनुभवों, विचारों, सुझावों, प्रतिक्रिया आदि को एक डायरी के रूप में लिखता है। ब्लॉग लिखने वाले को ब्लॉगर कहते हैं और जो काम ब्लॉग पर होता है उसे ब्लॉगिंग कहते हैं। हिन्दी में ब्लॉग को चिट्ठा कहा जाता है और ब्लॉगर्स को चिट्ठाकार। अंग्रेजी में ब्लॉग लिखने की शुरूआत 1999 से हुई और उसके चार वर्ष पश्चात् सन् 2003 से हिन्दी में ब्लॉगिंग की शुरूआत हुई। वर्ष 2003 में यूनीकोड हिन्दी में आया और उसी समय से हिन्दी ब्लॉग का आरंभ हुआ। 'नौ-दो ग्यारह' शीर्षक से 21 अप्रैल 2003 को 'आलोक कुमार' ने देवनागरी लिपी में हिन्दी में इंटरनेट पर पहला ब्लॉग बनाया। शुरूआत में हिन्दी ब्लॉग के क्षेत्र में स्त्रियों की संख्या बहुत कम थी। हिन्दी में ब्लागिंग करने वाली पहली स्त्री ब्लॉगर इंदौर की पद्मजा थी जिनके ब्लॉग का नाम था 'कही अनकही'। आज हिन्दी ब्लॉगिंग ने सूचना संसार टैकनोलाजी में अपना एक स्वतंत्र मंच बना लिया है, जहां पर आम आदमी को अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है। बालेन्दु के अनुसार, ''हिन्दी ब्लॉगिंग ने न सिर्फ इंटरनेट, बल्कि जनसंचार के माध्यमों तथा रचनाकर्म के बीच भी अलग पहचान और जगह बनाई है। हिन्दी रचनाकर्म के क्षेत्र में ठहराव और शीतलता के बीच ब्लॉगिंग जो कि वास्तव में एक तकनीकी परिघटना तथा माध्यम मात्र है, ने वह हलचल और ऊष्मा पैदा की है जिसकी अनुपस्थिति हिंदी साहित्य, पत्रकारिता और भाषा प्रेमियों को व्यथित करने लगी थी।''[1]

इंटरनेट पर हिन्दी साहित्य, हिन्दी समाचार, हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं से संबंधित वेबसाइटस

पिछले कुछ वर्षों से इंटरनेट पर हिन्दी वेबसाइटों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। आज इंटरनेट पर बहुत सारी वेबसाइटस हिन्दी भाषा, साहित्य ,समाज, पत्रकारिता, संगठन, कला, व्यवसाय, कृषि, संस्कृति, दर्शन, सिनेमा आदि से संबंधित जानकारी प्रदान कर रही हैं। कविता भाटिया के अनुसार, ''वर्तमान में सभी आवश्यक वेबसाइटों के हिन्दी संस्करण मौजूद हैं, जिनमें राष्ट्रीय, सरकारी, गैरसरकारी और निजी संस्थान और उपक्रम शामिल हैं। केन्द्र व राज्य सरकारों की लगभग 9 हजार वेबसाइट हिन्दी में उपलब्धहै।''[2] विकीपीडिया, एन्साइक्लोपीडिया पर भी हिन्दी में प्रचुर मात्रा में हिन्दी साहित्य उपलब्ध है। हिन्दी अखबारों और समाचारों से संबंधित अनेक वेबसाइटस इंटरनेट पर मौजूद हैं, जिनका प्रयोजन हिन्दी में समाचार उपलब्ध कराना है। आज जितने भी प्रतिष्ठित अखबार हैं, उन सभी के ई-संस्करण इंटरनेट पर उपलब्ध हैं। दुनिया के किसी भी कोने में बैठ कर क्षेत्रीय संस्करण के अखबारों को पढ़ कर हम अपने क्षेत्र विशेष की जानकारी हिन्दी में इंटरनेट के माध्यम से ले सकते हैं। इन ई-संस्करण के कारण पाठक को मुफ्त में समाचार पत्र पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ है। हिन्दी साहित्य से संबंधित हम अनुभूति, अभिव्यक्ति, रचनाकार, हिन्दी समय, हिन्दी नेस्ट, लमही, नया पथ, वर्तमान साहित्य,

समयांतर, सबलोग, साहित्य कुंज, भारत दर्शन, कथाक्रम, प्रतियोगिता दर्शन, चंदामामा, संवेदन, कविताकोश, संवाद, लघुकथा, वागर्थ आदि ई-पत्रिकाओं की वेबसाइटस देख सकते हैं, जिन पर दिन प्रतिदिन उच्च स्तरीय हिन्दी साहित्य विभिन्न विधाओं में लिखा जाता है और प्रदर्शित होता रहता है, जिसे विश्व भर में पढ़ा जाता है। अप्रवासी भारतीय पाठकों के लिए यह वरदान साबित हुआ है। हिन्दी की पहली ई-पत्रिका 'अभिव्यक्ति' है। इंटरनेट पर इन ई-पत्रिकाओं की बढ़ती लोकप्रियता को देखकर हिन्दी के अनेक प्रकाशकों और संपादकों ने अपनी-अपनी पत्रिकाओं के ई-संस्करण जारी कर दिए है। जैसे– हंस, कथादेश, तद्भव आदि न जाने कितनी पत्रिकाओं के ई-संस्करण अब इंटरनेट पर मौजूद हैं। हिन्दी अब सिर्फ कागज के पन्नों तक सीमित नहीं रही बल्कि इंटरनेट के इस दौर में महत्वपूर्ण हिन्दी किताबों के ई-प्रकाशन के साथ-साथ तमाम हिन्दी पत्र-पत्रिकाएं भी अपना ई-संस्करण जारी कर रही हैं जिससे वैश्विक स्तर पर हिन्दी भाषा व साहित्य को नये आयाम मिले हैं।"[3] हिन्दी में नियमित रूप में ऑनलाइन पत्र, पत्र-पत्रिकाएं, समाचार पत्र, उपन्यास, कहानी, कविता, आलोचनात्मक साहित्य ब्लॉग आदि प्रकाशित होते रहते हैं।

इसके साथ ही इंटरनेट पर फ्री हिन्दी में ई-बुक्स वेबसाइटस भी उपलब्ध हैं। इन वेबसाइटस पर हिन्दी की बहुत सारी गद्य-पद्य पुस्तकों के फ्री में पीडीएफ पाठक को आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत सारे प्रकाशकों ने इंटरनेट पर अपनी-2 वेबसाइट बना रखी है जिन पर हिन्दी के अनेक रचनाकारों की महत्वपूर्ण पुस्तकें घर बैठे ही पाठकों को प्राप्त हो जाती हैं। अकेले महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा की वेबसाइट www.hindisamy.com पर हिन्दी के लगभग 1000 रचनाकारों की रचनाओं को पाठक घर बैठे ही अध्ययन कर सकता है। हिन्दी प्रेमियों, शिक्षकों, शोधार्थियों को इंटरनेट के माध्यम से एक चलता-फिरता पुस्तकालय प्राप्त हो गया है।

सोशल मीडिया की दुनिया में हिन्दी

यू-ट्यूब, फेसबुक, ट्विटर, याहू, आर्कुट, व्हाट्सएप आदि सोशल मीडिया के अन्तर्गत आते हैं। आज इन सोशल नेटवर्किंग साइट्स पर हिन्दी भाषा का प्रयोग निरंतर बढ़ रहा है। वह दिन दो गुनी रात चौगुनी आसमान छू रहा है। सोशल मीडिया के माध्यम से हिन्दी का प्रचार और प्रसार अनेक पाठकों तक हो रहा है। यू-ट्यूब, फेसबुक, ट्विटर आदि जैसी सोशल नेटवर्किंग साइट्स के माध्यम से हम इंटरनेट पर हिन्दी भाषा के साहित्यिक, शैक्षिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि जैसे और बहुत से क्षेत्रों से संबंधित विडीयो किसी भी समय सुन और देख सकते हैं। सोशल मीडिया पर आज हिन्दी भाषा ने ट्विटर के माध्यम से कम शब्दों में अपनी बात कहने के अभ्यास को संभव बनाया है। डॉक्टर, प्रोफेसर, अध्यापक, खिलाड़ी, अभिनेता आदि सभी लोग ट्विटर पर हिन्दी भाषा का जबर्दस्त प्रयोग कर रहे हैं। इनका अनुकरण बहुत से लोग करते हैं। यह अनुप्रयोग हिन्दी के लिए नई संभावनाएं पैदा करेगा। हिन्दी भाषियों को आकर्षित करने की कोशिश गूगल जैसी कंपनियां भी कर रही हैं। आज फेसबुक पर हिन्दी की एक पोस्ट और ट्वीट को हजारों-लाखों लाइक्स मिल रहे हैं। अतः कह सकते हैं कि इंटरनेट पर हिन्दी का भविष्य उज्जवल दिखाई दे रहा है और हिन्दी के विकास के लिए सभी को इंटरनेट पर हिन्दी का प्रयोग करना चाहिए और दूसरों को करने के लिए प्रेरित करना चाहिए तभी हिन्दी का विकास होगा।

निष्कर्ष

सोशल मीडिया के विभिन्न प्लेटफार्म जैसे- यू-टयूब, फेसबुक, ट्विटर आदि हो या ब्लॉग, ई-मेल, वेबसाइटस अर्थात् इंटरनेट का कोई भी कोना हो हर पर हिन्दी चमक रही है। हिन्दी के अच्छे भविष्य के लिए उसका नई तकनीक के साथ जुड़ना बहुत जरूरी है। हिन्दी भाषा के विकास, प्रचार और प्रसार के लिए इंटरनेट एक अच्छा प्लेटफार्म बनकर आया है। इस प्रकार अंत में हम कह सकते हैं कि इंटरनेट पर हिन्दी भाषा विश्व की दूसरी अन्य भाषाओं से कदमताल कर रही है।

संदर्भ

1. दाधीच, शर्मा बालेन्दु, ब्लागिंग को साहित्य कहलाने की अनावश्यक बेताबी, www.balendu.com
2. भाटिया, कविता, सोशल मीडिया वर्चुअल से वास्तविक, सेतु प्रकाशन, दिल्ली, 2021, पृ. 111.
3. यादव, आकांक्षा, वैश्विक स्तर पर हिन्दी को समृद्ध करती ब्लॉगिंग और सोशल मीडिया, संवाद पथ, अक्टूबर- दिसंबर, 2008, पृ. 112
4. जुयाल, भास्कर, इंटरनेट की दुनिया में हिन्दी का भविष्य, www.abhivyakti-hindi.org

डा. कुलदीप कौर
(शोध निर्देशिका)
सरबजीत कौर, शोधार्थी
हिन्दी विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

मनीषा कुलश्रेष्ठ : लेखन के विविध आयाम

–सुनीता रानी

सारांश

समकालीन लेखिकाओं ने आज के जीवन की परिवर्तनशीलता और नारी जीवन के परिवर्तित मूल्यों को अत्यंत मार्मिकता के साथ अपनी रचनाओं में चित्रित किया है। भूमंडलीकृत समाज में अपने अस्तित्व को बनाए रखने की जो छटपटाहट स्त्री रचनाकारों में दर्ज हुई है वह समकालीन दौर में स्त्री-लेखन को विशिष्ट स्थान प्रदान करती है। आलोचकों के अनुसार, ''वह अपने वजूद को महसूस करती है। एक सजग इकाई के रूप में वह तमाम यथार्थ स्थितियों से प्रतिकृत होती वर्तमान सामाजिक परिवेश के अंतर्विरोधों व असंगतियों को अपनी व्यक्तिमत्ता, स्त्री अस्मिता और मानवीय स्थिति के परिप्रेक्ष्य में जानना समझना चाहती है। उनका विश्लेषण विवेचन करने का प्रयास करती है।''[1] हिंदी साहित्य की दुनिया में पिछले कुछ वर्षों में स्त्री रचनाकार हर विधा में सक्रिय हैं। मनीषा कुलश्रेष्ठ भी उनमें से एक है जिन्होंने साहित्य की विविध आयामों पर अपनी लेखनी चलाई है।

शोध का उद्देश्य

साहित्य और समाज का संबंध बहुत पुराना है और उसका संबंध अनादिकाल से चला आ रहा है और दोनों का संबंध मनुष्य से है। मनुष्य समाज में रहने के साथ-साथ समाज को प्रभावित करता है और खुद भी प्रभावित होता है। साहित्यकार समाज का अंग है और समाज की परिस्थिति का प्रभाव उस पर पड़ता है। साहित्यकार युग दृष्टा और सृष्टा होता है। वह समाज की समस्याओं को देखता, सुनता और समझता है और उसी तरह साहित्य की सृष्टि करता है। इक्कीसवी सदी के साहित्यिक परिदृश्य में स्त्री को केंद्र में रखकर होने वाले चिंतन ने अब एक निर्णायक स्थिति अख्तियार कर ली है। सदियों से हाशिए पर खड़े हुए ये वर्ग अब चर्चा में है और अपना महत्व सुनिश्चित कर चुके हैं। समकालीन स्त्री लेखन में स्त्री की अस्मिता की पहचान की कोशिश है। साथ ही वह परंपरा और रूढ़ि के विरुद्ध सतर्कता से संघर्ष और प्रतिरोध कर रहा है। आज के इस भूमंडलीकृत समाज में स्त्री के प्रति व्यावसायिक और भोगवादी नजरिया

तेजी से पनपा है। समकालीन महिला रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से इस स्थिति से उबरने की सृजनात्मक कोशिश की है।

विशिष्ट शब्द : अस्तित्व, मार्मिकता, विविधता, पहचान, रचनात्मकता, नवीन कथात्मक शैली, मिथक, जीवन संघर्ष, मानवीय स्थिति, विश्लेषण, यथार्थ।

मूल शोध

मनीषा कुलश्रेष्ठ आज की उन लेखिकाओं में से हैं जो अपनी रचनाओं के द्वारा हिंदी समाज में अपना विशेष स्थान बनाने में सफल रही हैं। मनीषा कुलश्रेष्ठ की रचनाओं में विषय की विविधता दिखलाई पड़ती है। उनकी हर रचना में यह दिखलाई पड़ता है। वह चाहे मल्लिका हो, शिगाफ हो, पंचकन्या हो या स्वप्नपाश हो। प्रत्येक रचना में लेखिका का उद्देश्य विराटता को लिए हुए रहता है। उनकी रचनाओं को पढ़कर लगता है रचना करते हुए वे अपनी रचनाओं के पात्रों से बातें करती है। 'शिगाफ' उपन्यास में जहाँ उन्होंने कश्मीर समस्या को उठाया है, विस्थापन का दर्द दिखलाया है तो 'मल्लिका' में भारतेंदु की प्रेमिका मल्लिका की उस पीड़ा को स्थान दिया है जिसे इससे पहले के इतिहासकार अथवा अन्य साहित्यकार याद करना भूल गए थे। ''जिसके जन्म और मृत्यु, आरंभ और अंत की कथा ही ज्ञात न हो सकी। उसके लिए मैंने यह गल्प रचा है। जिसने हिन्दी जगत को बांग्ला उपन्यास से परिचित करवाया, साहित्य के इतिहास में जिसका नाम तक शामिल न हो सका, उसके जीवन की विडम्बना और प्रेम पर एक औपन्यासिक वितान रचा है मैंने।''[2] मल्लिका जो पहली महिला रचनाकार हो सकती थी आज इतिहास के पन्नों में धूमिल है। मनीषा कुलश्रेष्ठ का यह उपन्यास इसी कारण श्रेष्ठ है। इन्होंने मल्लिका के जीवन को कल्पना के रेशों से बुन-बुन कर वास्तविक क्षेत्र में लाया है और गल्प की शैली में बनी यह रचना पाठक के मन में घर बना लेती है। पाठक इसे पढ़ कर मल्लिका की खोज में इतिहास को खंगालता है पर वह जो नायिका होते हुए भी नायिका न हुई और स्वयं को इतिहास के अंधकार भरे कोने में छोड़ गई, उसे मनीषा कुलश्रेष्ठ जी ने तलाशा, तराशा और हमारे सामने प्रस्तुत किया। इससे इस उपन्यास को पढ़ने के बाद पाठक 'मल्लिका' में इस प्रकार खो जाता है कि मल्लिका उसके जीवन का एक हिस्सा बन जाती है और पाठकों को यह लगता है कि मल्लिका उसी के आसपास की किसी नारी के जीवन की कथा है जो उसे बार-बार इतिहास से बाहर निकालने के लिए, उसे अंधकारमय संसार से बाहर निकालने के लिए पाठक को कहती है, जहाँ वह हो कर भी नहीं है।

'पंचकन्या' उपन्यास नवीन कथात्मक शैली में धैर्य के साथ लिखा गया है। यह कई पुराणों तथा मिथकों की कथाओं को अपने में समेटे वर्तमान की जमीन पर भारतीय स्त्री के जीवन, उसकी अस्मिता, जिजीविषा, उसके स्वप्नों और भविष्य की संभावनाओं को नए सिरे से देखने की कोशिश में लिखा गया एक प्रयोगात्मक उपन्यास है। वर्तमान समय में आधुनिक स्त्री के जीवन की विडंबनाओ को दर्शाती यह कथा अपने अंदर कुंती, अहिल्या, द्रौपदी, तारा, मंदोदरी जैसे चरित्र की छवि समेटे है और यह अनायास नहीं है बल्कि मनीषा कुलश्रेष्ठ ने सहजता से इन मिथकीय चरित्रों को बारीकी से देखते हुए 'मॉर्डन फेमेनिज़्म' के सन्दर्भों में बिलकुल नए आयाम जोड़ने की कोशिश की है। ''हादसे कुछ सिखाने के लिए होते हैं, उनमें बंद हो जाने के लिए नहीं। आघात से मत डरो, ये ईश्वर लुहार के हाथ हैं, इन्हें लोहे की-सी निसंगता से सह जाओ, जब तक वह आकार न पा लो अपना, जो तुमने चाहा था । जब तुम बन जाओगे, ये हाथ खुद ब खुद रुक जाएंगे।''[3] नारी विमर्श पर लिखा गया यह एक श्रेष्ठ उपन्यास है। 'स्वप्नपाश' एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास है जिसमें सिजोफ्रेनिया बीमारी से पीड़ित महिला के जीवन संघर्ष को दिखलाया गया है। अतीत में पाई किसी गहरी चोट के कारण मनुष्य का वर्तमान व भविष्य उसे जीने नहीं देता। नायिका गुलनाज के माध्यम से लेखिका एक स्त्री पर हुए शोषण का चित्रण किया है। अतीत की घटनाएं नायिका को मानसिक रूप से बीमार कर देती है। सिजोफ्रेनिया पर आधारित यह उपन्यास इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि लेखिका ने न केवल मनोविज्ञान को केंद्र में रखकर सृजन किया है बल्कि एक ऐसी बीमारी को इसका आधार बनाया है जो बहुत ही चिंताजनक है। इसके अतिरिक्त शालभंजिका नाम का एक और लघु उपन्यास है यह उपन्यास स्त्री-पुरुष के जटिल संबंधों को एक नये नजरिये से परखते हुए मन और देह दोनों बातों को सामने रखती है। इनका नया उपन्यास 'सोफिया' हिंदू लड़के से मुस्लिम लड़की के प्रेम पर आधारित है। इस उपन्यास की मूल विषय वस्तु प्रेम है जिसके कई आयाम हैं। बल्कि कहें कि इसका मुख्य तत्व ही प्रेम है। प्रेम और अंतरजातीय विवाह इस उपन्यास का केंद्र है। उपन्यास की नरेटर मीनल और सोफिया की कहानी अलग-अलग ढंग से परिभाषित होती है। सोफिया के बर अक्स मीनल प्रेम और अंतरजातीय विवाह दोनों में सफल रहती है, पर जैसा कि अपेक्षित है मीनल का प्रसंग गौण

होकर नेपथ्य में चला जाता है। सोफिया का प्रेम और हिंदू लड़के से विवाह और उसके बाद के द्वंद्व को लेखिका ने खूबसूरती से चित्रित किया है।

मनीषा जी ने कई कहानी संग्रह भी लिखे हैं जिसमें किरदार, कुछ भी तो रूमानी नहीं है, कठपुतलियां, बौनी होती परछाई आदि हैं। इनकी कहानियाँ भी आधुनिक परिवेश से जुड़ी हुई है। हर कहानी में एक विशेष प्रकार का मनोविज्ञान है जो पाठक को अपनी तरह खींचने में सफल होता है। कुछ महत्वपूर्ण कहानियों के नाम 'बिगड़ैल बच्चे', 'किरदार', 'कालिन्दी', 'समुद्री घोड़ा', 'आर्किड' आदि हैं। वैसे तो गद्य में इन्होंने ज्यादा हाथ आजमाया है पर कुछ कविताएं भी इन्होंने लिखी है और लिखती रही हैं। इसके अतिरिक्त यात्रा वृतांत 'अतिथि होना कैलाश का' भी लिखा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनीषा कुलश्रेष्ठ किसी एक विधा तक सीमित नहीं रही हैं। इन्होंने प्रत्येक विधा में अपनी लेखनी चलाई है और सफलता पाई है। एक तरफ जहाँ इन्होंने स्वप्नपाश, शिगाफ, मल्लिका जैसे प्रसिद्ध उपन्यासों की रचना की है वहीं दूसरी तरफ कठपुतलियां, किरदार, गंधर्व गाथा जैसे कहानी संग्रह की रचना की है। इसी के साथ इन्होंने अनुवाद कार्य में भी हाथ आजमाया हैं। कविताएं तो प्रारंभ से ही लिखती रही हैं और हाल फिलहाल में इन्होंने यात्रा वृतांत लिखा है क्योंकि लेखिका यात्रा की बहुत ही शौकीन हैं। यह भी एक कारण है कि उन्होंने यात्रा-वृतांत लिखा है। इस

प्रकार समकालीन महिला लेखिकाओं में मनीषा कुलश्रेष्ठ जी की अपनी एक अलग विशेषता देखने को मिलती है। लेखिका ने संघर्ष के दूसरे बिंदु को भी उभारा है। मनीषा जी ने आज की इस दारुण, अमानवीय, त्रासदीपूर्ण मानसिकता के खतरे की ओर ईशारा किया है। मनीषा कुलश्रेष्ठ ने स्त्री की इस विडम्बनापूर्ण स्थिति को 'मास्टरानी' कहानी में अभिव्यक्त किया है। बहू को अर्थ के नजरिये से देखते लोगों के यथार्थ को सुषमा के माध्यम से उभारा गया है। सुषमा ने 'कभी नौकरी नहीं करना चाही। ब्याह कर आते ही पहला वाक्य सास से यही सुना था, ''बहू, हमारे यहाँ सब बहुएं-बेटियाँ नौकरीशुदा हैं। इसीलिए तुम्हें भी पसन्द किया था कि तुम बी. ए. हो।'' यह सितार-वितार क्यों उठा लाई मायके से? फालतू जगह घेरेगा। वैसे भी हमारे घर में किसी को पसन्द नहीं गाना बजाना।"[4] दुःखों की इस झील में ही जीवन जीने वाली नारी, निम्न गरीब मजदूर, शोषित के विचारों को पाठको तक पहुँचाने का महत्वपूर्ण कार्य मनीषा जी ने पूर्ण सफलता पाई है।

निष्कर्ष

मनीषा कुलश्रेष्ठ एक उम्दा का रचनाकार हैं। कथाकार अपने समय का प्रतिनिधित्व करता है वह अपनी रचनाओं में अपने समय का इतिहास सहेज रहा होता है। कथाकार की कल्पना, उसकी संवेदना व अनुभव उसके अपने परिवेश से प्रभावित होते हैं और शब्द कौशल उनको कविता कहानी का रूप दे देता है। मनीषा जी की रचनाओं में शीर्षक भी इस बात की पुष्टि करते हैं। इसलिए उनकी कहानियों में हम ऐसे समाज की यथार्थ झांकी देखते हैं जिन्हें प्रायः अन्य साहित्यकारों ने अनदेखा कर दिया है। कथा लेखन उनके लिए सृजन की सुखद अनुभूति है वह कहती हैं, ''कथा लेखन के दौरान मैंने चेतनात्मक स्तर पर महिला होने के नाते अपने लेखन में वही सीमाएं महसूस कीं जो एक आधुनिक महिला समाज में महसूस करती है...वह आधुनिक है, स्वतंत्र है, मगर प्रकृति से स्त्री है। स्त्री होने पर उसे गर्व है। वह विद्रोहिणी हो सकती है, मगर अपनी प्रकृति के विरुद्ध नहीं जा सकती।"[5]

संदर्भ

1. समीरण मजूमदार, पुरुष समाज में स्त्री, ग्रंथ शिल्पी प्राइवेट लिमिटेड, संस्करण, 2018, पृ. संख्या 14
2. कुलश्रेष्ठ मनीषा, 'मल्लिका', राजपाल प्रकाशन, संस्करण 2023, पृ. संख्या 7
3. कुलश्रेष्ठ मनीषा, 'पंचकन्या', सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2022, पृ. संख्या 15
4. कुलश्रेष्ठ मनीषा, मास्टरनी (रंग रूप रस गंध-1),सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2022, पृठ संख्या 232, 233
5. कुलश्रेष्ठ मनीषा, 'पंचकन्या', सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2022

सुनीता रानी
शोधार्थी, हिन्दी
हिन्दी विभाग, गुरु काशी विश्वविद्यालय, तलवंडी साबो, बठिण्डा,
पंजाब-151302

'पथ का चुनाव' लघुकथा संग्रह में अभिव्यक्त सामाजिक सरोकार

–मोनिका मीणा
–प्रो. चंद्रशेखर

हिंदी साहित्य के अंतर्गत लघुकथा एक स्वतंत्र और सशक्त विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है। आकार में लघु होते हुए भी यह अत्यधिक प्रभावशाली और व्यापक है। आधुनिक जीवनशैली के अंतर्गत समय का अभाव और बदलते जीवन मूल्यों के कारण पाठक लघु रचनाएं पढ़ना पसंद कर रहा है, ऐसे में गागर में सागर भरने का कार्य लघुकथाएं कर रही हैं। इन लघुकथाओं में साहित्यकार सामाजिक मुद्दों को उठाते हुए अपने विचार और अर्थपूर्ण संदेश को समाज की इकाई व्यक्ति तक पहुंचाने का प्रयास कर रहे हैं। यहाँ यह उल्लेख करना उचित होगा कि 'साहित्यकार दृष्टा भी है और सृष्टा भी। वह आंखें खोल कर समाज को देखता है और पुनः उसके शोधन का उपाय करता है। अपनी कल्पना की विलक्षण शक्ति से वह भविष्य का निर्माण करता है, समाज का मार्ग-दर्शन करता है। वह अपनी कल्पना से समाज को आदर्श की ओर प्रेरित करता है। समाज साहित्य से प्रेरणा और जीवन ग्रहण करता है।'[1]

कांता रॉय के लघुकथा संग्रह 'पथ का चुनाव' के अंतर्गत 134 लघुकथाएं संकलित हैं जिसके अंतर्गत अनेक समसामयिक मुद्दों को समाहित किया गया है। ये लघुकथाएं सामाजिक विषमता को उजागर करते हुए अंत तक एक सकारात्मक समाधान की ओर ले जाती हैं। 'पथ का चुनाव' की लघुकथाओं में आम आदमी की छटपटाहट, पीड़ा, विसंगति, खोखलापन, टूटन, आकांक्षा और आक्रोश एवं शोषण की सहज अभिव्यक्ति है। इन लघुकथाओं में श्रीमती कांता रॉय ने इस भौतिकवादी विकास तंत्र की पोल खोली है। विकास की चकाचौंध से सम्मोहित, प्रगति के नाम पर लगती अंधी दौड़ का इतिहास गहरी खाइयों में है जहाँ पहले की कई सभ्यताओं के कंकाल पड़े हैं। इन लघुकथाओं की सफलता इसी तथ्य में है कि इनके पात्र पाठकों को अपने आस-पास दिखाई देते हैं। कांता जी ने अपनी लघुकथाओं को अव्यवस्था, अन्याय और अंधविश्वास के विरुद्ध जीवन-संघर्ष के हथियार के रूप में प्रयोग किया है।'[2]

सामाजिक विमर्श आधारित लघुकथाएं जैसे स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, वृद्ध विमर्श, पर्यावरण विमर्श इत्यादि उभर कर आती हैं। इन लघुकथाओं में स्त्री से संबंधित कई प्रश्नों को उठाया गया है। 'पथ का चुनाव' लघुकथा में बी. ए. कर रही लड़की के सामने द्वंद्व है कि वह अपने हम-उम्र बच्चों की माँ बन कर अपने गरीब पिता की सहायता करें या स्वयं अपने अस्तित्व व अस्मिता को बनाने के लिए अपने पैरों पर खड़ी हो कर पिता की सहायता करें। अंत में वह दूसरा रास्ता चुनती है। लघुकथाएं एक द्वंद्व से गुजरते हुए अंत में सकारात्मक मोड़ लेते हुए समाज में एक अर्थपूर्ण संदेश प्रसारित करने का प्रयास करती हैं। इन लघुकथाओं में प्रेम विवाह और अरेंज मैरिज का द्वंद्व भी नजर आता है। समाज द्वारा प्रेम विवाह को वर्तमान समय में भी पूर्णतः स्वीकार नहीं किया गया है। लड़का-लड़की एक-दूसरे को पसंद करने के बावजूद, परिवार द्वारा लड़की की शादी कहीं अन्य स्थान पर कर दी जाती है और आगे लड़की अपने इस विवाह को सफल करने में प्रयासरत दिखाई देती है तथा अपने पूर्व प्रेमी के साथ जाने से इनकार कर देती है। इसके अलावा 'सुरंग' लघुकथा में एक माँ अपने बेटे की प्रेमिका को लिव-इन में रहने की सलाह देती है, क्योंकि वह स्वयं अपने बेटे के हिंसक व्यवहार से पीड़ित है। वह नहीं चाहती कि उसकी होने वाली बहू भी विवाह के सामाजिक बंधन में बंधकर उसकी हिंसा का शिकार होती रहे। इस प्रकार इस परिवर्तन को समाज में एक क्रांतिकारी परिवर्तन के रूप में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त 'चुनौती' लघुकथा में डरी सहमी लड़की की अपेक्षा धाकड़, विपरीत परिस्थितियों में सही एक्शन लेने वाली लड़की को दर्शाया गया है, जो लड़कों द्वारा की जाने वाली छेड़खानी का मुंहतोड़ जवाब देती है।

दलित विमर्श पर आधारित लघुकथाओं में दर्शाया गया है कि सदियों से चला आ रहा जातीय भेद आज भी व्याप्त है, परन्तु नए रूप में। तथाकथित नीची जाति के व्यक्ति भी पढ़-लिखकर सम्मान और स्वाभिमान के साथ जीने की चाह रखते हैं और यह तभी संभव है जब पूरा समाज इसमें सहयोग करें। 'उड़ान' लघुकथा में जातिगत भेदभाव के इतिहास और वर्तमान दोनों को रूपायित किया गया है। तथाकथित नीची जाति के घर में जिलाधीश बनने के पश्चात तथाकथित उच्च जाति के एक व्यक्ति का कहना है, ''जिसके छुए पानी से नहाते नहीं थे उसके इहाँ का अब चाय पीने के साथ सलाम भी करना पड़ेगा।''[3] इस प्रकार यहाँ वर्षों से किए जा रहे जातिगत भेदभाव में इतिहास से ले कर वर्तमान तक क्या परिवर्तन आया है, वह स्पष्ट है।

वृद्ध विमर्श को केंद्र में रख कर लिखी गई लघुकथाओं में दर्शाया है कि वर्तमान समाज के अंतर्गत रिश्तों में भावनाओं की अपेक्षा अर्थ प्रधान हो गया है। इस कारण बेटा अपने पिता की जायदाद को प्राप्त करने के लिए तरह-तरह के अत्याचार करता है। अर्थ प्रधान रिश्तों का एक परिणाम वृद्ध विमर्श को स्वीकार किया जा सकता है। लेखिका ने एक ही लघुकथा में कई मुद्दों को समाहित करने का प्रयास किया है। 'चेहरा' लघुकथा अनाथ आश्रम में फैले व्यभिचार इसके साथ ही समाज में अकेली लड़की की असुरक्षा और संतान न होने पर दंपति के जीवन में फैली निराशा आदि मुद्दों को उजागर करती है। संयुक्त परिवार और एकल परिवार का द्वंद्व भी इन लघुकथाओं में नजर आता है। संयुक्त परिवार के विघटित होने पर माँ-बाप का भी बंटवारा हो जाता है। यहाँ बागवान जैसी फिल्म का याद आना सहज है। पति-पत्नी के संबंधों को केंद्र में रख कर भी अनेक लघुकथाएं लिखी गई हैं। 'अवलम्ब' लघुकथा में पति का दूसरी औरत के साथ अफेयर होने के बावजूद भी पत्नी द्वारा तलाक देना स्वीकार्य नहीं है। व्यस्क उम्र में इधर-उधर भटकने के भय से वह उनके साथ सामंजस्य बिठाने के लिए मजबूर है। इसके अलावा 'घर की बात' लघुकथा में एक्स्ट्रा मैरिटल अफेयर से उत्पन्न समस्याओं को दर्शाया गया है। समाज में लिव-इन को हमेशा से ही अस्वीकार किया है। लिव-इन में रहने वाले माँ-बाप तो बन गए परंतु पति-पत्नी जैसे मर्यादित बंधन को अस्वीकार करते हुए आ रहे हैं। उनकी बेटी मैंसी पर समाज द्वारा नकारात्मक प्रभाव पड़ता है और वह मानसिक रूप से पीड़ित हो जाती है।

'जिंदगी का मोह' लघुकथा अपहरण हुई लड़की को माध्यम बना कर लिखी गई है। अनेक यातनाओं को सहन करने के बाद वह लड़की भाग कर एक दिन अपने घर आ जाती है, परंतु घरवाले उस लड़की को स्वीकार नहीं करते और उसे बिना गलती की सजा मिलती है कि यह समाज उसे पूर्णतः बहिष्कार कर देता है। 'निर्भया का निर्वाह' लघुकथा में निर्भया प्रतीक है। उन सभी स्त्रियों की जो बलात्कार की शिकार और समाज द्वारा प्रताड़ित होती आ रही हैं। इस समाज में निर्भया जैसी स्त्रियों का विवाह किसी निठल्ले व्यक्ति से ही संभव है। लघुकथा में स्पष्ट लिखा है, ''ऐसी लड़कियों को निठल्ले ही तो अपनायेंगे।''[4] एक स्वस्थ समाज के निर्माण में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान होता है। वर्तमान समय में

ग्रामीण इलाकों में भी शिक्षा का महत्त्व समझ में आने लगा है। इस प्रकार समाज में आ रहे बदलावों को भी ये लघुकथाएं दर्शाती हैं। इसके अलावा इन लघुकथाओं में समाज की भ्रष्ट व्यवस्था को भी उजागर किया गया है। 'सामंजस्य' लघुकथा में दर्शाया है कि 97% होने पर भी एडमिशन की सीट एक लाख में बिक रही है और जब भ्रष्ट व्यवस्था का विरोध किया जाता है तो स्थिति कुछ इस प्रकार उभरती है, ''देखिये, ऊपर भी हम ही बैठे मिलेंगे सिस्टम में, कुछ नहीं होने वाला।''[5]

'स्पर्श' लघुकथा अच्छे स्पर्श और बुरे स्पर्श को स्पष्ट करती है। समाज द्वारा रिश्तों की आड़ (जीजा, साली) में छिपे बुरे स्पर्श को हँसी-मजाक समझ कर स्वीकार कर लिया जाता है, जबकि जरूरत यह है कि मजाक के नाम पर की गई अश्लील हरकतों को घर, परिवार, समाज द्वारा समझा जाए। बदलते समय के साथ बदलते मानवीय मूल्यों को भी इन लघुकथाओं में रूपायित किया गया है। 'अधजली' लघुकथा में प्रेमिका अपने प्रेमी की स्मृतियाँ याद कर व्याकुल है, उधर प्रेमी ने शहर से बाहर जा कर दूसरा विवाह कर लिया है। एक तरफ रुहानी प्रेम है, तो दूसरी ओर बेवफाई। प्रेमिका की दोस्त का कथन है कि 'इस अभागी को पता ही नहीं उसने तो पिछले साल ही मिठाई के डिब्बे के साथ शादी का कार्ड भेजा था। चूल्हे में फेंका हुआ कार्ड तो जल गया है पर, यह अधजली...!'[6] इसके अलावा समाज की सड़ी-गली मान्यताओं के तले दम तोड़ता प्रेम भी यहाँ रूपायित किया गया है। समाज अब तक प्रेम विवाह को सहज रूप में स्वीकार नहीं कर पाया है। 'प्रेम विवाह' लघुकथा में प्रेम विवाह करने वाली दम्पत्ति को भोज पर आमंत्रित तो किया जाता है, परन्तु इस भोज के पश्चात् इनको अन्य कहीं नहीं देखा जाता अर्थात् इन्हें मार दिया जाता है। वर्तमान समय में भी प्रेम विवाह के प्रति समाज का रवैया कमोबेश इसी प्रकार क्रूर बना हुआ है, जिसको व्यंग्य के माध्यम से इन लघुकथाओं में दृष्टिगत किया गया है।

मजदूरों, किसानों के शोषण और संघर्ष को केंद्र में रख कर कई लघुकथाएं लिखी गई हैं। किसान को अपने खेत से अटूट प्रेम होता है। परंतु नई पीढ़ी के सपने अलग हैं, वे किसान की अपेक्षा शहर, गाड़ी, बंगला के सपने देखती है। यह किसान जीवन की विडंबना ही है कि कड़ी मेहनत के बावजूद आरामदायक या एक सम्पन्न जीवन नहीं जी पाता। यह प्रश्न प्रेमचंद युग से लेकर अब तक कमोबेश परिवर्तन के साथ निरंतर बना हुआ है। नई पीढ़ी के नए सपनों की खातिर माँ को अपनी जमीन बेचनी पड़ती है। कागजों पर अंगूठा लगाने के बाद का दुख इस प्रकार प्रकट किया गया है, ''नीली स्याही का सांप जिन्दा हो अब जमीन पर रेंग रहा था।''[7] 'किसान' लघुकथा में किसान जीवन की विडंबना व्यक्त करते हुए दर्शाया गया है कि किसान अपने बेटे को कभी किसान बनाना नहीं चाहेगा, भले ही बड़े-बड़े मंत्री अपने भाषणों में किसान जीवन का गौरवगान करते हों क्योंकि कड़ी मेहनत के बावजूद किसानों का भविष्य तो क्या वर्तमान ही सुरक्षित नहीं है। समाज में एक ओर हिंदू-मुस्लिम के बीच भय व अविश्वास का वातावरण बना हुआ है। ऐसे वातावरण में 'निर्माल्य' लघुकथा जिसमें हिंदू-मुस्लिम प्रेम व पारस्परिक सहयोग को दर्शाया गया है, प्रासंगिक बनी हुई है। 'विलुप्तता' लघुकथा में दर्शाया है कि बढ़ते उद्योगों के कारण गांव की वर्षों पुरानी नदी का अस्तित्व मिट गया है। ''भराव होते-होते उथली तो पहले ही हो चुकी थी और फैक्टरी वालों को भी वही बसना था। वो देखो, आपकी जोगनिया नदी पर से उड़ता धुआँ।''[8] इसके अतिरिक्त 'सिसकता हुआ कुआं' लघुकथा में दर्शाया गया है कि ट्यूबवेल और बोरिंग के कारण कुएं विलुप्त होते जा रहे हैं। कुएं का मानवीयकरण करते हुए उसकी पीड़ा को इस प्रकार व्यक्त किया है, ''कुआं रो रहा था, वो जिंदगी मांग रहा था।''[9] अतः कहा जा सकता है कि लघुकथाएँ अपने समय का दर्पण बनकर सामाजिक क्षेत्र के विभिन्न पक्षों को कम से कम शब्दों में कथाबद्ध कर पाठकों के समक्ष लाती है।

संदर्भ सूची

1. डा. गोविंदलाल छाबड़ा, हिंदी निबंध (साहित्य और समाज), पृ. 246
2. वही, पृ. 15,
3. वही, पृ. 59
4. वही, पृ. 116,
5. वही, पृ. 162
6. वही, पृ. 161,
7. वही, पृ. 38
8. वही, पृ. 33,
9. वही, पृ. 86

मोनिका मीणा
शोधार्थी, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. चंद्रशेखर
शोध निर्देशक, महाराजा अग्रसेन कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संत रविदास का सामाजिक-सांस्कृतिक प्रदेय

—दीपांकर

भारत बहुभाषी और बहु सांस्कृतिक देश है। इसलिए यहाँ पर भारतीय संस्कृति जैसा नामकरण बहुत सार्थक अर्थ प्रस्तुत नहीं करता। हमें यह समझने की जरूरत है की भारतीय संस्कृति दरअसल देश में क्षेत्रीय संस्कृतियों का बहुत बड़ा संघात है। भारतीय संस्कृति ऐसी कोई एकलौती या मौलिक विषयवस्तु नहीं है बल्कि इसका निर्माण कई जातीय सांस्कृतिक अस्मिताओं के सम्मिश्रण का परिणाम है। इसलिए किसी भी जातीय या क्षेत्रीय संस्कृति को भारतीय संस्कृति के रूप मे पेश करना या ऐसा दावा करना नितांत गलत और भ्रामक है। बल्कि हमें यह कहना चाहिए कि सभी संस्कृतियों ने मिलकर आपस में बहुत कुछ दिया भी है और लिया भी है जिससे हम बिना किसी पूर्वाग्रह के भारतीय संस्कृति का एक 'ब्लू प्रिंट' तैयार कर सकते हैं। मगर इसके लिए हमें बहुत ही उदार, निरपेक्ष, ईमानदार और समावेशी होने की जरूरत पड़ेगी। इसी आदान-प्रदान की सामूहिक प्रक्रिया का परिणाम है आज की हमारी भारतीय संस्कृति।

अब हम आगे किसी भी समाज की संस्कृति को समझने का प्रयास करेंगे। संस्कृति को परिभाषित करते हुये टी. एस. इलियट कहते हैं—''कल्चर शब्द से मेरा आशय एक स्थान में रहने वाले विशेष व्यक्तियों के समुदाय के रहने के ढंग से है। उनके सामाजिक आचार-विचार, स्वभाव, आदान-प्रदान, रीति-रिवाज, कला सब में संस्कृति के दर्शन होते हैं। यद्यपि हम सुविधा के लिए इन सब गुणों और व्यापारों के समूह को 'कल्चर' नहीं बल्कि कल्चर के अंग कह सकते हैं। जिस प्रकार शारीरिक अंगों का समूह मानव नहीं, अपितु मानव इन सबके अतिरिक्त भी कुछ और है उसी प्रकार कल्चर भी रीति-रिवाज, रहन-सहन, कला और धार्मिक विश्वास आदि क्षेत्रों में सीमित नहीं हो सकती है।''[1]

टी. एस. इलियट की उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर संस्कृति को केवल वाह्य परिवेश के संस्कारों से ही नहीं बल्कि किसी मानव समुदाय के अन्तर्मन के मानवीय संस्कारों के द्वारा ही पूर्णतः समझा जा सकता है। ठीक यही बात हमारे भारतीय परिवेश के लिए भी कही जा सकती है कि वाह्य जगत में दृष्टिगोचर संस्कृति का जो परिवेशगत स्वरूप विद्यमान है वह केवल परिस्थितिवश है। भारत में जिन धर्मों और संस्कृतियों को राजाश्रय मिला वह खूब फली-फूलीं और अपने समकालीन अन्य संस्कृतियों का समाहार कर लिया। लेकिन फिर भी आच्छादित और समाहार कर ली गयी संस्कृतियाँ कभी खत्म नहीं हुईं। वह अंतर्वर्ती श्रोतों से होती हुई निरंतर बहती रहीं। ऐसी संस्कृतियाँ अपने अस्तित्व को बचाए रखने

की प्रतिरोधी चेतना से निरंतर लैश रही हैं।

जब 13वीं-14वीं सदी में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का टकराव शुरू हुआ तो एक शासक वर्ग की संस्कृति शाषित वर्ग की संस्कृति पर हावी होने लगी जिसके प्रभाव का जिक्र करते हुए आचार्य राम चन्द्र शुक्ल कहते हैं–''देश में मुसलमानों का राज प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देव मंदिर गिराए जाते थे, देव मूर्तियां तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे.... इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जन समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?''[2] यहाँ आचार्य शुक्ल ने 14वीं-15वीं सदी में उभरे सामाजिक सांस्कृतिक संकट को भली-भाँति उकेरा है और पूरे भक्ति काव्य के उद्भव को इसी निराशा का प्रतिफल माना है। यह सर्वविदित है कि इसी उलटफेर के बीच भक्ति काव्य की निर्गुण धारा इसी सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता के संघर्ष के बरक्स अपने वैचारिक प्रतिरोध को धार देने में जुटी हुई थी। जहाँ सगुण काव्य धारा की पूरी जद्दोजहद हिन्दू संस्कृति की रक्षा, उसके परिवर्धन और संवर्धन में ही प्रकट होती है तो उसी संघर्ष के शुरुआती दौर में जो संतो का आन्दोलन शुरू हुआ वह निम्न वर्गीय जनता (जो हिन्दू-मुस्लिम दोनों संस्कृतियों में हाशिए पर खड़ी थी) अपनी पृथक सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान और अस्मिता की रक्षा के लिए सबसे पहले आन्दोलित हुई थी। सन्त कबीर का यह उद्घोष कि ''हिन्दू कहों तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाहिं।''[3] दरअसल, इसी संघर्ष से उपजी हुई सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता कि मुनादी है जिसे कबीर बार-बार अपनी बनियों में दोहराते हैं। उसके ठीक पहले संत रैदास नें अपनी बानियों मे ठीक यही बातें उठाई थी–*मस्जिद सो कुछ घिन नहीं, मन्दिर सों नहिं प्यार/इनमें अल्लाह राम नहिं, कहै रैदास चमार।।*[4] इन दोनों प्रमुख निर्गुण संतों का कहना है कि उनकी समाजिक संस्कृति अपने समकालीन हिन्दू और मुस्लिम सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिताओं से एकदम भिन्न है, अलग है। आचार्य शुक्ल ने इसके बावजूद हाशिये पर खड़े इस बड़े समुदाय के सामाजिक आंदोलन का गंभीरता से संज्ञान न लेकर सन्त आन्दोलन को जबर्दस्ती हिन्दू संस्कृति के रक्षा दल में शामिल एक शाखा के रूप में ही देखने और दिखाने का प्रयास किया है। उन्होंने लिखा है–''इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को संभाला जो नाथ पंथियों के प्रभाव से प्रेम भाव और भक्ति रस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य हुआ।''[5] यहाँ भले ही आचार्य शुक्ल उस समय उपजे सामाजिक-राजनीतिक संकट में नाथ पंथियों (जो कि बौद्ध धर्म की ही शाखा थे) से बचाव के लिए कबीर के आभारी दिख रहे हैं लेकिन मुख्य रूप से वह मुसलमानों के द्वारा बलात या सामाजिक प्रतिष्ठा का लालच देकर धर्म परिवर्तन के लिए प्रेरित किए जा रहे उन निम्न वर्गीय जनता के बचाव के लिए भी कबीर का हार्दिक आभार प्रकट करते प्रतीत हो रहे हैं। इसी संदर्भ में डॉ धर्मवीर कहते हैं–''अछूतों को किसी धर्म ने स्वीकार नहीं किया और खुद अछूतों ने अपना कोई धर्म खड़ा नहीं किया–ये दोनों बातें एक साथ सच हो सकती हैं। यदि कोई धर्म इनकी सामाजिक समस्याओं के अनुकूल होता तो इतिहास में ऐसे कई अवसर आए हैं जब ये लोग दूसरे धर्मों को स्वीकार कर सकते थे। लेकिन ये सामूहिक रूप से बड़ी तादात में कभी किसी धर्म में नहीं गए। जब भी धर्म परिवर्तन हुआ तो वह क्षेत्रीय आधार पर कुछ परिवारों तक सीमित रहा है। इसका एक अपवाद केवल डॉक्टर अम्बेडकर का बौद्ध धर्म परिवर्तन है।''[6] यह बात बिल्कुल सही है कि हाशिये पर खड़ी तथाकथित अछूत जातियाँ एक पृथक समाज की कड़ी रह कर अपनी पारंपरिक संस्कृति से जुड़े रहे और आज तक उसी परिपाटी पर बने हुये हैं। इनके धर्म और संस्कृति की कोई मुकम्मल पहचान न बनाने देने के बावजूद ये अन्य संप्रदायों, धर्मों और संस्कृतियों से अलग ही रहे हैं।

मध्यकाल और आधुनिक काल दोनों में यह स्वाभाविक रूप से घटित हुआ है कि जब-जब देश में राजनीतिक सत्ता परिवर्तित हुई (चाहे वह मुगलों की हो या अंग्रेजों की) तब-तब तथाकथित निम्नवर्गीय जनता में जनान्दोलन उभरे हैं और चिन्तक महापुरुषों ने जन्म लिया है। मध्यकाल में जहाँ कबीर, रैदास, नानक और अन्य सन्त हुये हैं वहीं आधुनिक काल में जोतिबा फुले, पेरियार, अछूतानन्द, डा. अम्बेडकर और मंगूराम जैसे नेताओं ने जन्म लिया। सन्त रैदास इसी सामाजिक सांस्कृतिक चेतना के आदि स्रोत हैं। संवत् 1433 में काशी के सीरगोवर्धन में पैदा हुए संत रविदास पहले संत हैं जो श्रम आधारित समाज और संस्कृति के पोषक रहे हैं। संत रैदास खुद को आजीवकों की कमा कर खाने वाली 'मेरी संस्कृति' (जो भिक्षाटन की बजाय मेहनत से जीविकोपार्जन करती है) का बताते हुये कहते हैं–*''रैदास श्रम कर खाइहिं/ ज्यों त्यों पार बसाय/नेक*

कमाई जो करे/ कबहुँ न निहफल जाय।''[7] वे मेहनतकश समाज में पैदा हुए थे और उन्होंने समाज की इस हीन भावना को दूर किया कि श्रम या मेहनत कोई ओछा कर्म नहीं है। उन्होंने किसी भी व्यवसाय या काम-धन्धे को नीचा नहीं माना है। उनका कहना है कि नीचा कर्म तो भीख मांगना है, मेहनत करना नहीं। मेहनत तो सम्माननीय और ऊँचा काम है। संत रैदास कहते हैं– *''रैदास जनम के कारनै/ होत न कोऊ नीच/नर कूं नीच करि डारि है/ ओछे करम की कीच।।''*[8] उनका कहना है कि जब तक मनुष्य का शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहता है तब तक उसे कमा कर ही खाना चाहिए, निठल्ले बैठकर नहीं। सन्त रविदास ने मनुष्य के सम्मान को निर्धारित करने के लिए उसके गुणों को आधार माना है, उसकी जाति को नहीं। वे कहते हैं– *बाम्मण अरु चंडाल में/रैदास न अंतर जान/सब में एक ही जोति है/सब घट एक भगवान॥*[9]

यह अपने आप में बड़ी बात है कि तत्कालीन धार्मिक कट्टरता के बीच खुले आम इस बात की घोषणा, वह भी एक तथाकथित अछूत जाति के संत के द्वारा काशी जैसे प्रांत में। यह पर्याप्त साहस, दृढ़ चरित्र और गहरे सामाजिक-सांस्कृतिक बोध से ही उपजा है। सन्त रविदास ने अपने धर्म-संस्कृति को विश्व बंधुत्व और भाई-चारे पर आधारित बताते हुए कहते हैं– *''मुसलमान सों दोस्ती/ हिन्दुअन सों कर प्रीत/रैदास जोति सब राम की/ सब हैं अपने मीत।।''*[10] उनकी संस्कृति किसी भी धर्म या मान्यता को हीन या हेय नहीं मानती है। वह 'सर्वधर्म समभाव' की नैतिक मान्यता की पक्षधर है। विश्व पटल पर सन्त रविदास पहले संत भक्त कवि हैं जिन्होने साम्यवाद के विचारक और प्रयोक्ता 'कार्ल मार्क्स' से भी पहले 'स्वराज' की और सबके 'खाद्य सुरक्षा' जैसे मूल्यों की स्थापना की है। उन्होने सर्वसाधारण मनुष्य के शांतिपूर्ण जीवन जीने की कुछ परिणतियों पर विशेष बल देते हैं– *''रैदास मनुष के बसन कूँ/ सुखकर हैं दुइ ठांव/इक सुख है स्वराज में/ दूसर मरघट गांव।।''*[11] सन्त रविदास की सांस्कृतिक चेतना इस बात से भी भली-भांति प्रकट होती है कि वह कभी भी अपनी जाति को ले कर हीनता से ग्रस्त नहीं होते हैं। इसके बरक्स वह डंके की चोट पर अपने जाति की वैचारिक विरासत, परंपरा और संस्कृति की गरिमा को याद करते हुए बार-बार 'कह रैदास खलास चमारा' का उद्घोष कर स्वाभिमान से लबालब शब्दों का प्रयोग करते हैं और तथाकथित जाति व्यवस्था के पोषकों को करारा जवाब देते हैं।

संत रविदास ने अपने 'बेगमपुरा' में एक ऐसे वैकल्पिक समाज की स्थापना करने की बात करते हैं जिसमें वे अपनी विगत और वर्तमान संस्कृतिक मूल्यों को स्थापित करते हैं और उसकी व्यापक और लोकतांत्रिक व्यवस्था को स्पष्ट रूप से स्पष्ट भी करते हैं। वह कहतें हैं– *''अब हम खूब वतन घर पाया/ऊँचा खैर सदा मन भाया /बेगम पुरा सहर का नांऊ/दुख अंदेस नहीं तिहिं ठाँऊ /ना तसबीस, खिराज न मालू/खौफ न खता न तरस जवालू /काइम दाइम सदा पातिसाही/दोम न सोम एक सो आही /आवादान सदा मसहूर/ऊहाँ गनी बसै मामूर /तिऊं-तिऊं सैर करै जिउ भावै/महरम महल न को अटकावै /कहै रैदास खलास चमारा/ जो उस सहर सों मीत हमारा ।।''*[12] अतः हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त पंक्तियों में सन्त रविदास नें अपने समकालीन समाज की समस्याओं को न केवल रेखांकित किया है बल्कि अपनी सांस्कृतिक विरासत में उसका समाधान भी दिया है। यह असल में संत रैदास के समाज के ही सामाजिक मूल्य हैं जिसकी संत परंपरा में आने वाले प्रमुख संत कबीर ने अपने 'अमरदेसवा' में की तो बाद के संतों ने भी अपनी-अपनी बनियों में इसे बार-बार दोहराया और स्पष्ट भी किया है। यही संत रैदास के समाज की सामाजिक सांस्कृतिक विरासत है जिसे हमें आज के समय मे देखने, पहचाननें और उसको वास्तविक अमली-जामा पहनाने की ओर अग्रसर होने की जरूरत है।

संदर्भ

1. कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, आर्या प्रसाद त्रिपाठी,में उद्धृत, ... प्रकाशन, संस्करण, 2009, पृ. 8
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्रा शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा प्रकाशन, पेपर बॅक, छठवाँ संस्करण, संस्करण- संवत 2069, पृ. 335
3. महान आजीवक : कबीर, रैदास और गोशल, डा. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2017, पृ. 335
4. वही, पृ. 502, 5. वही, पृ. 36
6. संत रैदास का निरवर्ण संप्रदाय, डॉ धर्मवीर, संगीता प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली, संस्करण-1999, पृ. 131
7. महान आजीवक : कबीर, रैदास और गोशल, डा. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2017, पृ. 525
8. वही, पृ. 499, 9. वही, पृ. 498, 10. वही, पृ. 501, 11. वही, पृ. 503

दीपांकर
सहायक प्रवक्ता,
राजेन्द्र प्रसाद डिग्री कालेज,
मीरगंज, बरेली, उत्तर प्रदेश

डा. रामकुमार वर्मा के ऐतिहासिक नाटक 'कौमुदी महोत्सव' का मूल्यांकन

–प्रवेशिका पटेल

इतिहास शब्द का अर्थ क्या है। इसके संबंध में विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किए हैं। हिंदी शब्द सागर की भूमिका के अनुसार पिछली बीती हुई घटना से संबंध रखने वाली घटनाओं का लेखा-जोखा इतिहास कहलाता है। इतिहास वस्तुतः अतीत में घटित घटना का वास्तविक लेखा-जोखा है जो एक सत्य के रूप में हमारे सामने आता है। इतिहास के माध्यम से जीवन की विभिन्न घटनाओं की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होती है। अतः कहा जा सकता है कि इतिहास किसी देश काल का संगम स्थल है जहाँ विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परंपराओं के दर्शन होते हैं। इन सभी को मिला कर इतिहास का निर्माण होता है। यह विभिन्न समस्याओं एवं संस्कृति का समय है जिसका प्रधान राजनीति रहा है। अतः यह सकते हैं कि इतिहास बीती हुई राजनीति है तथा राजनीति वर्तमान इतिहास है।

उपर्युक्त विवेचन के उपरांत कह सकते हैं कि इतिहास का विषय अतीत से रहा है इसमें अतीत में घटित घटना एवं परिस्थितियों का चित्रण किया जाता है। साथ ही अतीत के समाज जीवन एवं उनके कार्य प्रणालियों का भी विस्तार से वर्णन किया जाता है। इतिहास मानवीय सत्य की खोज है। हमारे पूर्वजों से संबंधित सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक परिस्थितियाँ इसके अंतर्गत प्रस्तुत की जाती हैं। ''ऐतिहासिक साहित्य से हमें कई लाभ प्राप्त होते हैं। इसके माध्यम से अतीत की अज्ञात घटनाओं की संपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। साथ ही अतीत के समाज से संबंधित विभिन्न पहलुओं जैसे वहाँ के रहन-सहन, आचार-विचार, वेशभूषा आदि सभी बातों का पता लगाया जा सकता है। अतीत की यह जानकारियाँ वर्तमान समय और समाज तथा उसके भविष्य का निर्माण की करती है।"[1] मनुष्य की विगत घटनाओं या समाज की घटनाओं का संकलन ही इतिहास कहा जाता है। यह वास्तविक रूप से घटनाओं का सच्चा चित्र प्रस्तुत करता है। इतिहास मानव जीवन की विकास परंपरा में मनुष्य के भविष्य को रूपायित करने वाला है। इतिहास भूतकाल का ज्ञान देकर साथ ही काल की प्रगति का भी प्रमाण प्रस्तुत करता है। भविष्य के प्रति मानव के मन में जो आग्रह है वह भूत के प्रति लगाव का कारण बनता है।

डा. रामकुमार वर्मा का लगभग संपूर्ण नाट्य साहित्य ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। ऐतिहासिक नाटकों के संदर्भ में डा. रामकुमार वर्मा का विशिष्ट स्थान है। डा. रामकुमार वर्मा ने भारत के गौरव में अतीत के अनेक पृष्ठों को अपने प्रसंगों में बड़ी कुशलता के साथ पिरोया है जो एकदम वास्तविक और आधुनिक युग की समस्याओं से रू-बरू तथा लोगों में चेतना जागृत करने का प्रयास करता है। अतीत के माध्यम से वर्तमान संदर्भ की समस्याओं से अवगत करा कर उसमें हमारे समय की महत्वपूर्ण आवश्यक बातों को ध्यान में रखते हुए डा. रामकुमार वर्मा ने अपने ऐतिहासिक नाटकों को लिखा है।"[2] वस्तुत ऐतिहासिक नाटककार इतिहास के किसी एक अंग को आत्मसात करते हुए उसमें अपनी मौलिक संरचना के आधार पर उसे प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। साहित्यकार अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा ऐतिहासिक घटनाओं को वास्तविक तथ्यों के आधार पर उद्घाटित करता हुआ चलता है। ऐतिहासिक नाटककार इतिहास की घटनाओं को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि वह हमें वर्तमान की विभिन्न समस्याओं से अवगत करा सके।

विभिन्न ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर लिखी गई नाटक रचनाओं पर अगर दृष्टि डाली जाए तो अनेक तथ्य हमारे सामने उभर कर सामने आते हैं। एक तो यह कि इतिहास तो मात्र उपकरण है जिसका प्रयोग वे अपने कथ्य को अधिक प्रभावशाली एवं वास्तविक बनाने के लिए करते हैं। उनकी मूल आवश्यकता अतीत का गौरव मात्र न होकर अतीत के माध्यम से वर्तमान के उन महत्वपूर्ण पहलुओं को खोजना होता है जो उस वास्तविकता से हमें अवगत करा सके जिसने अतीत काल में घटित घटनाओं को उभारने का प्रयास किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि नाटकों के पात्र एवं प्रसंग ऐतिहासिक होने के बावजूद नाटककार की दृष्टि मुख्य रूप से समसामयिक समस्याओं की ओर मुख्यतः रहती है।

प्रसिद्ध इतिहासकार जयशंकर प्रसाद का मानना है कि ऐतिहासिक नाटककार अपने उपकरणों के माध्यम से इतिहास के किसी एक अंश विशेष को ग्रहण कर उसे नाटकगत सूक्ष्म शरीर में अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा इस प्रकार संजोया है कि वह साहित्य का एक रसपूर्ण अंग बनाता है, वह इतिहास और नाटक की समस्याओं को स्वीकार करते हुए प्राचीन कथानक को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि वर्तमान के परिपेक्ष्य में सजीव हो उठे।[3]

इस संदर्भ में डा. रामकुमार वर्मा की मान्यता है कि ऐतिहासिक नाटक में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उसमें ऐतिहासिक भ्रांतियों को दूर कर तथ्य की ओर संकेत किया गया है वह इतिहास में होते हुए भी विशेष का सजीव चित्र होता है।

समाज की समस्याओं एवं लोकमंगल की दृष्टि से डा. रामकुमार वर्मा के ऐतिहासिक नाटक अत्यंत महत्वपूर्ण माने जाते हैं। अतीत के विभिन्न प्रश्नों को आत्मसात करके अतीत के प्रति प्रगाढ़ प्रेम एवं अतीत तथा वर्तमान के जीवन मूल्य को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को पढ़ने देखने का मानव स्वभाव वर्तमान समस्याओं का निदान करता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि डा. वर्मा जी के ऐतिहासिक तथ्य को मौलिक उद्भावनाओं से संयुक्त करके पर्याप्त आधार देने का यथेष्ट प्रयास करते हैं। डा. वर्मा का प्रमुख उद्देश्य अतीत का गौरव मात्र न करके अतीत के माध्यम से वर्तमान के उन महत्वपूर्ण बिंदुओं को देखना रहा है जो अपनी विशेषताओं में आज भी उतने ही सत्य है जितने अतीत में रहे होंगे। अधिकतर पात्रों के सर्जन में उनकी दृष्टि गरिमा में अतीत से भाव की हृदय को राग रंजीत करने की ही नहीं रही है इसके अतिरिक्त वे कतिपय समस्याओं, उलझनों, विफलताओं एवं व्यवस्थाओं को वाणी देने का प्रयास भी करते हैं, जिनमें हमारे हृदय को झकझोरने की क्षमता है। अधिकांश पात्र निसंदेह ऐतिहासिक है किंतु उनमें निहित रुदन, पीड़ा, द्वंद्व व परिस्थितियों के ज्वार भाटे में डूबते उतरते मानव की करुणा नाटक की दृष्टि का परिणाम है। कहना न होगा कि उनकी ऐतिहासिक कृति का फलक इतिहास पर आधारित है किंतु उनमें उकेरे गए सारे चित्र अपने ही हैं। एक और महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वर्माजी नाटक के भाषा प्रयोग का क्वेश्चन अनूठे तरीके से करते हैं। ऐतिहासिक पात्रों के अनुकूल भाषा के प्रयोग से उनके मूल स्वरूप को क्षति नहीं पहुंची है। सामाजिक समस्याओं को उद्घाटित करने में वे बहुत आगे निकल गए हैं ऐतिहासिक तथा मौलिक कल्पना के सच्चे ज्ञाता है।

डा. रामकुमार वर्मा के ऐतिहासिक नाट्य साहित्य के चरित्र विधान में भी पौराणिक नाटक के समान ही परंपरा से हट कर परिवर्तन की अनेक दिशाएं लक्षित की जा सकती हैं। इतिहास और ऐतिहासिक व्यक्तियों के प्रति मानव मन में सदा एक गौरव का भाव रहता है और यही प्रवृत्ति साहित्य सृजन के क्षेत्र में भी हमें देखने को मिलती है। इससे पूर्व लगभग सभी ऐतिहासिक नाटकों में प्रमुख पात्रों को गौरवमय आदरणीय और महिमामंडित रूप में अंकित किया जा रहा था। किंतु 60 के बाद के काल कतिपय मूर्धन्य नाटककारों तमाम आदर्शवादी रुख को

तोड़ कर एक नई राहों का अन्वेषण किया और ऐतिहासिक पात्रों को आधुनिक युग के मानव हृदय का दर्पण बनाने का प्रयास किया। हिंदी नाट्य परंपरा का साहित्य इस दिशा में एक महत्वपूर्ण भूमिका लेकर उभरता है। नाट्य साहित्य में नाटककार ने ऐतिहासिक पात्रों में समकालीन मांग के अनुरूप विभिन्न स्थितियों का गठन करके उन्हें विश्वसनीयता के धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि डा. रामकुमार वर्मा के नाट्य साहित्य में पात्रों को युग के समरूप उसे नई भूमिकाओं में रच कर आधुनिक संदर्भ में एक सार्थक भूमिका के रूप में चित्रित किया गया है। नाटककार का अधिक से अधिक प्रयास यही देखा गया है कि वे अतीत की घटनाओं में सामाजिक समस्याओं को मुखरित करने का प्रयास करते हैं। परिणामस्वरूप, इस प्रयास में वह ऐतिहासिक पात्रों को नवीन आयाम देने की कोशिश करते हैं। यहाँ यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि ऐतिहासिक नाटकों में पात्र का मूल रूप से इतिहास सम्मत एवं अखंडित रूप देखा गया है किंतु उन्हें व्यर्थ की आदर्शवादीता से ओतप्रोत न करके एक मानवतावादी धरातल पर अंकित करने का सफल प्रयास किया गया है। आधुनिक युग में बहुत रचना कौशल का यही प्रमाण सामने आता है। यह कहना गलत न होगा कि ऐतिहासिक नाटक अपनी पात्र सृष्टि द्वारा वर्तमान जीवन की विभिन्न समस्याओं एवं उनके समाधान को एक नवीन मूल्य के रूप में प्रतिध्वनित करते हुए आते हैं। पात्र में जहाँ कहीं भी बाह्य एवं आंतरिक द्वंदात्मक स्थिति का चित्रण हुआ है उनका संबंध आज के और मानव से ही लिया जा सकता है।

'कौमुदी महोत्सव' प्राचीन भारतीय संस्कृति को चित्रित करने वाला नाटक है। इसमें चंद्रगुप्त द्वारा नंद वंश को पराजित करके मौर्य वंश की स्थापना की नींव रखी गई है। नंद वंश पर अपनी जीत के लिए चंद्रगुप्त ने जश्न का माहौल तैयार किया है। इस उपलक्ष्य में कुसुमपुर की जनता और वहाँ के शासक वर्ग सभी भाग लेकर सद्भावना का परिचय देते हैं। प्रस्तुत नाटक में सम्राट चंद्रगुप्त कुसुमपुर के सम्राट हैं। चाणक्य सम्राट चंद्रगुप्त के महामंत्री हैं। वसुगुप्त चंद्रगुप्त के उपमंत्री है। यशोवर्मन कुसुमपुर के अंतःपाल हैं। पुष्पदत्त कुसुमपुर के कार्यंतक है। अलका राज नर्तकी है। नाटक का समय 322 ईसा पूर्व का है। कौमुदी महोत्सव प्राचीन भारतीय इतिहास को आधार बना कर लिखा हुआ नाटक है। नंद वंश भोग विलास और अव्यवस्था पर टिका था जिसका अंत करके चंद्रगुप्त एक कुशल शासन की स्थापना करना चाहता था। चंद्रगुप्त का कथन इस संदर्भ में देखने लायक है–''संभव है आर्य चाणक्य की नीति ने कुसुमपुर की राजनीति में इसे चक्रव्यूह की रचना की है जिसमें अराजकता का पथ मृत्यु द्वार पर जाकर समाप्त होता है और उस मृत्यु की दीवार पर जाकर समाप्त होता है और उस मृत्यु दीवार की नींव जानते हो क्या है समस्त नंद वंश चिर निद्रा में शयन कर रहा है।''[4]

कुसुमपुर में कौमुदी महोत्सव के आयोजन का सुंदर चित्रण देखिए–''सम्राट जिस समय से कौमुदी महोत्सव का संवाद नागरिकों के समीप पहुंचा है। उस समय से सभी नागरिक सम्मान रूप से उपस्थित हैं।''[5] पुष्पदत्त इस संदर्भ आगे लिखते हैं–''सम्राट कौमुदी महोत्सव के अवसर पर कुसुमपुर को सजाने में नायक ने अपनी सारी शक्ति लगा दी है। सोन और गंगा के संगम पर एक शत नौकाओं को सम्राट के शुभ नाम के आकार में सजाकर उन पर चालीस हाथ ऊपर आकाश द्वीपों की व्यवस्था की गई है जिससे शरद चंद्रिका के हास के साथ सम्राट का नाम भी दीपों का आलोक मंडल बनाता हुआ नागरिकों के हृदय में प्रवेश कर जाए।''[6] यशोवरमन चाणक्य की राजनीतिक नीति कुशलता का वर्णन करते हुए लिखते हैं–''सम्राट आचार्य चाणक्य की नीति अमर होने की क्षमता रखती हैं। राजनीति के साथ आयुर्वेद में भी आचार्य चाणक्य निपुण हैं। चीन के एक राजकुमार अपनी नेत्र पीड़ा की चिकित्सा कराने के लिए तक्षशिला आए थे। आचार्य चाणक्य ने एक सप्ताह की चिकित्सा में ही उन्हें स्पष्ट दृष्टि प्रदान की है।''[7]

संदर्भ ग्रंथ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपादक, डा. नगेंद्र, पृ. 3 भूमिका से
2. कौमुदी महोत्सव, पृ. 5
3. विशाख की भूमिका, जयशंकर प्रसाद, पृ. 12
4. कौमुदी महोत्सव, भूमिका से, पृ. 3
5. वही, पृ. 50
6. वही, पृ. 54
7. वही, पृ. 55
8. वही, पृ. 58

प्रवेशिका पटेल
शोधार्थी
आचार्य नरेन्द्र देव महिला महाविद्यालय,
हर्ष नगर, कानपुर

आंचलिकता और यथार्थवाद का द्वंद्व : फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यास

—डा. संगीता कुमारी

फणीश्वरनाथ 'रेणु' हिन्दी साहित्य के अप्रतिम गद्यकार हैं। ग्रामीण जीवन के प्रति मोह और लगाव ना सिर्फ रेणु को बार-बार गाँव की ओर लौटने के लिये बाध्य करता रहा बल्कि उनकी रचनाधर्मिता के लिए नित्य ऊर्जा और प्रेरणा भी प्रदान करता रहा। ग्रामीण जीवन में निहित लोकगीत, लोकधुन, लोकनृत्य आदि के वर्णन में जो जीवंतता रेणु के साहित्य में है वह हिंदी साहित्य के लिए अमूल्य धरोहर है। प्रेमचंद के बाद रेणु ही वह रचनाकार हैं जिन्होंने कृषक जीवन की तमाम अच्छाईयों और बुराईयों को उनके यथार्थ रंगों के साथ पकड़ा। फणीश्वरनाथ रेणु की रचनात्मकता मुख्य रूप से आंचलिक पहचान से जुड़ी हुई है। रेणु की रचनाओं में लोक-जीवन का चित्रण जिसमें क्षेत्र विशेष की परंपरागत मान्यताएं, रूढ़ियाँ, रीति-रिवाज, तीज-त्यौहार, धार्मिक-अधार्मिक विश्वास, अन्धविश्वास, आडम्बर, टोने-टोटके, शकुन-अपशकुन, भूत-प्रेत की धारणाएं, मनोरंजन के विविध प्रकार, मन के विविध विकार, भाव-स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, उपेक्षा, प्रेम, आहलाद, उन्माद जैसी समग्र स्थितयों का वर्णन है।

रेणु के पहले उपन्यास मैला आँचल (1954) के प्रकाशन के साथ ही साहित्यिक जगत में इसने अपनी अलग पहचान बनायी। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा लिखते हैं—''मैला आँचल गत वर्ष का ही श्रेष्ठ उपन्यास नहीं है, वह हिंदी के दस श्रेष्ठ उपन्यासों में परिगणनीय है। स्वयं मैंने हिंदी के दस श्रेष्ठ उपन्यासों की जो तालिका प्रकाशित कराई है, उसमें उसे सम्मिलित करने में मुझे कोई कठिनाई न होगी। मैं किसी दुविधा के बिना एक उपन्यास को हटा कर इसके लिए जगह बना सकता हूं।'' आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, 'रेणु जी का मैला आँचल', नलिन विलोचन शर्मा संकलित निबंध, गोपेश्वर सिंह (संकलन), नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, 2011, पृ. 194) जहाँ तक आंचलिकता का प्रश्न है तो 'रेणु' ने स्वयं इसकी भूमिका में लिखा है—''यह है मैला आँचल, एक आंचलिक उपन्यास। कथानक है पूर्णिया। पूर्णिया बिहार राज्य का एक जिला है। इसके एक ओर है नेपाल, दूसरी ओर पाकिस्तान और पश्चिम बंगाल। विभिन्न

सीमा-रेखाओं से इसकी बनावट मुकम्मल हो जाती है, जब हम दक्खिन में संथाल परगना और पच्छिम में मिथिला की सीमा-रेखाएं खींच देते हैं। मैंने इसके एक हिस्से के एक ही गाँव को पिछड़े गाँवों का प्रतीक मान कर इस उपन्यास-कथा का क्षेत्र बनाया है। इसमें फूल भी है, शूल भी, धूल भी है गुलाब भी, कीचड़ भी है, चन्दन भी, सुंदरता भी है, कुरूपता भी। मैं किसी से दामन बचा कर निकल नहीं पाया। ('फणीश्वरनाथ 'रेणु', मैला आँचल, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2003, भूमिका से)

अंचल की यह जो परिभाषा 'रेणु' ने यहाँ दिया है वह अंचल की भौगोलिक सीमाएं एवं उसकी सांस्कृतिक गतिविधियों की ओर इशारा करते हैं। जब किसी स्थान की सीमा रेखाएं एक साथ कई जगह से जुड़ी होती है तब ऐसे संक्रमणकारी जगह की प्रवृतियाँ भी संक्रमणकारी और संश्लिष्ट होंगी। निश्चित रूप से यहाँ इन तत्वों का स्पष्ट विभाजन नहीं होगा। कुछ ऐसा ही दृश्य मैला आँचल में उपस्थित भी है। एक तरफ भौगोलिक और ऐतिहासिक विविधता दूसरी तरफ सामाजिक सांस्कृतिक भिन्नता के रूप में बिहारी, बंगाली, नेपाली, मैथिली क्षेत्र वासियों के रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, गीत-संगीत आदि का समन्वय एक विशिष्ट वातावरण की निर्मित्ति करता है। यही वातावरण अंचल के गुण-धर्म की तरह उभरता है।

यहाँ महत्वपूर्ण यह है कि इस भौगोलिक वर्णन के पीछे लेखक की मंशा उस चित्र विशेष की विशिष्टता और संस्लिष्टता से संबंधित है। समस्या यहाँ यह है कि सिर्फ भूमिका में किसी अंचल विशेष का परिचय देने से हम उपन्यास को आंचलिक तक सीमित नहीं कर सकते। वैसे यह अंचल पूर्णिया है पर क्या इस उपन्यास में सिर्फ इसी अंचल की घटनाएं हैं, ऐसा नहीं है। वस्तुतः यह मिथिला, उत्तर भारत, नेपाल होते हुए राष्ट्र की पहचान से जुड़ जाती है। एक नाटकीय, लचीले और काव्यात्मक ढांचे में लिखा यह उपन्यास न सिर्फ भौगोलिक संक्रमण को परिलक्षित करता है वरन खड़ी बोली को भी नई ऊंचाई प्रदान करता है। अंचल राष्ट्र से निरपेक्ष नहीं होता वह राष्ट्र का ही अंग होता है। 'रेणु' इस उपन्यास में पूर्णिया जनपद का वर्णन जिस आत्मीयता से करते हैं वह उनकी पैनी दृष्टि की परिचायक है। जनजीवन एवं रचना के क्षेत्र से जुड़ाव ही 'रेणु' की ताकत है और इसलिए 'रेणु' ने मैला आँचल में कुछ ही वर्षो की कथा को जिस विस्तार से चित्रित किया है वह शताब्दियों को अपने कथा फलक में अंकित करने वाले रचनाकारों के लिए ईर्ष्या का विषय है।

शिवप्रसाद सिंह ने 1950 के दशक में आंचलिकता की लोकप्रियता और व्यापकता को देखते हुए इसे एक साहित्यिक आंदोलन का रूप माना है जो हिंदी क्षेत्र के सांस्कृतिक जीवन के सामयिक पहलू पर भी प्रकाश डालता है। हालाँकि, यह आंदोलन पश्चिमी साहित्य में आये 'रिजनलिज्म' आंदोलन से भिन्न था। हिंदी में इसका उद्देश्य क्या था यह स्पष्ट तौर पर नहीं कहा जा सकता क्योंकि आंचलिकता यहाँ एक स्थिति बनकर ही रह गयी, कभी आंदोलन नहीं बन पायी। शिवप्रसाद सिंह के अनुसार प्रेमचंदोत्तर हिंदी कथा-साहित्य में मनोवैज्ञानिकता और प्रगतिवादी तत्वों के जोर के कारण वह मनुष्य के जीवन को गहराई और तटस्थ ईमानदारी से नहीं देख पाया, जिसके परिणामस्वरूप कथा-साहित्य में गतिहीनता का भाव छाया रहा। यह आंदोलन इसी ऊब और एकरसता की प्रतिक्रिया में उपस्थित माना जा सकता है। साथ ही शिवप्रसाद सिंह कहते हैं, ''आंचलिकता शब्द के अंदर अतिव्याप्तिदोष का प्रवेश हुआ और इसकी सीमा में न केवल स्थानीय रंग से भींगी रचनाएं, बल्कि शुद्ध ग्राम-कथाएं तक समेट ली गयीं।'' *शिवप्रसाद सिंह, 'आंचलिकत और आधुनिक परिवेश' आधुनिक परिवेश और नवलेखन, संजय बुक सेंटर, वाराणसी, 1990, पृ. 114,*

आंचलिकता के साथ-साथ किसी रचना में यथार्थ चित्रण को लेकर कई तरह के मत दिये जाते हैं। सत्य को प्रकट करने के कई दृष्टिकोण हो सकते हैं, महत्वपूर्ण यह है कि किसी रचना का सत्य क्या सिर्फ बाहरी दुनिया में घट रहे तथ्यों का चित्रण होना चाहिए। एक रचना का सत्य बाह्य दुनिया के साथ-साथ एक रचनाकार का अनुभूत सत्य भी होता है जो उसकी जीवन दृष्टि का प्रक्षेपण होता है। ऐसे में किसी रचना को सिर्फ तत्कालीन यथार्थ से जोड़ना ना सिर्फ उसे समाजशास्त्रीय ढाँचे में तब्दील कर सकता है बल्कि उस कृति की कलात्मकता पर भी प्रश्न चिह्न खड़े करता है। निर्मल वर्मा लिखते हैं–''एक कलाकृति का सत्य यदि रहस्यमय होता है तो इसलिए कि वह न तो पूरी तरह से बोध के परे है, न पूरी तरह से मनुष्य उसे हासिल कर पाता है। वह कहीं इन चरमों के बीच में है, वह कुछ कहती है, कुछ नहीं कहती, इसलिए नहीं कि वह कहना नहीं जानती, बल्कि जो कलाकृति कहती है, उसमें वे अकथनीय सत्य भी शामिल होते हैं; जो अपनी चुप्पी के बावजूद उसमें मौजूद रहते हैं; आलोचना की यह एक बड़ी चुनौती है कि क्या वह कलाकृति के कथ्य से उसके अकथ्य को उसकी भाषा से उसके मौन को दो शब्दों में कहें तो उसकी सतह से उसकी गहराई को उजागर कर पाती है या नहीं'' निर्मल वर्मा शताब्दी के ढलते वर्षों में, भारतीय

ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2006, पृ. 60।

सामान्यतः किसी रचना की सच्ची अनुभूति यदि यथार्थ है तब इसकी कलात्मक अभिव्यक्ति यथार्थवाद। यथार्थवाद का अर्थ है जो जैसा है उसका इस अर्थ में निरूपण। ''... विषय चयन और वास्तविकता की दृष्टि से यथार्थ और यथार्थवाद एक दूसरे के पूरक है, पर शैली एवं अभिव्यक्ति की कलात्मकता की दृष्टि से सीमा तक दोनों में अन्तर देखने को मिल सकता है। यथार्थ जीवन को चित्रित करते समय यथार्थवाद उसे कला के माध्यम से मोड़ने का प्रयास करता है। जीवन की सच्ची अनुभूति यथार्थ है और उसका कलात्मक अभिव्यक्तिकरण यथार्थवाद है।'' डा. सुरेश सिन्हा, हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग, पृ. 142

आंचलिकता को सिर्फ 'रीजनल नॉवल' के सन्दर्भ में लेना उचित नहीं बल्कि इसे विदेशी प्रभाव से ज्यादा भारतीय माना जाना चाहिए। आंचलिकता उस समय सामाजिक उपन्यास में ग्राम तथा नगर चित्रण की एकरसता की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुआ। दरअसल, आंचलिकता रेणु का स्वाभाव है कोई फैशन नहीं। ''आंचलिकता यथार्थ विरोधी नहीं होती। 'रेणु' ने सामान्यतया आदमी के सही चेहरे को, उसे बगैर बदशक्ल या आदर्शीकृत किये, उपस्थित किया है। उन्होंने मिथक, इतिहास और समाज के त्रिक सम्बन्ध की अच्छी तरह शिनाख्त कर ली है और अपने समय के मनुष्य को उसके सही 'माइल्यू' में चित्रित किया है।'' (डा. सुवास कुमार, आंचलिकता, यथार्थवाद और फणीश्वरनाथ रेणु, साहित्य सहकार, दिल्ली, 1998, पृ. 16-17) आलोचना के आधुनिक उपकरणों के रूप में मिथक, प्रतीक और फैंटेसी अत्यंत महत्वपूर्ण है। मिथक जहाँ अंशतः ऐतिहासिक और पौराणिक होता है, वहीं इसके माध्यम से न सिर्फ समाज में प्रचलित परम्पराओं और मान्यताओं का संरक्षण और पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरण होता रहता है, वहीं कहे गए वक्तवयों को एक तरह की सामाजिक स्वीकृति भी मिल जाती है। इसी तरह प्रतीक के माध्यम से समय के अनुरूप उसके अर्थ में परिवर्तन को समझा जा सकता है। फैंटेसी तो आधुनिक मानदंडों को समझने का सबसे बड़ा हथियार है। साधारण से साधारण बातों को भी फैंटेसी का रूप देने में 'रेणु' को महारत हासिल है।

अधिकांश आलोचकों ने 'रेणु' को या तो प्रेमचंद की परम्परा में स्थापित करने का प्रयास किया है या उनकी रचनाओं को आंचलिक कहकर एक विशेष खाँचे में फिट करने का प्रयास किया है। यह बात यहाँ समीचीन भी है क्योंकि अगर उपन्यास की बात हो और प्रेमचंद से उनकी तुलना ना हो तो रचना और रचनाधर्मिता दोनों अप्रासंगिक हो जायेंगी और शायद यही कारण कि डा. रामविलास शर्मा अव्वल तो 'रेणु' पर कुछ लिखते नहीं और लिखते हैं तो प्रेमचंद की परम्परा और 'रेणु' की बात करते हैं। स्पष्टतः यह 'रेणु' की रचनात्मक गहनशीलता है कि प्रेमचंद की परंपरा की अगली कड़ी 'रेणु' की रचनाओं में ढूँढा जाता है। शिवकुमार मिश्र तो इससे भी आगे जाकर लिखते हैं– ''रेणु में जो कुछ महनीय है, सार्थक है, सारवान है, वह उन्हें प्रेमचंद और उनकी ग्राम जीवन केंद्रित उपन्यास परंपरा से जोड़ता है, और जो कुछ कमजोर, सतही, विवादास्पद है, उसका सम्बन्ध आंचलिक उपन्यास से है'' (शिवकुमार मिश्र, आलोचना, जनवरी-मार्च 86, उद्धरित, डा. सुवास कुमार (1998), आंचलिकता, यथार्थवाद और फणीश्वरनाथ रेणु, साहित्य सहकार, दिल्ली, पृ. 18) आगे मिश्र जी आंचलिक उपन्यास के रूप, आकार, दृष्टिकोण आदि को ऐसी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करने वाला बतलाते हैं जो यथार्थवाद विरोधी हैं और प्रकृतवाद, रूपवाद और आधुनिकतावाद की प्रवृत्तियाँ हैं। हालाँकि, यह 'रेणु' की रचनाओं पर एक कठोर टिप्पणी है और उनकी रचनाधर्मिता के साथ अन्याय भी। 'रेणु' की रचनाओं ने आलोचकों के समक्ष एक चुनौती पेश की थी और उनकी रचनाएं आलोचना के लिए कई दृष्टि देता है साथ ही यथार्थवाद, प्रकृतवाद, आधुनिकतावाद के प्रारूपों के आधार पर उनकी रचनाओं को देखने के लिए प्रेरित करता है।

अतः आंचलिकता को सिर्फ लोक-संस्कृति अथवा लोक-गीत, नृत्य-कथा, संगीत का प्रयोग मानना इसे संकीर्णता के दायरे में बांधना है। ये संस्कृति अपनी प्रकृति में ही सार्वजनीन और सार्वभौम होते हैं। 'रेणु' की रचनाओं में बार-बार ग्रामीण जीवन, लोक-संस्कृति सार्वभौमिकता में प्रकट होते हैं और यही 'रेणु' की रचनाओं को आज के दौर में ज्यादा प्रासंगिक बनाती है। आज भूमंडलीकरण और वैश्वीकरण के नाम पर जो आधुनिकता और घोर पूंजीवाद का वर्चस्व है उसने धीरे-धीरे इस देश की सारी सभ्यता, संस्कृति को अपने भीतर समाहित करना शुरू कर दिया है। फणीश्वरनाथ 'रेणु' की रचनाओं में हो रहे सामाजिक विघटन और टूटते हुए पारिवारिक मूल्य इस ओर ही इशारा कर रहे थे कि अगर इन्हें नहीं रोका गया तो स्थितियाँ कितनी भयावह हो जायेगीं, जिसका प्रतिफलन आज स्पष्ट देखा जा सकता है। नैतिक-अनैतिक के मिटते हुए भेद ने आज समाज में अराजकता की स्थिति पैदा कर दी है, दिन-दहाड़े लूट, हत्या, बालात्कार आदि आज रोजमर्रा का

हिस्सा बन चुकी है। इस आधार पर 'रेणु' का मैला आँचल एक अद्वितीय रचना है। यह रचना आजादी के बाद का भारत कैसा हो और सही मायने में आजादी क्या है के पड़ताल की बात करता है। यह व्यक्त करता है कि आजादी हमें किन मूल्यों पर मिली। विभाजन के रूप में, बावनदास की मौत के रूप में जो प्रकारांतर से गांधीवाद एवं उसकी सैद्धांतिक मतों की भी मौत थी, या समाजवाद के नाम पर हो रहे आपराधिक गतिविधियों के रूप में। यह रचना सिर्फ ग्रामीण परिवेश या जीवन की बात नहीं करती बल्कि आजादी से मोहभंग के लिए जिम्मेवार कारकों के रूप में राजनितिक पक्षों पर भी बात करती है साथ ही हृदय-परिवर्तन के नाम पर छद्म व्यवहार का भी निरिक्षण किया गया है। यह रचना वर्ग-संघर्ष और शोषण मूलक व्यवस्था की भी बात करती है जो किसी परिवेश विशेष की समस्या नहीं है। इस रूप में रेणु की रचनायें आंचलिकता का अतिक्रमण करती हैं।

रेणु के उपन्यासों को बेशक आंचलिकता के दायरे में समेटा गया हो पर यह उन रचनाओं को गैर यथार्थपरक रचना कतई नहीं बनाती है। कहा जा सकता है कि जब हिन्दी साहित्य में अस्तित्व की आँधी चल रही थी तब भी वे उससे अप्रभावित रहे।...लोकजीवन से गहरी आत्मीयता और लोकसंस्कृति में अटूट आस्था ने उनको अस्तित्ववादी प्रभावों से बचाया।'' यह हिंदी आलोचना की विडम्बना कही जाये या 'रेणु' की रचनाओं की अनदेखी कि अधिकांश आलोचकों ने उनकी रचनाओं पर सम्पूर्णता से विचार नहीं किया है। चाहे डा. रामविलास शर्मा हों, नेमिचन्द्र जैन या निर्मल वर्मा, सबों ने इनकी एक-आध रचना को ही आलोचना का आधार बनाया है। उपर्युक्त वर्णन इस बात को व्यंजित करती है कि 'रेणु' ने अपनी रचना अनुभवजन्य ज्ञान की शर्तों पर रचा। जीवन के यथार्थ को उन्होंने ग्रामीण और शहरी दोनों ही रूपों में व्यक्त किया। बेशक सामूहिक जीवन की अभिव्यक्ति और क्षेत्र विशेष के जिक्र ने उनकी रचनाओं को कई आलोचकों द्वारा आंचलिकता तक सीमित करने की कोशिश की गई परंतु यह रेणु की रचनाओं का एक पक्षीय विश्लेषण है क्योंकि रेणु की रचनाएं आंचलिक कलेवर में स्थानीय, ग्रामीण, कस्बाई तत्वों को आत्मसात करती हुई राष्ट्रीय पहचान से जुड़ जाती है।

संदर्भ

- रेणु जी का मैला आँचल, नलिन विलोचन शर्मा, संकलित निबंध, गोपेश्वर सिंह (संकलन), नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, 2011 पृ. 194
- फणीश्वरनाथ 'रेणु', मैला आँचल, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2003, भूमिका से
- शिवप्रसाद सिंह, आंचलिकत और आधुनिक परिवेश आधुनिक परिवेश और नवलेखन, संजय बुक सेंटर, वाराणसी, 1990, पृ. 114
- निर्मल वर्मा, शताब्दी के ढलते वर्षों में, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2006, पृ. 60
- डा. सुरेश सिन्हा, हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग, पृ. 142
- डा. सुवास कुमार, आंचलिकता, यथार्थवाद और फणीश्वरनाथ रेणु, साहित्य सहकार, दिल्ली, 1998, पृ. 16-17
- वही, पृ. 23
- शिवकुमार मिश्र, (आलोचना, जनवरी-मार्च, 86), उद्धरित, डा. सुवास कुमार (1998), आंचलिकता, यथार्थवाद और फणीश्वरनाथ रेणु, साहित्य सहकार, दिल्ली, पृ. 18
- डा. सुवास कुमार, आंचलिकता, यथार्थवाद और फणीश्वरनाथ रेणु, साहित्य सहकार, दिल्ली, 1998 पृ. 28
- निर्मल वर्मा, शताब्दी के ढ़लते वर्षों में, भारतीय ज्ञानपीठ, चौथा संस्करण, दिल्ली, 2006, पृ. 350
- मैनेजर पांडेय, ''मानवीयता की तलाश का कलात्मक प्रयास'', यह लेख www.phanishwarnathrenu.com पर उपलब्ध है। इसके किसी अन्य स्थान पर प्रकाशित होने की भी जानकारी वहां उपलब्ध नहीं है।
- वही।

डा. संगीता कुमारी
सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
जगजीवन महाविद्यालय, गया, बिहार

भारतीय संस्कृति में नारी और भूमंडलीकरण

—डा. प्रकाशवीर दहिया

भारतीय संस्कृति में नारी और भूमंडलीकरण ये दोनों ऐसे विस्तृत विषय हैं जिसमें भारतीय संस्कृति में नारी के संदर्भ को जानने के लिए अतीत अर्थात सभ्यता के प्रारम्भ में जाना पड़ता है जहां नारी ही नहीं समाज के रहन-सहन के अतिरिक्त सम्पूर्ण सांस्कृतिक परिवेश पर दृष्टि डालना अति आवश्यक है, जबकि भूमंडलीकरण एक आधुनिक अवधारणा है जो 1990 के दशक से प्रारम्भ होकर वर्तमान समय तक जारी है। भूमंडलीकरण ने नारी की अस्मिता को उजागर तो किया है लेकिन वह एक सीमित क्षेत्र तक है और स्थायी नहीं है। चूंकि भूमंडलीकरण और खुलापन सभी क्षेत्रों में एक दूसरे के पर्यायवाची हैं, उसका भारतीय नारी और गांवों में दूरदराज रहने वाली नारियों पर सकारात्मक कम और नकारात्मक प्रभाव अधिक व निरन्तर जारी है। किसी भी सभ्यता और संस्कृति के स्तर, धारणाओं, भावनाओं आदि को समझने और उनका मूल्यांकन करने के लिए उस समय सभ्यता और संस्कृति में स्त्रियों की साधारण दशा, उनके अधिकारों, स्वत्वों और स्तर का ज्ञान लेना आवश्यक है। यदि समाज में स्त्रियों का स्तर ऊंचा है, उन्हें विभिन्न अधिकार, सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त है, विभिन्न ललित कलाओं में उनकी प्रशंसनीय उपलब्धियाँ हैं, तो उस समाज और संस्कृति का स्तर श्रेष्ठ होगा। प्राचीन भारतीय इतिहास में नारी की दशा आधुनिक युग की अपेक्षा अच्छी थी, परन्तु वैदिक परम्परागत नारी के सामाजिक जीवन की परिवर्तनशीलता पूर्व मध्यकालीन इतिहास में परिलक्षित होती है। सामाजिक मान्यताओं के परिवर्तन अनुरूप इतिहास में सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक, राजनैतिक क्षेत्रों के अन्तर्गत नारी की स्थिति महत्वपूर्ण रही है।

भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही हिन्दू धर्म में (देवी) की उपासना का प्रचलन रहा है क्योंकि शक्ति का अर्थ नारी की विश्व सृजन तथा पुर्नसृजन की उस शक्ति से लिया गया है जिसमें ईश्वर की शक्ति भी निहित है और जिसके दिव्य स्वरूप को सर्वाधिक महत्ता प्रदान की गई है। सृष्टि की रचना में नारी का योगदान स्पष्टतः अभूतपूर्व है। हिन्दू धर्म में देवी दुर्गा का स्थान भी कुछ कम नहीं था जिसे विष्णु धर्मोत्तर पुराण में अष्टभुजी, सिंहवाहिनी कहा गया है।[1] देवी सरस्वती को जितना अधिक प्रश्रय एवं प्रसिद्धि साहित्य में मिली उससे कहीं अधिक मूर्तिकला के आधार पर विद्या एवं संगीत की देवी के रूप में मिली है। यही कारण है कि वर्तमान समय में भी बसंत पंचमी के दिन पूजा अर्चना विधि विधानपूर्वक करने की परम्परा आज भी विद्यमान है।

वैदिक युग की सभ्यता में वेदों की शिक्षा दी जाती थी, यह सभ्यता आर्यों की सभ्यता का काल था, आर्यों ने ही वेदों की रचना की थी, उनका जीवन सुखमय था। विवाह को संस्कार माना जाता था। स्त्रियों का समाज में आदर किया जाता था। वैदिकोत्तर कालीन समय में विवाह प्रतियोगिता के आधार पर होती थी। समय बीतने के साथ स्त्रियों की स्थिति में अपेक्षाकृत अंतर आया। निम्न व उच्च जाति में भेदभाव के साथ, स्त्रियों की स्थिति में भी गिरावट आई। स्त्रियों को चरित्र के साथ जोड़ कर उसे केवल लज्जा की वस्तु बना दिया गया। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनैतिक आदि क्षेत्रों में अपना प्रमुख योगदान देने वाली भारतीय नारी समग्र सांस्कृतिक इतिहास क्षेत्रीय विभिन्नता के लिए होने पर भी समाज में एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्थापित होता है।

प्रत्येक राष्ट्र में स्त्री या पुरुष एक आदर्श को व्यक्त करते हैं। भारत में स्त्री के आदर्श का आरम्भ और अंत मातृत्व से ही होता है। प्रत्येक भारतीय के मन में स्त्री शब्द के उच्चारण से मातृत्व का स्मरण सर्वप्रथम आता है। हमारे यहाँ ईश्वर को माँ कहा गया है। भारतीय संस्कृति स्त्रीत्व मातृत्व का बोधक है, मातृत्व में महानता, स्वार्थ शून्यता, कष्टसहिष्णुता और क्षमाशीलता का भाव निहित है। माता प्रेम का आदर्श होती है। भारतीय संस्कृति के अनुसार स्त्री जीवन का महान उद्देश्य माता का गौरवमय पद प्राप्त करना ही है। मातृत्व के कर्तव्यों को पूरा करने को जिसके लिए अधिकांश स्त्रियां तैयार रहेंगी जिन गुणों की आवश्यकता है, उनका पुरुषों में होना आवश्यक नहीं है।[2] भारतीय इतिहास लेखन की परम्परा में प्राचीन काल से ही साधन स्रोतों का योगदान महत्वपूर्ण रहा है यद्यपि प्राचीन काल से लेकर अनेकानेक साधन स्रोत हुए हैं जिनके माध्यम से समकालीन समाज एवं संस्कृति के विविध पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। जो नारी की दशा में समय-समय पर आए परिवर्तनों पर भी प्रकाश डालने में महत्वपूर्ण साधनों में सहायक सिद्ध हुए हैं।

राजनैतिक वैवाहिक संबंधों में नारी

प्राचीन इतिहास की प्राचीन परम्परा रही है कि एक कमजोर राजवंश दूसरे सबल राजवंश से वैवाहिक संबंध स्थापित कर अपने को सामर्थ्य एवं शक्तिशाली राजा महसूस करने लगता था, जिसमें स्त्री का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इस प्रकार के राजनैतिक वैवाहिक संबंध होने के पीछे अनेक राजनैतिक कारण होते थे, जैसे शत्रु राजवंश की पुत्री से विवाह करना, या उपहार में कन्या प्राप्त होना या अपने राज्य की सुरक्षा हेतु सबल राजा से वैवाहिक संबंध स्थापित करना या किसी सुन्दर नारी पर मोहित होकर उस राज्य पर आक्रमण करना या उसका अपहरण कर विवाह करना एवं चक्रवर्ती पद प्रतिष्ठा हेतु विवाह करना, इत्यादि कारणों के पीछे स्त्री का योगदान महत्वपूर्ण माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन समाज में किसी भी शासक के लिए एक से अधिक सुन्दर व्यवहार कुशल एवं सर्वगुण सम्पन्न राजकुमारियों से विवाह करना अत्यंत गौरव व प्रतिष्ठा की बात समझी जाती थी। स्वयंवर विवाह प्रणाली से भी अनेक राजाओं की आपसी शत्रुता होना और युद्ध हो जाना, नारी का ही योगदान कहा जा सकता है जिससे सम्पूर्ण राज्य शासन व्यवस्था प्रभावित होती थी। ये विवाह राजनैतिक महत्वपूर्ण होते थे, जिसमें शासक की प्रतिष्ठा, गौरव, राज्य की सुरक्षा, साम्राज्य विस्तार आदि प्रभावित होते थे।[3]

वैश्विक परिवेश में नारी

1773 में पहली बार अश्वेत महिला द्वारा लंदन में पुस्तक प्रकाशित की गई। इसकी लेखिका फिलिस विटली जो 19 वर्षीय दास थीं। उनके योगदान और आन्दोलन के कारण ही 1807 ब्रिटेन दास व्यापार आन्दोलन को सफलताएं मिलीं। उसके बाद वेस्टइंडिज और संयुक्त राज्य अमेरिका में दासता के विरुद्ध संघर्ष जारी रहा।[4] उदारवादी चिंतक हेरियट टेलर मिल ने वेस्ट मिनिस्टर रिव्यू 1851 में, 'दी एनफ्रैंचाइजमेंट ऑफ वीमन' में यह दावा किया कि उन्होंने महिलाओं के विशिष्ट उद्देश्य के लिए कार्य किया।[5] पितृसत्तात्मक की अवधारणा 1970 के दशक में, विशेषतया इंग्लैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका में उपयोग में लाई गई। पुरुष द्वारा महिला पर अपनी शक्ति का प्रयोग और उस शक्ति के प्रभाव बहुत से इतिहासों में नहीं है।[6]1975 में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा नैरोबी में पहला अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में राजनीतिक रूप से सक्रिय महिलाओं द्वारा पितृसत्ता से सम्बंधित सोचने पर प्रेरणा और प्रोत्साहन मिला।[7] नारीवादी राष्ट्र फ्रेंच समाजवादी चार्ल्स फोरियर द्वारा 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में दिया गया। उन्होंने ऐसी कल्पना की एक 'नई महिला' जो स्वयं को बदलेगी तथा समाज को भी बदलेगी, सहयोग के आधार पर न कि प्रतियोगिता और लाभ को ध्यान में रखकर।[8] हमारी जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा कामकाजी महिलाओं का है। वे इसलिए नौकरियां छोड़ देती हैं कि घर और बच्चे की जिम्मेदारी उन पर रहती है। स्त्रियों की आजादी का अर्थ सामाजिक, आर्थिक, लैंगिक और राजनीतिक आजादी से है। अगर हम पौराणिक कथाओं को पढ़ेंगे तो

सारे पुरुष वे ऋषि-मुनि ही क्यों न हों स्त्रियों को देखकर अपना संयम खो देते हैं। विश्वामित्र जैसे कई उदाहरण हैं। दरअसल, इस समाज में नैतिकता का पाठ स्त्रियों के लिए गढ़ा गया है। इंग्लैंड में महिलाओं को भी पुरुषों के बराबर वेतन और सुविधाएं पाने के लिए 1837 से 1850 तक लड़ाई लड़नी पड़ी। अमेरिका में महिलाओं को मत देने का अधिकार दिलाने के लिए फेमिनिस्टों ने 1830 से आंदोलन शुरू किया और यह अधिकार पाने में उन्हें 72 वर्ष लगे। भारत में यह अधिकार आजादी के समय ही मिल गया। भारतीय समाज में मर्दानगी एक फूले गुब्बारे की तरह है जो हल्की चोट आते ही आहत हो जाती है। यह महिलाओं पर आ जाती है तो आंतरिक मुद्दा हो जाती है।[9]

भूमंडलीकरण में नारी की वास्तविक स्थिति

भूमंडलीकरण ने विश्व ग्राम की जो अवधारणा हमारे सामने रखी है और भारतीय संस्कृति में, स्थानीयताएं व स्थानीय संस्कृति तेजी से विलुप्त हो रही है। शिक्षा-दीक्षा का अभाव या परिस्थितिजन्य कुण्ठाओं के कारण कुछ स्त्रियाँ पितृसत्तात्मकता की विशेष एजेंट जरूर बन जाती हैं। मूलतः स्त्री दृष्टि अहिंसक दृष्टि है और गौरवपूर्ण क्रांति के बाद का एकमात्र अहिंसक आंदोलन स्त्री आन्दोलन ही है।[10] नारी का बाजार या मंडी से रिश्ता हमेशा कठिन रहा है। पहले औरतें दिखती कम थीं। विश्व बाजार में हर जगह नजर तो अवश्य आ जाती है मगर किस स्थिति में? जबरदस्ती हँसती रहने को मजबूर बार्बी गुडिया के रूप में। रिसेप्शनिस्ट, कम्प्यूटर परिचालक, अनस्किल्ड लेबर और अन्य छोटे-छोटे पदों पर जहां बॉस (गॉड फादर) हमेशा ही देह या नौकरी और पूरी अस्मिता समाप्त हो जाने को तैयार हो। भूमण्डलीकरण के युग में यह मुख्य रूप से कहा जा सकता है कि नारी को बाहर निकलने के अवसर मिले हैं तो उसका शोषण दूसरे रूपों में होने लगा है। निरोधकों के बाजार ने उसे देह में बदला है तो देह से मुक्ति भी दी है। सौंदर्य के आधार पर 'सेल्स गर्ल' बनाया है तो रुपये कमाने के अवसर भी सौंपे हैं। नारी ने इस संक्रमण काल का उपयोग अपनी आर्थिक स्थिति को बेहतर करने के लिए भी किया है। बाजार में आकर उसने परम्परागत से मुक्ति के रास्ते जुटाए हैं और भविष्य में भी निरंतर सभी क्षेत्रों में अपनी उपस्थिति दे रही है। बाजार में अपनी जगह बनाने के लिए नारी को सतर्क रहना होगा कि देह पर अधिकार और नियंत्रण के लिए विवेकी मस्तिष्क और अपने अधिकारों के प्रति जागरुक होना अति आवश्यक है, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में, क्योंकि वहाँ पर शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा जानकारी का अभाव है। आर्थिक सम्बंधों का अंतर्राष्ट्रीय विस्तार वर्तमान स्थिति में रोका नहीं जा सकता था, पर इसके साथ जुड़ी पैसों को भगवान मान लेने की मनोवृति स्त्री का ही नहीं, गरीब और साधनहीन पुरुषों का भी परित्याग कर गई। एक जीता जागता कि 'यूज एण्ड थ्रो' की नियति झेलता बन जाता है। इसके शर्मनाक बात और क्या हो सकती है! पैसों को खुदा मान लेने की यह मनोवृति 'हिप-हाप' संस्कृति की नींव डालती है। यहाँ सेक्स एक न्यूज बुलेटिन हो गया, 'ब्यूटी क्वीन्स' कहलाने लगी सांस्कृतिक राजदूत हो गए। स्वतंत्रता के बाद जिस हालात में देश मिला उसके बाद निश्चित रूप से सशक्त महिलाओं ने हमेशा हर क्षेत्र में मजबूत भूमिका निभाई है, चाहे वह राजनीति हो, सेना हो या पुलिस, महिलाएं हर बाधा को पार कर आगे बढ़ रही हैं।[11]

सन्दर्भ

1. विष्णु धर्मोत्तर पुराण, *115/17-19*
2. कृष्णदत्त पालीवाल (संपादन-संकलन) नारी-विमर्श की भारतीय परंपरा, नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मण्डल, *2014*, पृ. *1-20*
3. डा. श्रीमती उषा गोमे गोठवाल, पूर्व मध्यकालीन समाज में नारी (मध्यकाल के विशेष संदर्भ में), द्वितीय भाग, आर. बी. एस. ए. पब्लिशर्स, जयपुर, 2012, पृ. 16
4. Shiela and Rowbotham, "Woman in Movement", London, Routledge, 1992, p. 44
5. Op.cit. p. 67
6. V. Geetha, "Patriarchy", Calcutta, Graphique International, 2007, p. 9
7. Op.cit. p. 13
8. Sheila and Rowbotham, "Women in Movement", London, Routledge, 1992, p. 8
9. आऊटलुक, 13 जून, 2022, पृ. 29
10. अनामिका, स्त्री विमर्श का लोकपक्ष, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2012
11. आउटलुक, जून 2022, पृ. 23

डा. प्रकाशवीर दहिया
एसोसिएट प्रोफेसर
राजनीति विज्ञान विभाग
सत्यवती कॉलेज, (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली

मृणाल पाण्डे की कहानियों में चित्रित नारी

—अरविन्द द्विवेदी

समकालीन हिन्दी साहित्य में 'मृणाल पाण्डे' चर्चित एवं प्रतिष्ठित नाम हैं। लेखक, पत्रकार एवं भारतीय टेलीविजन जगत की जानी-मानी हस्ती मृणाल पाण्डे वर्तमान परिवेश में संघर्षरत स्त्रियों की भावनाओं को सबसे मुखर स्वर देने वाली लेखिका हैं। उन्होनें अपनी रचनाओं में नारी चेतना तथा महिलाओं के शोषण के विरूद्ध एक बुलन्द आवाज देकर उनको सशक्त करने में अहम भूमिका निभायी है। अपने समय और परम्परा के तमाम रूढ़िग्रस्त बंधनों से मुक्त होकर बौद्धिक विकास का दुर्लभ मौका उनको प्राप्त है। चाहे वे आधुनिक जीवन स्थितियों पर लिख रही हो और चाहे अल्मोड़ा के पारम्परिक जीवन पर, सभी विषयों पर बेबाक बयानी उनकी बात को धार देती है। व्यक्ति की स्वतंत्रता उनकी रचनाओं का प्रमुख विषय रहा है। मृणाल पाण्डे की कहानियों में चित्रित नारी घर, परिवार व समाज के परम्परावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध नये तेवर लेकर खड़ी है। वह अपने स्वाभिमान की रक्षा करती है, अपनी अस्मिता की माँग करती है। मृणाल जी ने नारी के विविध रूपों को उभारा है। उन्होंने नारी के अच्छे व बुरे दोनों पहलुओं को बताया है। आज नारी हर क्षेत्र में पुरुष के समान कार्य कर रही है। फिर भी नारी का हर क्षेत्र में शोषण किया जा रहा हैं।

सृष्टि के आरम्भ से ही सृष्टि के निर्माण, संचालन में नारी की महत्वपूर्ण भूमिका है। मानव जाति की सभ्यता व संस्कृति के विकास का मूल आधार नारी है। भारतीय संस्कृति में नारी को देवी के रूप में पूजा जाता है। वह माँ, पुत्री, पत्नी बनकर हमेशा पुरुष के साथ रही है और महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती रही है। सामाजिक जीवन में नारी की स्थिति में उतार-चढ़ाव आते रहे हैं। संस्कृति और सभ्यता के आरम्भिक काल में नारी का गौरवमय स्थान रहा। वैदिक काल में नारी शिक्षित और स्वतंत्र रही और सभी कार्यो में उसका सहभाग होते हुए उसे गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त रहा। उत्तर वैदिक काल से उसकी अवनति प्रारम्भ हुई। उसका स्थान तक सीमित होने लगा और वह पुरुष के अधीन होने लगी। उपनिषद तथा सूत्रकाल तक आते-आते उसकी स्थिति में गिरावट आ गई। कभी उसे देवी कहा गया कभी दानवी। स्मृतिकाल तक आते-आते उसकी दशा और दयनीय हो गई। मध्यकाल में मुस्लिम आक्रमणों के कारण नारी चारदीवारी में कैद रह गई तथा सुरक्षा के नाम पर उसे इतने अधिक बंधनों में जकड़ दिया गया कि उसके स्वतंत्र अस्तित्व का नामों निशान तक न रहा। आधुनिक युग की स्थितियों ने नारी में नई चेतना का संचार किया। अनेक समाज-सुधारकों ने नारी जीवन में सुधार के प्रयत्न किए। परन्तु फिर

भी समाज में, परिवार में, राष्ट्र में उसका स्थान प्रश्नांकित है। वह आज भी अपने हर रूप में शोषित, पीड़ित और दमित है जो पुरुष प्रधान समाज में अपने स्वाभिमान अधिकार स्वतंत्रता व अस्मिता की तलाश में है।

मृणाल पाण्डे भी ऐसी ही साहित्य सेवी हैं। उन्होंने जीवन के हर पहलू को अपने अनुभव से परखा है। उन्होंने अपनी कहानियों में नारी की विविध समस्याओं का चित्रण, उनका विद्रोह और शोषण जैसे अनेक मुद्दों पर ध्यान आकृष्ट किया है। इस प्रकार इनकी कहानियों में असफल प्रेम, रोजगार, सुरक्षा, तलाक, यौन-शोषण, उत्पीड़न एवं हिंसा, वेश्यावृत्ति और रूढ़िगत समाज की समस्याएं उभर कर सामने आयी हैं। ये सारी समस्याएं आज की भारतीय समाज में व्याप्त है। मृणाल जी ने अपने विचारों और पात्रों के चरित्रों के माध्यम से इन समस्याओं को दूर करने के लिए पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है।

मृणाल पाण्डे की प्रमुख कहानियों में 'एक स्त्री का विदागीत', 'कुनू', 'चार नम्बर सुनहरी बागलेन', 'कर्कशा' 'लक्का-सुन्नी', 'हमसफर', 'कैंसर', 'दुर्घटना', 'ढलवान', 'आतातयी', 'मीटिंग', 'लकीरें', 'बर्फ', 'खेल' आदि कहानियाँ सम्मिलित हैं। 'दरम्यान' कहानी में मनोहर अपनी भावी पत्नी शांता को एक आदर्श खुशियों से भरी जिन्दगी देना चाहता है पर घरवालों की अपेक्षाएं उससे बढ़ती ही जा रही हैं। उसे अपने जीवन के बारे में सोचने का कोई अधिकार नहीं है। ऐसे में उसके मन में संघर्ष पैदा होने लगता है– ''उसका मन करता है कि कॉलेज की डिबेट में बोलने वाले की तरह मेज पर मुक्का मारकर अपने घर वालों की एक लम्बी और उग्र तकरीर दे डाले, और कहे कि तुमने सालों तक जोंक की तरह मेरा तो भूत-भविष्य सब चूस डाला है, अब एक निरपराध नासमझ लड़की पर भी चिपटना चाहते हो ?''[1]

इनकी 'लड़कियाँ' कहानी की बाल चरित्र नन्हीं लड़की भी समाज की लड़की और लड़के के भेदभाव के बोध के अंतिम स्तरों से गुजरती है। उसकी माँ का यह कथन– ''इस बार लड़का हो जाता तो उन्हें छुट्टी होती, बार-बार की मुसीबत।''[2] जहाँ एक ओर लड़की और लड़के के भेदभाव का बोध प्रदान कराता है, वहीं भारतीय स्त्री की पुत्र के लिए बार-बार गर्भ धारण करने की बाध्यता को भी प्रदर्शित करता है। इस कहानी में मंझली लड़की के द्वारा समाज में स्त्री जाति के लिए निर्मित आचार-संहिता के पालन की विवशता की भी मार्मिक अभिव्यंजना हुई है–''मुझसे कहा गया कि पैर छुओ, ऐसे नहीं, ऐसे-ऐसे, अरे, लड़की का जनम है और जिंदगी भर झुकना तो सीख ही लो।''[3]

'सुपारी फुआ' कहानी की बाल विधवा फुआ भी किसी न किसी रूप में भारतीय समाज-व्यवस्था से ही संत्रस्त होती चित्रित हुई है। उसको ससुरालियों की उपेक्षा से संत्रस्त होकर मायके में शरण तो मिलती है, किन्तु मायके में आते ही, उसकी माँ जिस तरह से सीख देती है उससे विधवा स्त्री के प्रति भारतीय समाज की सोच साफ व्यक्त हो जाती है–''अजी मायके की रोटी तोड़नी है तो, तो आँख, कान पर लगाम देकर इस चमड़े की जीभ पर तुझे पट्ट ताला जैसा डालना होगा।''[4]

'कुनू' कहानी में भी समाज में युवा होती युवती की बंदिशों का निरूपण हुआ है। इस कहानी में युवा होती युवती कुन्नू अपने माँ की बंदिशों के कारण विकृतियों से गुजरती चित्रित हुई है–''अब वह सयानी हो रही और उटंग फ्राक पहनकर अकेले इधर-उधर डोलने फिरने की कोई जरूरत नहीं है। अगले दिनों में दर्जी को बुलाकर उसके लिए सलवार कमीज की नाप दे दी गयी थी...बंडी पहनकर उसे लगा कि उसके सीने पर किसी ने रस्सियाँ बाँध दी हैं और वह साँस नहीं ले पायेगी।''[5] मृणाल पाण्डे की 'ढलवान' कहानी उच्च वर्ग से संबद्ध है फिर भी इस कहानी की नवयुवतियों के लिए निर्दिष्ट आचार-संहिता का मौसी स्त्री चरित्र के द्वारा वर्णित हुआ है, वह कहती है–''लड़कियों को बहुत ऊंची आवाज में हंसना-बोलना शोभा नहीं देता खासकर लड़कों से।''[6]

इनकी 'खेल' कहानी की बाल चरित्र भी असमय ही लड़की होने के बोध से गुजरती चित्रित हुई है इसीलिए तो वह अपने भाई से कहती है–''तुम लड़के लोग होते ही ऐसे हो। पहले सब सामान इधर-उधर करवा के घर-घर बनाते हो फिर संभालते वक्त खुद बाहर हो जाते हो सब हमारे सिर छोड़कर।''[7] इन कहानियों के अतिरिक्त मृणाल पाण्डे ने 'प्रतिशोध', 'हमसफर', 'रिक्ति' और 'कर्कशा' जैसी कहानियाँ लिखी हैं जिनकी स्त्री चरित्र पितृसत्तात्मक भारतीय समाज की मानसिकता से उपेक्षित होकर अपरिमित कष्ट पाती चित्रित हुई है। इनकी 'प्रतिशोध' कहानी का पुरुष चरित्र मधुसूदन बाबू न केवल आधुनिक नवयुवतियों की फैशनपरस्ती की खिल्ली उड़ाता है, बल्कि वह दम्पत्ति स्त्री चरित्र पर अकारण लांछन लगाता भी चित्रित हुआ है। इनकी 'लेडिज टेलर' कहानी में अविवाहित कामकाजी स्त्री के प्रति पुरुष नजरिए की विडंबना का यथार्थ है। 'हमसफर' कहानी की वैधव्य की ग्रासी स्त्री चरित्र न केवल अपने ससुराल में जेठ-जिठानी से छली जाती है, बल्कि अपने भाई और भाभी की संबंध बोध हीनता और उपेक्षा से भी अपार कष्ट पाती है।

'रिक्त' कहानी की स्त्री चरित्र संगीत प्रतिभा से सम्पन्न हुए भी पति की रूढ़िवादिता से अपनी प्रतिभा से समझौता करती दिखाई देती है उसके अंतर्गत की पीड़ा को व्यक्त करने वाला एक अंश उद्धृत है–''क्योंकि मेरे पिता जी नहीं थे, पीछे चार और बहिनें थी, फिर तुम्हारे बाबू के पास पक्की सरकारी नौकरी थी, अपना मकान था और जो क्या देखते थे लड़को में उस जमानें में ? आगे तो लड़की का अपना भाग्य होता है। भाभी ने भी कहा था तुम्हारी नानी वैसे ही अधमरी होती जा रही थी कि इतनी पढ़ी-लिखी इतने बड़े घराने की बेबाप की अट्ठारह बरस की लड़की कौन ब्याहेगा।''[8]

इनकी 'कोहरा और मछलियाँ', 'शरण्य की ओर', 'उमेशजी', 'चेहरे', 'शब्दवेधी', 'लकीरें', 'बिब्बों', 'एक नीच ट्रैजेडी', 'चार नम्बर सुनहरी बाग लेन', कहानियों में चित्रित स्त्री चरित्र उच्च एवं मध्य वर्ग से संबद्ध है। इसके अलावा इन कहानियों की कतिपय स्त्री चरित्र प्र्याप्त शिक्षित और स्वच्छंद प्रवृत्ति की है। फिर भी ये चरित्र किसी न किसी रूप में स्त्री जीवन की विडम्बनाओं से गुजरती दिखाई देती है। इनकी 'कोहरा और मछलियाँ' की 'रति और बानो' अपनी-अपनी माँ की स्वच्छंदता से पर्याप्त खिन्न चित्रित हुई है। इस कहानी की नवयुवती चरित्र बानो अपनी माँ की स्वच्छंद प्रवृत्ति के प्रति अपनी सखी रति के सम्मुख आक्रोश व्यक्त करती दिखाई देती है–''एनीथिंग जस्ट टु गेट अवे फ्रॉम ममीज स्टैग्नेण्ट डेन (ममी की दूषित माँद से बच भागने के लिए) मैं कुछ भी कर सकती हूं।''[9] इसके अलावा वह अपनी माँ के पुरुष मित्रों की काम चेष्टाओं से भी आहत हुई है। इस कहानी की एक और नवयुवती चरित्र रति भी अपनी माँ की स्वच्छंद एवं आडम्बर पूर्ण प्रदर्शनों से गहरे विषाद से गुजरती चित्रित हुई है।

'शरण्य की ओर' कहानी में सभी स्त्री चरित्र पढ़ी-लिखी और घर-परिवार के नियन्त्रण से मुक्त है, फिर भी संकट से सर्वाधिक गुजरती दिखाई देती है इसलिए तो वह अपनी सहेली से कहती है–''मम्मी उनकी और पापा की तो थियरी है कि बच्चों को पूरी आजादी दे दो। तो जो चाहूं, मैं करूं। बस उन्हें परेशानी न उठानी पड़े। पति मैं ढूंढ लूं रिसेप्सन में हमारे साथ वे लोग खड़े हो जायेंगे। हमसे तो जानवर भले, कम से कम उन्हें अपनी बेसिक जरूरतों और अपने खतरों का ज्ञान तो होता है। हमारे लिए तो यह भी संभव नहीं। पर तू ही बता, नसीम से अगर शादी हो ही गयी, तो क्या गारंटी है कि यही तनाव दूसरे रूप में सामने नहीं आ जायेगा।''[10] बावजूद इसके वह स्त्री होने के बोध से भली-भाँति परिचित है इसलिए तो वह अपनी सहेली से कहती है–''यही तो हमारी तुम्हारी ट्रैजेडी है बिजू! न तो जानवरों की तरह भूख मिटाकर एक-दूसरे से उदासीन हो सकते हैं न ही दूसरे की पसंद मान सकते हैं फिर ममी या पा से पूछने का फायदा ही क्या ?''[11]

'प्रेतबाधा' कहानी में पर पुरुष के प्रति अपनी उन्मुक्तता को व्यक्त करती स्त्री का चित्रण हुआ है–''क्या फर्क पड़ता है मेरे होने न होने का निश्चित करने न करने से नहीं ? महाराजा हो या तुम या मैं या महारानी या तुम्हारी बीबी क्या फर्क पड़ेगा।''[12] 'एक नीच ट्रैजेडी' कहानी मध्यम वर्गीय जीवन से सम्बद्ध विविध प्रसंगो का उद्घाटन करती है। इस कहानी में हास्टल में रहकर अध्ययनरत लड़कियों की निरंकुशता, आत्मरति, प्रदर्शनप्रियता, बढ़ती फैशन परस्ती की हास्यास्पद स्थिति के अबला नारी विषयक समाज में प्रचलित नीति कथनों को वाणी मिली है। इन्होंने 'उमेश जी' जैसी कहानियाँ भी लिखी हैं जिसमें एक मध्यमवर्गीय नवयुवती पुरुष अधिकारियों की अमर्यादित चेष्टाओं को झेलती है। इसीलिए तो वह अफसोस व्यक्त करते हुए कहती है–''उमेश जी से नौकरी माँगने को आने वाली हर लड़की के साथ इस दफ्तर में ऐसा ही जलालत भरा बर्ताव होता है। कमाल है फिर भी लड़कियाँ आती हैं नौकरी, माँगने जैसे कि खुद मै।''[13] इन कहानियों के अलावा उन्होंने 'प्रतिशोध' और 'एक स्त्री का विदागीत' जैसी कहानियाँ भी लिखी हैं जिनमें कामकाजी स्त्री की दुहरी कठिनाइयों का निरूपण हुआ है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मृणाल पाण्डे के कहानी साहित्य में चित्रित स्त्री चरित्र कुमाऊँ अंचल के लोक जीवन से लेकर आधुनिक भारत के गाँवों, छोटे-बड़े नगरों और महानगरों की प्रायः तीनों वर्गो से सम्बद्ध है। अतः इनके कहानी साहित्य में स्त्रियाँ कई रूपों में सामने आती हैं। मृणाल पाण्डे के कहानी साहित्य में एक ओर पितृसत्तात्मक समाज के बंधनों में पीड़ित स्त्री है, वहीं दूसरी ओर पितृसत्तात्मक बंधनों से मुक्त स्त्री भी है जो समाज से बेखबर अपने आज में मस्त दिखाई देती है। इनके कहानी साहित्य में ऐसी स्त्री भी है जो आत्मनिर्भर होते हुए भी घर एवं बाहर के दुहरे कार्य भार की मार से दबती ओर अपार यंत्रणा पाती दिखती है। इसके अलावा इनके कहानी साहित्य में अत्यधिक स्वतंत्रता से उत्पन्न होने वाले खतरों से भली-भंति परिचित स्त्री चरित्रों के साथ-साथ ऐसी स्त्री भी दिखाई देती है, जो आर्थिक कठिनाइयों से विवश होकर पुरुष की काम चेष्टाओं से छली जाती है और चाहते हुए भी प्रतिकार नहीं कर पाती है।

मृणाल पाण्डे के कहानी साहित्य में तथाकथित

प्रगतिशील स्त्री भी दिखती है जो अपराधों का खुलकर विरोध तो करती है किन्तु विवशता के कारण उनका विरोध अंतिम परिणाम तक नहीं पहुंच पाता है। मृणाल पाण्डे की अस्तित्ववादी विचारधारा भी सवाल बनकर समाज के सामने खड़ी होती है। परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने अस्तित्व के लिए लड़ने को तैयार है। बेरोजगारी की समस्या ने मृणाल पाण्डे के अंतस्तल को छुआ। आज का युवावर्ग उच्च शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त भी रोजगार प्राप्त नहीं कर पा रहा है जिसके कारण ईर्ष्या, कुंठा आदि का शिकार हो रहा है। यह समस्या किसी एक की नहीं बल्कि देश का हर नौजवान अपने आपको इसी समस्या से घिरा हुआ पाता है। इसके अतिरिक्त भी आपके साहित्य में समाज की विभिन्न समस्याओं का विस्तारपूर्वक विवेचन आगे किया गया है।

वस्तुतः मृणाल पाण्डे के कहानी साहित्य में चित्रित प्रायः सभी वर्गो और क्षेत्रों से संबंद्ध स्त्रियों की सामाजिक परिस्थिति के साथ-साथ स्त्री विषयक आचार-संहिताएं स्वतः व्यक्त हो गई है। उनके कहानी साहित्य में स्त्री चरित्र समाज व्यवस्था के प्रति किसी प्रकार का आक्रोश व्यक्त नहीं करती है। इसका कारण यह है कि वे अपने कहानी साहित्य में पुरुष के नजरिए से निर्मित आचार-संहिताओं के अमानवीयता से दबती पिसती स्त्रियों को सामने भर लाती है इसलिए कि वे स्वयं भी एक स्त्री विमर्शकार हैं और एक विमर्शकार के रूप में ईमानदारी पूर्वक प्रश्न उठाने को ही सही जवाब की तलाश और स्त्री मुक्ति की दिशा में सही कदम मानती है। मृणाल पाण्डे कहती हैं–''दुनिया भर में सर्वहारा वर्ग का अधिकांश हिस्सा स्त्रियों और बच्चों का ही है, अतः उसकी परख किये बिना विश्व में राजनीतिक, आर्थिक या समाजशास्त्रीय किसी भी क्षेत्र में असंतुलन और विषमताओं का ब्यौरा नहीं बिठाया जा सकेगा।'' स्त्री के सन्दर्भ में किसी भी विषय वस्तु को प्रस्तुत करते समय उसके सामाजिक, आर्थिक दबावों को शिद्दत से महसूस करती हुई लेखिका उसके जेहन में उतरती है। इसीलिए उनके लेखन से प्रतिध्वनित होने वाली भावधारा दिल दिमाग दोनों को प्रभावित कर सोचने को विवश करती है साथ ही उनके लेखन की सार्थकता को सिद्ध करती है।

'नारी का नारी के द्वारा शोषण' विषय को मृणाल पाण्डे ने अपने साहित्य में दूसरी समस्या के रूप में लिया है। आज भी सास-बहू को अपनी बेटी के समान नहीं समझ पाती। प्रश्न उठता है क्या दूसरे के घर से आना ही उसका दोष है ? विवाह के बाद भी पुत्र माता की इच्छानुसार ही कार्य करे, यदि वह नहीं करता तो जोरू का गुलाम कहलाता है जो पारिवारिक विघटन और वैचारिक मतभेद का महत्वपूर्ण कारण बनता है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मृणाल पाण्डे ने अपनी कहानियों में पात्रों के चरित्र को नाना विधियों से उकेरने का बड़ा सुन्दर प्रयास किया है, जो कि श्लाघनीय है।

संदर्भ ग्रंथ

1. यानी कि एक बात थी ('दरम्यान' कहानी), मृणाल पाण्डे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1990, पृ. 119
2. चार दिन की जवानी तेरी ('लड़कियाँ' कहानी), मृणाल पाण्डे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1995, पृ. 13
3. वही, पृ. 15
4. वही, पृ. 79
5. बचुली चौकीदारिन की कढ़ी ('कुनू' कहानी), मृणाल पाण्डे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1990, पृ. 106
6. यानी कि एक बात थी ('ढलवान' कहानी), मृणाल पाण्डे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1990, पृ. 25
7. यानी कि एक बात थी ('खेल' कहानी), मृणाल पाण्डे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1990, पृ. 117
8. बचुली चौकीदारिन की कढ़ी ('रिक्ति' कहानी), मृणाल पाण्डे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1990, पृ. 177
9. यानी कि एक बात थी ('कोहरा और मछलियाँ' कहानी), मृणाल पाण्डे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1990, पृ. 12
10. यानी कि एक बात थी ('शरण्य की ओर' कहानी), मृणाल पाण्डे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1990, पृ. 54
11. यानी कि एक बात थी ('शरण्य की ओर' कहानी), मृणाल पाण्डे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1990, पृ. 55
12. यानी कि एक बात थी ('प्रेतबाधा' कहानी), मृणाल पाण्डे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1990, पृ. 81
13. चार दिन की जवानी तेरी ('उमेश जी' कहानी), मृणाल पाण्डे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1995, पृ. 31

अरविन्द द्विवेदी
शोधार्थी
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

जम्मू-कश्मीर : समस्या समाधान में श्यामा प्रसाद मुखर्जी की भूमिका

–डा. राजेश गर्ग
–कुलदीप शर्मा

सारांश

स्वतंत्रता के साथ ही देश को विभाजन की विभिषिका का दंश भी झेलना पड़ा था। रियासतों को अपने भविष्य के निर्धारण का अधिकार देकर माउंटबेटन ने भारत को खण्डित करने का प्रयास किया था, लेकिन सरदार पटेल के दृढ़ इरादों के कारण यह ब्रिटिश योजना असफल हो गई, लेकिन तत्कालीन केंद्र सरकार की नीतियों के कारण जम्मू-कश्मीर का मसला उलझ गया। महाराजा हरि सिंह के द्वारा विलय पत्र पर समझौता करने के बाद भी शेख अब्दुल्ला की महत्वकांक्षाएं परवर्तित हो रही थीं। ऐसे में प्रजा परिषद और जनसंघ ने श्यामा प्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में कश्मीर को भारत का अभिन्न अंग बनाने के लिए सत्याग्रह किया। मां भारती के आंचल को अखण्ड रखने के लिए डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने अपने प्राण न्यौछावर कर दिए। डा. मुखर्जी और प्रजा परिषद कार्यकर्ताओं के बलिदान के कारण ही कश्मीर से कन्याकुमारी तक आज शान से तिरंगा लहरा रहा है।

मुख्य बिन्दु

डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी, अखंड भारत, जवाहर लाल नेहरू, जनसंघ, भारतीय जनता पार्टी, प्रजा परिषद, परमिट व्यवस्था, प्रेमनाथ डोगरा, शेख अब्दुल्ला, नेशनल कांफ्रेंस, विलय पत्र, अनुच्छेद 370 और 35 ए। 15 अगस्त, 1947 की सुबह सूर्य की किरणें आजादी की खुशियों के बीच अखण्ड भारत के विभाजन की विभिषिका का दंश भी लेकर आई थीं। देश भर में फैली सैंकड़ों रियासतों को एक ध्वज और एक राष्ट्र चिन्ह के तले लाना किसी चुनौती से कम नहीं था, लेकिन नेहरू मंत्रिमंडल के सबसे दृढ़ निश्चयी चित्त वाले सरदार वल्लभ भाई पटेल ने इसे सार्थक करने का सफल बीड़ा उठाया

था।[1] भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947 के अनुच्छेद 2(4) के तहत सभी रियासतों को अधिकार था कि वे भारत में विलय हों या पाकिस्तान में मिलें या फिर खुद को स्वतंत्र घोषित कर दें।[2] ऐसे में जम्मू-कश्मीर रियासत के महाराजा हरि सिंह ने खुद को स्वतंत्र रहने की इच्छा जता दी थी। इसी बीच 22 अक्टूबर, 1947 को पाकिस्तान की सेना ने स्थानीय कबायली लड़ाकों के साथ मिलकर जम्मू-कश्मीर की दक्षिण पूर्व सीमा पर आक्रमण कर दिया तो महाराजा के मुस्लिम सैनिकों ने भी विद्रोह कर पाकिस्तानी सेना की ओर रुख कर लिया था।[3] आक्रमण का जवाब देने के लिए भारतीय सेना को श्रीनगर भेजे जाने के प्रश्न पर केंद्र सरकार में ऊहापोह की स्थिति थी। इस पर डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने सरदार पटेल से मुलाकात की। डा. मुखर्जी ने कहा कि 'बिना विलंब किए भारतीय सेनाओं को श्रीनगर भेजा जाना चाहिए। इसी में देश का हित है। उन्होंने आशंका जताई की कबाइलियों ने कश्मीर पर कब्जा कर लिया तो फिर ब्रिटेन कश्मीर को पाकिस्तान में मिलाने के लिए दवाब बना सकता है।'[4] आखिरकार सरदार पटेल प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू से स्वीकृति लेने में सफल रहे।

भारत सरकार ने हरि सिंह को कश्मीर का विलय भारत में करने की शर्त पर सैन्य सहायता मुहैया कराई। महाराजा हरि सिंह ने 26 अक्टूबर, 1947 को भारत के साथ विलय-पत्र पर हस्ताक्षर करके कश्मीर को भारतीय संघ का अंग बनाने के लिए अपनी सहमति दे दी।[5] इस प्रकार जम्मू-कश्मीर मामले में भारत सरकार संवैधानिक विजय हासिल कर चुकी थी। उधर, भारतीय सेना के जाबांजों ने कबाइलियों और पाक सेना को काफी पीछे तक खदेड़ दिया था, लेकिन इस बीच सरदार पटेल और डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी के विरोध के बाद भी पण्डित जवाहर लाल नेहरू कश्मीर मामले को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले गए।[6]

इस प्रकार देश का आन्तरिक और सैन्य मामला अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जद में आ गया। प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने संयुक्त राष्ट्र में भारत का पक्ष रखने के लिए एक प्रतिनिधिमंडल भेजा था। गोपाल स्वामी आयंगर और शेख अब्दुला इस प्रतिनिधि मंडल के प्रमुख सदस्य थे। इन लोगों ने संयुक्त राष्ट्र में यह कहने के बजाय कि पाकिस्तान भारतीय क्षेत्र पर आक्रमण कर रहा है, केवल यह शिकायत दर्ज कराई कि पाकिस्तान कबाइलियों को अपने क्षेत्र से गुजरकर भारत पर आक्रमण करने की सुविधा दे रहा है। तत्कालीन कश्मीर के प्रधानमंत्री मेहरचन्द महाजन यदि संयुक्त राष्ट्र में भारत का पक्ष रखते तो स्थिति कुछ और होती, लेकिन महाजन को सरदार पटेल का करीबी माना जाने के कारण प्रतिनिधिमंडल में शामिल नहीं किया गया था।[7] संयुक्त राष्ट्र के दखल से युद्ध विराम के कारण यथा स्थिति घोषित कर दी गई।

26 अक्टूबर, 1947 को जम्मू-कश्मीर में भारत का अधिमिलन होने के बाद 30 अक्टूबर, 1947 को ही शेख अब्दुल्ला को वहाँ के आपातकालीन प्रशासन का प्रमुख बना दिया गया। अब जम्मू-कश्मीर की बागडोर पूरी तरह से शेख अब्दुल्ला के हाथ आ गई थी।[8] इसी के साथ शेख अब्दुल्ला की नीतियों ने भी अपना रंग दिखाना शुरू कर दिया था। शेख अब्दुल्ला ने कश्मीर का सुल्तान बनने की दिशा में मनमानी शुरू कर दी थी। उस दौर में हिन्दुओं पर अत्याचार की घटनाएं बढ़ने लगी थीं और कश्मीर को भारतीय संघ से अलग करने की दिशा में कदम उठाए जाने लगे थे।[9]

ऐसे में शेख की नीतियों का विरोध करने और जनता को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करने के लिए एक राजनीतिक संगठन की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 9 नवंबर, 1947 को जम्मू-कश्मीर की धरा पर प्रजा परिषद का गठन हुआ।[10] प्रो. बलराज मधोक, आर. एस. एस. के प्रांत प्रचारक श्री माधवराव मुले श्री दुर्गादास वर्मा, श्री हंसराज शर्मा, केदारनाथ साहनी आदि के प्रयास से यह योजना मूर्त रूप ले पाई थी। बाद में प्रेमनाथ डोगरा भी प्रजा परिषद के सक्रिय सदस्य बन गए थे।

बलराज मधोक प्रजा परिषद के प्रमुख आयोजक और हरि वजीर पहले अध्यक्ष नियुक्त किए गए थे। इससे पहले 1944 में कश्मीर घाटी में आर.एस.एस. अर्थात राष्ट्रीय स्वयं संघ की स्थापना करने का श्रेय भी बलराज मधोक को ही दिया जाता है।[11] पहली बैठक में ही बलराज मधोक ने स्पष्ट कर दिया था कि प्रजा परिषद पार्टी का उद्देश्य शेख अब्दुल्ला की कम्युनिस्ट वर्चस्व वाली डोगरा सरकार का विरोध करके भारत के साथ जम्मू और कश्मीर का पूर्ण एकीकरण हासिल करना है।[12]

इसी बीच 5 मार्च, 1948 को केंद्र सरकार के इशारे पर जम्मू के आपातकालीन प्रशासन को भंग करके राज्य की पहली अंतरिम सरकार का गठन कर दिया, जिसकी कमान नेशनल कॉफ्रेन्स के नेता शेख अब्दुल्ला को दी गई थी।[13] ऐसे में शेख अब्दुल्ला की नीतियां मूर्त रूप लेते हुए दिखने लगी थीं। ऐसे में प्रजा परिषद के महामंत्री बलराज मधोक ने 8 मार्च, 1948 को दिल्ली आकर डा. मुखर्जी को

शेख अब्दुल्ला की नीतियों से अवगत कराया। डा. मुखर्जी के प्रयास से दो दिन बाद यानि की 10 मार्च को हुई मधोक-नेहरू वार्ता भी असफल हो गई थी। उधर, शेख को मधोक जी के दिल्ली में होने की जानकारी मिली तो उन्हें जम्मू-कश्मीर से निष्कासित कर दिया गया। लिहाजा, बूढ़े मां-बाप और परिवार के अन्य सदस्यों के साथ मधोक जी को जम्मू-कश्मीर छोड़ना पड़ा।[14] शेख अब्दुल्ला ने अपनी नीतियों को कारगर बनाने के लिए महाराजा हरि सिंह के द्वारा गठित फौजी बटालियन डोगरा पलटनों के स्थान पर मिलिशिया बल का गठन किया, जिसमें केवल मुस्लिमों को शामिल किया गया। बाद में शेख अब्दुल्ला ने इन्हीं मिलिशिया बलों के सहयोग से जम्मू संभाग में चल रहे प्रजा परिषद के सत्याग्रह को दबा दिया था।[15] ऐसे में, 1949 के शुरूआती दौर से ही प्रजा परिषद ने शेख अब्दुल्ला सरकार की नीतियों का विरोध किया तो प्रजा परिषद के तत्कालीन अध्यक्ष प्रेम नाथ डोगरा सहित 294 कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया गया।[16]

जम्मू-कश्मीर से निष्कासन झेलने के बाद भी बलराज मधोक ने डा. मुखर्जी के निर्देशन में अपनी लड़ाई जारी रखी। दूसरी तरफ श्यामा प्रसाद मुखर्जी पूर्वी पाकिस्तान के विस्थापित हिन्दुओं और पश्चिमी पंजाब में अल्पसंख्यक हिन्दुओं की दुर्दशा को लेकर परेशान थे। दोनों ही स्थानों पर जबरन धर्मान्तरण और हिन्दुओं का संहार किया जा रहा था। उधर, प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने पाकिस्तान को तुष्ट करने के लिए जनमत संग्रह कराने का आश्वासन देकर कश्मीर समस्या को विकराल बना दिया था। नेहरू ने पाकिस्तान के प्रधानमंत्री लियाकत अली के साथ समझौता कर लिया था। हिन्दुओं की उपेक्षा होने और लियाकत समझौते से व्यथित होकर श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने 8 अप्रैल, 1950 को केंद्रीय उद्योग और आपूर्ति मंत्री के पद से इस्तीफा दे दिया। अपने अखंड भारत के संकल्प को मूर्त रूप देने के लिए डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सरसंघचालक माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर से वार्ता करके 21 अक्टूबर, 1951 ईस्वी को अखिल भारतीय जनसंघ की स्थापना की। डा. मुखर्जी जनसंघ के पहले अध्यक्ष बने।[17] देश के पहले आम चुनाव में डा. मुखर्जी ने अपने प्रतिद्वन्दी कांग्रेस के उम्मीदवार मृगांक मोहन को 21,982 वोटों से पराजित कर दिया था। पहली लोकसभा में जनसंघ को तीन सीटें हासिल हुईं थीं। डा. मुखर्जी ने जम्मू-कश्मीर के मुद्दे को लेकर नेहरू सरकार को चुनौती देने के लिए रामराज्य परिषद, गणतन्त्र परिषद, हिन्दू महासभा, अकाली दल समेत कई स्वतन्त्र दलों को मिलाकर नेशनल डेमोक्रैटिक दल नामक गठबंधन तैयार कर लिया था।

उधर, 1951 में जम्मू-कश्मीर संविधान सभा के चुनावों को लेकर तनाव बढ़ गया।[18] प्रजा परिषद के पदाधिकारियों ने जम्मू को आवंटित 30 में से 28 सीटों पर उम्मीदवार उतारने की रणनीति तय कर ली थी। लेकिन शेख अब्दुल्ला के प्रभाव से प्रजा परिषद के 13 उम्मीदवारों के नामांकन पत्र खारिज कर दिए गए। ऐसे में प्रजा परिषद के पदाधिकारियों को यह महसूस हो गया कि चुनावों का संचालन पूरी तरह से सत्ता दल नेशनल कांफ्रेस कर रहा है। इस पर प्रजा परिषद ने चुनावों का बहिष्कार करने का मन बना लिया।[19]

इस प्रकार एक बार फिर जम्मू-कश्मीर पर कथित लोकतांत्रिक तरीके से शेख अब्दुल्ला का कब्जा हो गया था। विरोध में, प्रजा परिषद ने सड़कों पर उतर कर विरोध प्रदर्शन किया। इस दौरान शेष भारत के साथ राज्य के 'पूर्ण एकीकरण' की मांग और अपने कार्यकारी प्रमुख को 'प्रधानमंत्री' कहने पर आपत्ति जताई गई।[20] 15 जनवरी 1952 को छात्रों ने हाथों में भारतीय ध्वज लेकर राज्य ध्वज फहराने का विरोध किया तो स्थितियां बिगड़ती चली गईं। शेख अब्दुल्ला ने सेना को बुलाकर जम्मू-कश्मीर में कर्फ्यू लगा दिया। कश्मीर मामलों के तत्कालीन प्रभारी और भारतीय कैबिनेट मंत्री गोपालस्वामी आयंगर ने हस्तक्षेप का प्रयास किया तो शेख अब्दुल्ला विरोध में आ गए।[21] मामला बिगड़ता देख प्रेमनाथ डोगरा फिर से अप्रैल 1952 में दिल्ली स्थित नेताओं से मिलने आए। उन्होंने जनसंघ के द्वारा दिल्ली में आयोजित सार्वजनिक सभा को भी संबोधित किया।[22]

11 मई, 1952 को आखिरकार वह शुभ घड़ी आ ही गई, जब जम्मू कश्मीर को भारत मां के आंचल से विभाजित होने से बचाने के लिए प्रयासरत दो बड़े दिग्गजों के बीच वार्ता हुई। डा. मुखर्जी ने प्रेमनाथ डोगरा को प्रधानमंत्री नेहरू से मुलाकात करके सभी तथ्य पेश करने की सलाह दी।[23] इस पर 19 मई को प्रेमनाथ डोगरा ने प्रधानमंत्री नेहरू से पत्र के माध्यम से मुलाकात के लिए अनुरोध किया। 20 मई को ही प्रधानमंत्री के निजी सचिव ने जवाब दिया कि ''खेद है कि वे मुलाकात के लिए आपको समय नहीं दे सकते हैं। प्रधानमंत्री जी को पिछले साल हुई आपसे हुई वार्ता याद है। उनका मानना है कि आपने उस वार्ता को गलत तरीके से प्रभावित किया। इस कारण प्रधानमंत्री जी अब उस अनुभव को दोहराने की इच्छा नहीं रखते हैं।''[24] प्रधानमंत्री नेहरू की तरफ से इस प्रकार का

जवाब मिलने पर प्रेमनाथ डोगरा और डा. मुखर्जी सहित जनसंघ के अन्य नेता भी अवाक रह गए। 14 जून को दिल्ली में जनसंघ की राष्ट्रीय कार्य समिति की बैठक में निर्णय लिया गया कि 29 जून को देश भर में जम्मू-कश्मीर दिवस मनाया जाएगा। 26 जून को जन जागरण के लिए संसद के सामने प्रदर्शन किया गया। उसी दिन डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने संसद में भी जम्म-कश्मीर के हालातों को उठाया।[25] 29 जून, 1952 को देश भर में जम्मू-कश्मीर दिवस मनाया गया। उर्दू समाचार पत्र 'मिलाप' के अनुसार देश भर में साढ़े तीन हजार से अधिक जनसभाएं हुईं, जिनमें से दो हजार जनसभाएं अकेले राजस्थान में हुईं थीं।[26] दिल्ली में भी जनसंघ के द्वारा 30 जून से 6 जुलाई तक कश्मीर सप्ताह मनाकर कश्मीर को भारत का अभिन्न अंग बनाने की पुरजोर मांग की गई, लेकिन केंद्र सरकार के कानों पर जूं ना रेंगते देख प्रजा परिषद ने जम्मू में 9 और 10 अगस्त को कार्यकर्ता सम्मेलन बुलाने का निर्णय लिया। सम्मेलन में प्रतिभाग करने के लिए श्यामा प्रसाद मुखर्जी भी कई बड़े पत्रकारों और दिल्ली के नेताओं के साथ जम्मू के लिए रवाना हुए। 8 अगस्त को पठानकोट पहुंचने पर प्रेमनाथ डोगरा और, ठाकुर धनवंतरी सिंह जैसे नेताओं ने डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी का स्वागत किया। इस दौरान जम्मू के रास्ते में उन्होंने कई जनसभाएं की और जम्मू पहुंचने पर 'एक देश में दो विधान, एक देश में दो निशान, एक देश में दो प्रधान नहीं चलेंगे, नहीं चलेंगे' नारा दिया।[27]

9 अगस्त को युवराज कर्ण सिंह के आमंत्रण पर डा. मुखर्जी ने उनसे भी वार्ता की।[28] इसी कड़ी में 10 अगस्त को शेख अब्दुल्ला और बख्शी गुलाम मोहम्मद से हुई वार्ता का कोई परिणाम नहीं निकला। लिहाजा, 23 नवंबर से जम्मू प्रजा परिषद ने जनसंघ के सहयोग से जम्मू में शांतिपूर्ण सत्याग्रह प्रारंभ कर दिया। उधर, जनसंघ और नेशनल डेमोक्रेटिक संघ के घटक दलों ने 14 दिसंबर को एक बार फिर दिल्ली में कश्मीर दिवस मनाया। दो सप्ताह बाद ही जनसंघ का पहला वार्षिक अधिवेशन कानपुर में हुआ जिसमें डा. मुखर्जी ने कहा कि मैं श्री नेहरू तथा शेख अब्दुल्ला से प्रार्थना करूंगा कि वे झूठे मान की चिंता न करते हुए जम्मू के राष्ट्रभक्त नागरिकों पर अत्याचार बंद करवा दें। शेख के कश्मीर को अलग राज्य बनाने के षडयंत्र की अनदेखी किया जाना राष्ट्र की अखण्डता के लिए घातक सिद्व होगा। जनसंघ इस स्थिति में मूकदर्शक नहीं बना रहेगा।[29] इस सम्मेलन में निर्णय लिया गया कि एक सात सदस्यीय दल जम्मू-कश्मीर जाकर इस बात की जांच करेगा कि प्रजा परिषद के आंदोलन को स्थगित किया जाए या फिर जारी रखा जाए। लेकिन कश्मीर सरकार ने प्रतिनिधिमंडल को राज्य में परमिट देने से इंकार कर दिया।[30] उधर, जम्मू-कश्मीर में प्रजा परिषद का आंदोलन अपने चरम पर था। देश भर के लोग समाचारों के माध्यम से इस सत्याग्रही आंदोलन पर नजर गड़ाए हुए थे। ऐसे में प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने केंद्रीय सूचना एवं प्रसारण मंत्री, बीवी केसरकर को 4 जनवरी को पत्र लिखकर ऑल इंडिया रेडियो से प्रसारित होने वाले समाचारों के सम्प्रेषण में इस सत्याग्रही आंदोलन को प्रोत्साहित नहीं करने की सलाह दी।[31] जम्मू-कश्मीर में बिगड़ते हालातों के बीच पत्राचार से समस्या का समाधान नहीं होने पर डा. मुखर्जी ने जवाहर लाल नेहरू से 6 फरवरी और फिर 14 फरवरी को मिलने का समय मांगा, लेकिन यह वार्ता नहीं हो सकी। इस पर 26 फरवरी को दिल्ली में जनसंघ, हिन्दू महासभा और अकाली दल के कार्यकर्ताओं की संयुक्त बैठक में 5 मार्च, 1953 को देशभर में जम्मू-कश्मीर दिवस के रूप में मनाने का निर्णय लिया गया।[32] तय तिथि को इसमें शामिल होने के लिए देश भर से लोग दिल्ली पहुंचे। डा. मुखर्जी, डा. एन. सी. चटर्जी, मौलिचन्द्र शर्मा, स्वामी करपात्री महाराज आदि ने इसमें प्रतिभाग किया। जनसंघ के मौलिचंद्र शर्मा ने अगले दिन शाम को जम्मू पुलिस की गोलियों का शिकार हुए सत्याग्रहियों के अस्थि कलश को लेकर दिल्ली में यात्रा निकाले जाने की बात कही।[33] सरकार द्वारा धारा 144 लागू किए जाने के बाद भी 6 मार्च को दिल्ली में सभा होने पर डा. मुखर्जी, एन. सी. चटर्जी और नंद लाल शर्मा समेत 23 लोगों को गिरफ्तार कर लिया गया।[34] डा. मुखर्जी और उनके दो साथी सांसदों ने लोकसभा अध्यक्ष को पत्र के माध्यम से सूचित किया कि 'हम तीनों लोकसभा के वर्तमान सत्र में शामिल नहीं हो सकते हैं, क्योंकि हमें भारतीय संविधान की धारा 22 के अनिवार्य प्रावधानों का हनन करते हुए अवैध तरीके से जेल में डाला गया है। जेल अधिकारियों की तरफ से दिए गए समाचार पत्रों के माध्यम से हमें पता चला है कि हमें न्यायधीश ने चार दिन की हिरासत में जेल भेजा है। ये खबरें पूरी तरह बेबुनियाद हैं, क्योंकि हमें गिरफ्तार किए जाने के बाद किसी भी न्यायधीश के समक्ष पेश नहीं किया गया था और न ही हमारी मौजूदगी में किसी भी न्यायाधीश ने ऐसा आदेश दिया है।'[35] आखिरकार 10 मार्च को उच्चतम न्यायालय के समक्ष बंदी प्रत्यक्षीकरण आवेदन किया गया जिस पर 12 मार्च को न्यायालय के आदेश पर निजी

बॉण्ड पर जमानत दे दी गई। इस बीच सत्याग्रहियों के दिल्ली आने का क्रम जारी रहा। कई बड़े नेताओं को पुलिस ने गिरफ्तार किया। गिरफ्तारियों के विरोध में दिल्ली के चांदनी चौक में हुई सभा में लगभग दो हजार कार्यकर्ता शामिल हुए। इस दौरान 'जम्मू चलो' का नारा दिया। इसके साथ ही 'हमारा नारा जम्मू चलो-जम्मू चलो, जम्मू के शहीदों को भूलो मत-भूलो मत' जैसे नारे भी दिए गए।[36]

कोई हल नहीं निकलता देख डा. मुखर्जी ने घोषणा की कि वे स्वयं बिना परमिट के लिए जम्मू-कश्मीर जाएंगे।[37] वह 8 मई की सुबह 6 बजे दिल्ली से रवाना हुए। अपने नेता को विदा करने के लिए रेलवे स्टेशन पर लोगों का हूजुम उमड़ा था। इस दौरान 'हिन्द केसरी डा. मुखर्जी जिंदाबाद', 'नेहरूशाही नहीं चलेगी' और 'कश्मीर भारत का अभिन्न अंग' है, जैसे नारे लगाए गए।[38] यात्रा में उन्होंने जनता का भरपूर अभिनंदन स्वीकार किया। करनाल में हुई सभा में उन्होंने कहा, ''मैं प्रजा परिषद को आंदोलन वापस लेने की सलाह दे सकता हूं, बशर्ते शेख अब्दुल्ला एक सच्चे भारतीय मुसलमान बनने का फैसला कर लें। मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि, जब चार करोड़ मुसलमान भारतीय संविधान में विश्वास करते हुए भारत में रह सकते हैं, तो शेख अब्दुल्ला को क्या समस्या है?''[39] 11 मई को वह पठानकोट पहुंचे। 12 मई, 1953 के अंक में समाचार पत्र 'मिलाप' ने संभावना जताई थी कि पंजाब सरकार जम्मू में प्रवेश से पहले ही डा. मुखर्जी को गिरफ्तार कर लेगी, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। गुरदासपुर में पुलिस अधिकारियों ने डा. मुखर्जी को बताया कि भारत सरकार से उन्हें जम्मू के लिए आगे बढ़ने से न रोकने के निर्देश मिले हैं।[40] डा. मुखर्जी के साथ बड़ी संख्या में कार्यकर्ता जम्मू जाना चाहते थे, लेकिन उन्होंने गुरूदत्त वैद्य और अपने निजी सचिव टेकचंद को ही अपने साथ ले जाने की बात कही।[41] प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू इस मामले पर पूरी तरह से नजर गड़ाए हुए थे। उन्होंने पंजाब के मुख्यमंत्री सच्चर को पत्र भेजकर इस मामले की पूरी रिपोर्ट मांगी थी। पत्र में स्पष्ट लिखा था कि मुझे यह जानना है कि डा. मुखर्जी ने क्या कहा और उसका क्या प्रभाव पड़ा।[42] आखिरकार, वह घड़ी आ गई, जब डॉ श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने अपने सात साथियों के साथ 11 मई, 1953 ईस्वी की शाम 5 बजे रावी नदी को पार करके जम्मू-कश्मीर में प्रवेश किया।[43] इस पर डा. मुखर्जी, टेकचन्द और गुरूदत्त वैद्य को गिरफ्तार कर लिया गया। डा. मुखर्जी और उनके साथियों को राज्य में बिना परमिट के प्रवेश करने के नाम पर गिरफ्तार किया गया था, जबकि परमिट व्यवस्था राज्य सरकार के बजाय केंद्रीय रक्षा मंत्रालय ने लागू की थी, लेकिन केंद्र सरकार ने जम्मू-कश्मीर में उनके जाने से रोकने के कोई प्रयास नहीं किए थे। दैनिक समाचार पत्र 'अमृत बाजार पत्रिका' ने 13 मई, 1953 ईस्वी के अपने अंग्रेजी संस्करण में डा. मुखर्जी की गिरफ्तारी में नेहरू सरकार द्वारा सहायता करने का आरोप लगाया था। उनकी गिरफ्तारी के समय पुलिस अधिकारियों के साथ नेशनल कांफ्रेंस के सचिव मौलाना मसूदी भी मौजूद थे। डा. मुखर्जी को पहले श्रीनगर के केंद्रीय कारावास में रखा गया, लेकिन बाद में श्रीनगर के पास निशात बाग में नजरबंद कर दिया गया। विरोध में बड़े पैमाने पर लोगों ने गिरफ्तारियँ दीं। इस बीच 24 मई, 1953 ईस्वी को प्रधानमंत्री नेहरू ने श्रीनगर का दौरा किया और 28 मई, को वह एक महीने के लिए विभिन्न देशों के दौरे पर चले गए।[44]

नजरबंदी के दौरान ही 23 जून, 1953 को मां भारती का ये लाल रहस्यमय परिस्थितियों में चिर निद्रा में लीन हो गया। उनके निधन के बाद शेख अब्दुला ने कहा, 'सरकार पण्डित नेहरू की भारत वापसी के बाद डा. मुखर्जी को दिल्ली भेजने की सोच रही थी।'[45] वास्तव में डा. मुखर्जी की मौत स्वतंत्र भारत की पहली राजनीतिक हत्या थी। उनकी संदिग्ध परिस्थितियों में मौत होने से देश में एक बहस छिड़ गई। प्रजा परिषद के आंदोलन के कारण ही जम्मू-कश्मीर जाने के लिए परमिट की व्यवस्था समाप्त कर दी गई। राज्य की संविधान सभा ने रियासत के भारत में विलय का अनुमोदन किया। यहाँ निर्वाचित प्रधान का पद समाप्त करके अन्य राज्यों की तर्ज पर ही राज्यपाल का पद स्थापित किया गया और राज्य के प्रधानमंत्री को मुख्यमंत्री कहा जाने लगा। अब जम्मू-कश्मीर उच्चतम न्यायालय और चुनाव आयोग के अधिकार क्षेत्र में आ गया था। इस प्रकार जम्मू-कश्मीर राज्य के लोकतंत्रीकरण और संघीय संवैधानिक व्यवस्था में एकीकरण के लिए चलाया गया प्रजा परिषद का आन्दोलन काफी हद तक सफल रहा। प्रधानमंत्री नेहरू ने इस त्रासदी के मद्देनजर प्रजा परिषद से आंदोलन वापस लेने की अपील की। इस पर प्रजा परिषद ने 7 जुलाई, 1953 ईस्वी को अपने सविनय अवज्ञा आंदोलन को समाप्त कर दिया, लेकिन 30 दिसंबर 1963 ईस्वी तक प्रजा परिषद का जनसंघ में विलय होने तक एक संविधान और एक ध्वज के लिए आंदोलन जारी रहा। बाद में भारतीय जनसंघ और फिर उसके नए स्वरूप भारतीय जनता पार्टी ने आंदोलन को जीवंत रखा। आखिरकार,

अगस्त, 2019 में देश के वर्तमान प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी और उनकी कैबिनेट ने डा. मुखर्जी के अधूरे स्वप्न को सार्थक रूप प्रदान किया। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने राष्ट्र की एकता और अखंडता में बाधक अनुच्छेद 370 और 35 ए को समाप्त कर राज्य के अलग संविधान और ध्वज को समाप्त कर दिया।

संदर्भ सूची

1. चतुर्वेदी, ए.के., आधुनिक भारत का इतिहास (1757-1950), ISBN, 9789395022576, आगरा, पृ. 203
2. मेहरोत्रा, एसआर, भारत की स्वतंत्रता और विभाजन की ओर, विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2019, पेज 247
3. सहगल, नरेंद्र, घाटी के स्वर, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, पृ. 101
4. गोयल, शिवकुमार, डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी : जीवन यात्रा, हिन्दी साहित्य सदन, नई दिल्ली, 2017 पृ. 67
5. प्रधानमंत्री संग्रहालय एवं पुस्तकालय सोसायटी, डा. एसपी मुखर्जी पेपर्स, इंटालमेंट VIII
6. शर्मा, हरीशदत्त, राष्ट्रीय जीवनी माला : डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी, डायमंड बुक्स, नई दिल्ली, 2017, पृ. 64
7. मधोक, बलराज : कश्मीर - जीत में हार, हिन्दी साहित्य सदन, नई दिल्ली, 2011, पृ. 80-81
8. खंडेलवाल, देवेश, एकात्म भारत का संकल्प : डा. मुखर्जी और जम्मू कश्मीर (1946-1953), प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018, पृ. 27
9. गोयल, शिवकुमार, वही, पृ. 69
10. जॅफ्रेलॉट, क्रिस्टोफ, रिलीजन, कास्ट एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया, प्राइमस बुक्स, आईएसबीएन 9781849041386, नई दिल्ली, 2011, पृ. 288
11. जॅफ्रेलॉट, क्रिस्टोफ, द हिन्दू नेशनलिस्ट मूवमेंट एंड इंडियन पॉलिटिक्स, आईएसबीएन 9781850653011, पेन्गवेइन बुक्स, नई दिल्ली, 1996, पृ. 149-150
12. सहगल, नरेन्द्र, जम्मू एंड कश्मीर : ए स्टेट इन ट्रब्लेन्स, सुरूचि पब्लिकशन, आईएसबीएन 9788189622831, नई दिल्ली, 2011, पृ. 119-120
13. खंडेलवाल, देवेश, वही , पृ. 27
14. गोयल, शिवकुमार, वही, पृ. 69-70
15. मधोक, बलराज, वही, पृ. 101
16. जॅफ्रेलॉट, क्रिस्टोफ, हिन्दू नेशनलिज्म- ए रीडर, प्रिसंटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 2007, पृ. 158-159
17. खंडेलवाल, देवेश, वही, पृ. 26
18. दास गुप्ता, ज्योति भूषण, जम्मू एंड कश्मीर, आईएसबीएन 9789401184991, मार्टिन्स निजॉफ, द हेग, 1968, पृ. 195-196
19. बोस, सुमन्त्रा, कश्मीर रूट्स ऑफ कनफ्लिक्ट पाथ्स टू पीस, हावर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, इंग्लैण्ड, 2003, पृ. 55-57
20. बोस, सुमन्त्रा, वही, पृ. 57
21. दास गुप्ता, ज्योति भूषण, वही, पृ. 196
22. ऑर्गेनाइजर, 28 अप्रैल, 1952, दिल्ली
23. मधोक, बलराज, डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी : ए बायोग्रॉफी, दीपक प्रकाशन, नई दिल्ली, 1954, पृ. 140
24. प्रधानमंत्री संग्रहालय एवं पुस्तकालय सोसायटी, जवाहरलाल नेहरू पेपर्स (एस जी), 129
25. संसदीय कार्यवाही (अंग्रेजी), सामान्य आय-व्यय अनुदानों की मांगें, खंड 2, भाग प्प, 26 जून, 1952, पृ. 2570-2583
26. प्रधानमंत्री संग्रहालय एवं पुस्तकालय सोसायटी, जवाहरलाल नेहरू पेपर्स (एस जी), 137. II
27. हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड, 9 अगस्त, दिल्ली
28. प्रधानमंत्री संग्रहालय एवं पुस्तकालय सोसायटी, डा. एस. पी. मुखर्जी पेपर्स, इंस्टॉलमेंट, II-IV
29. गोयल, शिवकुमार, वही, पृ. 86-87
30. वही
31. प्रधानमंत्री संग्रहालय एवं पुस्तकालय सोसायटी, जवाहरलाल नेहरू पेपर्स (एस जी), 159. I
32. भारत का राष्ट्रीय अभिलेखागार, मिनिस्ट्री ऑफ स्टेट्स, 8, (20) K/53
33. वही
34. वही
35. संसदीय कार्यवाही (अंग्रेजी), अरेस्ट ऑफ थ्री मेंबर्स, 9 मार्च, 1953
36. प्रधानमंत्री संग्रहालय एवं पुस्तकालय सोसायटी, जवाहरलाल नेहरू पेपर्स (एस जी), 179-II
37. गोयल, शिवकुमार, वही, पेज 91
38. प्रधानमंत्री संग्रहालय एवं पुस्तकालय सोसायटी, जवाहरलाल नेहरू पेपर्स (एस जी), 178-II
39. अमृत बाजार पत्रिका, 11 मई, 1953
40. द बॉम्बे क्रॉनिकल, 12 मई, 1953
41. मिलाप, 12 मई, 1953
42. प्रधानमंत्री संग्रहालय एवं पुस्तकालय सोसायटी, जवाहरलाल नेहरू पेपर्स (एस जी), 178-II
43. भारत का राष्ट्रीय अभिलेखागार, मिनिस्ट्री ऑफ स्टेट्स, 1, (5) Kè53
44. प्रधानमंत्री संग्रहालय एवं पुस्तकालय सोसायटी, जवाहरलाल नेहरू पेपर्स (एस जी), 182
45. मुखर्जी, उमा प्रसाद, श्यामा प्रसाद मुखर्जी, हिज डेथ इन डिटेंशन : ए केस ऑफ इन्क्वायरी, कलकत्ता : ए मुखर्जी एंड कंपनी, 1953, पेज 5

डा. राजेश गर्ग
डी.ए.वी. (पी.जी.) कॉलेज, बुलंदशहर
कुलदीप शर्मा
शोधार्थी,
डी.ए.वी. (पी.जी.) कॉलेज
बुलंदशहर

टेलीविजन चैनलों पर प्रसारित खबरों का समाज पर प्रभाव

–डा. रश्मि गौतम

सारांश

मानवीय विकास के साथ ही सूचनाओं के आदान-प्रदान के साधनों का विकास संभव हो सका। वर्तमान में सूचनाओं के सम्प्रेषण के अनेक साधन उपलब्ध हैं। संचारविद् मार्शल मैक्लुहान ने संदेश एवं माध्यम के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है, ''माध्यम ही संदेश है।'' इस बात से स्पष्ट हो रहा है कि माध्यम का महत्व किसी भी संदेश के सम्प्रेषणीयता का अस्तित्व प्रदान करता है। संदेश कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, परन्तु माध्यम का चुनाव उस संदेश की महत्ता पर निर्भर करता है। समाज के लिए सूचना उतनी ही आवश्यक है जितनी कि हवा और पानी। समाचारों के प्रस्तुतीकरण में टेलीविजन चैनलों पर होड़-सी लग जाती है। खबरों का बाजारीकरण करते समय समाचार प्रस्तोता यह भूल जाते हैं कि दर्शकों की मनोदशा पर किस प्रकार प्रभाव पड़ रहा है? दर्शकों के पास रिमोट कंट्रोल की स्थिति क्या है? अधिकांश टेलीविजन चैनल अधिक तेज खबरिया चैनल के पायेदान को लांघना चाहते हैं। भारतीय ब्रॉडकास्टिंग दर्शक शोध काउंसिल की रिपोर्ट नं. 2017 के आंकड़ों के अनुसार 183 मिलियन घरों में दर्शकों द्वारा टेलीविजन देखा जा रहा है। इसी के तहत बार्क की सर्वेक्षण रिपोर्ट 2017 के आंकड़ों के अनुसार 05 प्रमुख समाचार चैनलों की वरीयता क्रम में सर्वाधिक आजतक 24 प्रतिशत, जीण न्यूज 20 प्रतिशत लोग देखते हैं। टेलीविजन चैनल सबसे तेज चैनल की होड़ में समाचारों के अस्तित्व को भूल जाते हैं और दर्शकों को चैनल बदलने पर विवश कर देते हैं। दर्शक समाचारों के मध्य तमाम प्रकार के सवाल-जबाव में उलझ कर रह जाता है।

इस शोधपत्र के माध्यम से यह जानने की कोशिश की जायेगी कि समाचार चैनलों की विषयवस्तु किस प्रकार दर्शकों को प्रभावित करती है? समाचारों की प्रस्तुतीकरण के तरीके किस प्रकार से दर्शकों को बांधे रखते हैं? खबरों के मध्य दिखाये गये विज्ञापनों का दर्शकों पर प्रभाव पड़ता है या नहीं। इस शोधपत्र में उक्त तमाम प्रश्नों के उत्तर खोजने की कोशिश की जायेगी। ऐसी स्थिति में टीवी चैनलों पर प्रसारित खबरों में कितनी वस्तुपरकता होती है? यह भी शोध का विषय है।

प्रस्तावना

टेलीविजन चैनलों पर प्रसारित खबरों की विषयवस्तु में वैश्विक प्रभाव देखने को मिल रहा है। मौजूदा स्थितियों के कारण टेलीविजन अपने समाचारों के कलेवर में बहुत परिवर्तन कर रहा है। समाचारों की विषयवस्तु, प्रस्तुतिकरण, ग्राफिक्स एवं रंगरूपों में लगातार परिवर्तन आ रहा है। वर्तमान में टेलीविजन समाचारों के दर्शकों के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आ रहा है जिससे उनकी रुचि में परिवर्तन, नजरिये में परिवर्तन, तर्कशक्ति का विकास, चैनलों को देखने की स्वतंत्रता, रिमोट कंट्रोल का दर्शकों के पास, खबरों एवं चैनलों के विकल्प आदि देखने को मिल रहा है। टेलीविजन पत्रकारिता के महत्व को पी. सी. जोशी कमेटी की रिपोर्ट में उल्लेख किया गया है, ''अगर किसी देश का परिचय पाना हो तो उसका टेलीविजन देखना चाहिए। किसी भी देश का टेलीविजन उस राष्ट्र के व्यक्तित्व का दर्पण होता है।'' आजकल टेलीविजन चैनल कम समय में अधिक से अधिक खबरों को दिखाने की प्रवृत्ति ने दर्शकों में कम समय में अधिक चैनल देखने की आदत को जन्म दिया है।

आजकल दर्शकों के पास समय का अभाव हो रहा है, टेलीविजन चैनलों के कम समय में अधिक से अधिक खबरों को दिखाना चाहते हैं। अधिकांश टीवी चैनल प्रतिस्पर्द्धा की होड़ में विषयवस्तु की गुणवत्ता पर ध्यान नहीं दे रहे हैं। डा. संजीव भानावत ने अपनी पुस्तक 'इलेक्ट्रॉनिक मीडिया' (2009, पृष्ठ सं.-77) पर उल्लेख किया है, ''आई. एम. आर. वी. के आंकड़ों के मुताबिक 1996 में आजतक के 2420 लाख दर्शक थे और 1997 इसके दर्शकों की संख्या बढ़कर 27.60 लाख हो गई। यह बढ़ोत्तरी 14 फीसदी से ज्यादा रही। 1998 में 'आजतक' के करीब साढ़े पांच लाख दर्शक और बढ़ गए और कुल दर्शक संख्या का आंकड़ा 33.10 लाख तक पहुंच गया। यह बढ़ोत्तरी लगभग 20 फीसदी की रही।'' (डा. एस. श्रीकान्त, 2009, पृ. सं. -45) ''निजी चैनलों की बाढ़ से दूरदर्शन की प्रतिस्पर्द्धा के परिणामस्वरूप प्रसारित होने वाली सामग्री का स्तर दोनों में निरंतर गिरता जा रहा है। यद्यपि कौशल एवं तकनीकी गुणवत्ता में निरन्तर सुधार होते जा रहा है। विदेशी चैनल गुणवत्ता में भले हों किन्तु विषय-वस्तु के मामले में वे भारतीय दृष्टिकोण के अनुरूप प्रसारण नहीं करते। अतएव भविष्य में अनियंत्रित विदेशी चैनलों के प्रसारण से भारत में अनेकों प्रकार की समस्याएं खड़ी होने की संभावना को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने बिना लाइसेन्स विदेशी चैनलों पर प्रतिबंध लगाने के लिए डाउनलिंकिंग नीति बनाई है। यह नीति नवम्बर, 2005 में जारी हुई।''

टेजीविजन चैनल

टेलीविजन चैनलों का वर्गीकरण, विषयवस्तु एवं श्रोताओं के आधार पर किया जा सकता है। जैसे राष्ट्रीय चैनल, प्रादेशिक चैनल, क्षेत्रीय चैनल इत्यादि। अगर क्षेत्रीय टेलीविजन चैनलों की बात की जाये तो क्षेत्रीय भाषाओं में लोगों की समस्याओं एवं उनके निवारण विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम करने की कोशिश की जाती है। राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक स्तर के समाचारों को प्रस्तुत किया जाता है जिससे टेलीविजन देखने वाले दर्शकों की समझ एवं सोच को प्रभावित कर सके। टेलीविजन पर प्रसारित खबरों से दर्शकों को सूचनाओं के साथ-साथ जागरूक करने का कार्य किया जाता है। किसी क्षेत्र से संबंधी चैनल को क्षेत्रीय चैनलों के अन्तर्गत रखा जाता है–जैसे उड़िया, असमिया आदि। सूर्यकान्त दीक्षित ने अपनी पुस्तक 'संचार भाषा हिन्दी' में निजी चैनलों की वास्तविकता को इस प्रकार से उल्लेख किया है, ''आज इन चैनलों की समाचार सुचिता बहुत संदिग्ध हो गयी है। इन्होंने समाचारों के दिनभर के चैनल्स तो शुरू कर दिये हैं, किन्तु उतने समाचार ये जुटा नहीं पाते हैं। एक ही समाचार की दर्जनों बार आवृत्ति देख कर दर्शक ऊब जाता है। आवश्यक समाचार को अवश्य दोहराया जाना चाहिए, किन्तु कुछ नये चित्र जोड़ कर समाचार चैनलों में उपयुक्त समाचार के चयन का भी मानक नहीं बन पाया है। प्रायः गौण अर्थात् अत्यन्त अनुपयोगी समाचार प्रसारित होते दिखते हैं।''

टीवी समाचार

टेलीविजन पर प्रसारित समाचारों का दर्शकों के जीवन में महत्वपूर्ण योगदान होता है। टीवी समाचार सूचनाओं के प्रमुख स्रोत होते हैं। देश-दुनिया में घटित होने वाली घटनाओं की जानकारी दर्शकों को समाचारों के माध्यम से ही प्राप्त होती है और समाचार दर्शकों के विकास में सहयोगी सिद्ध होते हैं। जे. अशोक एवं एस. महाराज ने अपनी पुस्तक 'टेलीविजन कार्यक्रम निर्माण प्रक्रिया' में समाचारों के महत्व को इस प्रकार से स्पष्ट किया है, ''समाचार एवं करेंट अफेयर्स समाचारों के अतिरिक्त समसामयिक विषयों पर आधारित कार्यक्रम, समाचार सार, दैनिक घटनाओं पर आधारित कार्यक्रम, विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक व ऐसी घटनाओं पर आधारित कार्यक्रम, जिनका प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हमारे जीवन पर पड़ता है।''

(जे. अशोक एवं एस. महाराज, 2008, पृ. सं.-14)। दूरदर्शन पर समाचारों की प्रस्तुति एक आकर्षक प्रक्रिया है किन्तु इसके पीछे निर्माण की प्रक्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण है। समाचारों से लेकर प्रस्तुति तक के सभी पक्ष प्रोडक्शन-प्रारूप में सम्मिलित हो जाते हैं। दूरदर्शन द्वारा प्रस्तुत समाचारों में केवल समाचार वाचक की भूमिका ही नहीं होती बल्कि उन दृश्यों की भी होती है जो समाचार के साथ-साथ दिखाए जाते हैं। सोनी एस. एवं तिवारी जी. आर. ने 'इलेक्टॉनिक मीडियाः विविध संदर्भ' (2010, पृ.सं. 67) दूरदर्शन समाचारों के क्षेत्र में 1980 के बाद व्यापक तकनीकी परिवर्तन हुए हैं। कृत्रिम उपग्रहों के माध्यम से प्रसारण की स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन आए हैं। संचार क्रान्ति के इस अध्याय से विश्व की भौगोलिक दूरियों को पाटने का कार्य हुआ है। साथ ही डिजिटल प्रसारण ने प्रसारणों की गुणवत्ता के स्तर को प्रभावित किया है। सुधीश सोनी एवं गिरीश रंजन तिवारी, 'इलेक्टॉनिक मीडियाः विविध संदर्भ' (2010, पृ. सं. 68), बाईकिंग बुक्स, शान्ति नगर, जयपुर।'' दूरदर्शन पर अब तो 3 नवम्बर, 2003 से एक न्यूज चैनल ही अलग से 'डीडी न्यूज' नाम से कार्यरत है, जहां निरन्तर समाचार व समाचार विचार प्रसारित किए जाते हैं। इसके अलावा राष्ट्रीय प्रसारण के तहत डीडी नेशनल पर भी समाचारों का प्रसारण होता है। अब समाचारों के साथ ही सुबह के समाचारों के बाद समाचार-पत्रों को भी उनके मुख्य समाचारों के साथ दिखाया जाता है।'' डा. संजीव भानावत, 'इलेक्ट्रॉनिक मीडिया' पृष्ठ सं. 218, 2009, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

पत्रकारिता को मुख्यतः समाचारों व समसामयिक घटनाक्रम से सम्बद्ध कार्यक्रमों से जोड़ा जाता है। टीवी समाचार निःसन्देह सर्वाधिक चुनौतीपूर्ण दायित्व है। चैनलों की आज की होड़ में हर चैनल चाहता है कि सबसे पहले समाचार दर्शकों तक पहुंचाने का श्रेय मिले। सबसे तेज, सबसे पहले, घटना स्थल से सीधे ये आकर्षण टीवी चैनल की लोकप्रियता को बढ़ाते हैं। समाचारों की तुलना में अन्य कार्यक्रम समय सीमा में बंधे नहीं होते। समाचारों का तो महत्व ही इसी में है कि उसे तुरन्त प्रसारित किया जा सके। (भानावत एस. 2009 'इलेक्ट्रॉनिक मीडिया' पृष्ठ सं. 218)

संदर्भ साहित्य की समीक्षा

टेलीविजन श्रव्य-दृश्य माध्यम होने के साथ-साथ जीवन्त प्रसारण भी होता है। टेलीविजन चैनलों पर प्रसारित खबरों का दर्शकों पर निश्चित प्रभाव पड़ता है क्योंकि सूचनाओं के इस महासागर में टेलीविजन चैनलों पर प्रसारित खबरों का विश्वसनीयता के कारण अपेक्षाकृत महत्व है। पी. सी. जोशी कमेटी की रिपोर्ट में कहा गया है, ''अगर किसी राष्ट्र का परिचय पाना हो तो उस राष्ट्र का टेलीविजन देखना चाहिए। वह उस राष्ट्र का परिचय देता है।'' टेलीविजन के समाचारों के माध्यम से देश-दुनिया की जानकारी दर्शकों तक पहचाने का कार्य करते हैं इसलिए टेलीविजन को डाकिया के रूप में भी जाना जाता है। (एस. श्रीकान्त, 2009, पृ. सं. 71)। योजना आयोग के सदस्य डा. आबिद हुसैन ने कहा था, ''टेलीविजन के विस्तार की दिशा में आज सबसे बड़ी चुनौती उसकी अन्तर्वस्तु या सामग्री (सॉफ्टवेयर) की है। इस सामग्री का निर्माण ऐसे रचनात्मक तरीके से किया जाना चाहिए कि वह सृजनात्मक तो हो ही साथ ही दूरदर्शन के अपने उद्देश्यों और लक्ष्यों की प्राप्ति में भी उसकी मदद कर सकें।'' (एस. श्रीकान्त, 2009, पृ. सं. 45) देश-विदेश में चैनलों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। चैनलों द्वारा जिस प्रकार की सामग्री अपने दर्शकों को परोसी जा रही है उससे दर्शकों पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ रहा है।

झिंगुरन प्रभु (1998) पृ. सं.-217 ने टेलीविजन समाचारों के महत्व को अपनी पुस्तक, 'टेलीविजन की दुनिया' में इस प्रकार से बयां किया है, ''टेलीविजन त्वरित समाचार सम्प्रेषण का सबसे सरल और प्रभावशाली साधन है। दूरदर्शन समाचार जन-जन में लोकप्रिय है। वस्तुतः दूरदर्शन समाचारों के माध्यम से कहीं भी घटित कोई भी सूचना जिस तत्परता से दूरदर्शन के दर्शक को मिल जाती है, वह किसी और माध्यम से सम्भव नहीं है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस माध्यम से मिलने वाले समाचार अपने आप में परिपूर्ण होते हैं। तात्पर्य यह है कि इस समाचार में सिर्फ समाचार ही नहीं होते बल्कि घटनास्थल की झलक, व्यक्ति का इंटरव्यू या और तमाम विवरण एक साथ मिल जाते हैं। इस तरह से इस माध्यम की विश्वसनीयता भी बनी रहती है।''

मिश्र सीप के अनुसार, ''दूरदर्शन सूचना, शिक्षण और मनोरंजन का प्रमुख साधन बनता गया पर टेलीविजन काफी महंगा माध्यम है। दूरदर्शन की अधिक महंगी उपकरण सामग्री विद्युत की अनिवार्यता के बाद भी दृश्य शक्ति के कारण लोकप्रियता का कारण रही है।''

झिंगुरन प्रभु ने कहा है, ''इस बदलते माहौल में दर्शकों की बदलती रुचियों को देखते हुए यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या दूरदर्शन को अपने कार्यक्रमों के कलेवर में भी परिवर्तन लाना होगा? सुधीश पचौरी ने कहा

है, ''दूरदर्शन एक क्रान्तिकारी भूमिका अदा कर सकता है। टीवी घर में बन्द औरतों तक सूचना देने में सक्षम साबित होता है। वह विकास की विराट सामाजिक प्रक्रिया में औरतों को सचेत कर तथा मर्दों को भी सचेत एवं आधुनिक बनाकर अपना योगदान कर सकता है।''

पाठक, आर. एम ने अपनी पुस्तक 'इलेक्ट्रॉनिक माध्यम रेडियो एवं दूरदर्शन' में टेलीविजन समाचारों के महत्व को इस प्रकार से लिखा है कि समाचार और सामयिक विषय दूरदर्शन कार्यक्रमों के महत्वपूर्ण घटक रहे हैं। राष्ट्रीय और प्रादेशिक स्तर पर समाचारों और सामयिक विषयों में दर्शकों को पर्याप्त तथ्यपूर्ण और प्रामाणिक सूचनाएं उपलब्ध कराने का प्रयास किया गया परन्तु इसी क्षेत्र में दूरदर्शन की सर्वाधिक आलोचना भी हुई। 'फोकस' और 'आजकल' शीर्षक के अन्तर्गत सामयिक विषयों के कार्यक्रम हिन्दी और अंग्रेजी में प्रसारित हुआ। 1989 में लोकसभा चुनावों का प्रस्तुतिकरण दूरदर्शन के इतिहास में मील का पत्थर है। जैसे ही चुनावों के परिणाम आने लगे, दूरदर्शन ने इनसे दर्शकों को अवगत कराना शुरू कर दिया। चौबीस घण्टे में टेलीविजन पर प्रसारण जारी रखा जिसके अन्तर्गत राजनैतिक विश्लेषण और चुनाव संबंधी विशेष प्रसारण प्रसारित किये जाते हैं। इस प्रकार से टेलीविजन द्वारा खबरों की समय-समय पर जानकारी व देश-दुनिया में होने वाली घटनाओं को तुरन्त-तुरन्त लाइव शो में लाखो न्यूज तत्काल प्राप्त है जो समाज को जागरूक करने के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।''

गुप्ता, यू. एस ने अपनी पुस्तक 'इलेक्ट्रॉनिक मीडिया एवं सूचना प्रौद्योगिकी' में लिखा है, ''टेलीविजन पर प्रसारित खबरों से लोगों में जागरूकता व विश्वसनीयता बढ़ती है। जनता की इच्छाशक्ति बढ़ती है। एक के बाद एक घटनाएं समाज को राजनीति को धर्म को हर प्रकार से प्रभावित करती हैं। दूरदर्शन संपूर्ण देश पर अपनी छाप छोड़ रहा है। समाचार कार्यक्रमों में हिंसा के दृश्यों के प्रस्तुतीकरण में कितनी नैतिकता है। टेलीविजन के माध्यम से समाचार की प्रस्तुति अत्यन्त आकर्षित व लुभावनी लगती है। टेलीविजन द्वारा खबरों की समय समय पर जानकारी व देश दुनिया में होने वाली घटनाओं को तुरन्त व तत्काल प्राप्त किया जा सकता है। वह सजीव चित्रों द्वारा दिखाये जाने में आसानी होती है। अतः टेलीविजन के माध्यम से समाचार प्रस्तुतिकरण एक व महत्वपूर्ण कार्य व सहयोग है।''

''भारत में टीवी दर्शकों का प्रामाणिक अध्ययन करने वाले संगठन ए. सी. नेलसन ग्रुप की कंपनी टेलीविजन ऑडियंस मॉनिटरिंग यानि 'टैम' की रिपोर्ट के मुताबिक भारत के आठ प्रमुख शहरों में टीवी समाचार देखने वालों में से आजकल देखने वाले दर्शकों की अधिकतम संख्या 62 लाख 92 हजार रही। इस दौरान जी-न्यूज के दर्शकों की अधिकतम संख्या 14 लाख 90 हजार रही, जबकि स्टार के हिन्दी समाचार बुलेटिन को अधिकतम 1 लाख 78 हजार लोगों ने और अंग्रेजी समाचार बुलेटिन को अधिकतम 13 लाख 20 हजार लोगों ने देखा।'' (भानावत एस., 2009 'इलेक्ट्रॉनिक मीडिया' पृ. सं. 78)। टी. वी. पत्रकारिता में विजुअल अर्थात् दृश्य का विशेष महत्व होता है, यह कहना उचित ही होगा कि दृश्य के अभाव में समाचार का महत्व कम हो जाता है और उसे पूर्णतः विश्वसनीय मानने में कठिनाई होती है। टी.वी. पत्रकारिता में दृश्यों के होने से इसकी खबरों को विश्वसनीय माना जाता है (एस. श्रीकान्त, 2009, पृ. सं. 71)

अध्ययन के उद्देश्य

किसी भी शोध कार्य को किसी न किसी उद्देश्यों के आधार पर किया जाता है। शोध अध्ययन में उद्देश्यों का निर्धारण विशयवस्तु की महत्व को ध्यान में रखकर किया जाता है। शोध विषय का वर्तमान स्थिति को देखते हुए निर्धारित किया जाता है। 'टेलीविजन पर प्रसारित खबरों का समाज पर प्रभाव' अध्ययन में निम्नलिखित उद्देश्यों को ध्यान में रखकर शोध किया गया है।

अध्ययन का महत्व

टेलीविजन श्रव्य-दृश्य माध्यम है। टेलीविजन पर प्रसारित खबरों को दर्शक अधिक देखना पसन्द करते हैं क्योंकि श्रव्य-दृश्य माध्यम होने के साथ ही साथ समसामयिक घटनाओं पर आधारित खबरों को दिखाया जाता है। टेलीविजन पर प्रसारित खबरों के प्रति दर्शकों को विश्वसनीयता संजीव प्रसारण एवं घटना को घटित होते हुए देखना प्रमुख कारण है। टेलीविजन पर प्रसारित खबरों को देखकर दर्शक स्वयं से जुड़ाव महसूस करने लगता है।

अध्ययन की उपकल्पना

किसी भी शोध कार्य को सम्पन्न करने हेतु उसकी उप कल्पना का निर्धारण करना होता है। उप कल्पना प्रत्येक शोध कार्य को दिशा निर्देशित करती है। उप कल्पना शोध कार्य के उद्देश्यों के निर्धारण में सहायक होती है। टेलीविजन पर प्रसारित खबरों का समाज पर प्रभाव पड़ता है क्योंकि यह एक जनमाध्यम है। टेलीविजन एक श्रव्य-दृश्य माध्यम

होने के साथ-साथ सूचनाओं का महत्वपूर्ण माध्यम है।

शोध प्रविधि

किसी भी शोध कार्य को अन्तिम रूप प्रदान करने के लिये शोध प्रविधि का प्रयोग करते हैं। शोध प्रविधि में संबंधित विषय का अध्ययन क्षेत्र का निर्धारण जरूरी होता है। शोध से संबंधित निदर्शन विधि का भी चुनाव करना आवश्यक होता है। 'टेलीविजन पर प्रसारित खबरों का समाज पर प्रभाव' विषय पर अध्ययन हेतु शोध प्रविधि में उद्देश्यपरक निदर्शन विधि से प्राथमिक आंकड़ों को प्रश्नावली के द्वारा प्राप्त किया गया है। द्वितीयक आंकड़ों को पुस्तकों, शोध पत्रों, शोध जर्नल्स एवं वेब पुस्तकों आदि के आधार पर प्राप्त कर सामयिक दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर समीक्षा की गयी है। प्राप्त आंकडों को सामयिक दृष्टिकोण के आधार पर विश्लेषण किया गया है।

निष्कर्ष एवं सुझाव

किसी भी शोध कार्य में प्राप्त निष्कर्ष उसकी उपकल्पना की जाँच में सहायक होने के साथ-साथ उद्देश्यों की प्रतिपूर्ति होती है। अध्ययन से प्राप्त आंकड़ों के आधार पर निष्कर्ष निम्न हैं :

1. शोध से प्राप्त आंकड़ों से स्पष्ट हो रहा है कि टेलीविजन पर प्रसारित खबरों को 70 प्रतिशत दर्शक देखते हैं जबकि 30 प्रतिशत दर्शक कभी-कभी खबरों को देखते हैं। इसका प्रमुख कारण संचार के नवीन साधनों से सूचनाएं प्राप्त करना है।
2. शोध से प्राप्त आंकड़ों से स्पष्ट हो रहा है कि 78 प्रतिशत दर्शक टेलीविजन के माध्यम से खबरों को देखते हैं जबकि 22 दर्शक प्रतिशत कभी-कभी खबरों को देखते हैं। इसका प्रमुख कारण सूचनाएं प्राप्त करने के अन्य साधन उपलब्ध हैं।
3. टेलीविजन पर प्रसारित खबरों को 22 प्रतिशत दर्शक आधे घण्टे से लेकर 1 घण्टे तक टेलीविजन कार्यक्रमों को देखते हैं। 40 प्रतिशत दर्शक 1-2 घण्टे देखते है जबकि 4-5 घण्टे कार्यक्रमों को 20 प्रतिशत और 6 घण्टे से अधिक दर्शक टेलीविजन कार्यक्रमों को देखना अपेक्षाकृत कम पसन्द करते/करती हैं। इसका प्रमुख कारण दर्शक दैनिक आवश्यक कार्यों में व्यस्त रहते हैं।
4. टेलीविजन चैनलों को देखने के प्रति दर्शक बहुत ही सजग है। दर्शकों की रुचि के अनुरूप टेलीविजन चैनलों को देखने के अलग-अलग दृष्टिकोण हो सकते टेलीविजन पर प्रसारित खबरें दर्शकों को विश्वसनीय एवं उपयोगी लगती है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. सोनी एस. एवं तिवारी जी. आर (2010) : इलेक्टॉनिक मीडियाः विविध संदर्भ, पृ. सं. 67, बाईकिंग बुक्स, शान्ति नगर, जयपुर
2. डा. संजीव भानावत (2009) : इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, पृ. 77, 78, 218, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
3. जे. अशोक एवं एस. महाराज (2008) : टेलीविजन कार्यक्रम निर्माण प्रक्रिया, पृ. सं. 14, ग्रन्थ अकादमी दरियागंज, नई दिल्ली।
4. एस. श्रीकांत (2009) : टेलीविजन पत्रकारिता, पृ. 45, 71, पोर्वसा प्रकाशन, भोपाल
5. झिगुरन प्रभु (1998) : टेलीविजन की दुनिया, पृ. 217, भारत बुक सेन्टर, लखनऊ
6. मिश्र सीपी (2003) : मीडिया लेखन सिद्धान्त और व्यवहार, पृ. 28, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली
7. पचौरी सुधीश (1987) : दूरदर्शन की दशा और दिशा, पृ. 133, प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, दिल्ली
8. पाठक राममोहन (1998) : इलेक्ट्रॉनिक माध्यम रेडियो एवं दूरदर्शन, यूनीवर्सिटी पब्लिकेशन्स, कर्मपुरा नई दिल्ली, पृ. 69
9. गुप्ता यू. सी. (2009) : इलेक्ट्रॉनिक मीडिया एवं सूचना प्रौद्योगिकी, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज नई दिल्ली

डा. रश्मि गौतम,
असिस्टेंट प्रोफेसर
पत्रकारिता एवं जनसंचार संस्थान
छत्रपति शाहूजी महाराज विश्वविद्यालय
कानपुर

स्त्री स्वत्व के विशेष संदर्भ में 'अर्थान्तर' उपन्यास–एक अवलोकन

–शमीना टी.
–डा. शोभना कोक्काडन

सारांश

मानव समाज के पौराणिक काल से ही स्त्री अनेक संघर्षों को पार कर अपने स्वत्व की तलाश में भटकती रही है। वैदिक काल में स्त्री को पुरुष के साथ स्थान मिला था। बाद में पुरुष वर्चस्ववादी वा पुरुषसत्तात्मक मानसिकता ने स्त्रियों को मात्र एक भोग वस्तु माना। प्रथम विश्व युद्ध के समय से ही स्त्री की मानवाधिकारों को लेकर चर्चाएं उभरीं। लेकिन स्त्रीवादी एवं समाजवादी आंदोलन के पश्चात आज भी स्त्री अपनी स्वत्व की खोज में है।

प्रस्तावना

आधुनिक महिला उपन्यासकारों में प्रगतिशील एवं सशक्त लेखिका चन्द्रकान्ता का स्थान सर्वश्रेष्ठ एवं उल्लेखनीय है। कश्मीर में जन्मी अहिंदी भाषी हिन्दी साहित्य साधिका के रूप में उनका स्थान अद्वितीय है। उन्होंने समसामयिक परिप्रेक्ष्य में घटित नारी समस्याओं एवं संघर्षों को अवगत कराने हेतु अपनी तूलिका चलाई। चंद्रकान्ता का पहला समस्या प्रधान लघु उपन्यास है 'अर्थान्तर'। इसमें मानवजीवन की विभिन्न अनुभूतियों तथा मानवजीवन को कलुषित बनाने वाली मानवृत विभिन्न समस्याओं को उद्घाटित किया है। उन्होंने स्त्री स्वत्व का वर्णन प्रभावोत्पादक एवं कलात्मक इसमें मानवजीवन की विभिन्न अनुभूतियों तथा मानवजीवन को कलुषित बनाने वाली मानवृत विभिन्न समस्याओं को उद्घाटित किया है। उन्होंने स्त्री स्वत्व का वर्णन प्रभावोत्पादक एवं कलात्मक ढंग से किया है।

वर्तमान युग के दाम्पत्य जीवन में परिवर्तन दिखाई दे रहा है। पहले के जमाने में सिर्फ पति प्रमुख था। पुरुष को दाम्पत्य जीवन का एक सम्पूर्ण रक्षक एवं अधिकारी माना जाता था। स्त्री को सिर्फ एक गौण पात्र एवं भोग की वस्तु माना

जाता था। पुरुषसत्तात्मक आधिपत्यों में फंसे नारी अपने को चार दीवारों के अंदर बांधना नहीं चाहती थी। स्त्री का अपना अस्तित्व किसी भी क्षेत्र में नहीं था। लेकिन आज की स्त्री अपनी अस्तित्व की खोज में है। पत्नी अब पति की दासी न रहकर जीवनसाथी, सहयोगी, मित्र, प्रियतमा के रूप में समाज के समक्ष अवतरित हुई है। पत्नी भी पति की तरह स्वतंत्रता चाहती है।

पति-पत्नी एक दूसरे के प्रति समर्पित एवं प्रमाणिक होने से ही दाम्पत्य संबंध में मधुरता एवं दृढ़ता होती है। पति-पत्नी के बीच में छोटी-छोटी बातों में असमानता होती है। लेकिन वैवाहिक जीवन में शांत वा स्वस्थ दाम्पत्य बनाए रखने केलिए रिश्तों में सामंजस्य लाना अनिवार्य है। ''पति-पत्नी में सामंजस्य हो तो वैवाहिक जीवन सुख-शांतिपूर्ण बन जाता है।''[1]

अर्थान्तर उपन्यास में चंद्रकांता ने महिलाओं की मानसिकता और विवाहेत्तर अवैध रिश्तों से टूटे गए पारिवारिक विघटन को दर्शाया गया है। दाम्पत्य जीवन में कई प्रकार के कारणों से दाम्पत्य संबंध विघटित हो जाता है जिसमें प्रमुख है वैवाहिक अवैध संबंध। उपन्यास की नायिका कामिनी उर्फ कम्मो एक मध्यवर्गीय संस्कार सम्पन्न परिवार में पली-बड़ी युवती है। वह बचपन में ही माँ और मामा द्वारा परंपरागत विचार एवं संस्कार में रहने वाली है। वह अपने जीवन में सती-सावित्री जैसा व्यवहार एवं जिंदगी को चाहती है। लेकिन कम्मो की शादी आधुनिक विचार वाले विजय के साथ होती है। विजय एक बिजनेस मैन है। वह अपने जीवन में पैसे को अधिक महत्व देता है।

विजय के विवाहपूर्व और विवाहेत्तर अवैध संबंध है। वह एक ही समय में अनेक अनैतिक संबंध रखता है। विजय-कम्मो की शादी के दिन सुहागरात से पहले विजय और पड़ोस में रहनेवाली बुआ तारा की बेटी ऊषा के साथ घटी एक घटना को देखकर कम्मो को सिर्फ आघात ही नहीं बल्कि वैवाहिक जीवन की पवित्र संबन्धों का विश्वास भी टूट हो जाता है। कम्मो ने गलियारे के नीम अंधेरे में अपने पति और ऊषा को खड़े होकर देखा। उषा विजय से कहती है, ''तेरी दुल्हन के बदले मेरा दिल धड़क रहा है। देखो तो।''[2] यह कहकर उषा ने विजय के दोनों हाथों को खींचकर अपने उभारों पर रख लिया। यह देखकर कम्मो एकदम स्तब्ध हो जाती है।

कम्मो सोचती है, ''कम्मो विजय को कैसे बताए कि उस रात उसके एक मासूम विश्वास का कत्ल हुआ था। उसी ने राखी के स्नेहिल धागों का मजाक उड़ाया था, जिसे वह समग्र चेतना और अंतरंगता से मान देती आई है।''[3] यदि उषा विजय की बहन न होती तो शायद इस घटना को कम्मो नजरअंदाज करती।

कुंवारी के सपने, मीठे सहम भरी उत्सुकताएं, जिंदगी की आकांक्षाएं सब चूर-चूर हो जाती है। उसकी सभी कोमल भावनाएं एवं आकांक्षाएं वैवाहिक जीवन की कुछ पल की शुरूआत में ही समाप्त हो जाती है। पत्थर की मूरत जैसी बन जाती है। रात भर एक प्रतिमा की तरह सामने बैठी कम्मो को देखकर विजय आश्चर्य हो जाता है। कम्मो महसूस करती है कि रिश्तों में पवित्रता बनाए रखने और रिश्तों की मूल्यों को मानने में उषा तत्पर नहीं है। कम्मो को खुद महसूस हुआ कि जिस परिवार से वह जुड़ी है उस परिवार में कोई भी इन बातों को महत्व देता ही नहीं। यहाँ लेखिका ने विजय और कम्मो के विवाहोत्तर संबंध से हुए त्रासदीपूर्ण जीवन को चित्रित किया है।

विवाह के पश्चात अगर पति-पत्नी के बीच में आत्मसमर्पण, वैचारिक एकता और सौहार्दता का अभाव हो तो सफल दाम्पत्य संबंध बनाए रखना मुश्किल हो जाता है। साथ ही साथ यह संबंध सिर्फ असफल न होकर तनाव का एक कारण भी बन जाता है। विजय अपनी पत्नी से सिर्फ दैहिक संबंध चाहता था। लेखिका ने लिखा है, ''कम्मो उस सुविधा का अंगमात्र थी, जिसका विजय अपने मूड के अनुसार उपयोग करता था।''[4] इसके फलस्वरूप जिंदगी में कम्मो को अकेलापन और तनावग्रस्त महसूस होने लगा। वह भी अपनी जिंदगी में स्वतंत्रता चाहती है। वह हमेशा अपनी स्वतंत्रता के अस्तित्व की खोज में लगी रहती है। शादी के आठ दिन पश्चात ही पति नौकरी के सिलसिले में मुंबई चला जाता है। यहाँ कम्मो को चोट लगती है। वह कम्मो को साथ ले जाने को तत्पर नहीं था। इसी आघात में वह स्वत्व की खोज करने का प्रयास करती है।

विवाह के कुछ महीने पश्चात विजय की फाइलें साफ करते समय कम्मो को जूली और विजय की एक फोटो मिलती है। कम्मो को मालूम हो जाता है कि विजय का अवैध संबंध सिर्फ उषा से ही नहीं बल्कि जूली जैसी अन्य स्त्रियों से भी है, जिसके कारण वह अपने पति के साथ तन-मन से तालमेल एवं समर्पण नहीं रख पाती। वह अपने परंपरागत विचार और संस्कृति को मन में उमड़ती भावनाओं से मेल नहीं कर पाती।

कम्मो, पति विजय से अपने लिए अधिक वक्त न दे पाने की शिकायत करती है, ''मगर तुम्हारे बिजनेस के मारे तो मेरी रातों की नींद भी गायब होती जा रही है।''[5] कम्मों पढ़ी-लिखी संस्कार सम्पन्न मध्यवर्गीय युवती है। वह अपने

को आत्मनिर्भर बनाना चाहती है। इसलिए वह शादी के बाद की अकेलेपन को दूर करने हेतु दूसरे शहर जाकर अकेली रहना चाहती है। वह मात्र पत्नी बनकर ससुराल में नहीं रहना चाहती थी, विशेषकर पति की अनुपस्थिति में। वह जीना चाहती है स्वतंत्र अस्तित्व की तलाश में। लेकिन उसके इस सोच-विचार और निर्णय से सास-ससुर, माँ-बाबू जी सहमत नहीं थे। लेकिन वह अपने निर्णय के प्रति अटल रहे। ''कम्मों एक बार फिर जिद पर आ गई। पराश्रित होकर कम्मो जीना न चाहेगी। माँ ने दलीलें दीं, सास जी ने लक्ष्मण रेखाओं की ओर संकेत किया। कम्मो फिर भी न झुकी।''[6] वह अध्यापिका बनकर अपना अस्तित्व की खोज में जीना चाहती थी।

यह दाम्पत्य जीवन में उत्पन्न समस्याओं पर आधारित उपन्यास है। यहाँ लेखिका ने दाम्पत्य जीवन के खोखलेपन तथा मानवीय विघटन की त्रासदी को ठीक तरीके से पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। नायिका कम्मो विश्वास के क्षय के फलस्वरूप उत्पन्न समस्याओं से पीड़ितग्रस्त है। वैवाहिक जीवन की शुरूआत के दिन में ही विश्वास को ठोकर लगाना तत्पश्चात पति का अपने बिजनेस में खो जाना, इससे पति-पत्नी के सम्बन्धों में अंतर आ जाता है। यह दोनों में तनाव बढ़ने का कारण हो जाता है। इसी तनाव के कारण कम्मो सहध्यापक सत्य की ओर आकृष्ट हो जाती है, उसे चाहती है'' अनेक संशयों के बीच कांपते-सहमते भी कम्मो ने उस स्पर्श को पूरे मन से स्वीकार लिया। ''कम्मो ने उस सैलाब को अपने भीतर सोखना चाहा।''[7]

कम्मो, सत्य शर्मा के संपर्क में आती है जो एक अवसरवादी स्वार्थी व्यक्ति है। वह कम्मो के अकेलेपन का फायदा उठा लेता है और बाद में उसे निरंतर टालता रहता है और अंत में यही कहता है, ''तुम्हारी चाह अधूरी थी, कम्मो।''[8] वह सत्य के प्रति अपने मानसिक एवं शारीरिक द्वंद के कारण आकर्षित होती है। वह एक ओर सत्य के प्रति अपने को पूर्णतः समर्पित होना चाहती है तो दूसरी ओर फिर से मन में द्वंद उभर कर आता है। अपनी जिंदगी में पूरी तरफ से उलझन महसूस होने लगती है। आखिरकार, जिंदगी में एक प्रकार की अधूरापन ही रह गया है। ''रात तकिए पर सिर रखते ही कम्मो के गले का मंगलसूत्र छाती में गड़ता गया। छाती से हटाया तो गले को रेतने लगा। अंधेरे में भयानक आँखें उसे बींधने लगीं। न जाने कहाँ से आकर फन उठाए नाग डंसने के लिए झटपटने लगे। शोर रले-मिले स्वर, अस्पष्ट अनुगूंजे। कम्मो ने कान बंद कर लिए। फिर भी पूरी रात वह क्रॉस पर लटकती रही और कम्मो कोई भी निर्णय न ले सकी।''[9]

पति की अनुपस्थिति में वह पूरी तरफ से अकेली थी। कम्मो में स्थित मानसिक द्वंद सत्य के कथन से अधिक स्पष्ट हो जाता है, ''जुबान से कुछ बदलने, कुछ तोड़ने की बात करना सरल होता है कम्मो। मैं जानता हूं, एक निरर्थक से अनचाहे बंधन को तुम उम्र भर स्वयं अस्वीकार करती रहोगी।''[10] इसी मानसिक द्वंद के कारण कम्मो न पति से जुड़ पाती है, न सत्य और न ही प्रशांत से।

इस उमड़ते मानसिक अकेलेपन एवं द्वंद के फलस्वरूप वह पति होते हुये भी प्रशांत को भी चाहती है और जबर्दस्त रिश्ता बनाती है। लेकिन उसमें भी वह संतृप्त नहीं थी, कहीं-कहीं उसे संदिग्धता महसूस होने लगती है। ''कम्मो प्रशांत को चाहती है पर उसे कभी नहीं कहती कि कम्मो अकेले कोनों को सह नहीं पाती। उसे भीड़ में ही रहने दो प्रशांत!''[11] प्रशांत की ओर आकर्षित होकर रात दस बजे प्रशांत को फोन करके बुलाती है। 'कह दिया न बात करने का मन है। चले आओ।' 'कहाँ ?' 'मेरे घर पर। अकेली हूं'।[12] कम्मो पूर्णता की चाहत में अन्य पुरुषों की ओर आकर्षित होती है।

कम्मो सत्य और प्रशांत के साथ अवैध संबंध रखने का मुख्य कारण पति पर निर्भरता है। वैवाहिक जिंदगी की पहले दिन में हुई घटना से कम्मो का दिल टूट गया है। अपने टूटन को जोड़ने हेतु और अकेलेपन को दूर करने हेतु वह सत्य से प्यार करती है। सत्य कहता है, ''तुम्हारे सिवा कम्मो, तुम्हारे सिवा। मुझे और कुछ नहीं चाहिए, कुछ नहीं।''[13]

विवाहपूर्व संबंध

उषी और विजय के बीच में विवाह पूर्व वासनात्मक संबंध है। रिश्ते से विजय की बहिन है उषी, लेकिन वह रिश्तों के मूल्यों को पवित्र नहीं माना है। इसी प्रकार विजय और जूली भी विवाहपूर्व संबंध रखते हैं।

विवाहेतर संबंध

उषी की माँ तारा बुआ स्वार्थवश विवाहेतर संबंध रखती है। तारा अपने पति के बचपन के दोस्त पुष्कर से अवैध सम्बंध रखती है। बेटी उषी मना करने पर भी वह रिश्ता नहीं छोड़ती बल्कि अवैध सम्बंध को आगे बढ़ाती है। मतलब ''तारा बुआ सम्पूर्ण जिंदगी चाहती थी, अपनी औसत जिंदगी असमय बुढ़ापे पति और समय से पूर्व जवान होते तीन बच्चों के बीच।''[14] इसके लिए उसे पुष्कर का आश्रय अनिवार्य माना। यह उषी और माँ के बीच में हुआ संवाद में द्रष्टव्य है।

'दीवारों के पलस्तर उखड़ रहे हैं। बरसात में क्या होगा ?' 'तेरे अंकल से बात करूंगी, किसी कारीगर को भेज देंगे।' 'माँ, अंकल गई रात तक घर नहीं जाते। पड़ोसवाले बातें करते हैं।' 'बेटा आज मसालेदार मटन बनाना। तुम्हारे बाबूजी को सर्दी की शिकायत है।' 'माँ मैं अंकल की बात कर रही हूं।' 'उषी तुम्हारे बाबू के कफ में खून के जर्रे है। यह देखना ज्यादा जरूरी है।''[15] यहाँ उषी की माँ परिवार को चलाने हेतु अंकल से शारीरिक संबंध रखती है और घर के आवश्यकताओं को पूरा करती है। पति का इलाज भी अंकल द्वारा ही करती है।

नगरोन्मुख नारी

शादी के कुछ समय बाद कम्मो और विजय दोनों छोटे शहर से महानगर में आ चुके हैं। वे पूरी तरह से महानगरीय व्यस्त और गतिमान जिंदगी जीते हैं। यहाँ के लोग एक-दूसरे को अजनबी और अपने-अपने दायरों में कैद महसूस होते हैं। इसी अजनबीपन से किसी को न बाहर आने की इच्छा है, न बात करने का समय। कम्मो कहती है, ''पड़ोस में कोई जन्म लेता तो लाखों करोड़ों में एक और की वृद्धि हुई। जान लोग अधिक-से-अधिक नाक भौं सिकोड़कर टीकों की चर्चा भर करते, कोई मर जाता तो चार दिन बाद पड़ोसी जान जाता कि उसके पास दवाई के लिए पैसे नहीं थे। सामने झोपड़ पट्टियों में रोना-चीखना, गाली-गलौच निरंतर कुछ-न-कुछ चलता रहता। किसी की बेटी धंधा करती, किसी की बीवी। कोई पॉकेट मारकर परिवार का पोषण करता, कोई हाड़तोड़ मजूरी कर। 'किसी को क्या फर्क पड़ता है 'वाली बस्ती में सभी केवल साँस को बरकरार रखने में व्यस्त।'' [16] तनावग्रस्त जिंदगी के बारे में लेखिका कहती है, ''संपूर्णता? कहाँ होती है संपूर्णता? चाहे-अनचाहे किस संबंध में? कम्मो खंडों में बंटकर भी जिएगी, क्योंकि जीना हर स्थिति में महत्वपूर्ण होता है।''[17]

निष्कर्ष

प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से लेखिका ने महानगरीय लोगों की जिंदगी की गतिविधियों, कुंठाओं, असंतोषों का अंकन यहाँ पर सही ढंग से किया है। यह एक समस्या प्रधान लघु उपन्यास है, इसमें मध्यवर्गीय परिवार की वैवाहिक जीवन में आए खोखलेपन, टकराहट, मानसिक द्वंदों का सही चित्रण किया गया है। इसमें चंद्रकांता जी ने आधुनिक नारी की द्वंद्वग्रस्त मनः स्थिति और जीवन शैली का सराहनीय वर्णन करने के साथ-साथ अवैध संबंधों का भी उल्लेख किया गया है। मानवजीवन की विभिन्न अनुभूतियों तथा मानवजीवन को कलुषित बनाने वाली विभिन्न मानवृत एवं अन्य समस्याओं को मार्मिक प्रभावोत्पादक एवं कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करने में उनका रचना कौशल अत्यंत सराहनीय है। चंद्रकांता जी की रचनाएँ व्यक्ति, समाज और देश के प्रति उनकी प्रतिबद्धता का ठोस प्रमाण सिद्ध हुई हैं। चंद्रकान्ता के कथा साहित्य में भारतीय संस्कृति एवं विभिन्न धर्म और जातियों के समन्वय भावना का वर्णन हमें देखने को मिलते हैं।

पारिवारिक जीवन की दुर्दशा का मुख्य कारण है व्यावहारिक जीवन की शिक्षा का अभाव। चंद्रकांता के उपन्यास अर्थान्तर में प्रतिबिम्बित हर एक छोटी-बड़ी समस्याओं का वर्णन संदर्भोचित, स्वाभाविक एवं प्रभावी ढंग से हुआ है। उनमें सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, समस्याएं प्रमुख रूप से उभरकर सामने आई हैं। समाज के विस्तृत फलक के अंतर्गत के पारिवारिक जीवन, विवाह, नारी समस्याएं, नारी शोषण, अविवाहित नारी की मानसिक व्यथा जैसी मुख्य समस्याओं को सूक्ष्माति सूक्ष्म अंकन किया गया है।

संदर्भ ग्रंथ

1. डा. पद्मा चामले, आधुनिक हिन्दी कहानियों में युवा मानसिकता, पृ. 54
2. अर्थान्तर, चंद्रकान्ता, अमन प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, कानपुर, उत्तर प्रदेश, 2020, पृ. 29
3. वही, पृ. 30
4. वही, पृ. 59
5. वही, पृ. 56
6. वही, पृ. 53
7. वही, पृ. 49
8. वही, पृ. 50
9. वही, पृ. 49
10. वही, पृ. 50
11. वही, पृ. 39
12. वही, पृ. 72
13. वही, पृ. 49
14. वही पृ. 26
15. वही, पृ. 27
16. वही, पृ. 59
17. वही, पृ. 79

शमीना. टी (शोधार्थी)
और **डा. शोभना कोक्काडन** (शोध निर्देशिका)
हिन्दी विभाग
अविनाशिलिंगम इंस्टीट्यूट फॉर होम साइन्स
एंड हायर एडुकेशन फॉर वुमेन
कोयम्बत्तूर, तमिलनाडु

कबिरा तिनकी कौन गति ?

–डा. नीतू गुप्ता

युग चेता मनुष्य जब मन, विचारों से समाज में प्रस्तुत पाखंड और वैमनस्य के विरुद्ध मोर्चा खोलने की ठान ले तो उसकी वाणी में तीक्ष्णता स्वतः ही आ जाती है। भले ही उसका लक्ष्य साहित्य रचना न रहा हो किन्तु उसकी वाणी से निकला एक-एक शब्द अपने आप साहित्य की माला में पिरोया जाने लगता है। उसने कोई मठ, देवालय या मस्जिद न बनवाई हो लेकिन श्रद्धालुओं और अनुयायियों ने उसके विचारों को अपने जीवन में बखूबी अपनाया। हिंदी साहित्य में कबीर की छवि ऐसी ही है। उन्होंने सदैव समाज को एक व्यवस्थित रूप देकर प्रेम और सौहार्द की भावना का विस्तार करने का प्रयास किया।

भारतीय व्यवस्था में कबीर एक ऐसे व्यक्तित्व रहे हैं जिनके जीवन काल में इस्लाम के आगमन के साथ समूचा देश धीरे-धीरे गुलामी के गर्त में घिरता जा रहा था। एक पूरी सदी बीत जाने के पश्चात् महात्मा गाँधी का जीवन काल समूचे देश के लिए आजादी के अमृत का स्वाद चखाने वाला रहा। कबीर से लेकर गाँधी तक की यात्रा में देश ने अलग-अलग सत्ताओं की गुलामी में अपना समय व्यतीत किया। यदि इन दोनों महापुरुषों को एक धरातल पर लाकर खड़ा किया जाए तो पता चलेगा कि दोनों ने अपने-अपने ढंग से समाज में जागृति लाने का प्रयत्न किया। इतने महान प्रयास होने के बाद अब प्रश्न यह उठता है कि इनके जाने के पश्चात् क्या सामाजिक व्यवस्था में कोई परिवर्तन हुआ? क्या जो मार्ग इन्होंने समाज को दिखाया इन्हीं के अनुयायियों ने उसका अनुसरण किया? इन दोनों महापुरुषों को एक सामान्य धरातल पर लाकर देश की व्यवस्था के प्रति इनके प्रयासों और इनकी चिंता एवं पीड़ा को लेखक के. एन. तिवारी ने उपन्यास 'उत्तर कबीर नंगा फ़क़ीर' में बखूबी प्रस्तुत किया है। लेखक का यह मानना है कि जब कोई युग पुरुष समाज के प्रति अपने दायित्व को समझता है और उसमें व्याप्त कुरीतियों को दूर करने का भरसक प्रयास करता है तो वह उनसे मरणोपरांत भी कभी मुक्त नहीं हो पाता। जिस प्रेम और भाईचारे से युक्त स्वस्थ समाज का स्वप्न कबीर और गाँधी ने देखा था। आजादी के समय जिस लोकतंत्र की नींव रखी गयी थी आज आजादी के अनेक वर्ष पश्चात् वही लोकतंत्र एक भद्दा मजाक बनकर रह गया है।

देवलोक में बैठे कबीर जब अपनी काशी की दुरावस्था देखते हैं तो उन्हें अत्यंत कष्ट का अनुभव होता है। इसी के

चलते वह प्रजापति से एक बार पुनः काशी में जाने की प्रार्थना करते हैं। किन्तु काशी की धरती अब वैसी नहीं रही जैसी कबीर ने मध्यकाल में देखी थी। अब काशी में राजनीति इतने गहरे तक घुस चुकी है कि हर दूसरा व्यक्ति जब-तब अपने राजनीतिक ज्ञान का प्रदर्शन करता फिरता है। हर किसी को नेता बनना है और पार्टी के नाम पर केवल अपनी जेबें भरनी है। भले ही जनता पर इसकी दोहरी मार क्यों न पड़ रही हो। जनता के आक्रोश को लेखक ने स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है, ''अरे, ई कौने मुँह से बोलिहैं? ई का कम खिलाड़ी हउवें ? ऐंदा वाली विधानसभा में देखला नाहीं केतना लूटनै? अरे, इसने तो अपने कार्यकर्ताओं को कुछ भी नहीं दिया। सब माल अपनै बचाय लिया। हुंह, चलल हउवै ससुर नेतागिरी बतियावै।''[1] कबीरदास स्वयं काशी के निम्नवर्गीय समाज की राजनीतिक समझ पर चकित थे। उनके भीतर की मध्यकालीन मानसिकता रह-रहकर सर उठा रही थी जहाँ वे मानव-मात्र के भीतर खोई हुई आदमियत की तलाश में सरे बाजार खड़े होकर पुकार लगाते हैं, जिससे कोई तो ऐसा मिले जो निजी स्वार्थ से ऊपर उठकर समाज को सही दिशा दिखा सके। कबीरदास के शब्दों में– *''कबिरा खड़ा बाजार में लिए लुकाठी हाथ। जो घर जारे आपना चले हमारे साथ।''*[2]

किन्तु आज कबीरदास जिस आधुनिक समाज में खड़े थे उस बाजार का दृश्य उनकी कल्पना के बिलकुल उलट था। उस सार्वजनिक स्थान पर जिस तरह सभी लोग अपनी मुश्किलों का वर्णन कर रहे थे उसे देखकर कोई कह नहीं सकता था कि ये निम्नवर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। इतने निर्भय होकर वर्तमान नेताओं पर इतना व्यंग्य करना सचमुच लोकतंत्र की सफलता ही कही जाएगी। कबीर के मन में अचानक मध्यकालीन काशी और वर्तमान की तुलना सिर उठाने लगी। वे सोच रहे थे– ''ऐसा दृश्य तो मैंने जीवन में कभी देखा ही नहीं था। विचार-विमर्श, खोद-विनोद, नुक्ताचीनी, बहस-मुबाहसा तो मेरे जमाने में भी होता था। पर वे सारी चर्चाएं केवल धर्म और दर्शन तक ही सीमित रहती थी। कभी सामाजिक न्याय का हिस्सा नहीं बनी और आज तो हर कोई बिना रोकटोक के मनोविनोद में ही एक-दूसरे को कटारी मार रहा है। सचमुच, लगता है कि काशी की मिट्टी में अब नयी जान आ गयी है।''[3]

कबीर वर्तमान काशी को देख कर मन ही मन अत्यंत प्रसन्न थे उसका एक मुख्य कारण यह था कि जो छुआछूत, जातिगत भेदभाव और अस्पृश्यता उन्होंने अपने समय में देखी थी, वह यहाँ नहीं थी। यहाँ तो सभी एक-साथ बैठकर चाय की दुकानों पर आराम से चाय पी रहे थे और सहजता में एक-दूसरे से बातचीत एवं विचार-विमर्श कर रहे थे। किन्तु कबीर की यह खुशी अधिक समय तक टिक नहीं पाई जब उनका सामना लोकतंत्र की वास्तविकता से हुआ। किस तरह जाति और धर्म के नाम पर वोट तथा वोटर दोनों को प्रभावित किया जाता है? नेताओं को जनता की परेशानियों से कोई लेना-देना नहीं है। वे केवल अपनी राजनीति करने के लिए जनता के बीच अपने कार्यकर्ताओं को भेज कर पार्टी की छवि सुधारने की कोशिश तो करते हैं किन्तु चुनाव जीतते ही वापिस पांच साल के लिए विलुप्त हो जाते हैं।

इधर कार्यकर्ताओं के पास भी खुली छूट है जहाँ वे कभी जाति के नाम पर और कभी धर्म के नाम पर खुलेआम लोगों को बरगलाकर वोट देने के लिए उकसा सकते हैं। लेकिन जनता में दर्जनों लोग किस प्रकार से पशुओं की भांति जीवन जीने पर विवश थे इसकी किसी पार्टी को और किसी कार्यकर्ता को कोई चिंता नहीं थी। कबीर के चिंतन में अनेक बार ऐसे प्रश्न उठते हैं कि जहाँ पीने को पानी नहीं, रोजी-रोटी के लिए कल कारखाना नहीं। देश का युवा बेरोजगारी से तंग आकर कही खैनी ठोक रहा है और कहीं गांजा पीकर टुन्न पड़ा है। ''आखिर इस देश का नौजवान बेरोजगार का जीवन कब तक जियेगा? कब इनके हाथों को काम मिलेगा? अभी सरकार समझ नहीं रही है। एक दिन ये ही लोग राष्ट्र और राष्ट्रीयता के लिए खतरा होंगे।''[4] घर के सामने से बहती मलमूत्र से बजबजाती नालियां, टूटा-फूटा अधखुला मेनहोल और उबड़-खाबड़, टूटी-फूटी सड़कें, ये सब कुछ आखिर नेताओं और जनता को क्यों नहीं दिखता? क्यों सभी को केवल जाति और धर्म ही दिखाई देता है? क्या कभी ऐसा समय भी आएगा जब ये लोग अपनी गर्हित और संकीर्ण सोच से ऊपर उठ सकेंगे? इतने सारे प्रश्न कबीर को अंदर तक बेचैन कर उठते और उनके भीतर नाराजगी का भाव जागृत होने लगा। कबीर की दृष्टि में यदि देश में लोक की शासन तंत्र में भागीदारी है तो क्यों नहीं जनता अपनी समझ-बूझ को विकसित करती? लेखक ने इस प्रश्न को कबीर के माध्यम से बहुत ही सोचनीय ढंग से उठाया है, ''मियाँ, लोकतंत्र में जनता का भी कुछ फर्ज होता है या नहीं? वह बार-बार जाति और धर्म के बहकावे में क्यों आ जाती है? क्यों नहीं अपने प्राप्तव्य के लिए लड़ती? क्यों नहीं अपने वोट की कीमत समझती?[5]

वर्तमान काशी के प्राकृतिक वातावरण को लेखक ने अत्यंत व्यंग्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। 21 वीं सदी बीतने को है और लोग अभी भी सहज भाव से तालाब के

किनारे बैठकर मल विसर्जन में लीन हैं। चारों ओर हरे-भरे पेड़ों का कहीं अता-पता ही नहीं है। एक-आध नीम का ठूँठा पेड़ जहाँ-तहाँ खड़ा भी है तो उसको भी दातुन या अन्य लाभ के लिए तुरंत शिकार बनाया जा रहा है। पहले सड़क के किनारे फलदायी पेड़ लगाने का चलन था जिन पर किसी का घोषित अधिकार नहीं होता था किन्तु, अब वे सब समाप्त हो चुके हैं। जल से भरे छोटे पोखर, झोपड़ी अथवा छोटे-छोटे फूलों की बगिया सभी विकास और आधुनिकता की बलि चढ़ चुके हैं। जो इमारत जितनी बड़ी एवं भव्य है उसमें घुसना उतना ही कठिन। यदि किसी तरह घुस भी गए तो गंदे और भद्दे कहकर खदेड़ दिए जाओगे। प्राकृतिक विनाश को लेखक ने कबीर के माध्यम से बड़े ही सहज रूप में व्यक्त किया है। कबीर काशी की गलियों में घूमते हुए निरंतर महसूस करते हैं, ''कहीं कोई पवसरा नहीं, तालाब नहीं, कुआँ नहीं। प्यासे जीव भला कैसे रहते होंगे? नीचे से खोखली और ऊपर से चमकती काशी ने कबीर को हिलाकर रख दिया। उनका मन खिन्न हो उठा। अकस्मात् वे बुदबुदाए—नदियां बीच मीन पियासी।''[6]

यहाँ तक कि सबको पवित्र करने वाली एवं सबकी मां समझी जाने वाली गंगा नदी भी काली हो चुकी है। सभी लोग पूजा करने के स्थान पर केवल आडम्बरों का ही आवरण ओढ़े हुए हैं। कहीं कुछ लोग ऐसे भी दिखे जो पर्यटक बनकर इस गंगा नदी के किनारे केवल मौज-मस्ती और मादक पदार्थ का सेवन करने ही आते हैं जिससे ये लोक तो मजे में कट रहा है। गंगा किनारे बैठकर उसमें स्नान करने से परलोक भी सुधर जायेगा। प्रकृति और भक्ति इन दोनों की दुर्दशा देख कर कबीर का आहत मन चीत्कार कर उठा, ''हे भगवन, काशीवासियों ने गंगा को भी नहीं छोड़ा। गंगा तो इनकी माँ समान रही है। फिर इसकी इतनी बुरी दशा क्यों? इतनी पीड़ित गंगा क्यों? रक्षा करो परवरदिगार। इस गंगा की रक्षा करो।''[7]

दूसरे और तीसरे परिच्छेद में देवलोक में कबीर और गाँधी का वार्तालाप प्रस्तुत करना लेखक की मौलिक उद्भावना ही कही जाएगी क्योंकि देश की सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को लेकर अनेक व्यंग्यात्मक उपन्यास समय-समय पर लिखे गए किन्तु इतने गंभीर चिंतन एवं महत्वपूर्ण विषय को लेकर तथा एक साथ दो महान विभूतियों को एक धरातल पर प्रस्तुत करना अत्यंत सराहनीय है। तिवारी जी ने अनेक स्थानों पर देश की दुर्दशा के साथ कबीर की उक्तियों का संतुलन बिठाया है। लेखक का मानना है कि यदि आज के समय में कबीर दोबारा जीवित हो जाये तो निस्संदेह दोबारा उनके मन में वितृष्णा उत्पन्न होगी और वे समाज की अधोगति देखकर मन ही मन घोर पश्चाताप से भर उठेंगे। समान स्थिति गाँधी की भी होगी क्योकि भारत में जिस समतापूर्ण समाज का स्वप्न गाँधी ने देखा था वह कबीर की दृष्टि में पूर्णतया ध्वस्त हो चुका है। लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था के नाम पर समाज में ऐसा तंत्र विद्यमान है जहाँ न कोई लोक है , न ही सद्भावना। इसमें केवल निजी स्वार्थ और जातिगत एवं धर्मगत भेदभाव ही सर्वोपरि है।

कबीरदास महसूस करते हैं, ''सभी लोग जल्दी में हैं। लोक भी और लोक के बल पर तंत्र खड़ा करने वाले भी। कम समय में बहुत कुछ पा जाना चाहते हैं लोग। कोई त्याग नहीं करना चाहता। आपका, लोक, अपने को, भीड़ में बदलता हुआ-सा दिखाई देता है।''[8] लेखक ने गाँधी और कबीर दोनों के मन में एक विचित्र प्रकार की बेचैनी प्रस्तुत की है जिसमें गाँधी जी का मन विभाजन की त्रासदी को याद करके खिन्न हैं वे यह स्वीकार नहीं कर पाते कि उनके ही साथी देश की इस दुरावस्था के लिए उत्तरदायी हैं। कबीर जब देश का भ्रमण करते हैं तो वे अनेक गांधियों से मिलते हैं, उनका मानना है कि गाँधी का नाम तो सभी ने लिया किन्तु गाँधी के विचारों को जीवन में नहीं स्वीकार सके। यही बापू के दुखी होने का मुख्य कारण है क्योंकि आजादी की लड़ाई तो इन्होंने लड़ी थी। त्याग, तपस्या, संघर्ष तो इन्होंने किया था। अपने सपनों के भारत की कल्पना को बहुत गहरे तक संजोया था। सफलता के तरीके और क्रियात्मकता के गुण भी समझाया था। फिर भी इनके लोगों ने धोखा दिया। इनके नाम की माला जपते रहे और माल काटते रहे। सत्ता सुख के मद में इतने अंधे रहे कि समस्याएं निरंतर बढ़ती रहीं। पर जड़ से उसे खत्म करने के बारे में कभी नहीं सोचा तो दुःख इन्हें नहीं होगा तो किसको होगा?''[9] गाँधी जी के जाने के बाद निजी स्वार्थ के चलते देशवासियों ने गाँधी के सपनों और योजनाओं को पूरी तरह से भुला दिया। अब गाँधी की स्मृति केवल उनकी जन्मतिथि और पुण्यतिथि तक ही सीमित होकर रह गयी है। बाकि वे केवल दीवारों पर टँगी तस्वीरों में ही दिखाई देते हैं जिससे यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि वर्तमान समय में गाँधी अपनी प्रासंगिकता खो रहे हैं। वास्तविकता यही है कि गाँधी की उपयोगिता केवल स्वतंत्रता प्राप्ति तक ही थी बाद में उनके अनुयायियों ने देश में अपनी मनमानी की। कबीर गाँधी को असलियत से परिचित करवाते हुए कहते हैं, ''बापू, सच कहिये तो लोग आपके लोग केवल आपके नाम की माला जपते रहे। आपके ऊपर केवल फूल-माला चढ़ाते रहे। दुनिया के अन्य देशों की

तुलना में कुछ नहीं किया। यदि किया कुछ तो अपनी शर्तों पर, अपनी सोच पर। अपनी विचारधारा के अनुसार आगे बढ़े।''[10]

लेखक की दृष्टि में कबीर संत थे, ईश्वर भक्त थे, कवि हृदय साधक थे। उन्होंने उम्मीद ही नहीं की थी कि कोई उनके साथ दो कदम चलेगा या नहीं। वे फक्कड़ थे।''[11] उन्होंने किसी को अपना अनुयायी नहीं बनाया और न ऐसी इच्छा ही की कि बाकि मनुष्य उनका शिष्यत्व ग्रहण करें। उनका लक्ष्य केवल इतना था कि समाज जिन पाखंडों एवं आडम्बरों से घिरा है उनके प्रति मनुष्यों में चेतना एवं जाग्रति पैदा हो। चारों तरफ झूठ, स्वार्थ और अहंकार की जो अग्नि फैली हुई है, ये अग्नि पोथी ज्ञान से नहीं बुझ सकती, इसके लिए तो प्रेम ही चाहिए। बिना प्रेम-भाव पैदा हुए कोरा पोथी ज्ञान मुनष्य को ईंट और पत्थर बना देता है– *''पढ़ि-पढ़ि के पाथर भया, लिखि लिखि भया जु ईंट। कबिरा जा पर प्रेम की पड़ी न एकौ छींट।''*[12]

कबीर ने ऐसे देश, ऐसे समाज की कल्पना की थी जिसमे मनुष्यता सर्वोपरि है। जहाँ प्रत्येक क्षण, बारहों महीने प्रेम का कमल विकसित रहता है। कबीर की कल्पना में जाति, वर्ण और कुल के लिए कोई स्थान नहीं है उनके हृदय में सभी के लिए समान प्रेम है। कबीर का सपना सिर्फ सामाजिक मुक्ति तक सीमित नहीं है बल्कि वह आध्यात्मिक मुक्ति को भी साधता है– *''हम बासी उस देस के जहाँ बारह मास विलास। प्रेम झरै विकसै कँवल तेज पुंज परकास।।''*[13]

जबकि लेखक की दृष्टि में गाँधी एक प्रखर समाजसेवी, उच्च राजनीतिक व्यक्ति थे। जीवन-कर्म में उतरे ही थे भारत को आजाद कराने के लिए। उनका लक्ष्य ही था- भारत को आजाद कराना। उसे गुलामी और गरीबी से मुक्त कराना। भारतवासियों के जीवन को सुंदर से सुंदर बनाना।''[14] लेकिन विभाजन की त्रासदी ने गाँधी जी के सपनों और सारे प्रयासों पर पानी फेर दिया। उपन्यासकार लिखते हैं, ''देखो भाई, गाँधी के ऊपर दोषारोपण के पहले तात्कालिक परिस्थितियों को समझो। .... सच कहिये तो बंटवारे की ऐसी गहरी स्थितियां पैदा हो चुकी थीं कि जिन्ना को मनाना असंभव हो गया था।''[15]

आज के समय में हालात ऐसे हैं कि हर गली, प्रत्येक दूसरा मोहल्ला या चाय और पान की दुकानें एक ऐसा मंच बनती जा रही हैं जहाँ सभी लोग कभी एक-दूसरे पर और कभी राजनेताओं पर दोषारोपण करने से नहीं चूकते। यहाँ तक कि राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की उपाधि से सम्मानित गाँधी जी भी इनकी दृष्टि में बाद के दिनों में एक कमजोर नेता के रूप में सबके सामने आते हैं। लेखक ने विभाजन के दर्द को गाँधी जी के दृष्टिकोण से भी देखने का प्रयास किया है। गाँधी आहत स्वर में कहते हैं, ''दंगाइयों को रोकने के लिए कई-कई बार अनशन करना पड़ा था। महात्मन, मेरा अहिंसा का पाठ दंगाइयों की धरती पर निराधार और व्यर्थ साबित हो गया था। बल्कि कहूँ कि मैं पराजित हो गया था तो कोई गलत बात नहीं होगी।''[16] उपन्यासकार ने कबीर की आध्यात्मिकता और बेबाकी का बड़ा ही सुन्दर सामंजस्य किया है साथ ही देश में गाँधी की राष्ट्रपिता की जो छवि जनमानस में बसी हुई है उसे पूरे मनोयोग से स्वीकार किया है , बावजूद इसके वह विभाजन जैसे महत्वपूर्ण मुद्दे की वास्तविकता की तह में जाना चाहते दीख पड़ते हैं। और इसके लिए उन लोगों को मुख्य रूप से दोषी मानते हुए एक स्थान पर लिखते हैं, ''विभाजन के लिए शोर मचाने वाले ज्यादातर लोग यहीं रह गए थे। वे आक्रोश और प्रतिरोध में शोरगुल तो कर रहे थे। परन्तु पाकिस्तान नहीं गए। आखिर हत्याएं तो ज्यादा भारत में ही आने वालों की हुई थी।''[17] विभाजन जैसे विषय पर लिखना अपने आप में जोखिम भरा कार्य है। किन्तु लेखक को इसमें पर्याप्त सफलता मिली है।

संदर्भ

1. प्रो. के. एन. तिवारी, उत्तर कबीर नंगा फ़क़ीर, पृ. 17, संस्करण, 2020
2. शिवकुमार मिश्र, भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य, पृ. 58
3. प्रो. के. एन. तिवारी, उत्तर कबीर नंगा फ़क़ीर, पृ. 20, संस्करण, 2020
4. वही, पृ. 33, 5. वही, पृ. 35
6. वही, पृ . 23, 7. वही, पृ. 39
8. वही, पृ. 76, 9. वही, पृ. 81
10. वही, पृ. 85, 11. वही, पृ. 98
12. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ. 190
13. रामकिशोर शर्मा (सं.), कबीर ग्रंथावली, सुषिम मारग को अंग, पद सं. 5, पृ. 200
14. प्रो. के. एन. तिवारी, उत्तर कबीर नंगा फ़क़ीर, संस्करण, 2020, पृ. 98
15. वही, पृ. 153, 154, 16. वही, पृ. 156
17. वही, पृ. 195

डा. नीतू गुप्ता
हिंदी विभाग
दौलतराम कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

भारतीय दर्शन की नास्तिक परम्परा में 'आत्मा' की अवधारणा

(चेतना के सन्दर्भ में)

–प्रो. विजय यादव

प्रस्तुत शोध पत्र में भारतीय दर्शन की नास्तिक परंपरा में आत्म की अवधारणा का चैतन्य के सन्दर्भ में अवलोकन एवं समीक्षा का प्रयास है। जो अग्र अनुसार है :

सर्वप्रथम चेतना के कुछ प्राथमिक अर्थों को जानना आवश्यक है जिसके उपरांत ही चैतन्य को भारतीय नास्तिक परम्परा की आत्म की अवधारणा के सन्दर्भ में समझा जा सकता है।

प्रचलित अर्थों में चेतना का अर्थ : सामान्य व्यावहारिक भाषा में चेतना से तात्पर्य संवेदन, स्वसंवेदन अथवा संवेदन एवं स्वसंवेदन के सम्मिलित प्रभाव के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

संवेदन : इन्द्रिय-अर्थ संनिकर्ष अथवा दूसरे शब्दों में इन्द्रियजन्य संवेदनाओं की अनुभूति।

स्वसंवेदन : मनोमय या अन्तः शारीरिक भावनाओं की अनुभूति यथा सुख, दुःख, क्रोध, प्रेम इत्यादि।

इस प्रकार चेतना का एक अर्थ निकलकर का आता है कि 'वह जो क्रियात्मक है, जीवन शक्ति से युक्त है और अजड़ है।'

चेतना के शाब्दिक अर्थ की बात करें तो ऐसा माना जाता है कि यह 'चित्त संज्ञाने' धातु से निष्पन्न है । अर्थात् वह जो चित्त का परिचायक है अथवा जिससे चित्त अपनी संज्ञा प्राप्त करता है।

दार्शनिक साहित्य में चेतना का अर्थ : दार्शनिक जगत में चेतना को सत्तात्मक एवं ज्ञानात्मक मूल स्वरूप मानकर द्रव्य रूप में, गुण रूप में(स्वाभाविक अथवा आकस्मिक), नित्य, अपरिवर्तनशील अथवा क्षणिक एवं विषयी या भोक्ता के रूप में आत्मा के गुण अथवा आत्मा सदृश ही माना गया है।

चेतना शब्द को आत्मा, ज्ञान, समझ इत्यादि प्रत्ययों के समानार्थी के रूप में भी विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रयोग किया गया है। यहां हम भारतीय दर्शन की नास्तिक परंपरा में आत्मा की अवधारणा के सन्दर्भ में चेतना को समझने का प्रयास करेंगे।

आगे बढ़ने के पूर्व भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों का बोधात्मक परिचय आवश्यक जान पड़ता है जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

भारतीय दर्शन को वृहद रूप में दो भागों में विभक्त किया गया है :- (1) आस्तिक तथा (2) नास्तिक। भारतीय विचारधारा में आस्तिक उसे कहा जाता है जो वेद की प्रमाणिकता में विश्वास करता है और नास्तिक उसे कहा जाता है जो वेद को प्रमाण नहीं मानता।

आस्तिक दर्शन

इस दृष्टिकोण से भारतीय परम्परा में छः दर्शनों को आस्तिक कहा जाता है। वे हैं–(1) न्याय, (2) वैशेषिक, (3) सांख्य, (4) योग, (5) मीमांसा और (6) वेदान्त। इन दर्शनों को 'षडदर्शन कहा जाता है। ये दर्शन किसी न किसी रूप में वेद पर आधारित हैं।

नास्तिक दर्शन

नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत (1) चार्वाक, (2) जैन तथा (3) बौद्ध दर्शन आते हैं, क्योंकि ये वेद की निन्दा करते हैं। कहा भी गया है–''नास्तिको वेद निन्दकः।''1

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों की प्रमाणिकता को अभिव्यक्त रूप से न मानने तथा निहित रूप में आत्मा के स्वरुप के बारे में अन्य भारतीय आस्तिक दर्शनों के विचारों को मान्यता न देने के कारण भी चार्वाक, बौद्ध एवं जैन दर्शन को नास्तिक दर्शनों की श्रेणी में रखा जाता है।

(1) चार्वाक दर्शन में चेतना के सन्दर्भ में आत्मा की अवधारणा (तत्त्व एवं ज्ञान मीमांसीय दृष्टिकोण से)

ज्ञान मीमांसीय दृष्टिकोण

तीनों नास्तिक दर्शनों में भी 'चार्वाक' को 'नास्तिक शिरोमणि' की उपाधि से विभूषित किया जाता है, जिसका कारण है चार्वाक दर्शन का प्रमाण विचार क्योंकि यह 'प्रत्यक्ष' को ही ज्ञान प्राप्ति के एकमात्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है। प्रत्यक्ष की सीमा से परे किसी भी तत्व का खण्डन करता है। चार्वाक दर्शन के अनुसार केवल प्रत्यक्ष ही संदेह रहित ज्ञान का साधन है अन्य कोई प्रमाण नहीं। चार्वाक दर्शन की प्रत्यक्ष की विश्वसनीयता पर प्रचलित उक्ति है, 'प्रत्यक्षे किम प्रमाणं'। इस आधार पर ही चार्वाक दर्शन 'नित्य आत्मा', 'ईश्वर', 'स्वर्ग', 'नर्क', तथा 'मोक्ष' आदि का खण्डन कर देता है, क्योंकि उनका कथन है–''प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्।''

चार्वाक के विपरीत जैन तथा बौद्ध दर्शन यद्यपि नास्तिक हैं क्योंकि वे 'ईश्वर' की सत्ता में विश्वास नहीं रखते हैं। परन्तु वे 'आत्मा' की सत्ता में विश्वास करने के साथ ही 'मोक्ष' की अवधारणा में भी विश्वास करते हैं।

तत्त्व मीमांसीय दृष्टिकोण

चार्वाक दर्शन का तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत भौतिकवाद कहलाता है तथा यह पदार्थवादी यथार्थवाद का समर्थक है जिसके अनुसार चार महाभूतों पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के द्वारा ही सृष्टि का निर्माण हुआ है, क्योंकि ये चारों महाभूत प्रत्यक्ष के विषय हैं। भौतिकवाद को मानने के फलस्वरूप इनका आत्मा सम्बन्धी विचार 'देहात्मवाद' कहलाता है, क्योंकि वह 'आत्मा' और 'देह' को अभेद मानता है। 'आत्मा' ही 'शरीर' है और 'शरीर ही 'आत्मा' है। शरीर से पृथक किसी भी नित्य आत्मा का अस्तित्व नहीं है। चार्वाक का कथन है–''चैतन्य विशिष्टो देह एव आत्मा।'' अर्थात चैतन्य से युक्त शरीर ही आत्मा रूप है, शरीर से पृथक किसी नित्य आत्मा का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। यद्यपि ''चार्वाक चैतन्य को यथार्थ मानता है, क्योंकि चैतन्य का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है''2, परन्तु चार्वाक के अनुसार, ''चैतन्य भी शरीर का ही एक विशेष गुण है।''[3] चार्वाक दर्शन चौतन्य को 'आत्मा' रुपी किसी स्वतन्त्र एवं नित्य सत्ता का गुण नहीं मानता, अपितु चार महाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) के एक निश्चित अनुपातयुक्त शरीर का गुण मानता है।

चार्वाक पर आलोचकों द्वारा यह आक्षेप किया जाता है कि यदि देह, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी नामक चार भौतिक तत्वों से निर्मित है तो उसमें चैतन्य नामक गुण कैसे उत्पन्न हो सकता है। यदि चैतन्य इन चार भौतिक तत्वों का गुण नहीं है?

चार्वाक इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार पान, कत्था, कसैली और चूने में लाल रंग का पूर्ण अभाव रहता है, परन्तु इन तत्वों को मिलाने पर उनमें लाल रंग उत्पन्न हो जाता है ठीक उसी प्रकार वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के चार भूतों को मिलाने पर चैतन्य नामक गुण उत्पन्न होता है। इसी प्रकार गुड़ में मादकता का अभाव है, परन्तु जब वह सड़ जाता है तो उसमें मादकता उत्पन्न हो जाती है। अतः चार्वाक का आत्मा सम्बन्धी विचार जैन और बौद्ध जैसे नास्तिक दर्शनों की तुलना में अनूठा है।

(ब) बौद्ध दर्शन में चेतना के सन्दर्भ में आत्मा की अवधारणा (तत्त्व एवं ज्ञान मीमांसीय दृष्टिकोण से)

बौद्ध दर्शन का तत्त्व मीमांसीय दृष्टिकोण क्षणिकवाद कहलाता है जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति किसी

ना किसी कारण से होती है। अतएव, कारण के नष्ट होने पर उस वस्तु विशेष का भी नाश हो जाता है, जिसका आदि है उसका अंत भी है। नित्य एवं स्थाई प्रतीत होने वाला पदार्थ भी वस्तुतः विनाशी और परिणामी है। फलतः बौद्ध दर्शन का आत्मा सम्बन्धी विचार 'अनात्मवाद' या 'नैरात्मवाद' के नाम से जाना जाता है। चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों की तुलना में बौद्ध दर्शन का 'अनात्मवाद' इस सन्दर्भ में अनूठा है कि जहाँ सभी भारतीय दर्शन 'आत्मा' को नित्य, कूटस्थ और अपरिवर्तनशील मानते हैं, वहीं बौद्ध दर्शन आत्मा को अनित्य और परिवर्तनशील मानता है। यहाँ आत्मा को विज्ञानों (चेतना) का प्रवाह कहा गया है। अनात्मवाद के विचार को जलते हुए दीये के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार दीये की लौ ऊपर से पर अखण्डित रूप से निरन्तर जलती हुई प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में दीये की लौ क्षण-क्षण अथवा प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, उसी तरह आत्मा भी परिवर्तनशील है जिसमें 'विज्ञान' प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं। इसे 'विज्ञानों का प्रवाह' कहा जाता है। एक विज्ञान की सत्ता भी समाप्त नहीं होती कि उसका स्थान दूसरा विज्ञान ले लेता है। जिस प्रकार नदी में जल की बूंद निरन्तर परिवर्तनशील होती रहती है ओर फिर भी उसमें एकमयता रहती है, उसी प्रकार आत्मा के विज्ञान के निरन्तर बदलते रहने पर भी उसमें एकमयता रहती है। यहां ध्यातव्य है कि बौद्ध दर्शन में पुनर्जन्म की मान्यता तो है जिसे 'विज्ञानों के प्रवाह' के रूप में परिभाषित किया गया है अर्थात अंतिम विज्ञान की मृत्यु होने पर नए विज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही पुनर्जन्म होता है। इस प्रकार हम पाते हैं कि बौद्ध दर्शन में आत्मा का नहीं अपितु नित्य द्रव्य रुपी आत्मा का निषेध किया गया है, क्योंकि विज्ञानों (चेतना) के प्रवाह के रूप में आत्मा को प्रकारांतर से स्वीकारा ही गया है। हांलाकि प्रवाह के अवयव रूप में विज्ञानों की सत्ता क्षणिक ही मानी गई है।

बुद्ध के कथनानुसार संसार की समस्त वस्तुएँ क्षणिक हैं। कोई भी दो वस्तुएँ किन्हीं दो क्षणों में एक-सी नहीं रहतीं। बुद्ध शाश्वत आत्मा का निषेध करते हुए कहते हैं कि ''विश्व में न कोई शास्वत आत्मा है और न आत्मा की तरह कोई अन्य वस्तु। पांच ज्ञानेन्द्रियों के आधार-स्वरूप मन और मन की वेदनायें, ये सब आत्मा या आत्मा के समान किसी चीज से बिल्कुल शून्य हैं। बुद्ध के अनुसार जीव के भीतर कोई भी वस्तु नहीं है, जिसे आत्मा कह सकें।''

शरीर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान से निर्मित है। जगत की ये साररूप वस्तुएं अनित्य होने के कारण दुःखप्रद हैं तो उनके सम्बन्ध में यह सोचना भी कि 'यह मेरा है', 'यह मैं हूँ' तथा 'यह मेरी आत्मा है' सर्वथा अनुचित है।

''रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान अनित्य, परिवर्तनशील तथा रोगयुक्त (दुःखमय) हैं। जो अनित्य है वह दुःख है। यदनिच्चं तं दुक्खम्। फिर जो दुःख है वह अनात्म है। यं दुक्खं तद् अनन्ता। अतः रूपादि स्कन्ध आत्मा नहीं है।''[4] जब ये वस्तुएं आत्मा नहीं तो इनसे सम्बन्ध रखना ही उचित नहीं है।

उनकी असारता को सिद्ध करने के लिए उन्होंने प्रश्नोत्तर के रूप में इस प्रकार कहा :

क्या रूप अनित्य है या नित्य?

अनित्य।

जो अनित्य है वह सुख है या दुःख?

दुःख।

जो चीज अनित्य है, वह दुःख है, विपरिणामी है, क्या उसके विषय में इस प्रकार के विकल्प करना ठीक है कि 'यह मेरा है, यह मैं हूँ, यह मेरी आत्मा है'?

नहीं।

इसी प्रकार बुद्ध ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के सम्बन्ध में किए गये प्रश्नों को भी अनात्मक बताया है। ''बुद्ध ने शाश्वत आत्मा में विश्वास उसी प्रकार हास्यास्पद कहा है जिस प्रकार कल्पित सुन्दर नारी के प्रति अनुराग रखना हास्यास्पद है।''[5]

'बुद्ध के आत्मा सम्बन्धित विचारों को जानने के बाद मन में एक प्रश्न उपस्थित होता है–''यदि आत्मा अनित्य और परिवर्तनशील है तो उससे पुनर्जन्म की व्याख्या कैसे सम्भव है?''

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बुद्ध कहते हैं कि पुनर्जन्म का अर्थ एक आत्मा का नये शरीर में प्रवेश करना मात्र नहीं है, अपितु इसके विपरीत पुनर्जन्म का अर्थ 'विज्ञानप्रवाह की अविच्छिन्नता' है। जब एक विज्ञानप्रवाह का अन्तिम विज्ञान समाप्त हो जाता है तब अन्तिम विज्ञान की मृत्यु हो जाती है और एक नये शरीर में एक नये विज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। यही पुनर्जन्म है। जिस प्रकार एक दीपक से दूसरे दीपक को जलाया जा सकता है, उसी प्रकार वर्तमान जीवन की अन्तिम अवस्था से भविष्य जीवन की प्रथम अवस्था का विकास सम्भव है। इस प्रकार बुद्ध अनात्मवाद को मानते हुए भी पुनर्जन्म की व्याख्या करते हैं।

पुनर्जन्म की इस बौद्धिक व्याख्या के प्रति एक प्रश्न

उत्पन्न होता है जैसे, जब बुद्ध कहते हैं कि पुनर्जन्म का अर्थ 'विज्ञान प्रवाह की अविच्छिन्नता' है, अर्थात जब एक विज्ञान प्रवाह के अंतिम विज्ञान की मृत्यु हो जाती है तब एक नए शरीर में एक नए विज्ञान का प्रादुर्भाव होता है किन्तु यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि 'विज्ञान प्रवाह की अविछिन्नता' कब तक कायम रहती है? क्योंकि यह 'विज्ञानों का प्रवाह' एक प्रकार के जन्म-मरण चक्र का परिचायक है, और जन्म-मरण चक्र से मुक्ति का नाम ही 'निर्वाण' कहा गया है। अब यदि यह मानें कि अष्टांग मार्ग का अनुसरण कर जब विज्ञानयुक्त शरीर के अंतिम विज्ञान की मृत्यु हो जाती है तथा आगे विज्ञान प्रवाह रुक जाता है तब 'निर्वाण' की प्राप्ति किसे होती है? क्योंकि विज्ञान तो पहले ही अनित्य है।

मेरे अभिमत में इस प्रश्न का उत्तर यह हो सकता है कि यद्पि अंतिम विज्ञान अनित्य तो है ही किन्तु निर्वाण प्राप्त होने के बाद उस विज्ञान की मृत्यु इस प्रकार होती है कि आगे नए शरीर में नए विज्ञान के जन्म कि सम्भावना का अंत हो जाता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि बौद्ध दर्शन में तत्त्व मीमांसा उसकी ज्ञान मीमांसा कि पूर्वगामी है क्योंकि बौद्ध दर्शन के अनुसार अनित्य को नित्य समझना ही अज्ञान है, अतः वस्तुओं के क्षणिक स्वरुप का प्रतिपल भान होना ही ज्ञान है।

भारतीय दर्शन की नास्तिक परम्परा के अन्तर्गत चार्वाक और बौद्ध दर्शन के 'आत्मा' सम्बन्धी विचारों को जानने के पश्चात् अगला क्रम जैन दर्शन का आता है।

(स) जैन दर्शन में चेतना के सन्दर्भ में आत्मा की अवधारणा (तत्त्व एवं ज्ञान मीमांसीय दृष्टिकोण से)

जैन दर्शन का तत्त्व मीमांसीय सिद्धांत 'अनेकान्तवाद' कहलाता है जिसके अनुसार विश्व में अनेक वस्तुएं हैं तथा प्रत्येक वस्तु के अनंत धर्म होते हैं। जैन दर्शन में आत्मा को 'जीव' कहा गया है। जैन दर्शन का मत है कि यद्यपि जीव अस्तित्व को सभी आत्मवादी दर्शन स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके स्वरूप के सम्बन्ध में सबकी ऐकान्तिक अवधारणाएं हैं। सभी दर्शन जीव की किसी एक विशेषता को ग्रहण कर उसे ही उसका स्वरूप मान बैठने की भूल करते हैं। जैन दर्शन में जीव का सर्वांगीण स्वरूप मिलता है। जैन दर्शन में जीव का स्वरूप अनेकांतिक ढंग से प्रस्तुत करते हुए कहा गया है–

*''जीवो उव ओगमओ अमुत्ति कर्तता सदेह परिणामो भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्सोड्ढ गई।"*6

अर्थात्, जीव उपयोगमयी है, अमूर्तिक है, कर्तता है, स्वदेह परिणाम वाला है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है तथा स्वाभाविक ऊर्ध्वगति वाला है।

जैन दर्शन में 'जीव' सबसे प्रधान तत्व है। चेतना इसका मुख्य लक्षण है। समस्त सुख-दुःख की प्रतीति इस चेतना से ही होती है। इसी चेतना के आधार पर समस्त जड़ द्रव्यों से इसकी अलग पहचान होती है। इसलिए चेतना को 'जीव' का लक्षण कहा गया है,

''चेतना लक्षणो जीवः।''[7]

जैन दर्शन में जीव को 'नित्य', 'ज्ञाता', 'कर्त्ता' तथा 'भोक्ता' माना गया है। जीव ज्ञाता है, क्योंकि वह भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। जीव 'कर्त्ता' है क्योंकि वह सांसारिक कर्मों में भाग लेता है। वह 'शुभ' और 'अशुभ' कर्मों के द्वारा स्वयं अपने भाग्य का निर्माण कर सकता है। जीव भोक्ता है, क्योंकि अपने कर्मों का फल स्वयं भोगने के कारण सुख और दुःख की अनुभूतियाँ प्राप्त करता है।

जैन दर्शन में जीव को दो प्रमुख वर्गों में विभक्त किया गया है–(1) मुक्त और (2) बद्ध।

मुक्त जीव वे हैं जिन्होंने अपने प्रयासों से मुक्ति प्राप्त कर ली है। इनके कर्म पुद्गल समाप्त हो गये हैं। प्रारम्भ में यह भी सामान्य मनुष्य की तरह बन्धन ग्रस्त थे। जैन में मुक्त जीव को 'जिन' और 'केवली' कहा गया है। इन्होंने अपनी समस्त बाधाओं को नष्ट कर मोक्ष को अंगीकार कर लिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन में चेतना के विभिन्न स्तर या मात्रा भेद के आधार पर जीवों के भी विभिन्न वर्ग निर्धारित किए गए हैं, किन्तु चेतना प्रत्येक जीव का आवश्यक लक्षण है।

मुक्त जीव में चार प्रकार की पूर्णताएं पाई जाती हैं, जिन्हें 'अनन्त चतुष्टय' कहा जाता है। ये हैं, 'अनन्त ज्ञान', 'अनन्त दर्शन', 'अनन्त शक्ति' तथा 'अनन्त सुख'।

जब जीव बन्धन ग्रस्त रहता है तो उसकी यह विशेषताएं ढक जाती हैं, परन्तु मुक्ति की अवस्था प्राप्त करने के पश्चात् उनमें पुनः यह विशेषताएं आ जाती हैं और वह 'अनन्त चतुष्ट्य' से युक्त हो जाता।

'बद्ध' जीव दो प्रकार के हैं :- (1) स्थावर और (2) त्रस। 'स्थावर' जीव गतिहीन जीवों को कहा जाता है। ये जीव पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि और वनस्पति में निवास करते हैं। इनके पास सिर्फ एक ही इन्द्रिय है और वह है 'स्पर्श' जबकि 'त्रस' जीव इन्द्रियों के उपयोग के आधार पर चार प्रकार के हैं :- (1) दो इन्द्रिय वाले जीव जैसे 'घोंघा और सीप', इनमें 'स्पर्श' और 'स्वाद' पाया जाता है (2) तीन इन्द्रिय वाले जीव जैसे 'चींटी', इनमें 'स्पर्श',

'स्वाद' और गंध पायी जाती है (3) चार इन्द्रियों वाले जीवों में मक्खी, मच्छर, भौंरा आदि हैं, इनमें 'स्पर्श', 'स्वाद', 'गंध' और दृष्टि पाई जाती है (4) पांच इन्द्रियों वाले जीवों में मनुष्य, पशु, पक्षी आदि आते हैं, इनमें 'स्पर्श', 'स्वाद', 'गंध', दृष्टि और 'शब्द' पाया जाता है।

जैनों के जीव सम्बन्धित विचार की यह विशेषता है कि यहां सभी जीवों को चेतन माना गया है, परन्तु जहाँ तक चैतन्य की मात्रा का प्रश्न है, भिन्न-भिन्न जीवों में चैतन्य की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। कुछ जीवों में चेतना कम विकसित होती है तथा कुछ जीवों में चेतना अधिक विकसित होती है। सबसे कम विकसित चेतन स्थावर जीवों में होती है तथा सबसे अधिक चेतना मुक्त जीवों में होती है।

अन्ततः चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शनों के 'आत्मा' सम्बन्धित विचार पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि जहाँ चार्वाक 'आत्मा' की आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास नहीं करता और देह को ही 'आत्मा' मानते हुए 'देहात्मवाद' के सिद्धांत को स्वीकार करता हैः वहीं बौद्ध दर्शन यद्यपि आत्मा की सत्ता में विश्वास करता है, परन्तु वह आत्मा को अन्य सभी आत्मवादी दर्शनों के समान नित्य, कूटस्थ और अपरिणामी नहीं मानते हुए अनित्य, परिवर्तनशील और परिणामी मानता है तथा वह इस दृष्टि से स्वयं को 'अनात्मवादी' कहता है। जबकि जैन दर्शन 'आत्मा' या 'जीव' को चैतन्य तो अवश्य मानता है, परन्तु चैतन्यता की मात्रा के अनुसार जीवों में भेद करता है।

चेतना के सम्बन्ध में संक्षिप्त विमर्श

चेतना एवं अचेतना– चेतना के सन्दर्भ में अचेतना को भी स्पष्ट करना आवश्यक है, जिसे निम्न दो प्रकार से विचारित किया जा सकता है :

1. अचेतना को चेतना द्वारा ज्ञात कोई विषय या वस्तु के रूप में समझा जा सकता है जिसका चेतना से पृथक स्वतंत्र अस्तित्व है।[8]
2. अचेतना कोई ऐसा विषय या वस्तु है जिसकी हमें कुछ भी चेतना नहीं है तथा जो हमें अस्तित्वपरक भी नहीं जान पड़ता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन के नास्तिक सम्प्रदायों में चेतना को या तो आत्म स्वरूप माना गया है या फिर आत्मा के नित्य, स्वाभाविक अथवा आकस्मिक गुण के रूप में इसका वर्णन किया गया है। यहां महत्वपूर्ण प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि

आखिर चेतना की आवश्यकता क्यों ?

उपरोक्त प्रश्न के निम्नांकित संभावित उत्तर हो सकते हैं-

1. ज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञाता(आत्मा) की सत्ता को प्रतिपादित करने के लिए
2. पूर्णता के परम स्तर को प्राप्त करने की सम्भावना के रूप में
3. अविद्या अथवा बंधन के निवारण के लिए
4. लौकिक से पारलौकिक विकासक्रम को स्पष्ट करने के लिए
5. विकास, प्रतिविकास की संचारक शक्ति के रूप में।

अतः चेतना के उपरोक्त प्रश्नों का भारतीय दर्शन की नास्तिक परंपरा में आने वाले दर्शनों के सम्बन्ध में विचार करने पर मेरा मत यह है कि चेतना एक ऐसे वृहद् अस्तित्व की द्योतक है जो स्वयं में ही अनंत विमाओं से युक्त है और जिसका स्वभाव ही है स्वयं को जानना।

चेतना का स्वयं के ही किसी स्तर को जानकर केवल उसे अपना सम्पूर्ण समझना बंधन है और चेतना के अनंत स्वरूप के प्रति चेतन होना ही चैतन्य की सार्थकता और मुक्ति है।

संदर्भ सूची

1. मनुस्मृति, 2.11.
2. सिन्हा, प्रो. हरेन्द्र प्रसाद, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1963, पृ. 88.
3. वही, पृ. 89.
4. पाण्डेय, संगमलाल, भारतीय दर्शन की कहानी, रामनारायण लाल बेनी प्रसाद प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1964, पृ. 140.
5. सिन्हा, प्रो. हरेन्द्र प्रसाद, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ. 123.
6. प्रमाणसागर, मुनिश्री, जैन धर्म और दर्शन, शिक्षा भारती, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6, पृ. 70.
7. वही, पृ. 67.
8. सक्सेना श्रीकृष्ण, भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी प्रथम संस्करण पृ. 153

प्रो. विजय यादव
विभागाध्यक्ष
दर्शन शास्त्र विभाग
श्री नील कंठेश्वर शासकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय खंडवा (म. प्र.)

'दीक्षा' उपन्यास और स्त्री प्रश्न

–कु. प्रियंका

''यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमन्ते तत्र देवता'' यही नारी संबन्धी भारतीय आदर्श है। लेकिन सदियों से यहाँ नारी शोषित, दमित, लांक्षित और अभिशप्त होकर जीवन व्यतीत कर रही है। फिर भी वर्तमान युग नारी जागरण का माना जा सकता है। अब नारी सबल होकर समाज में पुरुषों के समान ही अनेकानेक क्षेत्रों में कार्यरत होने लगी है। संवेदना प्रवण नरेंद्र कोहली ने नारी जीवन के विभिन्न स्थितियों को उनके अपने मनोविकारों की जटिलताओं के साथ अपने उपन्यास (दीक्षा) में मिश्रित करके दिखाया है कि नारी के प्रति समाज को उदार और संवेदनशील बनना है।

नरेन्द्र कोहली द्वारा रचित 'दीक्षा' उपन्यास यद्यपि राम की पौराणिक कथा पर आधारित है, किन्तु उस रामकथा को लेखक ने सर्वथा नवीन संदर्भों में अभिव्यक्ति दी है। लेखक को उस समय के समाज और राजनीति में भी वही परिस्थितियाँ दिखाई दीं, जो तत्कालीन समाज में भी मौजूद थीं। इसलिए राम की यह पुराकथा लेखक के लिए अपने समय के विविध संदर्भों को अभिव्यक्ति देने का माध्यम बन गई।

कोहली 'स्त्री प्रश्न' या 'स्त्री अस्मिता' को अलग से परिभाषित नहीं करते, लेकिन अपनी लेखनी चलाते वक्त स्त्रियों की पीड़ा उनके दर्द के मुद्दों को संवेदनात्मक धरातल पर प्रस्तुत करते हैं। उनके सभी रचनाओं में स्त्रियों के प्रति सहानुभूति पूरी तल्लीनता के साथ दिखती है। वे अलग से स्त्री विमर्श का उद्घोष नहीं करते अपितु उनकी रचनाओं में ये मुद्दे उभरकर सामने आते हैं। उनकी रामकथा में भारतीय समाज के ढाँचे को ध्यान में रखते हुए स्त्री-पुरुष समानता, स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकारों को मान्यता दी गई है। यद्यपि पारंपरिक रामकथा में पितृसत्तात्मक व्यवस्था को प्रश्रय दिया गया है, किंतु कोहली की रामकथा में स्त्री मात्र के प्रति करुणा और सद्भावना दिखाई गई है। स्त्री को शक्ति के रूप में परिकल्पित किया गया है। नरेन्द्र कोहली की रामकथा 'दीक्षा' के नारी चरित्र हमारे समाज के विभिन्न वर्गों की नारियों के प्रतिनिधित्व करते हैं। ये स्त्री पात्र पारंपरिक रामकथा के आदर्शों से ग्रस्त, कोमल, धर्मभीरू, लज्जाशील, करूणा, त्याग की भावना से परिपूर्ण देवी की मूर्तियाँ नहीं वरन् हमारे समाज के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करती सामान्य-सी स्त्रियाँ मात्र हैं। इनका चित्रण कोहली ने ऐसे अनूठे ढंग से किया है कि ये सभी पात्र, चरित्र हमारे आस-पास की महिलाओं यथा–चाची, दादी, बुआ, भाभी के रूप में दिखाई देती हैं। स्त्री धरती पर ईश्वर का ही एक अंश है; जननी

है, शक्ति है, ममत्व की देवी, तमाम जिम्मेदारियों की वाहक है, जीवन का रस तथा मानव जाति का सम्मान व सम्पूर्ण समाज की धुरी है। किन्तु सहस्रों वर्षों से मनुष्य नारी को एक भोग की वस्तु ही मानता रहा है, चाहे वह कितनी भी श्रेष्ठ संस्कृति का ही समय क्यों न रहा हो।

पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री का अपना कोई अस्तित्व है ही नहीं, न ही अस्मिता। 'दीक्षा' उपन्यास में राजा दशरथ की तीन रानियों के रूप में कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा का वर्णन है। ये तीनों स्त्री चरित्र, समाज के तीन विभिन्न स्तरों का प्रतिनिधित्व करती हैं। कौशल्या मानव वंश में पितृसत्ता की चरम् परिणति वाले समाज में पली-बढ़ी नारी के रूप में वर्णित हैं–'वे जानती थीं मानव वंश में नारी पूर्णतः पति के अधीन है। उसका कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं है। यह वंश समाज में पितृसत्ता को उसकी पराकाष्ठा तक ले गया था। वे व्यक्ति नहीं थीं, वे उस वंश की पुत्र-वधू थीं और उन्हें वही रहना था। परिवार के लिए उसकी सुख-सुविधा के लिए उन्हें अपने व्यक्तित्व का बलिदान करना था और कौशल्या ने वही किया था। वे दरबार के विशिष्ट उत्सवों में साम्राज्ञी थीं, राज्य की उत्तराधिकारी की माँ थीं। रघुवंश की वधू भी थीं, किंतु न तो वे दशरथ की कान्ता थीं, न प्रेमिका, न संगिनी।'[1]

इस तरह से देखा जाए तो कौशल्या एक ऐसी नारी हैं जिसने परिवार के मान-मर्यादा के लिए स्वयं के अस्तित्व को शून्य कर लिया। वे दशरथ की उपेक्षित पत्नी हैं। उनका विवाह दशरथ के पिता अज की इच्छा से हुआ था। हमारे समाज में आज भी कई ऐसी घटनायें मिल जाती हैं, जिनमें महिलाओं का विवाह उनके घर के बड़े बुजुर्गों द्वारा तय कर दिए जाते हैं। वहाँ ससुराल पहुंचकर न वहाँ के लोग सम्मान देते हैं न ही स्वयं का पति कोई महत्व देता है। समाज की दृष्टि से तो वह विवाहित जीवन बहुत अच्छे से व्यतीत कर रही होती है, किन्तु उसके अर्न्तमन में कोई झाँक कर नहीं देखता कि उसे क्या चाहिए? वह कैसा जीवन जीने को बाध्य है। वैसे वह सब कुछ का पालन करती है, जैसा कि एक दाम्पत्य जीवन का होता है; कुल को बढ़ाने के लिए बच्चा भी जनती है, लेकिन उसका जीवन प्रेम से शून्य होता है। पितृसत्ता की भेंट चढ़े प्रेम तथा अधिकार से रहित दुखदाई स्थिति को कोहली जी ने बहुत ही मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया है। कौशल्या के माध्यम से पितृसत्ता के षड्यंत्र की शिकार उन महिलाओं का चित्रण किया गया है, जिनका बचपन पिता के, यौवन पति के, तथा बुढ़ापा पुत्र के संरक्षण में बीत जाता है। इनकी स्वंय की कोई आकांक्षा कोई व्यक्तित्व नहीं होता है वे परिवार में एक शोभा की वस्तु के समान आती हैं और निरूद्देश्य अपना जीवन व्यतीत कर चली जाती हैं। दशरथ की द्वितीय रानी 'सुमित्रा' आत्मविश्वासी, दृढ़, करूण, तेजस्विनी, उग्र, निष्पाप क्षत्राणी के रूप में चित्रित है। वे एक आदर्श भारतीय नारी का प्रतीक हैं।

दशरथ की सैन्य शक्ति से भयभीत होकर सुमित्रा के पिता उनका विवाह दशरथ के साथ कर दिया था, लेकिन सुमित्रा ने पहले दिन ही दशरथ को स्पष्ट रूप से कह दिया कि एक पत्नी और पुत्र के रहते हुए दशरथ का पुनर्विवाह एकदम पसंद नहीं था। सुमित्रा के चरित्र के विषय में एक कथनः

> 'सुमित्रा सदा ही अन्याय का विरोध करती रही। वह पत्नी तथा कुलवधू की मर्यादा को मानकर चलती रही किंतु रही सदा निडर सिंहनी के समान।'[2]

कैकयी ने अपने देश रक्षा के लिए स्वयं से अधिक आयु के व्यक्ति से विवाह किया, किंतु अपने स्वच्छंद व्यक्तित्व के कारण पितृसत्तात्मक समाज की स्त्री विरोधी मान्यताओं के विरूद्ध विद्रोह करती रही–

'कैकेयी साधारण कोमल एवं भीरू राजकुमारी नहीं थी। वह असाधारण थी। हठीली, उग्र, तेजस्विनी, महत्वाकांक्षिणी तथा असाधारण सुंदरी। उसने कहा था वह समाज की भलाई के लिए, देश के कल्याण के लिए, अपने परिवार की रक्षा के लिए, राष्ट्र के सुख के लिए सबकुछ त्याग सकती है–मान! सम्मान। वह अपने प्राण दे सकती है। वह कठिन से कठिन दुःख उठा सकती है।'[3]

'सीता किसी राजभवन में पलंग पर बैठकर, दास-दासियों से सेवा करवा, दिन-रात पान चबाना अपने जीवन का लक्ष्य नहीं मानती। सीता संतान उत्पन्न करने के यंत्र के रूप में किसी राजपरिवार में उपयोगी सिद्ध होना नहीं चाहती।'[4] कोहली ने राम के द्वारा अज्ञातकुलशीला सीता का भी उद्धार दिखाया है। वह सीरध्वज को खेत में मिली थी, इसलिए भूमि पुत्री मानी जाती हैं। लेकिन जाति-पाँति, कुल-गौत्र, ऊँच-नीच की भावनाओं से जकड़े समाज के लिए सीता के विवाह की समस्या जटिल थी। राम समाज की इस विडम्बना के प्रति चिन्ता प्रकट करते हुए कहते हैं–'एक असाधारण रूपवती राजकुमारी से विवाह के लिए कोई आर्य राजकुमार प्रस्तुत नहीं। यदि वह अज्ञातकुलशीला है तो उसमें उस कन्या का क्या दोष? हमारा समाज कैसा जड़ है–वनजा बिना अपने किसी दुष्कर्म के पीड़ित है, अहल्या बिना अपराध के दण्डित है, सीता बिना दोष के अपमानित है। ऐसा क्यों है?'[5] ऐसा ही एक कथन विश्वामित्र

का है सीता के प्रति। 'तुम्हारा विचार बहुत ही उत्तम है, वत्स। किन्तु जनक कुमारी की इच्छा जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। ऐसी स्थिति में अपनी पुत्री की इच्छा जानने का दायित्व सम्राट सीरध्वज पर है। वैसे वीर्य शुल्क घोषित होने के पश्चात् कन्या की इच्छा के विषय में क्या कहा जा सकता है।'[6] यहाँ वीर्य शुल्क होने के कारण सीता को अपने वर चुनने का कोई अधिकार नहीं। कोहली जी ने अनेक प्रसंगों के द्वारा इस उपन्यास में स्त्रियों की दयनीय दशा का उद्घाटन इस समाज के समक्ष प्रस्तुत किया।

कोहली के 'दीक्षा' उपन्यास में अधिकांश स्त्री पात्र अलग-अलग प्रकारों से अपने-अपने समाज में पीड़ित हैं। पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष अपने शक्ति एवं पौरुष का प्रदर्शन करने हेतु महिलाओं पर अत्याचार करते हैं, यह दोनों प्रकार का हो सकता है, शारीरिक भी मानसिक भी। आदिम काल में स्त्री को पुरुष के समान माना जाता था, जननी शक्ति होने के कारण उसकी पूजा भी की जाती थी, किंतु धीरे-धीरे यह व्यवस्था बदलती गई। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास हुआ समाज पितृसत्तात्मक होता गया और समाज में नारी का स्थान उपभोग की वस्तु मात्र रह गया। नारी को संपत्ति तथा पशुधन के समकक्ष मानकर उसका क्रय-विक्रय भी किया जाने लगा। स्त्री को मानव न मानकर भोग की वस्तु मानने की मानसिकता पुरुष को स्त्री पर अत्याचार करने के लिए प्रेरित करती है। अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए और कभी-कभी तो मात्र स्वयं के पाशविक आनंद के लिए पुरुष स्त्री पर हिंसा का प्रयोग करता है। कोहली जी की रामकथा में ऐसी पाशविक हिंसा के कई दृश्य सामने आते हैं—प्रथमतः सिद्धाश्रम में वनजा के माध्यम से कोहली जी एक बलात्कार पीड़िता का दर्द सामने रखते हैं, जो राक्षसों द्वारा अपहृत की गई थी तथा किसी राक्षस का गर्भ वहन कर रही थी। वह स्वयं पीड़ित थी लेकिन समाज उसे अपनाने से अस्वीकार करता है क्योंकि समाज की दृष्टि में वह पतित हो चुकी थी। अहल्या के शीलभंग का प्रसंग बलात्कार की पीड़ा को संवेदनात्मक धरातल पर और भी गहराई महसूस करवाता है। किसी स्त्री की सहमति के बिना पशुबल से उसके भोग को अमानुषिक कृत्य मानते हुए भी समाज में बलात्कार के कृत्य को जिस पुरुषवादी नजरिये से देखा जाता है उसे सूक्ष्मता के साथ इस कथा में वर्णित किया गया है।

'दीक्षा' उपन्यास में एक रोचक प्रसंग 'अहल्या का उद्धार' है। अहल्या का पौराणिक आख्यानों में राम ने जिस तरह उद्धार किया था, उससे कहीं श्रेष्ठ 'दीक्षा' में कोहली ने दिखाया है। वह अपने पति गौतम के उत्कर्ष के लिए एकांतवास करती है, राम को अन्याय के प्रतिकार का अवसर देती है। वह समाज के लिए एक सशक्त नारी का प्रतिरूप है जो कष्ट और संकट झेलकर भी पतिपरायण बनी रहती हैं। समाज में ऐसी स्त्रियाँ पुरुषों के अत्याचार के कारण निरापराध होने पर भी समाज से बहिष्कृत रहती हैं। नरेन्द्र कोहली ऐसे समाज व्यवस्था के समक्ष प्रश्न उठाते हैं, 'शक्ति और सत्ता के मद में क्या सब लोग एक ही जैसे नहीं हो जाते चाहे राक्षस हो चाहे देव?'[7] इंद्र अहल्या का बलात्कार करता है लेकिन पकड़े जाने पर अहल्या पर ही लांछन लगा देता है, 'पहले स्वयं बुला लिया और अब नाटक कर रही है। यदि एक स्त्री पर पुरुष को काम आह्वान देती है, और पुरुष उसे स्वीकार कर उसके पास आता है, तो समाज उसके लिए स्त्री को ही दोषी ठहराया इंद्र ने ऐसी ही चाल चली है। अहल्या को लांक्षित कर वह अपने आतिथेय ऋषि की पत्नी के साथ बलात्कार जैसे गंभीर अपराध तथा पाप को छिपा जाना चाहता है...। दोष किसी का भी हो किंतु वह पतित हो चुकी थी। उसका उद्धार नहीं हो सकता था इंद्र को दंडित किया जाए अथवा न किया जाए।'[8] समाज के तथाकथित ऊँचे तबके के लोग जघन्य अपराधों में पीछे नहीं रहते और ये उपेक्षित नारियाँ समाज से अपने उद्धार के लिए प्रतीक्षारत हैं, इसलिए अहल्या कहती है—'मैं अकेली जड़ नहीं हो गयी थी, सम्पूर्ण आर्यावर्त जड़ हो चुका है। वे सब तुम्हारी प्रतिक्षा कर रहे हैं। तुम उनमें उसी प्रकार प्राण फूंको, जिस प्रकार मुझमें प्राण फूँके हैं। सामाजिक रूढ़ियों में बँधा यह समाज न्याय-अन्याय, नैतिकता-अनैतिकता आदि के विचार और प्रश्नों के संदर्भ में पूर्णतः जड़-पत्थर हो चुका है।''[9] राम ने रूढ़ियों को तोड़कर समाज के सम्मुख यह आदर्श रखा कि नारी पुरुषों के कुकृत्यों का शिकार होकर तिरष्कृत नहीं हो सकती। राम का यह कदम भी अन्याय के विरूद्ध उनके संघर्ष का हिस्सा था। 'लेखक ने अहल्या की कथा के साथ सामाजिक रूढ़ियों की बात जोड़कर भारतीय समाज में स्त्री के प्रति हो रहे अत्याचार की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। समाज में पीड़ित और तिरस्कृत वर्ग के उद्धार के लिए एक सशक्त नेतृत्व की आवश्यकता, धैर्य और साहस की आवश्यकता लेखक ने रेखांकित की है।'[10] 'दीक्षा' में सेनापति बहुलाश्व के पुत्रों के द्वारा जिस प्रकार गहन-जो कि सम्राट दशरथ के राज्य की सीमा के भीतर एक ग्राम में रहता है, जाति का निषाद है तथा नौकाएँ चलाने का काम करता है; उसके घर की स्त्रियों का बलात्कार किया जाता है वह उस महान संस्कृति का रूप है, जो अपनी शक्तियों का प्रयोग जनता का उद्धार करने के लिए

नहीं अपितु उनका शोषण करता है। राक्षसों को पराजित करने के पश्चात् राम जब उनके शिविरों की ओर बढ़ते हैं तो वहाँ उन्हें राक्षसों द्वारा अपहृत अनेकानेक बंदी स्त्रियाँ दिखाई देती हैं। नरेन्द्र कोहली ने उन पीड़ित स्त्रियों का अत्यन्त कारुणिक चित्र प्रस्तुत किया है—'वे सभी प्रायः युवतियाँ थीं। उनके शरीरों पर अत्यन्त संक्षिप्त वस्त्र थे—'मुख मुरझाए हुए मानो वर्षों से रोगिणी हों। पीड़ित-यातना की प्रतिमूर्तियाँ।'[11] कोहली ने राम के द्वारा इन स्त्रियों का उद्धार दिखाया, जिससे कि सम्पूर्ण मानव समाज उनसे प्रेरणा लेकर ऐसे ही पीड़ित स्त्रियों का उद्धार कर सके। 'दीक्षा' में ही एक स्थान पर कोहली ने निम्न जाति की स्त्रियों की पीड़ा को दर्शाया है, सेनानायक बहुलाश्व का चरित्र इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। सेनानायक बहुलाश्व को निषादों के गाँव के संरक्षण की जिम्मेदारी थी। एक बार की घटना है, बहुत से आर्य युवक एक दिन ग्राम प्रमुख गहन के घर आते हैं, वे सब शराब की मस्ती में थे। इस दल का नेता सेनानायक बहुलाश्व का पुत्र देवप्रिय था। मदोन्मत होकर उन्होंने गहन से उस परिवार की स्त्रियों की मांग की। गहन ने इन्कार किया तो शराबियों का उत्तर था—'वे लोग धनी मानी सवर्ण आर्य हैं और कंगाल गहन के परिवार की स्त्रियाँ नीच जाति की तुच्छ स्त्रियाँ हैं। नीच जाति की स्त्रियों की भी कोई मर्यादा होती है क्या? वे होती ही किसलिए हैं? सवर्ण आर्यों के भोग के लिए ही तो।'[12] गहन और ग्राम के युवकों के प्रतिशोध से सभी आर्य युवक कुछ दिनों के लिए शान्त हुए और चले गये। लेकिन एक बार फिर से ये सब उन्मत्त होकर आये और उन्होंने प्रतिशोध में वहाँ की सब स्त्रियों पर आक्रमण किया। कईयों को मार भी डाला, गहन को जीवित रूप में ही जला दिया, इन घटनाओं पर दुःखी होकर मुनि विश्वामित्र कहते हैं—'स्वयं शासन-प्रतिनिधि का ही पुत्र राक्षसी कृत्य करेगा तो न्याय कौन करेगा? न्याय की मांग करने कोई किसके पास जाए और यदि पिता उत्कच के अत्याचारों की ओर से आँख मूँद लेता है तो पुत्र इतना भी नहीं करेगा क्या?'[13] वर्तमान युग के असंयमी जीवन तथा नीति व्यवस्था की शिथिलता पर यहाँ प्रकाश डाला गया है। मदोन्मत्त होकर स्त्रियों पर आक्रमण करना तथा धार्मिक व्यवस्थाओं को भी ललकारना आज हंसी-खेल के कार्य हो गये हैं। नीति करने वाले स्वयं अनीति करने लगे, नियम पालक स्वयं नियमों का उल्लंघन करे, सत्ताधारी बिना जनता पर ध्यान दिये सत्ता का दुरूपयोग करे तो फिर देश का सुधार कैसे होगा? प्रगति कैसे होगी? कैसे देश सुरक्षित रहेगा? देश की इन सारी अनैतिकताओं पर कोहली जी ने प्रश्न उठाया है। आज भी समाज में स्त्रियों की यही दशा है, उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। कहने को तो हमारा देश इक्कसवीं सदी में प्रवेश कर चुका है लेकिन स्त्रियों के विषय में वह आज भी वही सोच रखता है जो सदियों पहले रखता था। शिक्षा के बढ़ते विकास ने स्त्रियों की स्थिति को सुधारने में अहम् भूमिका का निर्वाह किया है लेकिन फिर भी समाज उन स्त्रियों को सम्मान की नजर से नहीं देखता जो अपने जीवन के फैसले स्वयं लेती हैं।

समाज में नारी को बिना किसी अपराध के दण्ड का भागीदार बनना पड़ता है। सीता के लिए आर्येत्तर जातियों से विवाह प्रस्ताव आते हैं, जिन्हें जनक पसन्द नहीं करते और आर्य कुलों से जो प्रस्ताव आये थे वे जनक को स्वीकार नहीं थे क्योंकि वे या तो बूढ़े थे या उनके पहले से ही सौ-पचास रानियाँ थीं उसी की ओर संकेत करते हुए लेखक ने लिखा है—'सीरध्वज ने यह नहीं सोचा था जब वह कन्या युवती होगी, तो जाति-पाँति, कुल-गौत्र और ऊंच-नीच की भावनाओं में जकड़े इस समाज में उसके विवाह की समस्या कितनी जटिल होगी। उसके जन्म और कुल-शील को लेकर प्रश्न, संदेह और लांछन थे। कोई नहीं मानता था कि सीरध्वज की पुत्री होने के कारण, मिथिला नरेशों के प्रसिद्ध कुल की राजकुमारी है। विभिन्न राजपरिवारों ने सम्राट द्वारा सीता के दहेज में अपना सम्पूर्ण वैभव दे देने का अधिकार तो स्वीकार किया था, अपना कुल-गौत्र देने का नहीं।''[14]

समाज में पितृसत्तात्मक व्यवस्था के मूल में पूंजीवाद है। पूंजीवाद पितृसत्ता में घरेलू हिंसा को बढ़ावा देता है। उत्पादन के साधनों पर वर्ग विशेष का नियंत्रण एक श्रृंखला के रूप में शोषण को जन्म देता है। इस प्रकार सहज सुखी दांपत्य जीवन के स्थान पर घरेलू हिंसा से ग्रस्त नारकीय जीवन श्रमिकों एवं मजदूरों के यहाँ सामान्य सी बात माने जाने लगती है। नरेन्द्र कोहली ने इस घरेलू हिंसा के वातावरण का अत्यंत भयावह पर वास्तविक दृश्य दिखाया है।

रामकथा भारतीय जनजीवन का अभिन्न अंग रही है। राम स्त्री शरीर को भोग की वस्तु न मानते हुए सतीत्व के परंपरागत रूढ़ आदर्शों को नकार देते हैं। बलात्कार पीड़ितों को निर्दोष मन से जीवन आरंभ करने का संदेश देती इस रामकथा ने भले ही परंपरागत मिथकीय प्रतिमानों का संवहन न किया हो और पारंपरिक राम कथा से विचलन के लक्षण प्रस्तुत करती हो पर संवेदना के स्तर पर यह स्त्री प्रश्न की दृष्टि से सफल सिद्ध हुई है। कोहली का यह रामकथा लोक कल्याण की भावना से परिपूर्ण है। इस

रामकथा के लोक में स्त्रियों और पुरुषों को समान स्थान है।

निष्कर्ष

यह कहना गलत नहीं होगा कि राम पर आधारित 'दीक्षा' उपन्यास उस दर्पण के समतुल्य है जिसका निर्माण राम के पौराणिक कथा प्रसंगों से हुआ है, किन्तु उसके समक्ष खड़े होने पर जो प्रतिबिंब पाठकों को दिखाई पड़ता है, वह आज के आधुनिक समाज के चित्र को प्रस्तुत करता है। वर्तमान समाज के जिस रूप को कोहली जी ने अपने समक्ष देखा, अपने लेखन के माध्यम से उन्होंने समसामयिक समय में फैले हुए अनेक विद्रूपताओं को उजागर किया है। सबसे बड़ी बात स्त्रियों को लेकर है कि उनकी क्या दशा और दिशा है? स्त्रियों के शोषण, उन पर हो रहे अत्याचार, उनकी अस्मिता आदि प्रश्नों के उत्तर कोहली ने 'दीक्षा' उपन्यास में दिया है।

अतः लेखक नरेन्द्र कोहली ने 'दीक्षा' उपन्यास में नारी-शोषण व नारी-उद्धार का स्वर अहल्या, सीता व अन्यान्य शोषित स्त्रियों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। उन्होंने अहल्या की पौराणिक कथा को 'दीक्षा' उपन्यास में बिल्कुल नये एवं तर्कयुक्त रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने ऐसा इसलिए किया क्योंकि यहाँ अहल्या पत्थर नहीं है, अपितु इस समाज के दंश एवं दुराचार से जड़वत सी हो गई है। सीता के माध्यम से वे भारतीय समाज में अज्ञातकुलशील नारी के विवाह की समस्या को दिखाया है। इस तरफ गहन (निषाद) के परिवार की स्त्रियों के साथ हुए दुर्व्यवहार से सामान्य स्त्रीवर्ग की दुर्दशा पर प्रश्न उठाया है। लेखक ने इन्हीं नारियों का उद्धार करने के लिए राम जैसे उद्धारक को इस उपन्यास का माध्यम बनाकर वर्तमान समाज के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत करना चाहते हैं। आज भी हमारे समाज में अनेक ऐसी तिरस्कृत स्त्रियाँ हैं जिनके उद्धार की आवश्यकता है जिन्हें समाज की मुख्य धारा से जोड़ने की आवश्यकता है।

संदर्भ सूची

1. नरेन्द्र कोहली, दीक्षा, हिंद पाकेट बुक्स, नई दिल्ली, 2004, वही, पृ. 26, 27
2. वही, पृ. 27
3. वही, पृ. 28
4. वही, पृ. 170
5. नरेन्द्र कोहली, अभ्युदय-भाग-1 (दीक्षा-खण्ड), वाणी प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, पृ. 159
6. वही, पृ.164
7. वही, पृ.147
8. नरेन्द्र कोहली, दीक्षा, हिंद पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, 2004, पृ. 110-114
9. नरेन्द्र कोहली, अभ्युदय-भाग-1 (दीक्षा-खण्ड), वाणी प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, पृ.152
10. के. सी. सिन्धु, रामकथा : कालजयी चेतना, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ.37
11. नरेन्द्र कोहली, अभ्युदय-भाग-1 (दीक्षा-खण्ड), वाणी प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, पृ. 82
12. वही, पृ. 15
13. वही, पृ. 18
14. के. सी. सिन्धु, रामकथा : कालजयी चेतना, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ. 38

कु. प्रियंका
शोधार्थी
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
उत्तर प्रदेश

महिला सशक्तीकरण के वर्तमान युग में अधिकार एवं समाजिक जागरूकता

–राहुल यादव
–डा. वसुधा कुलश्रेष्ठ

सारांश

महिला सशक्तीकरण से जुड़े सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और कानूनी मुद्दों पर संवेदनशीलता और सरोकार व्यक्त किया जाता है। सशक्तीकरण की प्रक्रिया में समाज को पारंपरिक पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण के प्रति जागरूक किया जाता है, जिसने महिलाओं की स्थिति को सदैव कमतर माना है। वैश्विक स्तर पर नारीवादी आंदोलनों और यूएनडीपी आदि अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने महिलाओं के सामाजिक समता, स्वतंत्रता और न्याय के राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। महिला सशक्तीकरण, भौतिक या आध्यात्मिक, शारीरिक या मानसिक, सभी स्तर पर महिलाओं में आत्मविश्वास पैदा कर उन्हें सशक्त बनाने की प्रक्रिया है।

मुख्य शब्द : समाजिक जागरूकता, शिक्षा, राजनैतिक प्रगति, नारीवाद , स्वतंत्रता, महिला सशक्तीकरण।

प्रस्तावना

समान पारिश्रमिक अधिनियम के अनुसार अगर वेतन या मजदूरी की हो तो लिंग के आधार पर किसी के साथ भी भेदभाव नहीं किया जा सकता है। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम के तहत नये नियमों के आधार पर पुश्तैनी सम्पत्ति पर महिला और पुरुष दोनों का बराबर हक है। किसी मामले में अगर आरोपी एक महिला है तो उस पर की जाने वाली कोई भी चिकित्सा जांच प्रक्रिया किसी महिला द्वारा या किसी दूसरी महिला की उपस्थिति में ही की जानी चाहिए। महिलाओं का पारिवारिक बंधनों से मुक्त होकर अपने और अपने देश के बारे में सोचने की क्षमता का विकास होना ही महिला सशक्तीकरण कहलाता है।

भारतीय समाज में स्त्रियों को ज्ञान, भक्ति और सम्पत्ति का प्रतीक माना गया है। इस रूप में सरस्वती, दुर्गा एवं लक्ष्मी की पूजा की जाती है। समाज ने स्त्रियों को पुरुषों का आधा हिस्सा मानते हुए अर्धांगिनी का स्थान दिया है। किसी भी कार्य की पूर्ति स्त्री के बिना नहीं हो पाती है। स्त्री के महत्व को इस प्रकार बढ़ाया गया है कि नारी परिवार की नींव है। परिवार समुदाय की तथा समुदाय राष्ट्र की इसलिए स्पष्ट है कि स्त्री ही राष्ट्र की नींव है जिस राष्ट्र या देश में महिलाओं का सम्मान होता है वह राष्ट्र एक आदर्श राष्ट्र होगा। वैदिक काल में भारतीय समाज में महिला को पुरुष के समान शिक्षा, धर्म, राजनीति और सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त थे। वैदिक साहित्य से पता चलता है कि इस युग में महिलाओं की स्थिति बहुत ऊंची थी। ऋग्वेद के मतानुसार नारी ही घर है। अर्थववेद में कहा गया है, ''नव वधू तू जिस घर में जाती है वहाँ की तू साम्राज्ञी है, तेरे सास, ससुर, देवर व अन्य तूझे साम्राज्ञी समझते हुए तेरे शासन में आनंदित है।"

यजुर्वेद से स्पष्ट होता है कि नारी को संध्या करने तथा उपनयन संस्थान करने के अधिकार प्राप्त थे। धर्म एवं अनुष्ठान के कार्य बिना नारी के पूरे नहीं किये जाते थे जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध था स्त्री और पुरुष में कोई विशेष भेद नहीं था। इस काल में पर्दाप्रथा, बाल-विवाह आदि कुरीतियाँ नहीं थी। महिलाओं के समाजिक सम्बन्ध बनाने एवं स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। महिलाओं के शील और सम्मान की रक्षा करना सबसे बड़ा धर्म एवं उनका अपमान करना सबसे बड़ा पाप माना जाता था। उत्तर वैदिककाल में धर्म सूत्रों में बाल-विवाह का निर्देश दिया गया, महिला शिक्षा में गिरावट आयी और उनके लिए धार्मिक संस्कार में भाग लेने की मनाही हो गयी। इनका प्रमुख कर्तव्य आज्ञा पालन हो गया। स्मृति युग में महिलाओं की स्थिति और गिर गयी। महिला जहाँ अपनी सभ्यता, संस्कारिता, मृदुता, वत्सलता, सहृदयता, उदारता, विशालता, ममता, विवेक व दया की प्रतिमूर्ति है वहीं वह ऐसी चिंगारी भी है जिसके लग जाने से परिवार, समाज व देश में भयंकर से भयंकर स्थिति पैदा कर सकती है। महिला श्रद्धा, प्रेम, भक्ति, सेवा, समानता का प्रतीक है। वहीं वह साक्षात् शक्ति का प्रतीक भी है जहाँ महिला करुणा की मूर्ति कही गई है, वह दुर्गा रूप व महाकाली का रूप भी धारण कर लेती है। यह दुर्गा रूप समाज के विकृत स्वरूप को दर्शाती है। यदि सही मायने में सोचा जाए तो इस सबके पीछे पुरुष के अधिकार करने की प्रवृति महिला शोषण बलात्कार व अमानवीय घटनाएं इससे जुडी हुई हैं। आज के वर्तमान युग में दर्द पीकर अमृत की वर्षा करने वाली नारियों की संख्या कम होती जा रही है। इतिहास साक्षी है कि अपनी आन-बान-शान के लिए यहाँ की नारियाँ झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई भी बनी है। इस बात में कोई अतिश्योक्ति नहीं कि जहाँ पुरुष वर्ग एक कहानी बना है, वहीं महिला वर्ग एक उपन्यास। महिला को जहाँ देवी कहा गया है वहीं दासी व माया भी कहा गया है। सीता, उर्मिला, मन्दोदरी, जैसी नारियों का आदर्श होते हुए भी और अपनी पत्नी को गुरुवत् स्वीकारते हुए भी तुलसीदास ने कहा-–''ढोल गंवार शूद्र पशु नारी सकल ताड़ना के अधिकारी।'' एक तो कहा जाता है कि ''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तन्त्र देवता'' और दूसरी ओर देव स्थान में महिला को बाधक माना है। महिला के बिना जीवन अपूर्ण व अधूरा माना गया है। उसकी पूर्णता के प्रतीक के रूप ही शंकर को अर्द्धनारीश्वर स्वरूप की परिकल्पना प्रस्तुत की गयी है। शिव के साथ पार्वती, कृष्ण के साथ राधा तथा राम के साथ सीता का पवित्र महान व देवतापूर्ण नाता जोड़ा गया है। दूसरी ओर महिला की नितान्त उपेक्षा की गयी है। महिला सशक्तीकरण का व्यापक रूप 1985 में महिला अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन नैरोबी में किया गया। महिला सशक्तीकरण का अभिप्राय महिलाओं की पुरुषों के बराबर वैधानिक, राजनीति, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में उनके परिवार, समुदाय समाज एवं राष्ट्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में निर्णय लेने की स्वायतत्ता है और महिला को पुरुष के समतुल्य प्रतिभावना बनाने का संकल्प लेकर नवयुग का शुभारंभ करना है। यही हमारा प्रयास एवं मूलमन्त्र होगा। तभी हम सब समाज व राष्ट्र की एक बहुआयामी गति और सार्थक विकास कर सकेंगे।

सामाजिक जागरूकता

आज स्त्रियों में काफी सामाजिक जागरूकता आ चुकी है। अब वे पर्दे में सिमटी हुई अपने आपको घर की चारदीवारों में बन्द नहीं रखतीं। आधुनिक स्त्रियों में जातीय नियमों के प्रति भी उदासीनता पाई जाती है। वे ऐसे प्रतिबन्धों की अधिक चिन्ता नहीं करतीं। अब महिलाएं समाज कल्याण कार्यक्रमों में भाग लेती हैं। महिला मण्डलों का निर्माण और क्लबों की सदस्यता भी ग्रहण करती हैं। आजकल अनेक स्त्रियां रूढियों के चंगुल से मुक्त हो चुकी हैं, और स्वतंत्रता के वातावरण में श्वांस ले रही हैं।

समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं के प्रति उनकी जागरूकता, धर्म की आड़ में उन्हें समस्त अधिकारों से वंचित कर देने वाले असन्तोषजनक आदर्शों के प्रति, शिक्षा से उत्पन्न होने वाली महत्वाकांक्षाएं और राष्ट्रीय संघ के

समय विकसित होने वाले अनुभवों ने उन्हें हिन्दू जीवन के आदर्श का पुनर्विवेचन करने की प्रेरणा दी है।

समाज के स्त्री वर्ग ने जो कि सबसे अधिक शान्तिप्रिय एवं सबसे अधिक सहनशील मानी जाती हैं वे भी अब अपनी स्थिति सुधारने के लिए अधिकारों की माँग करना प्रारम्भ कर दी हैं तो इसे अब और अधिक दबाया नहीं जा सकता है। बढ़ती हुई चेतना को देखते हुए यह जरूरी हो जाता है कि हिन्दू समाज का पूर्नमूल्यांकन किया जाए।

महिलाओं में शिक्षा का प्रसार

किसी भी देश के सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक क्रिया-कलापों में महिलाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। भारत के प्राचीन काल में इस महत्व को स्वीकारा गया है और उनको अच्छी से अच्छी शिक्षा प्रदान की गई है। महिलाओं को चारों वेदों के ज्ञान से अवगत कराया गया, उसमें 400 श्लोकों में से लगभग 24 श्लोक महिलाओं पर थे। इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक काल में कुछ महिलाएं शिक्षा देने का कार्य करती थीं। गाँधी जी ने कहा कि मेरा दृढ़ विश्वास है कि महिलाओं को वे सभी सुविधायें प्राप्त होनी चाहिए जो पुरुषों को प्राप्त हैं अपितु विशेष परिस्थितियों में उन्हें अधिक से अधिक सुविधाएँ प्रदान की जायें। जवाहरलाल नेहरू जी अपने शब्दों में बताते हैं कि ''एक बालक की शिक्षा से एक व्यक्ति शिक्षित होता है परन्तु एक बालिका को शिक्षित करने से पूरा परिवार शिक्षित होता है।'' विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948-49) ने कहा था कि वहाँ शिक्षित व्यक्ति नहीं हो सकते जहाँ महिलाएं शिक्षित नहीं होतीं। कोठारी कमीशन (1964) ने कहा कि ''मानव संसाधन के पूर्ण विकास के लिए शिशु काल में महिला शिक्षा का महत्व पुरुषों की शिक्षा से अधिक है।" महिला सशक्तीकरण की प्रक्रिया बौद्धिक एवं क्रियात्मक रूप प्रदान करती है। महिला सशक्तीकरण की दिशा में अन्य प्रयास महिला दिवस के आयोजन को माना जाता है जिसकी शुरूआत अमेरिका में सोशलिस्ट पार्टी के आह्वान पर पहली बार 28 जनवरी 1909 को की गई जिसे बाद में फरवरी महीने के अन्तिम रविवार को आयोजित किया जाने लगा। आगे चलकर वर्ष 1917 में रूस की महिलाओं ने महिला दिवस पर रोटी एवं कपड़े के लिए हड़ताल की। रूस के तानाशाह शासक जार ने सत्ता में आई अन्तिम सरकार ने महिलाओं को वोट देने का अधिकार दिया।

जूलियन कैलेण्डर के अनुसार- 1917 में फरवरी महीने का अन्तिम रविवार 23 फरवरी को था। जबकि ग्रेगेरियन कैलेण्डर के अनुसार वह दिन 8 मार्च था चूँकि वर्तमान समय में पूरे विश्व में ग्रेगोरियन कैलेण्डर प्रचलित है, इसलिए आज विश्वभर में 8 मार्च को महिला दिवस के रूप में मनाया जाता है लेकिन केवल महिला दिवस का आयोजन करना तब तक सार्थक नहीं हो सकता जब तक महिलाओं के प्रति सामाजिक सोच एवं संस्कृति में सकारात्मक परिवर्तन लाया जाये।

उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। प्रति 100 पुरुषों की तुलना में, पंजीकृत महिलाओं की संख्या में 1950-51 से लेकर 1995-96 तक चौगुनी वृद्धि हुई है। महिला विद्यालयों की संख्या में भी भारी वृद्धि हुई है। महिला विद्यालयों की संख्या 1986-87 में 780 से बढ़कर 1995-96 में 1146 हो गयी जिसके फलस्वरूप स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक प्रगति हुई है। ये बातें इन तथ्यों से स्पष्ट है कि 1882 में भारत में केवल 2,054 स्त्रियाँ थीं जो कुछ पढ़-लिख सकती थीं। मगर 1971 की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार साक्षर स्त्रियों की संख्या बढ़कर लगभग 4 करोड़ 93 लाख से भी अधिक हो गई। जहाँ पहली बार 1883 में एक स्त्री ने बी. ए. पास किया था, वहीं 1981 में 6.5 लाख से भी अधिक लड़कियाँ विभिन्न महाविद्यालयों में स्नातकीय और स्नातकोत्तर की कक्षाओं में सभी विषयों में पढ़ाई कर रही हैं। शिक्षा के प्रसार के कारण स्त्रियों को बाल-विवाह, पर्दाप्रथा आदि कुरीतियों से छुटकारा मिल गया है।

महिलाओं की राजनीति के क्षेत्र में प्रगति

आज का युग प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली का है, जो स्त्री व पुरुष को समान जीवन जीने व उन्नति तथा उत्थान के समान अवसरों की अपेक्षा करता है। स्वतंत्रता पश्चात् महिलाएं काफी संख्या में राजनीति में आ रही हैं और सफलता का परचम भी लहरा रही हैं। जीवन की अन्य क्षेत्रों की तरह राजनीति में भी वे अपना सिक्का जमा रही हैं। सन 1963 में महिलाओं ने राजनीति के क्षेत्र में अपना वर्चस्व तब सिद्ध किया जब सुचेता कृपलानी देश की पहली मुख्यमंत्री बनी। भारत के अनेक राज्यों में महिलाओं का मुख्यमंत्री बनना सम्पूर्ण संसार के लिए आश्चर्य की बात थी। 1980 में जब श्रीमती गाँधी पुनः भारत की प्रधानमंत्री निर्वाचित हुईं तब पश्चिम के तथाकथित सभ्य समाजों की महिलाएं आश्चर्यचकित रह गईं। उन्हें पहली बार यह महसूस हुआ कि उनकी राजनीतिक जागरूकता अभी बहुत पीछे है। पणिक्कर का कथन है, ''जब स्वतंत्रता ने पहली अगड़ाई ली तब भारत के राजनीतिक जीवन में महिलाओं को जो पद

प्राप्त हुआ, उसे देखकर बाहरी दुनिया आश्चर्य में पड़ गई क्योंकि वह तो यह सोचने में अभ्यस्त थी कि हिन्दू स्त्रियाँ पिछड़ी हुईं, अशिक्षित और प्रतिक्रियावादी, सामाजिक व्यवस्था में जकड़ी हुई हैं। भारत में जो महान परिवर्तन हुआ उसकी महत्ता यह थी कि भारतीय महिलाओं ने राज्यपालों, कैबिनेट स्तर के मंत्रियों और राजदूतों के रूप में यश प्राप्त किया था। अप्रैल 1993 में पारित 73वें और 74वें संविधान संशोधनों के माध्यम से पंचायतीराज एवं स्थानीय निकायों में महिलाओं को दिये गये आरक्षण के फलस्वरूप लगभग 10 लाख महिलाओं की राजनैतिक भागीदारी सशक्तीकरण की दिशा में मील का पत्थर है।

केन्द्र सरकार द्वारा संसद तथा विधानमण्डलों में एक तिहाई सीटों पर आरक्षण प्रदान करने हेतु पहले 12 सितम्बर, 1996 को 81वाँ संशोधन विधेयक तथा पुनः 1998 में 84वाँ संविधान संशोधन विधेयक संसद में प्रस्थापित किया गया था किन्तु दोनों ही बार इच्छा शक्ति की कमी के चलते लोक सभा विघटन के साथ समाप्त हो गये।

लोक सभा में महिला सांसदों की संख्या निम्नवत् है

वर्ष 1991 में महिला सांसदों की संख्या 40 और महिला सांसदों का प्रतिशत 7.30, इसी क्रम में वर्ष 1996 में महिला सांसदों की संख्या 40 और इनका प्रतिशत 7.37, वर्ष 1998 में महिला सांसदों की संख्या 43 और महिला सांसदों का प्रतिशत 7.92, वर्ष 1999 में महिला सांसदों की संख्या 49 और महिला सांसदों का प्रतिशत 9.02, वर्ष 2004 में महिला सांसदों की संख्या 45 और महिला सांसदों का प्रतिशत 8. 29, वर्ष 2009 में महिला सांसदों की संख्या 59 और महिला सांसदों का प्रतिशत 10. 87, वर्ष 2014 में महिला सांसदों की संख्या 66 और महिला सांसदों का प्रतिशत 12.15 2015 के बीच महिला प्रतियोगी की कुल संख्या 1474 से बढ़कर 7583 हो गई है जो पाँच गुना है।

साथ ही सरकार ने जननियों को सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से पहले से चली आ रही राष्ट्रीय प्रसूति योजना को अब ''जननी सुरक्षा योजना'' नामक नई योजना के नाम पर चल रही है। मई 2005 से प्रारम्भ इस योजना के माध्यम से स्वास्थ्य केन्द्रों में प्रसव सुविधा प्रदान कर मातृ मृत्यु दर शिशु मृत्युदर कम करने का प्रयास किया जा रहा है।

महिला सशक्तीकरण का मुख्य घटक स्वयं की प्रजनन क्षमता से सम्बन्धित चयन का नियंत्रण करना भी है। स्वास्थ्य सेवाओं की बढ़ती हुई उपलब्धता, शिक्षा उन्नत होती आर्थिक स्थिति तथा जागरूकता के कारण यद्यपि शिशु मृत्युदर तथा प्रजननशील आयुवर्ग की महिलाओं की मृत्युदर में कमी आयी है। महिलायें अपने स्वास्थ्य के सुधार के वास्ते अभिस्वीत उपायों में भाग लेने, सन्तानों की संख्या को नियत करने, सन्तानों के बीच समयान्तराल रखने में समर्थ हैं और यदि हम शारीरिक स्वास्थ्य की बात करें तो वर्तमान समय में शहरी महिलाएं जिम, ब्यूटी मोटापा क्लिनिकों में जाकर अपने शारीरिक स्वास्थ्य पर भी पूरा ध्यान दे रही हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

12. अग्रवाल, जे. सी. (2001), भारत में नारी शिक्षा, विद्या विहार, नई दिल्ली
13. कुकरेजा, सुन्दरलाल, पिछले 50 वर्ष की उपलब्धियाँ और भावी सम्भावनाएं, 'योजना' वर्ष 42, (10), अगस्त, 1998
14. उपाध्याय, राजेन्द्र, 2004-2005 के केन्द्रीय बजट में शिक्षा के लिए प्रावधान, योजना वर्ष 48, (6) सितम्बर, 2004
15. भण्डारे, चन्द्रकांत मुरलीधर (2007), विश्व एवं महिला न्याय, हरआनन्द पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली
16. Panikkar , K.M. (1995) The Hindu Society Act cross Roads , Bombay : Asia Publications
17. आरक्षण के प्रश्न पर छिडे विवाद (1997) सेमिनार 4.5.7 सितम्बर एवं मानुषी, जनवरी-फरवरी, (2015)
18. चुनाव आयोग की रिपोर्ट प्रेस सूचना केन्द्र और सूचना प्रसारण मंत्रालय द्वारा प्रकाशित हैण्ड बुक भाग- 21
19. द्विवेदी, प्रियंका (2007) महिलाओं की स्वास्थ्य सम्बन्धी चुनौतियाँ, कुरुक्षेत्र, वर्ष 53, (5) मार्च
20. Kumar,R.B.(2001)GenderEquality for women Empowerment, Indian Journal for Population Education , Vol .50

राहुल यादव
शोधार्थी, समाज शास्त्र विभाग,
जे. एस. विश्वविद्यालय
फिरोजाबाद

डा. वसुधा कुलश्रेष्ठ
असिस्टेंट प्रोफेसर
जे. एस. विश्वविद्यालय, फिरोजाबाद

वाल्मीकि रामायण में वर्णित स्त्रियों में सैन्य दक्षता : एक अध्ययन

—डा. रूबी तब्बसुम

सारांश : रामायण संस्कृत साहित्य का एक अनुपम ग्रंथ है, इस ग्रंथ में हमें मात्र श्री राम के आदर्शवादी एवं शौर्य पूर्ण गाथाओं का वर्णन ही नहीं मिलता है, अपितु मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन का समग्र चित्रण प्राप्त होता है। राज्य तंत्र में राजनीतिक जीवन का केंद्र बिंदु सिर्फ राजा ही होता है, परंतु राजा की संपूर्ण शक्ति उसकी सैन्य शक्ति होती है, यही वजह है कि वाल्मीकि रामायण के युद्ध कांड से सैन्य शक्ति के प्रत्येक मुख्य विषयों की जानकारी प्राप्त होती है, जिससे इस युग में पुरुषों में सैन्य क्षमता के प्रत्येक पहलू पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। परंतु इस ग्रंथ के अध्ययन से आर्य तथा आर्येत्तर स्त्रियों में भी सैन्य दक्षता का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है, जैसे सीता जी द्वारा हनुमान जी से प्रश्न पूछना कि क्या श्री राम ने युद्ध विजय के लिए साम, दाम और भेद तीनों के अतिरिक्त अन्य उपायों का सहारा भी लिया है। रानी के कैकयी द्वारा देवासुर संग्राम में रणभूमि में घायल राजा दशरथ को वहां से दूर हटाकर उनकी जीवन रक्षा करना, माता कौशल्या द्वारा अश्वमेध यज्ञ के अश्व की ग्रीवा पर तलवार से प्रहार करना, जया एवं सुप्रभा द्वारा दुर्जेय एवं बलिष्ठ अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करना, देवी लंका का लंका नगरी की रक्षा करने का जिम्मा दिया जाना, ताड़का का एक सहस्त्र हाथियों का बल होना तथा लंका नगरी में राक्षसों द्वारा अस्त्र-शस्त्र धारण करके पहरेदारी करना यह सभी इस उदाहरण कहीं न कहीं इस बात को स्पष्ट करते हैं कि वाल्मीकि रामायण में लिखित स्त्रियों में सैन्य क्षमता अवश्य थी।

प्रस्तावना : वाल्मीकि रामायण में प्राप्त विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें मात्र श्री राम के शौर्य की गाथा ही नहीं मिलती अपितु यह मानव जीवन के सर्वांगीण आदर्श को भी प्रस्तुत करता है। इसमें उस युग की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक व्यवस्था का पूर्ण वर्णन प्राप्त होता है। राजनीतिक दृष्टिकोण से अगर इस ग्रंथ का अध्ययन किया जाए, तो इसमें राज्य अधिकार के नियम, राजा के कर्तव्य, अधिकार, प्रजा के साथ संबंध, प्रजा की रक्षा, उत्तराधिकार के नियम, शत्रुओं के प्रति व्यवहार तथा सैन्य व्यवस्था का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। रामायण से इस युग की सैन्य व्यवस्था में यद्यपि पुरुषों की दक्षता पर विस्तृत रूप से प्रकाश पड़ता है, किंतु कई स्थानों पर आर्य तथा आर्येत्तर स्त्रियों में भी सैन्य दक्षता के लक्षण दिखाई देते हैं, यद्यपि स्त्रियों की किसी सैनिक टुकड़ी का उल्लेख नहीं मिलता, परंतु इतना तो अवश्य है कि सीता जी, कैकेयी, कौशल्या जया, सुप्रभा, देवी लंका तथा लंका की रक्षा हेतु पहरेदार स्त्रियां इत्यादि भी सैन्य शिक्षा

प्राप्त करती थी।

विश्लेषण : वाल्मीकि रामायण से पता चलता है कि साम, दंड और भेद से कार्य सिद्ध न होने पर बल के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। स्वयं अशोक वाटिका में सीता जी द्वारा हनुमान जी से प्रश्न किया गया था कि शत्रुओं के प्रति जीतने की इच्छा रखकर क्या श्री राम ने साम, भेद और दंड इन तीनों प्रकार के उपायों का सहारा लिया है, अर्थात सैन्य नियमों की जानकारी सीता जी को थी। रामायण से ही रानी कैकई के बारे में ज्ञात होता है कि जब एक बार देवताओं और असुरों के मध्य युद्ध शुरू हो गया और देवताओं के समूह भी असुर शम्बर को पराजित नहीं कर पाए, तो इस देवासुर संग्राम में राजा दशरथ भगवान इंद्र की सहायता करने के लिए गए और साथ में कैकेई को भी वे लेकर गए। भयंकर युद्ध के पश्चात जब असुरों ने अपने अस्त्र-शस्त्रों द्वारा उनके शरीर को जर्जर कर दिया और उनकी चेतना लुप्त हो गई, तो उस समय रानी कैकेई ने सारथी का काम करते हुए रणभूमि में गिरे हुए अपने पति को वहां से दूर हटाकर उनकी रक्षा की। इस वृतांत से स्पष्ट होता है कि कैकेई न सिर्फ देवासुर संग्राम में राजा दशरथ के साथ गई अपितु रणभूमि में उसने सारथी की भूमिका निभाते हुए अपने घायल पति के प्राणों की रक्षा भी की। रणभूमि में कैकेई का होना यह स्पष्ट करता है कि जिस स्त्री में सैन्य दक्षता नहीं होगी उसे रणभूमि में कैसे साथ ले जाया जा सकता है। इसी प्रकार माता कौशल्या द्वारा अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर अश्व का प्रशिक्षण आदि संस्कार करने के उपरांत उसकी ग्रीवा पर तलवार से तीन बार प्रहार (स्पर्श) किया गया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कौशल्या को तलवार चलाना बखूबी आता था।[1] डा. रामाश्रय शर्मा के अनुसार कैकेई और कौशल्या को प्रारंभिक सैन्य शिक्षा तो अवश्य मिली थी, किंतु राक्षस स्त्रियों को सैनिक शिक्षा विधिपूर्वक दी जाती थी।[2] ऋग्वैदिक युग में स्त्रियों द्वारा धनुष-बाण के अतिरिक्त अन्य प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण किया जाता था।[3] रामायण में भी महर्षि वशिष्ठ ने राजा दशरथ को समझाते हुए कहा कि चराचर प्राणियों सहित तीनों लोकों में जो नाना प्रकार के अस्त्र हैं, वे सभी अस्त्र प्रजापति ने पूर्व काल में विश्वामित्र को दिए थे, जिन्हें प्रजापति दक्ष की कन्याओं जया एवं सुप्रभा के द्वारा बनाया गया था। उन दोनों ने 100 परम प्रकाशमान अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण किया। जया ने 50 श्रेष्ठ अस्त्रों को उत्पन्न किया था जो असुरों की सेना का वध करने वाले थे। इसी प्रकार सुप्रभा ने भी संहार नामक 50 वरिष्ठ एवं दुर्लभ अस्त्रों को उत्पन्न किया था।[4] ग्रिफिथ महोदय ने भी अपनी पुस्तक में लिखा है कि रामायण के बालकांड में जिन अस्त्रों का उल्लेख मिलता है उनका निर्माण जया और सुप्रभा के द्वारा किया गया था।[5] रामायण के अनुसार लंका की अधिष्ठात्री देवी लंका ने हनुमान जी को संबोधित करते हुए बताया कि वह लंका नगरी की रक्षिका है और बिना उन्हें परास्त किए वह इस नगरी में प्रवेश करके इसे नहीं देख सकते। इसके अलावा हनुमान जी ने इस नगरी में ऐसी राक्षसी स्त्रियों को देखा जो हाथों में विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्र जैसे मुगदर, शक्ति और तोमर को धारण करके इसकी पहरेदारी कर रही थी। इसी प्रकार यक्षिणी ताड़का ने भी जो कि अपने शरीर में एक सहस्र हाथियों का बल रखती थी, अपने पति की हत्या करने वाले महर्षि अगस्त्य से प्रतिशोध लिया।[6] इस प्रकार रामायण में प्राप्त उल्लेखों से इतना अवश्य स्पष्ट होता है कि आर्य व आर्येत्तर दोनों ही प्रकार की स्त्रियां भी सैनिक शिक्षा प्राप्त करती थीं, चाहे वह देवासुर संग्राम में कैकेई का रणभूमि में घायल पति की जीवन रक्षा करनी हो, सीता जी द्वारा शत्रुओं के विरुद्ध जीतने की इच्छा रखने के लिए बल का इस्तेमाल करने की बात करना हो, माता कौशल्या द्वारा अश्वमेध यज्ञ में अश्व की ग्रीवा पर तलवार से तीन बार प्रहार करना हो, जया और सुप्रभा द्वारा दुर्जेय एवं वरिष्ठ अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हो और या आर्येत्तर महिलाओं में लंका की सुरक्षा हेतु देवी लंका का नगरी की संरक्षिका होना हो और राक्षसी स्त्रियों द्वारा अस्त्र-शस्त्रों को धारण करके नगर की पहरेदारी करना हो। यह सभी तथ्य इस ओर इशारा कर रहे हैं कि पुरुषों के समान आर्य एवं आर्येत्तर महिलाएं जो सैन्य शिक्षा प्राप्त करने की इच्छुक होती थीं, वे उसे ग्रहण करके समय-समय पर अपनी सैन्य दक्षता का प्रयोग भी करती थीं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. वाल्मीकि रामायण- 2.9.11,12,13,14,15,16,1.14.32,33
2. Sharma, Ramashrya & A Socio Political Study of the Balmiki Ramayana P.75
3. Altekar, The Position of Women in Hindu Civilization, P.179
4. 1/21/11, 13, 14, 15, 16, 17
5. Griffith, The Ramayana, p. 36
6. 5/3/20, 28, 29, 36, 5/6/29, 30, 125/14

डा. रूबी तब्बसुम

सहायक प्रोफेसर

राजकीय महाविद्यालय, भूपतवाला, हरिद्वार

दुर्गा प्रसाद पारकर कृत उपन्यास 'बहू हाथ के पानी' में छत्तीसगढ़ का लोक जीवन

–शिवांगी पाठक
–डा. श्रद्धा चंद्राकर

वरिष्ठ साहित्यकार दुर्गा प्रसाद पारकर छत्तीसगढ़ के समकालीन साहित्यकारों में से एक हैं। इन्होंने छत्तीसगढ़ प्रदेश की राजभाषा व मुख्य बोली छत्तीसगढ़ी में साहित्य सृजन का कार्य किया है। दुर्गा प्रसाद पारकर एक बहुमुखी प्रतिभा के संपन्न साहित्यकार हैं। उन्होंने उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध, कविता, व्यंग्य संग्रह तथा गीत आदि अनेक विधाओं में अपनी सेवाएं दी हैं। इनमें से एक उपन्यास 'बहू हाथ के पानी' को मैंने अपने शोध आलेख का विषय बनाया है। इस उपन्यास को हेमचंद यादव विश्वविद्यालय दुर्ग, छत्तीसगढ़ के स्नातकोत्तर हिंदी साहित्य के अंतिम सेमेस्टर में भी शामिल किया जा चुका है। इस उपन्यास का मुख्य कथानक ग्रामीण परिवेश पर केन्द्रित एक बहू का उत्तरदायित्व व समर्पण है। यह उपन्यास आधुनिक पारिवारिक परिवर्तन को भी रेखांकित करता है। निश्चित ही यह उपन्यास युवा वर्ग को नई दिशा प्रदान करेगा तथा उनके विचारों में परिवर्तन करेगा, जिससे उनके आचरण व व्यवहार में परिवर्तन होगा। 'बहू हाथ के पानी' उपन्यास के माध्यम से लेखक ने छत्तीसगढ़ की पारिवारिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला है। परिवार और समाज के उत्थान और पतन में स्त्री की भूमिका का चित्रण इस उपन्यास में है, साथ ही महिला शिक्षा व सशक्तीकरण पर भी बल दिया गया है। इस उपन्यास के सम्बन्ध में पोखन लाल जायसवाल कहते हैं–''ए उपन्यास म नारी पात्र मन अतेक जादा उभरे हें कि 'बहू हाथ के पानी' ल नारी-विमर्श के उपन्यास कहे जा सकथे। छत्तीसगढ़ के नारी के सबो रूप के दर्शन पाठक ल ए उपन्यास म होही। सरला ए उपन्यास के मुख्य किरदार आय। जउन सुशील, सुसंस्कारित, समर्पण के मूर्ति, सुशिक्षित आधुनिक नारी के अगुवाई करथे। उन्हें निरुपमा बहू के जम्मो भलमनसई ल ताक में रख के अंधविश्वासी अउ अप्पढ़ सास के पात्र संग नियाव करत दिखथे।''[1]

छत्तीसगढ़ के सुप्रसिद्ध कवि, लेखक, गीतकार, नाटककार, उपन्यासकार और स्तंभकार दुर्गा प्रसाद पारकर निषाद समाज के ऐसे साहित्यकार हैं जो छत्तीसगढ़ की संस्कृति, परंपरा, रहन-सहन, तीज त्यौहारों को उनकी अपनी स्थानीय भाषा

व बोली छत्तीसगढ़ी में पहुंचाने का अथक परिश्रम किये। इनके साहित्य की मूल विशेषता छत्तीसगढ़ की सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक स्थिति को प्रस्तुत करना है। 'बहू हाथ के पानी' उपन्यास के माध्यम से उपन्यासकार ने वर्तमान समाज की ज्वलंत व गंभीर समस्या एवं पारिवारिक विघटन को रेखांकित करने का सफल प्रयास किया है। वर्तमान समय में पारिवारिक मूल्य विघटित हो रहे हैं। परिवार और समाज को बदलने में एक स्त्री की भूमिका का चित्रण इस उपन्यास में उत्कृष्टता के साथ किया गया है। कोविड-19 के दौरान लिखा गया उनका यह उपन्यास छत्तीसगढ़ी भाषा के साहित्यकारों एवं पाठकों के लिए रोचक व आकर्षक बना हुआ है। प्रस्तुत उपन्यास 'बहू हाथ के पानी' छत्तीसगढ़ के ग्रामीण परिवेश की कथा है। सम्पूर्ण उपन्यास व्यवस्थाओं, विडंबनाओं एवं भावनाओं से भरा हुआ है। परिवार में जब बहू के रूप में एक नए सदस्य का आगमन होता है, तब परिवार में एक नया परिवर्तन होने लगता है। वह परिवर्तन नकारात्मक भी हो सकता है और सकारात्मक भी, यह उस बहू और परिवारवालों के आपसी सामंजस्य व स्नेहपूर्ण वातावरण पर निर्भर करता है। इसी मूल संवेदना को उपन्यासकार ने इस उपन्यास का विषय बनाया है। इस उपन्यास के प्रतिनिधि पात्रों के माध्यम से बहू के कर्तव्य और समर्पण का चित्रण इस संवाद से हो रहा है।

''सरला - घर के खर्चा ल घलो चलाबोन अउ कविता ल पढ़ाबोन घलो'' ''खुमान - कईसे पढ़ाबे ?''''सरला - हमन अपन इच्छा ल मारबो, अपन अपन फिजूल खर्चा ल कम करबोन''[2] उक्त परिचर्चा के माध्यम से रचनाकार ने सरला (बहू हाथ के पानी की नायिका) की अपनी ननद की शिक्षा और उसके उज्ज्वल भविष्य के लिए अपनी आवश्यकताओं व इच्छाओं का दमन करते हुए उसके पारिवारिक समर्पण को दिखाया गया है। परिवार व समाज में जिन मूल्यों को अपनाने की आवश्यकता है उसे बहुत ही आसान व सरल छत्तीसगढ़ी बोली में माला की तरह पिरोया गया है। इस उपन्यास में विभिन्न घटनाक्रमों के माध्यम से अनेक विषयों को चित्रित किया गया है जिसमें उनके प्रतिनिधि पात्रों की भूमिका महत्वपूर्ण है। 'बहू हाथ के पानी' उपन्यास में मुख्य कथा केंद्र बिंदु रामनाथ और उसकी पत्नी केतकी है। उनकी चार संताने हैं जिनमें तीन पुत्रियाँ और एक पुत्र हैं। पुत्रियों के नाम क्रमशः सरला, दुलारी, हंसा है तथा पुत्र का नाम कुबेर है। रामनाथ और केतकी ने अपने संतानों को बहुत अच्छे संस्कार दिए हैं। तीनों पुत्रियाँ बहुत पढ़ी-लिखी हैं, किंतु पुत्र कुबेर कम पढ़ा-लिखा है, पर अपने पिता के समान बहुत मेहनती है। अपने पिता के सभी कामों में वह पूरे मनोयोग से सहयोग करता है। रामनाथ बहुत धार्मिक प्रवृत्ति के हैं वे गायत्री परिवार से जुड़े होते हैं। ''रामनाथ ह गायत्री मिशन से जुड़े रिहिस। ए साल रामनाथ के सियानी म नवागाँव म एक सौ ग्यारा कुण्डीय यज्ञ के योजना बनिस, रामनाथ ह अब गायत्री महायज्ञ के तईयारी म भीड़ गे।''[3] रामनाथ अपनी तीनों पुत्रियों का विवाह तीन अलग-अलग परिवारों में करते हैं। तीनों ही परिवार का रहन-सहन, सामाजिक वातावरण, आचार-विचार अलग-अलग होता है। सरला, दुलारी और हंसा जिन परिस्थितियों और संस्कारों को आत्मसात करते हुए बड़े हुए थे, उनका ससुराल उसके विपरीत परिस्थिति और वातावरण लिए हुए था, परंतु तीनों ही बेटियों के कदम ससुराल में पढ़ते ही उनका परिवार उन्नति की ओर अग्रसर होने लगता है। सरला, दुलारी और हंसा तीनों अथक परिश्रम करते हुए अपने ससुराल को विषम परिस्थितियों से बाहर निकालने का सफल प्रयास करती हैं। तीनों ही अपने आचरण और व्यवहार से एक आदर्श बहू के चरित्र को चरितार्थ करती हैं। उपन्यास में केवल पुत्रवधू को ही सेवाधर्म का पालन करते हुए चित्रित नहीं किया गया है बल्कि पात्र चन्द्रमोहन के मातृसेवा और प्रेम को प्रदर्शित करने वाला एक पुत्र के समर्पण को भी रेखांकित किया गया है। उपन्यासकार के उत्कृष्ट लेखन शैली तथा ठेठ छत्तीसगढ़ी बोली के प्रयोग से यह उपन्यास जीवंत हो गया है। सदियों से नारियाँ परिवार को जोड़कर रखने वाली आधार बन रही हैं परन्तु वर्तमान समय में नारी परिवार के उत्तरदायित्व को वहन करना नहीं चाहती, इसलिए संयुक्त परिवार टूट रहे हैं तथा संयुक्त परिवार की जगह एकल परिवार ले रहा है। यही कारण है कि वर्तमान समाज में पारिवारिक मूल्य विघटित हो रहे हैं। टूटते पारिवारिक परिदृश्य को उपन्यासकार ने एक सुगठित कथा शैली और भावात्मक भाषा शैली के द्वारा रेखांकित किया है। रामनाथ की तीनों पुत्रियाँ अपने सास-ससुर की बहुत सेवा और सम्मान करती हैं, विपरीत परिस्थितियों में वे तीनों अपने सास-ससुर का साहस बढ़ाती हैं, और अंततः उन्हें विषम परिस्थिति से निकलने का उपाय भी बताती हैं। खुमान (सरला का पति) को चिटफंड के झांसे में आकर भारी नुकसान का सामना करना पड़ता है। सरला उसको समस्या का हल बताते हुए ढाढ़स बँधाती है, तथा उसको आर्थिक सहयोग भी करती है।

''खुमान - कइसे फिकर नइ करव सरला ?''''सरला - फिकर करे ले समसिया के हल नइ होवय।'' ''खुमान

– त काय करंव ?'' ''सरला–ओखर बर रद्दा निकाले बर परही।'' ''खुमान–अब तिहीं बता, कइसे हल निकाले जाय?'' ''सरला– ले न, मै लोन निकाल लेथंव।''[4] उसी प्रकार रामनाथ की दूसरी पुत्री दुलारी का पति खूबचंद देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत रहता है। उसके लिए राष्ट्र ही सर्वोपरि होता है। खूबचंद मिलिट्री ज्वाइन कर लेता है। कश्मीर सीमा रेखा में तैनात होकर देश की रक्षा करता है। ''खूबचंद के मन मा देशभक्ति के जज्बा रहय। ननपन मा गुलेल चलई ह ओखर सउख रहिसे। गुलेल ल ओ ह सैनिक मन के रायफल समझे। खूबचंद के निशाना अचूक रहय। बस ओखर एके ठन इच्छा रहिसे कि सेना म भर्ती हो के देश के सेवा करय। खूबचंद ल तो देशभक्ति के नशा चढ़े रहिसे।''[5] इसी बीच आतंकवादियों से संघर्ष करते हुए उसके दोनों पैर क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। विकलांग होने पर वह सेवानिवृत्त हो जाता है और वापस अपने घर आ जाता है। खूबचंद जीवन से हतोत्साहित होकर किंकर्तव्यविमूढ़ की स्थिति में हो जाता है। दुलारी को खूबचंद की एक हुनर की जानकारी थी जो था खूबचंद का साहित्य लेखन के प्रति प्रेम। ऐसे विपरीत समय में दुलारी उसके अभिरुचि को पुनः जागृत करती है और उसे छत्तीसगढ़ी साहित्य लेखन के लिए प्रेरित करती है, साथ ही उसका पूरा सहयोग भी करती है। ''दुलारी–अब साहित्य म मन ला लगा। अभी ले हिम्मत हारे म काम नइ बनय। अभी आप ल छत्तीसगढ़ बर बहुत कुछ करना हे। कलम के सिपाही बन के छत्तीसगढ़ के मान ल बढ़ाना हे।'' ''खूबचंद –बने काहत हवस दुलारी! अभी छत्तीसगढ़ी महतारी के मान-सम्मान अउ स्वाभिमान ल बढ़ाय के जरुरत हवय। हिंदी के संगे-संग अपन मातृभाखा छत्तीसगढ़ी ल पोठ्ठ करना हे।''[6] खूबचंद का नाम अब छत्तीसगढ़ में एक साहित्यकार के रूप में स्थापित होने लगा। उसकी रचानाओं को अब राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में भी स्थान मिलने लगा। इस साहित्यिक यात्रा में खूबचंद का एक उपन्यास 'बहू हाथ के पानी' प्रकाशित होता है। उक्त उपन्यास के लिए खूबचंद को छत्तीसगढ़ सरकार द्वारा सम्मानित किया जाता है। इस उपन्यास की यह विशेषता है कि दुर्गा प्रसाद पारकर द्वारा इस उपन्यास के रचनाकार के रूप में एक पात्र खूबचंद को ही चुना गया है। इस तरह दुलारी की उचित सलाह खूबचंद को एक साहित्यकार के रूप में शिखर तक पहुंचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। 'बहू हाथ के पानी' उपन्यास की कथा चार अलग-अलग परिवारों की कथा के माध्यम से आदर्श पारिवारिक जीवन का सुन्दर उदहारण है। दुलारी पति परायण होने के साथ ही कर्तव्यनिष्ठ बहू भी होती है। वह अपने सास-ससुर की पूरी निष्ठा व समर्पण से सेवा करती है। ''श्यामलाल ह अपन बहू दुलारी ल कहीस दृ तोरे सरीख बहू सब ल मिलय बेटी। मोर पहिली जनम के करम के फल आवय कि तोर असन मोला बहू मिलिस।''[7]

रामनाथ की तीसरी पुत्री हंसा छोटी होने के नाते रामनाथ की लाडली बेटी थी। ससुराल में सबसे अधिक दुख और संघर्ष हंसा को ही सहना पड़ता है क्योंकि उसका पति बुधारू शराबी था। ''अब तो हंसा ह बुधारू के पूरा जीवनशैली ल बदल चुके रहिसे। छुट्टी के दिन बुधारू ह संझाकन सब झिन ल सकेल के रामायण सुनावय। त भगवान श्री राम के किरपा होए बर धर लिस। बुधारू ह कम्पुटर कोर्स कर डरे रहिसे। ओही समय पटवारी के विज्ञापन निकलिस। हंसा ह बुधारू ल जोरदार तइयारी करवइस। बुधारू के सलेक्सन पटवारी म हो गे।''[8] उक्त उपन्यास में केवल सकारात्मक पात्र ही नहीं है बल्कि संतु और हेमलता जैसे समाज के नकारात्मक पात्रों को भी इसमें स्थान दिया गया है। उक्त दोनों पात्र हंसा के देवर, देवरानी हैं। दोनों के विचार बहुत ही निकृष्ट और तुच्छ होते हैं। व्यक्तिगत स्वार्थ और लालच के चलते परिवार को ये दोनों विघटित कर देते हैं। इसी तरह दीपक और बैसाखिन जो सरला के देवर व देवरानी हैं, उक्त दोनों पात्र भी घर को दो हिस्से करवाने में कहीं कोई कसर बाकी नहीं छोड़ते। सरला और हंसा दोनों ही अपने धैर्य, सूझबूझ और उच्च संस्कारिक विचारों से अपने परिवार को बिखरने से बचा लेते हैं। इनकी सूझबूझ और बोलचाल की भाषा निसंदेह हृदयस्पर्शी है। इस उपन्यास को पढ़ने से पाठक को सारी घटनाएं अपने घर या आसपास इर्द-गिर्द ही घूमते हुए नजर आएंगी। ''खुमान– दीपक ह दाई ददा के बँटवारा करहूँ कही त का करना हे ?'' ''सरला–दीपक ल बोलबे दाई ददा के बँटवारा नइ करन, उमन ल जीहाँ बने लागही उंहें रही सकत हें । मान ले दीपक ह दाई ददा ल नइ राखँव कही त हमन राखबो। ऊकर सेवा करबोन, फेर दाई ददा ल नइ बाँटन।''[9] इस उपन्यास में छत्तीसगढ़ के लोक संस्कृति, लोक परंपरा आदि को भी अलग-अलग प्रसंग तथा पात्रों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। उपन्यास की शब्दरचना और वाक्य ठेठ छत्तीसगढ़ी बोली में उनकी भावनाओं को जीवंत रूप से अभिव्यक्त करने में सफल सिद्ध हो रहे हैं। उपन्यास की शैली बहुत ही रोचक व प्रभावपूर्ण है। उपन्यास की शब्द रचना तथा भाषा शैली पर पोखन लाल जायसवाल का कथन है–''छत्तीसगढ़ी के संग अँग्रेजी के शब्द मन के बढ़िया प्रयोग होय हे। मुहावरा अउ हाना मन के सुग्घर

प्रयोग मिलथे। पात्र मन संग होय मुँहाचाही म व्यंग्य के सुर घलव दिखथे। संवाद मन म बढ़िया गढ़ाय हे। चरित्र मन के भाव बढ़िया ढंग ले उभरे हे।''[10] इसमें विभिन्न समसामयिक विषयों को भी उठाया गया है। छत्तीसगढ़ सरकार की मुख्यमंत्री निर्धन कन्या विवाह योजना, आधुनिक कृषि कल्याणकारी योजना, स्वच्छ भारत अभियान, सोनहा बिहान कार्यक्रम तथा प्रधानमंत्री जन धन योजना आदि पर आधारित अंश इसमें समाहित किये गए हैं। स्वच्छ भारत अभियान को मुख्य पात्र रामनाथ के माध्यम से पाठकों तक पहुंचा कर आमजन को स्वच्छता के प्रति जागरूक बनाने की चेष्टा की गई है। ''रामनाथ ह धार्मिक प्रवृत्ति के तो रहिबे करे रिहिस, संगे संग महात्मा गाँधी ल अपन आदर्श मानय। स्वच्छ भारत के ओखर सपना ल सिरतोन करे बर किरिया खाए रिहिस।''[11] महात्मा गाँधी को रामनाथ का आदर्श बताकर अहिंसा की ओर भी ग्रामीणजन को प्रेरित किया गया है। रामनाथ एक उन्नत कृषक के रूप मे भी ख्याति प्राप्त है। उपन्यास में वर्तमान समय में कृषकों द्वारा उन्नत कृषि तकनीकों के प्रयोग एवं वर्ष भर मौसम के हिसाब से अलग-अलग फसल उत्पादन के द्वारा उनके आर्थिक सुदृढ़ीकरण को प्रदर्शित किया गया है। इसके लिए रामनाथ को छत्तीसगढ़ सरकार द्वारा उन्नत कृषक के रूप में सम्मानित भी किया जाता है। ''कृषि मेला रायपुर म प्रदेश के सम्माननीय मुख्यमंत्री ह रामनाथ ल उन्नत कृषक के रूप म सम्मानित घलो करे रिहिस।''[12] उपन्यास में छत्तीसगढ़िया जनों के सहृदयता व सरल व्यवहार का चित्रण किया गया है। उपन्यास में पात्र चंद्रमोहन को आधार बनाते हुए आदिवासी विकास तथा आदिवासी महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाते हुए वर्तमान समाज के साथ उत्तरोत्तर प्रगति को प्रदर्शित किया गया है। ''चन्द्रमोहन ह थोरिक विकलांग जरुर रिहिसे ओकर बावजूद घलो सामाजिक काम म बढ़ चढ़ के हिस्सा लेवय। आदिवासी मन के विकास खातिर हमेशा लगे रहय। आदिवासी लइका मन ल फोकट म टिवसन पढावय, ताकि गरीब आदिवासी लइका मन अपन गोड म खड़ा हो जाये। आदिवासी मन के विकास खातिर किरिया खाए रिहिसे। चन्द्रमोहन ह ड्यूटी ल घलो बड ईमानदारी ले करय। आदिवासी माई लोगन मन ल 'सखी सहेली स्व सहायता समूह' बनवा के उमन ल आत्मनिर्भर बनावत रिहिसे। पुरुष मन ल स्वरोजगार देवाय बर सरलक लगे रहय।''[13] आधुनिकता के दौर में विवाह में अपव्यय एक बहुत बड़ी समस्या बनकर उभर रहा है। इसके कारण मध्यम वर्गीय परिवार की आर्थिक व्यवस्था निरंतर कमजोर होते जा रही है और परिवार कर्ज में डूब रहे हैं। उपन्यास में इस फिजूलखर्ची पर भी करारा प्रहार किया गया है और आदर्श विवाह का उदाहरण देकर फिजूलखर्ची को रोकने का एक उत्कृष्ट प्रयास किया गया है। ''चन्द्रमोहन जी, फेर एक ठन बिनती हे। बिहाव बर जादा खरचा करे के मोर हिम्मत नइ हे।'' ''सरला त तंय का चाहत हवस ? तंय जइसने चाहबे ओइसने बिहाव होही।'' ''चन्द्रमोहन आदर्श बिहाव करहूँ कहिके सोंचत हंव।''''सरला चल हमन राजी हवन। आदर्श बिहाव ही होही, देखावटी खरचा करके घर के अर्थव्यवस्था ल खराब करे के जरूरत नइ gÃ**[14] जीवन में सुख-दुख का समायोजन और उसकी परिवर्तनशीलता अकाट्य सत्य है। इस सत्य का सूक्ष्म संवेदनात्मक वर्णन करना भी बहुत कठिन और पीड़ादायक है। इस उपन्यास के विभिन्न पहलुओं का वर्णन करते हुए एक टिप्पणी ऐसा भी है–''पात्रों के भीतर जीवन के एक खास समय तक जो कुछ घटित हो चुका है और जो कुछ अब तक घटित रह गया है उसका इतना जीवंत और सशक्त चित्रण हमें इस औपन्यासिक कृति 'बहू हाथ के पानी' में मिलता है।''[15]

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. जायसवाल, पोखन लाल, छत्तीसगढ़ आस-पास, भिलाईरू 2022
2. पारकर, दुर्गा प्रसाद, बहू हाथ के पानी, दिल्लीरू वाणी प्रकाशन, 2022, पृष्ठ क्रमांक-53
3. वही, पृ. 19, 4. वही, पृ. 53, 5. वही, पृ. 82, 6. वही, पृ. 95, 7. वही, पृ. 93, 8. वही, पृ. 153, 9. वही, पृ. 174
10. जायसवाल, पोखन लाल, छत्तीसगढ़ आस-पास, भिलाई : 2022
11. पारकर, दुर्गा प्रसाद, बहू हाथ के पानी, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2022, पृष्ठ क्रमांक-33
12. वही, पृ. 33, 13. वही, पृ. 75, 14. वही, पृष्ठ क्रमांक- 79
15. ध्रुव, डुमनलाल, षष्ठी पूर्ति के अवसर पर, धमतरी : 2021

शिवांगी पाठक
शोधार्थी, शासकीय दानवीर तुलाराम स्नातकोत्तर
महाविद्यालय उतई, जिला-दुर्ग (छत्तीसगढ़)

डा. श्रद्धा चंद्राकर
(प्राचार्य)
शासकीय घनश्याम सिंह गुप्त स्नातकोत्तर
महाविद्यालय बालोद (छत्तीसगढ़)

चुनावी लोकतंत्र और भारतीय संस्कृति

—अजय कुमार ओझा

भारतीय संस्कृति विश्व की सबसे प्राचीन लोकप्रिय, अमिट, निरंतर गतिमान एवं समृद्ध संस्कृति है। इसे संसार की सभी संस्कृतियों की जननी के श्रेय से अलंकृत किया गया है या यूं कहा जाए कि संसार की समस्त संस्कृतियों की जननी भारतीय संस्कृति ही है। प्राचीन काल से भारतीय संस्कृति पर कुठाराघात होता रहा है। आर्यों की समृद्ध संस्कृति यवनों, यहूदियों, मुस्लिमों एवं अंग्रेजों के कुठाराघात का सामना करते हुए भी अपने आप को जीवंत एवं सर्वाधिक समृद्ध कायम करने में सफल रही है। जीने की कला हो या विज्ञान और राजनीति का क्षेत्र भारतीय संस्कृति का सदैव विशेष स्थान रहा है। हमारी संस्कृति को हमारे महापुरुषों, मनीषियों, वेदों, पुराणों, ब्राह्मणों एवं यहां की पुरातन कलाकृतियों ने सिंचित कर समृद्ध एवं शक्तिशाली बनाया है। वहीं अन्य देशों की संस्कृति तो समय की धारा के साथ-साथ नष्ट होती रही है, किंतु भारत की संस्कृति आदिकाल से ही अपने परंपरागत अस्तित्व के साथ अजर-अमर बनी हुई है। अंग्रेजों के भारत आगमन के बाद औपनिवेशिक संस्कृति ने भारत को जितना क्षत-विक्षत नहीं किया, उससे कहीं अधिक स्वतंत्र भारत में चुनावी राजनीति ने एक साथ मिलकर इसकी लगभग चुलें हिला दीं। चुनावी राजनीति ने भारतीय संस्कृति के मूल सिद्धांत से परे लालच स्वार्थ के वशीभूत होकर नैतिक पतन के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है। हर पार्टी अपनी चुनावी लॉलीपॉप से जनता को भरमा कर अपने स्वार्थ साधन का मार्ग प्रशस्त कर रही है। आज चुनावी राजनीति ने मां-बाप, भाई-बहन, पति-पत्नी आदि रिश्तों को भी तार-तार कर के रख दिया है। येन केन कारण से भारतीय संस्कृति को ताक पर रखकर पश्चिमी संस्कृति के वशीभूत होकर अपनी संस्कृति को नष्ट कर रहे हैं।

इस लेख को पूरा करने में व्यक्तिगत चर्चा पत्र-पत्रिकाओं, समाचार पत्रों एवं चुनावी प्रदर्शन तथा चुनावी मेनिफेस्टो का तार्किक मूल्यांकन कर पूरा किया जाएगा। संस्कृति का साधारण अर्थ होता है संस्कार, सुधार, परिष्कार, शुद्धि, सजावट आदि। संस्कृति शब्द की उत्पत्ति संस्कार शब्द से हुई है। वैदिक युग के वेद यजुर्वेद में संस्कृति को सृष्टि की उपमा दी गई जो कि पूरे संसार में वरण करने योग्य है, वही संस्कृति है, ऐसा माना जाता है। डा. नगेंद्र ने लिखा है, ''संस्कृति मानव जीवन की वह अवस्था है, जहां उसके प्राकृतिक राग द्वेषों का परिमार्जन हो जाता है। इस तरह जीवन को परिष्कृत एवं संपन्न करने के लिए मूल्यों, स्थापनाओं और मान्यताओं का समूह संस्कृति है। संस्कृति किसी भी समाज में व्याप्त गुणों

के समस्त स्वरूप का नाम है, जो उस समाज के सोचने, समझने, करने के स्वरूप में अंतर्निहित है। संस्कृति ''कृ'' करना धातु से बना है, इस धातु से तीन शब्द बनते हैं ''प्रकृति'' की मूल स्थिति यह संस्कृत हो जाता और जब बिगड़ जाता है तो विकृत रूप हो जाता है। अंग्रेजी में संस्कृति शब्द के लिए कल्चर शब्द का प्रयोग किया जाता है जो लैटिन भाषा के 'काल्ट' या 'कल्टस' से लिया गया है जिसका अर्थ होता है जो तना, विकसित करना या परिष्कृत करना और पूजा करना। संक्षेप में किसी वस्तु को यहां तक संस्कारित और परिष्कृत करना कि इसका अंतिम उत्पाद हमारी प्रशंसा और सम्मान प्राप्त कर सके। यह ठीक उसी तरह है जैसे संस्कृत भाषा का शब्द संस्कृति। संस्कृति हमारे जीवन की विधि है जो कि हमारे खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल की भाषा एवं पूजा-पाठ, करने की विधियों में अंतर्निहित है। सरल शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि संस्कृति उस विधि का सूचक है जिसके आधार पर हम सोचते, समझते और कार्य को करते हैं। इसमें वे सभी प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष भाव और विचार सम्मिलित हैं जो हम एक परिवार और समाज के सदस्य होने के नाते उत्तराधिकार में प्राप्त करते हैं। एक समाज वर्ग के सदस्य के रूप में मानव की सभी उपलब्धियां उसकी संस्कृति से प्रेरित कही जा सकती हैं। इस प्रकार संस्कृति मानव जनित मानसिक पर्यावरण से संबंध रखती है जिसमें सभी अभौतिक उत्पाद एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्रदान किए जाते हैं। संस्कृति हमारे जीने और सोचने की विधि में अंतर्निहित है। यह हमारे दैनिक क्रियाकलापों, धार्मिक कार्यों में, साहित्य में मनोरंजन एवं आनंद प्राप्त करने के तरीकों में भी देखने को मिल जाती है। संस्कृति एक समाज से दूसरे समाज तथा एक देश से दूसरे देश में बदलती रहती है। इसका विकास एक सामाजिक अथवा राष्ट्रीय संदर्भ में होने वाली ऐतिहासिक एवं ज्ञान संबंधी प्रक्रिया व प्रगति पर आधारित होती है। किसी भी देश के लोगों का अपनी एक विशिष्ट सांस्कृतिक परंपरा जिसके द्वारा उसे पहचाना जाता। उदाहरण स्वरूप अभिवादन की विधियां हमारे पहनावे खाने की याद तो परिवारिक संबंधों सामाजिक एवं धार्मिक रीति-रिवाजों आदि से।

अध्यात्म भारतीय संस्कृति का प्राण है। आध्यात्मिकता ने भारतीय संस्कृति को अपने निर्मल जल से सिंचित किया है तथा कर्म फल के सिद्धांत मे भारतीयों का विश्वास दृढ़ किया है तथा अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष के चार पुरुषार्थों का महत्व आध्यात्मिकता से ही उत्पन्न हुआ है। भारतीय संस्कृति की यदि मूल भावना को समझने का प्रयास करते हैं, तो पाते हैं कि भारतीय संस्कृति की मूल भावना सहिष्णुता से ओत-प्रोत है। भारतीयों की सहिष्णुता का ज्ञान हमारे मनीषियों, पुराणों, धर्म ग्रंथों, महावीर, कबीर, नानक, चैतन्य महाप्रभु, गांधी, बुध एवं राम, कृष्ण जैसे महापुरुषों ने दिया है जो कि हमारे रग-रग में रचा बसा है। तभी तो हमारी संस्कृति अनेकानेक आक्रमणकारियों के अत्याचारों को सहन करने के बाद भी अपने आप को बचाने में सफल रही है।

हमारे शास्त्रों धर्म ग्रंथों में कर्म की प्रधानता दी गई है। रामचरितमानस में तुलसीदास जी कहते हैं, ''कर्म प्रधान विश्व रचि राखा जो जस करहिं तस फल चिका।'' अर्थात इस विश्व में कर्म ही प्रधान है जो जैसा करता है वैसा ही उसे फल प्राप्त होता है। कर्म बाद हमें कर्म करने की प्रेरणा देता है। गीता में कृष्ण भगवान कहते हैं, ''कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचना'', हमारी संस्कृति को इससे बल मिलता है। अथर्ववेद में कर्मज्यता मेरे दाएं हाथ में है, तो विजय निश्चित ही मेरे बाएं हाथ में होगी। ऐसी भावना से हमारी संस्कृति को बल मिलता है तथा कर्म करने की प्रबल प्रेरणा मिलती है। भारतीय संस्कृति की मूल भावना वसुधैव कुटुंबकम की भावना है। जो कि सारे विश्व को एक परिवार (कुटुंब) मानते हुए समस्त जीवों के प्रति सुःख आरोग्य एवं कल्याण की कामना करते हैं। तभी हमारे यहां शांति पाठ के रूप में हमेशा यह कामना करते हैं– सर्वे भवंतू सुखिनः सर्वे संतु निरामया/ सर्वे भद्राणि पश्यंतु मां कश्चित् दुख भाग भवेत्। जिसका भावार्थ होता है सभी सुखी रहें, सभी स्वस्थ रहें, सबका भला हो, किसी को भी कोई दुख न रहे। संस्कार का मूल रूप से अभिप्राय है कि किसी भी व्यक्ति को अपने समुदाय के लिए पूर्ण रूप से योग्य सदस्य बनने के लिए मन, मस्तिष्क एवं शरीर को पवित्र करने के लिए किए गए उपाय अर्थात मन वाणी और शरीर का शुद्धीकरण करना संस्कार है। हिंदू धर्म में 16 प्रकार के संस्कारों का वर्णन मिलता है जो निम्नवत हैं, गर्भाधान संस्कार, पुंसवन संस्कार, सीमंतोन्नयन संस्कार, जात कर्म संस्कार, नामकरण संस्कार, निष्क्रमण संस्कार, अन्नप्राशन संस्कार, मुंडन संस्कार, विद्यारंभ संस्कार, कर्णवेध संस्कार, यज्ञोपवीत संस्कार, वेदा रंभ संस्कार, केशांत संस्कार, समावर्तन संस्कार, विवाह संस्कार, अंत्येष्टि संस्कार आदि।

भारतीय संस्कृति में गुरु को भगवान से भी ऊंचा स्थान प्राप्त है। गुरु को मार्गदर्शक सिद्धीदाता एवं कल्याण करता के स्वरूप में देखते हैं। गुरु का शाब्दिक अर्थ अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला या यूं कहें कि गुरु अज्ञानता से ज्ञान की ओर पहुंचाने वाला प्रकाश पुंज

है—गुरु समान दाता नहीं, याचक सीस समान/तीन लोक की संपदा, सो गुरु दीन्ही दान ॥

भारतीय संस्कृति में शिक्षा का अमिट प्रभाव है। भारतीय संविधान के अनुसार 0 से 14 वर्ष तक के बच्चों को निशुल्क शिक्षा देने का प्रावधान किया गया है। शिक्षा से व्यक्तित्व का निर्माण होता है। साथ ही साथ बालकों में आध्यात्मिक, नैतिक, मानसिक एवं चारित्रिक विकास होता है। भारतीय संस्कृति में आगंतुक, अतिथियों को ईश्वर के समान समझा गया है। हमारी भारतीय संस्कृति हमेशा से हमारे व्यवहारों का शोधन करके अच्छा व्यवहार करने की प्रेरणा देती है। बड़ों का आदर करना, असहायों को सहयोग करना, भूखों को भोजन एवं प्यासे को पानी देना आदि हमें सिखाती है। कुछ धार्मिक संस्कृतियां भी जैसे व्रत, त्यौहार करना, गंगाजल से जलाभिषेक करना, प्रकृति का पूजन करना, आदि आदि हमारे संस्कृति को अन्य से अलग एवं विश्व विख्यात बनाती है। आज इन सभी सांस्कृतिक अंगो पर कहीं न कहीं चुनावी राजनीति हमें प्रभावित करती है। उसका विश्लेषणात्मक स्वरूप को समझने का एक प्रयास किया जा सकता है। गणतंत्र की जन्मस्थली भारत जहां पर गणतंत्र को कायम रखने के लिए चुनाव या निर्वाचन की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया से गुजर कर लोग (जनता) अपने प्रतिनिधियों को चुनते हैं। भारतीय लोकतंत्र में चुनाव प्रक्रिया के अलग-अलग स्तर हैं। भारतीय संविधान के भाग 15 के अनुच्छेद 324 से 329 तक निर्वाचन का स्वरूप प्रगट किया गया है। लोकसभा, विधानसभा का चुनाव भारत निर्वाचन आयोग के अधीनस्थ होता है। चुनाव आयोग के लाख प्रयास के बाद भी बहुदलीय चुनाव प्रणाली अपने स्वार्थ को साधने में सफल रहती है और चुनाव आयोग मूक दर्शक बना रह जाता है। भारत की चुनावी राजनीति भारत के मूल संस्कृति को आहत कर पश्चिमी संस्कृति के तौर-तरीकों को अपनाकर शासक की कुर्सी तक का सफर तय करती है।

भारतीय संस्कृति सारे विश्व को एक परिवार मानते हुए समस्त प्राणियों के प्रति कल्याण, सुख एवं आरोग्य की कामना करती है। वहीं चुनाव आते ही जाति धर्म में वह बंट कर स्वार्थ साधक समीकरण को तैयार करने में अपनी मूल संस्कृति से विचलित होकर अपने स्वार्थ की संस्कृति को अपनाकर आम जन को भरमा कर अपना स्वार्थ साधने में लग जाते हैं। आज विगत कुछ दशकों से जातीय समीकरण एवं धर्म की प्रबलता चुनाव पर हावी रहा है जिसके चलते मानव से मानव वैमनस्यता उत्पन्न हो रही है जो कि हमारी मूल संस्कृति को नष्ट कर रही है। भारतीय चुनाव में पार्टियों और आमजन का संबंध स्वार्थ परक होकर रह गया है। जनता भी प्रतिनिधि को उसी नजर से देखती है कि आए हैं तो अपना काम करा लें अन्यथा 5 वर्ष तक दर्शन दुर्लभ हो जाएगा। प्रतिनिधि भी इसी भाव में रहता है जिससे दोनों का नैतिक पतन हो रहा है। क्रय-विक्रय की मानसिकता जन्म ले रही है। लोकतांत्रिक व्यवस्था की नैया विश्वास को खो रही है और मुट्ठी भर लोग शासन की बागडोर संभाल कर एन केन प्रकारेण कुर्सी पर हमेशा के लिए बने रहना पसंद कर कर रहे हैं जिसके बदौलत नैतिकता का लोप हो रहा है जो हमारे संस्कृति का अभिन्न अंग है।

राजनीतिक अपराधीकरण मुख्य रूप से राजनेताओं और अपराधियों के बीच सांठ-गांठ के कारण जन्म लेता है। इसका अर्थ राजनीति में अपराधियों की बढ़ती भागीदारी से है जिसमें अपराधी चुनाव लड़ सकते हैं और संसद तथा राज्य विधायिका के सदस्य के रूप में चुने जा सकते हैं। एक आंकड़े पर ध्यान दिया जाए तो 1 दिसंबर, 2021 तक देश भर की विभिन्न अदालतों में विधायकों से जुड़े कुल 4,984 अपराधिक मामले लंबित पड़े हुए हैं। कुछ तो अदालत के चौखट पर पहुंचने के पहले ही दम तोड़ देते हैं। ये सभी चीजें हमें विस्मित करती हैं, क्या हम उस देश के वासी हैं जिस देश में सीबी दधीचि जैसे त्यागमूर्ति ने जन्म लिया और दूसरों की भलाई के लिए अपने शरीर का त्याग किया। वहीं आज के नेता अपने स्वार्थ साधने के लिए कोई भी अपराध करने को आतुर हैं। 2019 के एक आंकड़े पर ध्यान देते हैं तो पाते हैं कि अपराधिक मामले वाले उम्मीदवार में जीतने की संभावना 15.5 फीसदी थी जबकि साफ-सुथरी पृष्ठभूमि वाले उम्मीदवार के लिए यह महज 4.7 फीसदी थी।

लालफीताशाही तथा सरकार व प्रशासन में भ्रष्टाचार की समस्या के कारण नौकरशाहों, राजनेताओं, पुलिस अधिकारियों, अपराधियों और कॉरपोरेट के बीच एक गठजोड़ विकसित हो चुका है। तभी जो अपराधी पुलिस के भय से भागे-भागे फिरते थे वह राजनेता बन कर पुलिस को पीछे-पीछे घुमाते हैं। यह गठजोड़ गंगा, जमुना, सरस्वती का संगम-सा हो गया है जिसमें स्नान करते ही सब शुद्ध हो जा रहे हैं और वह प्रशासन का अंग बनकर अब बड़े बड़े खजाने को लूट कर अपनी तिजोरी को भर रहे हैं। यह हमारी संस्कृतिक मानसिकता के विपरीत है जो कि पाश्चात्य संस्कृति के धाराओं में बहा कर अपने को ओत-प्रोत कर रही है। चुनाव आयोग के अधीनस्थ सभी चुनाव संपन्न होते हैं। यद्यपि चुनाव आयोग नामांकन

के समय नामांकन पत्र जमा करते समय उम्मीदवारों से अपराध अदालत में लंबित मामलों, शैक्षिक योग्यता, उम्मीदवारों के चुनावी खर्च एवं संपत्ति का विवरण तो लेता है, तथापि उम्मीदवार कई बार गलत जानकारी देते हैं, परंतु चुनाव आयोग इस जानकारी पर उनके विरुद्ध किसी भी प्रकार की कार्यवाही को करने में उसका हाथ-पैर बंधा हुआ है या यूं कहें कि कार्यवाही करने में चुनाव आयोग असमर्थ है। यहां पर हमारी संस्कृति की संस्कारिता का पतन हो रहा है। हमारी संस्कृति हमें त्याग एवं प्रेम सिखाती है। इसके विपरीत चुनाव में मतदाताओं को अपनी तरफ आकर्षित करने के लिए प्रतिनिधि एक से बढ़कर एक प्रलोभन देते हैं तथा चुनाव प्रचार से जाति-धर्म एवं अज्ञात भय को दिखाकर मतदाताओं में आपसी फूट डालकर प्रेम रूपी संस्कृति को तार-तार कर के अपने स्वार्थ को साधते हैं। कभी हमारी संस्कृति का उदाहरण त्रेता युग के चौपाई के अनुसार थी–''रघुकुल रीति सदा चली आई/प्राण जाए पर वचन न जाई।'' पर, आज चुनावी राजनीति कहें या सत्ता की लोलुपता जो कि हर कार्य करने को मजबूर कर देती है। चाहे जनता का दिल हो या पवित्र गठबंधन या पाला बदलने की प्रवृत्ति विगत कुछ दशकों से समाज इसी का सामना कर रहा है।

आज की चुनावी राजनीति में जनता मूकदर्शक बनकर रह गई है। अपना मत देने के बाद 5 सालों में सारे दल आपस में तालमेल करके सत्ता का रसास्वादन करते हैं। आज विधानसभा लोकसभा सभी जगहों पर दलबदल की प्रवृत्ति अपने प्रबल स्वरूप में आकर खड़ी हो गई है जो कि हमारे मूल भावनाओं को आहत कर रही है। त्याग एवं योग्यता की प्राथमिकता वाली पावन भूमि धन, बल तथा बाहुबल की रक्तरंजित धारा में लाल हो रही है। सत्ता लोलुप लोग येन केन प्रकारेण से हमेशा सत्ता में बने रहना चाहते हैं। इसके लिए वे चुनाव में मतदाताओं को प्रलोभित करने के लिए धन बल का प्रयोग करते हैं, जब उससे उनकी साधना पूरी नहीं होती नजर आती है, तो वह बाहुबल का प्रयोग करके मतदाताओं में भय उत्पन्न करके अपना स्वार्थ साधन करते हैं। स्वार्थ की प्रवृत्ति हमारी मूल संस्कृति को नष्ट करती है। जहां हमारी संस्कृति कमजोर असहाय को मदद करने की सीख देती है, वहीं चुनाव में भय एवं लालच का शिकार बनते नजर आ रहे हैं। हमारा देश समृद्ध संस्कृति का घोतक है जिसमें लोकतांत्रिक अनुशासनात्मक प्रक्रिया की बहुलता की प्रवृत्ति विद्मान है, लेकिन हमारे देश के पार्टियों में लोकतंत्र की कमी है। यहां पर पार्टी के शीर्ष नेतृत्व चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों पर निर्णय लेता है। इस प्रकार से जमीनी स्तर के कार्यकर्ता संगठन के कार्य प्रणाली से दूर हो जाते हैं और संगठन में आपराधिक रिकार्ड वाले राजनेता का प्रभाव ज्यादा हो जाता है तथा संगठन के शीर्ष नेतृत्व चयन में आपराधिक तत्वों को प्राथमिकता देते हैं। साथ ही पार्टी में लोकतंत्र के अभाव से वंशवाद भाई भतीजावाद का जन्म होता है जो योग्यता एवं अयोग्यता से परे होकर संगठन का नेतृत्व करता है, तथा योग्य व्यक्ति कुंठित होता रह जाता है। कोई ऐसा समय था जब भारतवर्ष विश्व गुरु के उपाधि से सम्मानित होता था। मगर आज अपने संस्कृति से परे होता जा रहा है। हमारे देश में कभी भी एक संस्कृति पूर्ण रूप से व्याप्त नहीं रही, और ना ही शायद किसी बड़े प्रदेश में कभी एक ही संस्कृति रही है। हमारे देश में आध्यात्मिक संस्कृति की प्रबलता रही है, फिर भी हमारे देश में तमाम विदेशियों के आघात के उपरांत भी मूल संस्कृति कायम रही, लेकिन हमारे देश के चुनावी राजनीति ने मूल संस्कृति को विखंडित कर के रख दी है। आवश्यकता है चुनावी राजनीति पर एक सख्त कानून तथा इसे क्रियान्वयन करने एवं सख्ती से पालन करने की इच्छा शक्ति की तभी हमारी संस्कृति की मूल भावना में मानवता फल फूल सकती है और पुनः विश्व गुरु का ताज भारत माता के सर की शोभा बढ़ा सकती है।

अजय कुमार ओझा
शोधार्थी
राजनीति विज्ञान
वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

पश्चिमी गढ़वाल में जाग पूजन : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

—डा. सपना रावत

किसी भी आंचलिक क्षेत्र के रीति-रिवाज, रहन-सहन, वस्त्राभूषण तथा लोक सांस्कृतिक परम्परा की स्पष्ट झलक उस क्षेत्र विशेष के लोकोत्सवों, मेले, त्योहारों में परिलक्षित होती है, क्योंकि लोकोत्सवों के अवसर पर ही उस भू-क्षेत्र की सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक जीवन का प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है, जो जनसमुदाय के वर्तमान को अतीत से जोड़ते हुए उनकी मूल परम्पराओं के अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाए रखता है। पश्चिमी गढ़वाल में आयोजित होने वाले लोकोत्सवों में वैदिक यज्ञ परंपरा के आधार पर जाग पूजन की परम्परा विद्यमान रही है, जिसमें पशुबलि के साथ-साथ नरबलि का भी प्रावधान था। जाग पूजन के अवसर पर यज्ञ-हवन एवं पशुबलि की बाहुल्यता के कारण इस अनुष्ठान को वैदिक यज्ञों के समतुल्य स्थापित किया जा सकता है। गांव तथा क्षेत्र की सुख-समृद्धि, फसलों, पशुओं की सुरक्षा एवं भूमि की उर्वरा शक्ति में वृद्धि हेतु यहां के ग्रामीण समाज में जाग पूजन के माध्यम से भूमि पूजन की परम्परा विद्यमान रही है। इस शोध पत्र में शोध सामग्री के रूप में मौखिक स्रोतों का विशेष रूप से प्रयोग किया गया है। लिखित साक्ष्यों का अभाव होने के कारण इस शोध पत्र में जाग पूजन को आयोजित करने के उद्देश्य, पण्डवाणों की भूमिका, लोकदेवता की भूमिका, मंत्रों की भूमिका, पूजन पद्धति आदि समस्त क्रियाकलापों को क्षेत्रीय भ्रमण के माध्यम से संकलित साक्षात्कारों, प्रचलित लोक मान्यताओं, वयोवृद्धों की स्मृतियों इत्यादि का विश्लेषणात्मक प्रयोग किया गया है।

पश्चिमी गढ़वाल के अंतर्गत जनपद उत्तरकाशी की रवांई घाटी, टिहरी का जौनपुर तथा देहरादून के जौनसार-बावर का समृद्ध क्षेत्र आता है, जो गढ़वाल हिमालय का एक विशिष्ट सांस्कृतिक क्षेत्र है, जहां समय-समय पर अनेक मेले, उत्सव, पर्व एवं त्योहार मनाये जाने की समृद्ध परम्परा विद्यमान रही है। इन्हीं लोकोत्सव एवं त्योहारों में जाग पूजन महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यहां के लोकजीवन में आर्थिकी का मूलाधार कृषि एवं पशुपालन रहा है, जो सामाजिक प्रतिष्ठा एवं वैभव का प्रतीक माना जाता था। किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति, समृद्धि एवं समाज में उसकी प्रतिष्ठा का अनुमान उसकी भूमि व पशुधन की सहायता से लगाया जाता था। अतः यहां के ग्रामीण समाज में जाग पूजन के माध्यम से भूमि देवी के प्रति आभार प्रकट करने तथा गांव, फसलों, पशुओं की सुख-समृद्धि की कामना करने हेतु मंत्रों की ध्वनि के साथ हवन करने की परंपरा विद्यमान रही है। जहां यह अनुष्ठान गांव, फसलों, पशुओं की सुख समृद्धि हेतु आयोजित किया जाता है वहीं

निरंतर होने वाले हवन से वातावरण को सुगंधित एवं शुद्ध करने का कार्य तथा लोगों के भीतर की नकारात्मक भावनाओं को दूर कर सकारात्मक ऊर्जा का संचार कर लोगों के धार्मिक विश्वास को दृढ़ता प्रदान करते हैं, जिससे लोग आने वाले संकटों से सम्पूर्ण क्षेत्र को सुरक्षित महसूस करते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो निरंतर 7 से 9 दिनों तक किए जाने वाले हवन में प्रयुक्त होने वाली सामग्री घी, चुल्लू की लकड़ी, केदारपत्री, तिल, जौ इत्यादि की आहुति देते समय निकलने वाला धुंआ न केवल वातावरण को शुद्ध करने का कार्य करता है बल्कि रोग उत्पन्न करने वाले विषैले, मल-मूत्र से उत्पन्न होने वाले रोगाणु, मच्छर-कीट जो मानव के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं, यज्ञ के धुंए से नष्ट हो जाते हैं। 7 से 9 दिनों तक होने वाले इस अनुष्ठान में निरन्तर भूमि पूजा से संबंधित तन्त्र-मंत्रों के साथ यज्ञ-हवन किया जाता है। पश्चिमी गढ़वाल से जुड़े हिमाचल प्रदेश के पहाड़ी भू-भागों शिमला, सिरमौर, कुल्लू एवं किन्नौर में भी यज्ञ के रूप में भूमि पूजन की परम्परा विद्यमान है।

मियां गोवर्धन सिंह के अनुसार आज भी हिमाचल के प्रत्येक गाँव एवं पहाड़ी पर मंदिर विद्यमान है। प्रत्येक घर की एक कुलदेवी होती है जिसकी पूजा समय-समय पर घर का मुखिया करता है। इसी तरह प्रत्येक ग्राम में एक ऐसी देवी होती है, जिसे हम मातृदेवी या भूमि देवी भी कह सकते हैं, क्योंकि उसे उस गाँव की भूमि और वनों की स्वामिनी कहा जा सकता है। इसका स्थान गाँव के मध्य या गाँव के ऊपरी भाग में विद्यमान होता है। कई स्थानों पर इसके मंदिर तो कई स्थानों पर चबूतरे बने होते हैं, जिसे थान, थात, थाती, जगह आदि कह कर सम्बोधित किया जाता है।[1]

हिमाचली इतिहासकार पदुमचन्द्र काश्यप ने जाग/थात की तुलना बौद्धकालीन संथागों से की है। उसे किन्नौर में संथाग, ऊपरी महासू मे थौड़, सिरमौर मे भोज, सतलज उपत्यका मे थाणी या थाट कहते हैं। उसे 'चौगान' और 'शना' का पर्यायवाची भी माना है।[2] कुल्लू में थान, जेहर, ठारा पेड़े, ओड़ी आदि को भूमि देवता का रूप माना जाता है।[3]

पश्चिमी गढ़वाल के रंवाई-जौनपुर तथा जौनसार-बावर में भी गाँव के मध्य तथा उत्तर की ओर ऊंचे स्थान पर जाग अथवा थात का स्थान है, जो चबूतरे के आकार में बना होता है। चारों ओर से लगभग दो या तीन मीटर मिट्टी-पत्थरों से बना होता है। ये चबूतरे अधिकांशतः वर्गाकार अथवा आयताकार रूप में बने होते हैं, यद्यपि इनके आकार में भी कुछ अन्तर पाया जाता है। बनने के पश्चात् विशालकाय देवदार के स्लीपर रखे जाते हैं, जिन्हें स्थानीय बोली में न्हाश कहा जाता है जिनका उपयोग भेंट स्वरूप प्रदान किए गये सिक्कों को जड़ाने तथा ध्वज और घंटियों को टांगने हेतु किया जाता है। थाती के अन्दर मध्यवर्ती या किनारे पर हवन कुण्ड बना होता है जिसमें 7 या 9 दिनों का हवन पूजा के रूप मे सम्पन्न होता है। शहतीरों में सिक्के अधिक संख्या में होने पर उन्हें थाती के मध्य भाग में रखा जाता है तथा किसी भी प्रकार से आर्थिक मदद के रूप में इनका उपयोग करना वर्जित है। मान्यता है कि यदि कोई इन्हें चुराने का प्रयास करता है तो उसे किसी भी प्राकृतिक प्रकोप के रूप में दण्ड भुगतना पड़ सकता है। रंवाई तथा जौनसार-बावर में खलाड़ी, जानोग, जजरवाड़, छजाड़, म्यूण्डा प्रसिद्ध जाग हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक गाँव में छोटी-छोटी थातें विद्यमान हैं। इन में से यहाँ पर खलाड़ी की जाग का विशेष उल्लेख व्यक्तिक रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

खलाड़ी गाँव रंवाई अंचल के तहसील पुरोला के अंतर्गत तहसील मुख्यालय से लगभग 7-8 कि. मी. दक्षिण-पश्चिम की ओर स्थित है। यहाँ के निवासी जैसाणी रावत हैं। मान्यता है कि इनके पूर्वज लगभग 8-9 पीढ़ी पूर्व सिरमौर से आकर यहाँ बसे थे। जाग पूजन बैशाख मास में आयोजित किया जाता है, जिसका आयोजन 5 वर्षों के अंतराल में किया जाता है। कहीं-कहीं यह पूजा 3, 5, 7, 12 वर्षों के अंतराल में भी आयोजित की जाती है। आर्थिक कारणों या किसी घटना के घटित होने के कारण इसका पूजन आगामी वर्षों मे भी किया जा सकता है। इस अवसर पर गाँव अथवा पट्टी का ईष्ट देव भी इस पूजा में अनिवार्य रूप से शामिल होता है। जाग अथवा थात को क्षेत्र की ईष्ट देवी के रूप में मान्यता प्राप्त है, जिसे चौंसठ योगिनियों अथवा मातृकाओं के रूप मे मान्यता प्राप्त है, जो अनिष्टकारिणी शक्तियों से गाँव की सुरक्षा करती है।[4]

चौंसठ योगिनियों अथवा मातृकाओं का तात्पर्य उन मातृ शक्तियों से है जो गाँव के बाहर ऊंचे पहाड़ों मे निवास करती हैं।[5] बेरीमेन ने भी सुरकण्डा की पहाड़ी पर मातरियों का निवास स्थान बताया है।[6] जाग पूजा के पुजारी कुल पुरोहित से भिन्न होते हैं, जिन्हें पण्डवाण तथा उनकी विद्या को पण्डवाणी कहा जाता है। पण्डवाण हिमाचल प्रदेश के जिला शिमला के अन्तर्गत मन्यौटी गाँव के निवासी हैं। इनके अतिरिक्त कोई भी ब्राह्मण इस थाती की पूजा नहीं कर सकता है। मान्यता है कि इस गाँव के लोग

पूर्व समय में हिमाचल के सिरमौर से आकर यहाँ बसे थे, जिस कारण हिमाचल के पण्डवाणों को थाती पूजन हेतु आमंत्रित करने की परम्परा विद्यमान रही है। पूजन का समय निकट आने पर लगभग दो सप्ताह पूर्व पण्डवाणों को जाग पूजन हेतु निमंत्रण दिया जाता है, जिसके बुलावे हेतु दो या तीन व्यक्तियों को भेजा जाता है। हिमाचली पंचांग के अनुसार ही पूजन की तिथि निश्चित की जाती है। इसी के साथ थाती के अन्दर स्थित हवन कुण्ड को खोलने का लग्न भी देखा जाता है, जिसकी गणत तांत्रिक पाण्डव पाशा से की जाती है। यह पाशा लाल कान वाले गरूड़ की हड्डी से बनाया जाता है। लग्न के पश्चात् हवन कुण्ड किस राशि का व्यक्ति खोलेगा यह भी निश्चित किया जाता है। आमतौर पर देखा गया है कि हवन कुण्ड खोलने का लग्न रात्रि 12 बजे के पश्चात् का ही होता है। हवन कुण्ड खोलते समय पाठी (कुंवारी बकरी) की बलि दी जाती है।[7]

पूजन हेतु गाय का दूध, घी, दही, शहद और गौमूत्र को मिलाकर पंचगव्य बनाया जाता है तथा गाय के गोबर से गणेश बनाया जाता है। हिंदू धर्मशास्त्रों में गाय को पवित्र माना गया है जिसके अंदर ब्रह्माण्ड के समस्त देवी-देवता निवास करते हैं इसीलिए हवन में दूध, घी, गौमूत्र आदि का प्रयोग किया जाता है। हवन हेतु दूध-घी के साथ केदारपत्री, सात प्रकार के अनाज (सतनजा) आदि की व्यवस्था की जाती है। प्रत्येक दिन पूजन सामग्री का उपयोग कर सात या नौ हवन होते हैं। हवन से पूर्व प्रातः काल नौ ग्रहों की बलि हेतु रखे बकरे की भी पूजा की जाती है। हवन में चुल्लू व भेखल की लकड़ी प्रयोग की जाती है, जो तैलीय वनस्पतियां होने के कारण पूजा हेतु शुभ मानी जाती हैं, साथ ही इसका धुंआ प्रदूषण रहित तथा स्वास्थ्यवर्धक होता है। सात अथवा नौ दिनों के पश्चात् गाँव से बाहर घाटों का बंधन तंत्र-मंत्रों तथा पूजन सामग्री के साथ किया जाता है जिसके लिए सात घराटों का भण (आटे की धूल) सात सुर (स्त्रोत) का पानी, सूखी लौकी (तुमड़ी), पत्थर के जांदरे का टुकड़ा, शरी (तीरों की गठरी), धनुष आदि की व्यवस्था की जाती है। तीन घाटों पर रिंगाल की लकड़ी से खेलियाँ (द्वार) बनाई जाती हैं। रिंगाल में लचीलापन होने के कारण खोलियाँ आसानी से बन जाती हैं। रिंगाल का उपयोग हर प्रकार के तांत्रिक कार्य मे किया जाता है। खोलियाँ अनिष्टकारिणी शक्तियों के प्रवेश को रोकने हेतु बनायी जाती है जिसमें मंत्रों के साथ पूजित तुमड़ी, शतधान्य, जान्दरा (घरेलू चक्की का टुकड़ा), काष्ठ पट्टी जिस पर तंत्र-मंत्र लिखे होते हैं, एक गठरी शरी, छोटा धनुष आदि टांगे जाते हैं। टांगी जाने वाली सामग्री की थाती में ही भली-भांति पूजा की जाती है।[8] घाट पूजन का कार्य दस बजे के पश्चात् प्रारम्भ होता है जिसके लिए समस्त पूजन सामग्री के साथ प्रस्थान किया जाता है। प्रस्थान से पूर्व पण्डवाण लोग थाती के ऊपर लगे स्लीपर (नहासों) पर चढ़कर हाथों में धूपदान लेकर नृत्य करते हुए मंत्रों का उच्चारण करते हैं जो निम्न हैं–*लोहाई खोड़ी लोहाई बाड़, थम्बो जोगणी थम्बो काड़/पूरबो जोगणी पूरबो काड़, पूरबो की दिशा वीर वेताड़ अगियो जोग ।*[9] (अर्थात जब पण्डवाण लोग नृत्य करते हुए मंत्र का उच्चारण करते हैं उस समय दस दिशाओं से मातरियां गाँव पर अपना कुप्रभाव डालने के लिए गाँव में प्रवेश करने का प्रयत्न करती हैं। अतः उनसे गाँव की सुरक्षा के लिए खोलियाँ बनाई जाती हैं, ताकि वे ग्रामीणों को किसी प्रकार की क्षति न पहुंचा सकें। इन मंत्रों के उच्चारण के द्वारा उनके प्रभाव को निष्क्रिय किया जाता है)

पण्डवाणों के अनुसार रात्रि की अपेक्षा दिन के समय घाट बंधन का कार्य कठिन होता है, क्योंकि रात्रि मे चारों दिशाएं बंद होने से परिक्रमा आसानी से की जाती है, किन्तु दिन के समय दिशाएं खुली रहने से सूत बंधन का कार्य कठिन होता है। इस समय अनेक दुरात्मायें इसमें विघ्न डालने का प्रयत्न करती हैं। किन्तु पण्डवाण विधि-विधान के अनुसार समस्त अनिष्टकारिणी शक्तियों को निष्क्रिय कर आसानी से घाटों का बंधन कर लेते हैं। यज्ञ के द्वारा बार-बार आंछरी मातरी तथा चौंसठ योगिनियों का आह्वान किया जाता है, जो जागमाता के साथ ही निवास करती हैं तथा उसे शक्ति भी प्रदान करती हैं। घाटों के पूजन के समय पण्डवाण विशेष प्रकार की पोशाक धारण करते हैं, जिसमें सफेद कुर्ता-पायजामा, कपड़े की कमरबंद (गाची) सिर में पगड़ी, हाथ में धूपदान तथा चावल रखते हैं। वाद्ययंत्रों के साथ देवजोत (देवी को प्रसन्न करने हेतु बोला जाने वाला मंत्र) के साथ नृत्य करते हुए–*"देवियो देवी दिगर थान/ ब्रह्मा बिष्णु महेश्वर नाम/सिंग वाहन देवी दुर्गा नाम/ दुर्गा माता भवर चण्डी/चौदह भवर में फिरिये नौखण्डे/ अष्ट कला देवी पूजा चढ़िये/"देवियो देवी दिगर थान, ब्रह्मा बिष्णु महेश्वर नाम"*[10] (मंत्र के माध्यम से मां दुर्गा का आह्वान किया जाता है, जिसमें ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव की त्रिशक्ति समाहित है)

घाट बंधन हेतु प्रस्थान करते हैं। इस समय अनेक लोकदेवता भी अवतरित होते हैं। लोगों की सुरक्षा हेतु ज्यूंद्याड़ (अक्षत) फेंका जाता है, ताकि लोगों पर अनिष्टकारिणी शक्तियाँ अपना कुप्रभाव न डाल सकें। जैसे ही थाती के कण्डारों की पूजा आरम्भ होती है। क्षेत्र के

ईष्ट महासू, श्रीगुल और शिकारू नाग देवता भी अवतरित होते हैं। थाती के कण्डारों (दिशाओं) की पूजा के पश्चात् पण्डवाणों को कंधे पर उठाकर थाती से नीचे गाँव के प्रांगण मे उतारा जाता है। ढोल-बाजों के ताल तथा मंत्रों के उच्चारण के साथ नृत्य करते हुए प्रांगण से आगे की ओर प्रस्थान करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के पास सुरक्षा हेतु सतनजा (सात प्रकार के अनाज) दिया जाता है जिसे लोग अपने पास रख लेते हैं।

प्रचलित लोक मान्यता है कि कुंती माता ने अपने पुत्रों को अमर करने हेतु सप्त ऋषियों को भोजन करवाया था, जिससे उसके पुत्र अमर हो गये। इसलिए पूजा में सप्त ऋषियों के नाम पर शतधान्य का प्रयोग किया जाता है।[11] सर्वप्रथम पूर्व दिशा के घाट का बंधन किया जाता है, जहाँ बने द्वार (खोली) पर ऊपर लिखित सामग्री को लटकाने के साथ ही बकरे की बलि दी जाती है। इस समय एक अन्य व्यक्ति द्वारा प्रेतात्माओं के प्रभाव को निष्क्रिय करने हेतु तीर चलाया जाता है। बकरे की बलि देने वाला राहु तथा तीर छोड़ने वाला व्यक्ति शनि राशि का होता है। राहु और शनि क्षुद्र (पापी) ग्रह माने जाते हैं इसलिए इन्हीं के द्वारा बलि दी जाती है। आगे दक्षिण दिशा का घाट आता है, जिसका बंधन सभी घाटों से कठिन माना जाता है। इसके सामने सिंगाई नामक डाण्डा (पहाड़ी) है, जिसे मातृ देवियों का गढ़ माना जाता है। यदि पूजा मे किसी भी प्रकार की कमी रह जाती है तो ये वन देवियाँ कुपित होकर ओलावृष्टि अथवा किसी भी व्यक्ति का साक्षात रूप मे हरण कर लेती हैं। इसीलिए इस घाट का बंधन पूरी सावधानी के साथ किया जाता है। इस घाट पर द्वार के स्थान पर टिमरू का डण्डा गाड़ दिया जाता है जो रक्षक के रूप मे कार्य करता है।[12]

इसके पश्चात् पश्चिम दिशा का घाट आता है, जहाँ द्वार पूजन से संबंधित औपचारिकताओं के साथ बकरे की बलि दी जाती है। पश्चिम-उत्तर के मध्य में स्थित घाट पर मुर्गे की बलि दी जाती है, जिसे उड़ा दिया जाता है। यह बलि आकाश में विचरण करने वाली दुरात्माओं को सन्तुष्ट करने हेतु दी जाती है। उत्तर के घाट पर बकरे की बलि के पश्चात् गेंदाड़ा (एक प्रकार का जंगली फल) और अंत में सुअर की बलि गांव की सीमा में प्रवेश के रास्ते पर दी जाती है। उसका मुंह खुला रखकर दबाया जाता है। मान्यता है कि मुंह खुला रखने पर दुरात्मायें उसमें समाहित हो कर उसी के साथ दफन हो जाती हैं। घाटों के बंधन के पश्चात् पण्डवाणों को पुनः कंधे पर उठाकर प्रांगण में पहुंचाते हैं, जहाँ पूर्व की भांति मंत्रों के साथ नृत्य करते हैं। इसके पश्चात् थाती के आंगन में चक्र बनाकर नौ ग्रह के बकरे की बलि दी जाती है। बलि के पश्चात् इसके रक्त की छींटे लोगों द्वारा खेतों से लायी गयी मिट्टी पर मारी जाती हैं। तत्पश्चात् ग्रामीण उस मिट्टी को वापस अपने खेतों में लेकर जाते हैं। लोकधारणा है कि ऐसा करने पर मिट्टी की उर्वरा शक्ति में वृद्धि होती है। बृहस्पति राशि वाले व्यक्ति द्वारा प्रत्येक घाट पर जिंजाणा फेंका जाता है, जिंजाणा पवित्र आत्माओं को दिया जाने वाला भोजन है। इस भोजन को बनाने हेतु जौ, कौणी को पकाकर एक रोट तैयार किया जाता है तथा उसे 16 टुकड़ों मे विभाजित करके चारों दिशाओं मे फेंका जाता है। जो कण्डी (टोकरी) में शेष रह जाता है उसे ऊंची जगह से नीचे फेंक दिया जाता है।[13]

पूजा का समापन ग्रह उड़ाने के साथ होता है जिसमें शनि व राहु राशि के व्यक्तियों को भेजा जाता है। उस समय सभी लोगों को घर के अंदर रहने की सलाह दी जाती है। इस समय ग्रह उड़ाने वालों की यदि किसी पर दृष्टि पड़ जाए तो उस दृष्टि से बचाने हेतु बहुत बड़ा उपचार करना पड़ता है। जो व्यक्ति ग्रह उड़ाने जाते हैं उनकी मुट्ठी पीठ की ओर होती है, जिसमें सतनजा दिया जाता है। निर्दिष्ट स्थान तक उसी मुद्रा में जाकर मुट्ठी मे दिया सतनजा फेंकना होता है। सतनजा फेंकने की इस प्रक्रिया को ग्रह उड़ाना कहा जाता है। इस विश्वास के साथ यह पूजा पूर्ण विधि-विधान, तंत्र-मंत्रों के साथ सम्पन्न की जाती है तथा आगामी 5 वर्षों तक समस्त क्षेत्रवासी अपने आप को प्राकृतिक प्रकोपों तथा अनिष्टकारिणी शक्तियों से सुरक्षित मानते हैं। यह पूजा जितनी भव्य रूप में होगी उसका महात्म्य भी उतना ही फलदायी होगा।[14] जाग पूजन का जहाँ तांत्रिक और आध्यात्मिक महत्व है वहीं इसका प्रशासनिक व सामाजिक महत्व भी कम नहीं है। हिमाचल प्रदेश के किन्नौर मे सामान्यतः देव मंदिर के साथ स्थित खुले प्रांगण को संथाग कहा जाता है। इसी संथाग पर बैठकर देवता दीवानी और फौजदारी मामलों का निर्णय कर अपराधियों को दण्डित करता था। बौद्ध काल मे जनपदों की जनता के बैठने व एकत्रित होने का स्थान संथागार कहलाता था।[15] यद्यपि वर्तमान समय में इन चौतड़े, थौड़ का धार्मिक, सामाजिक एवं प्रशासनिक महत्व समाप्त हो चुका है। किन्तु इनके पीछे जो पवित्रता, दैवीयपन तथा आदर की भावना थी वह आज भी परम्परागत रूप मे विद्यमान है। लोक आस्था है कि इस पर खड़ा होकर यदि कोई व्यक्ति अपने निरपराध होने की सौगन्ध लेता है तो उसे निर्दोष मान लिया जाता है। किन्तु इसके विपरीत आचरण करने वाले को दण्ड का भागीदार बनना पड़ता है।[16]

पश्चिमी गढ़वाल के कई गांवों मे जाग पूजन के अवसर पर गाँव की सीमा पर दी जाने वाली सुअर की बलि के समान ही दक्षिण भारत में भी कृषक समुदाय में सुअर की बलि का प्रावधान रहा है। हैनरी व्हाइटहेड ने उल्लेख किया है कि जब कभी गाँव में पशु रोग फैल जाता था, तो गांव की सीमा पर सुअर को उसकी गर्दन तक दबा दिया जाता था। सम्भवतः यह परम्परा भूमि देवी की पूजा से जुड़ी हो सकती है। प्राचीन यूनान में सुअर कृषि देवताओं के लिए पवित्र था। सुअर की बलि गाँव के प्रवेश द्वार पर गाँव की उर्वरा शक्ति का प्रतीक माना जाता है। कृषक समुदाय तथा गांव की समृद्धि को सुरक्षित रखने हेतु भूमि की उर्वरता, पशुओं की प्रजनन क्षमता में वृद्धि करने हेतु सुअर की बलि दी जाने की परम्परा रही है।[17] क्षेत्र सर्वेक्षण में जाग के मुख्य पुजारी हिमाचल प्रदेश के शिमला जिले के मन्योटी निवासी देवीराम पाण्डे जी साक्षात्कार में बताते हैं कि आज से कुछ दशकों पूर्व तक हिमाचल प्रदेश के शिमला जिले के थंगाड़ नामक गाँव में 12 वर्षों के अंतराल में आयोजित होने वाली जाग पूजन के अवसर पर नरबलि का प्रावधान था।[18] रंवाई घाटी के मुख्यतः खलाड़ी, कोटगांव, सांकरी, दड़गाण गांव, पाशा, पोखरी तथा देहरादून जनपद के जनजातीय क्षेत्र बावर के निमगा गांव में जाग पूजन के अवसर पर अष्ट बलि का भी प्रावधान है। कई स्थानों पर थाती पूजन के अवसर पर नर भैंसे की बलि दी जाती थी, जिस पर पहला प्रहार ग्राम मुखिया करता था। तत्पश्चात् उस भैंसे को खेतों मे दौड़ाते हुए उस पर हथियारों तथा पत्थरों से प्रहार करते थे ताकि रक्त की बूंद उनके खेतों में गिरे। भैंसे का रक्त खेतों में गिरना शुभ माना जाता था क्योंकि तांत्रिक विधान के अंतर्गत भूमि पूजन का यह परंपरागत विधान था। यह लोगों का अंधविश्वास ही तो है कि कृषि भूमि में रक्त की बूंद पड़ने से उर्वरा शक्ति में वृद्धि होती है, जबकि वास्तविक रूप से उन्हें यह समझने की आवश्यकता है कि गोबर, खाद तथा परिश्रम के द्वारा ही अच्छी पैदावार होती है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिंह मिंया गोवर्धन, हिमाचल प्रदेश का इतिहास, रिलायेन्स पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1996, पृ. 13
2. काश्यप पद्मचन्द्र, हिमाचल प्रदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन, हिमाचल पुस्तक भण्डार, दिल्ली, 1981, पृ. 77
3. गौतम दयानन्द, पश्चिमी हिमालय संस्कृति एवं साहित्यिक विधाएं, बुक इंडिया पब्लिशिंग कंपनी, दिल्ली, 2004, पृ. 55
4. रावत प्रहलाद सिंह, टोंस उपत्यका का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, हे. न. ब. गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर, 1988, पृ. 419
5. साक्षात्कार, देवीराम पाण्डे, उम्र 90 वर्ष, ग्राम मन्योटी, शिमला, हिमाचल प्रदेश
6. बेरीमेन डी. गेराल्ड, हिन्दूज ऑफ द हिमालयाज, कैलिफोर्निया, 1963, पृ. 113
7. साक्षात्कार, देवीराम पाण्डे, उपरोक्त
8. उपरोक्त
9. उपरोक्त
10. उपरोक्त
11. साक्षात्कार, चैतराम पाण्डे, उम्र 86 वर्ष, ग्राम मन्योटी, तहसील चौपाल, शिमला, हिमाचल प्रदेश
12. साक्षात्कार, देवीराम पाण्डे, उपरोक्त
13. उपरोक्त
14. उपरोक्त
15. काश्यप पद्मचन्द्र, भारतीय संस्कृति और हिमाचल प्रदेश, हिमाचल पुस्तक भण्डार, दिल्ली, 2003, पृ. 116
16. काश्यप पद्मचन्द्र, हिमाचल प्रदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन, उपरोक्त, पृ. 78
17. डी. डी. हेनरी व्हाइटहेड, द विलेज गोडस ऑफ साऊथ इंडिया, कोसमो पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पुर्नमुद्रित संस्करण, 1983, पृ. 59-60
18. साक्षात्कार, देवी राम पाण्डे, उपरोक्त

डा. सपना रावत

असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग,

हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय,

डा. बी. जी. आर. परिसर पौड़ी (गढ़वाल)

भारत में उच्च शिक्षा की चुनौतियां : सम्भावनाएं एवं विकल्प

–डा. सारिका श्रीवास्तव

सारांश

स्वतंत्रता से पूर्व भारत एक ब्रिटिश उपनिवेश था और अंग्रेजों ने भारत पर लगभग 200 वर्षों तक शासन किया। अंग्रेजों ने शिक्षा को अपने हित के लिए इस्तेमाल किया। उनका उद्देश्य भारत में एक ऐसा शिक्षित वर्ग पैदा करना था जो औपनिवेशक शासन को सुचारू रूप से चलाने में सहायक हो। अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का उद्देश्य मात्र कार्यालय सहायक का निर्माण करना था। शिक्षा का समुन्नत विकास न हो पाने के कारण धीरे-धीरे बेरोजगारी की समस्या बढ़ती गई और वर्तमान में विकराल रूप धारण कर लिया है। वर्तमान में एक ऐसी शिक्षा पद्धति की आवश्यकता है जो शिक्षा की गुणवत्ता के विकास के साथ-साथ रोजगारोन्मुखी हो, परंतु आश्चर्य की बात यह है कि स्वतंत्रता के 75 वर्ष बाद भी हम वह उपलब्धि हासिल नहीं कर पाए जिसकी हमें महती आवश्यकता थी। हालांकि, सरकार ने शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कदम उठाए हैं लेकिन व्यवस्था में भ्रष्टाचार के कारण एक बहुत बड़ी चुनौती है, परन्तु गुणवत्ता में सुधार की संभावनाओं का अभाव नहीं है। शिक्षा मानवीय मूल्यों, तकनीकी ज्ञान एवं उद्यमिता के विकास में सार्थक पहल कर सकता है जिसकी अपार संभावनाओं से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

मुख्य शब्द : *भूमण्डलीकरण, शिक्षा, प्रौद्योगिकी, सम्मुनत विकास, प्रशिक्षण, उद्यमिता, वैश्विक, चुनौतियाँ*

प्रस्तावना

शिक्षा शब्द संस्कृत के शिक्ष शब्द से लिया गया है। शिक्षा मानवीय संसाधनों के विकास का मुख्य आधार है। भारत विश्व की सबसे तेजी से बढ़ने वाली अर्थव्यवस्था में सूचीबद्ध हो गया है परंतु शिक्षा व्यवस्था के समुचित विकास में बहुत पिछले पायदान पर है। भूमंडलीकरण के युग में शैक्षिक गुणवत्ता में अभाव के कारण भारतीय छात्र विश्व की मांग के अनुरूप नहीं बन पाते हैं, जो भारतीय शिक्षा के समक्ष एक बहुत बड़ी चुनौती है। देश के सभी विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा में दाखिला लेने को उत्सुक छात्रों की भारी भीड़ देखी जा रही है। विगत वर्षों में बारहवीं

कक्षा के परिणाम आते ही उच्च शिक्षा में दाखिला लेने वाले छात्रों की भीड़ बढ़ जाती है। यह शिक्षा के परिमाणात्मक विकास का सूचक है। भारत सहित दक्षिण एशिया और मध्य अफ्रीका में उच्च शिक्षा का विस्तार 2030 तक तीव्र गति से होगा। भारत सहित अन्य एशियाई देशों के द्वारा उच्च शिक्षा की बढ़ती मांग और शिक्षा संस्थानों की कमी को देखते हुए केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के साथ ही साथ निजी विश्वविद्यालयों की स्थापना को प्रोत्साहित किया गया। विगत वर्षों में भारत में जहाँ कुछ नये केन्द्रीय विश्वविद्यालयों एवं प्रादेशिक विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई, वहीं निजी विश्वविद्यालयों की स्थापना को भी सरल किया गया। सरकारी विश्वविद्यालयों को स्ववित्त पोषित कोर्स चलाने की अनुमति की संख्या तो बढ़ी परन्तु छात्रों के अनुपात में शिक्षकों की संख्या कम होने के साथ ही साथ कुशल शिक्षकों का भी अभाव हो गया और प्रयोगशालाओं एवं पुस्तकालयों की क्रियाशीलता में कमी आती गयी। हाल के वर्षों में उच्च शिक्षा में नकल की संस्कृति और फर्जी डिग्री के कारोबार में वृद्धि हुई। परन्तु शिक्षा का डिजिटलाइजेशन होने के कारण इस पर काफी हद तक अंकुश भी लगाया जा सका है।

भारत में उच्च शिक्षा की चुनौतियां एवं संभावनायें

भारत में उच्च शिक्षा का विकास अनियोजित है, जिसके परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर शिक्षा के स्तर में गिरावट आयी है, वहीं छात्रों में ज्ञानार्जन एवं चरित्र निर्माण की अभिलाषा कम हुई है। शिक्षित व्यक्तियों के समक्ष बेरोजगारी की विकट समस्या उत्पन्न हो गयी है। हमारी उच्च शिक्षा ज्ञानोन्मुखी एवं नैतिकता उन्मुखी नहीं है बल्कि मात्र डिग्री उन्मुखी है। इसका स्वरूप शिक्षक केन्द्रित व परीक्षोन्मुखी है जो सिर्फ डिग्री बाँटता है। इसके समक्ष कई चुनौतियाँ है जिसमें प्रमुख निम्नलिखित हैं :

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में योग्य शिक्षकों की कमी और गुणवत्ता एक बहुत बड़ी चुनौती है। टॉप 200 विश्व रैंकिंग में भारतीय शिक्षण संस्थानों को स्थान नहीं मिल पाता है। शिक्षा में सुधार हेतु बने रोडमैप को व्यावहारिक पटल पर उतारना एक बहुत बड़ी चुनौती है। उच्च शिक्षा में नामांकन का एक बड़ा हिस्सा राज्य विश्वविद्यालयों और उनसे सम्बद्ध महाविद्यालयों से आता है, जबकि इन राज्य विश्वविद्यालयों को अपेक्षाकृत बहुत कम अनुदान प्राप्त होता है। एक अनुमान के अनुसार केंद्रीय शैक्षिक बजट का लगभग 65% केन्द्रीय विश्वविद्यालयों और उनसे सम्बद्ध महाविद्यालयों को मिलता है और शेष 35% मात्र राज्य विश्वविद्यालयों और उनसे सम्बद्ध महाविद्यालयों को मिलता है जबकि राज्य विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध महाविद्यालयों की संख्या अधिक है। तकनीकी शिक्षण संस्थाओं का अभाव हमारे सामने एक चुनौती है, क्योंकि कोरिया में 95%, चीन में 80%, जर्मनी में 80%, आस्ट्रेलिया में 70%, और ब्रिटेन में 60% युवक तकनीकी शिक्षा से लैस हैं, जबकि भारत में तकनीकी शिक्षा पाने वाले युवाओं का प्रतिशत मात्र 22 है। देश की आबादी में प्रतिवर्ष 208 करोड़ युवा लेबर फोर्स के रूप में उद्योगों में जाते हैं जिसमें मात्र 25 लाख ही कुशल होते हैं। भारत में निजी संस्थानों और विश्वविद्यालयों में मानक स्तर का अभाव है। अधिकांश महाविद्यालयों में पर्याप्त बुनियादी ढ़ाचें नहीं हैं। भारत में ग्रास एनरोलमेंट वैश्विक औसत से काफी कम है। छात्रों में नैतिक मूल्यों का समावेश कैसे हो, छात्रों को नैतिक आदर्शों के प्रति आस्था कैसे जगे एवं ज्ञान, व्यवहार, जीवन शैली एवं आचरण में सामंजस्य कैसे बने? यह एक बड़ी चुनौती शिक्षा व्यवस्था के समक्ष है। उच्च शिक्षा में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग से इसकी गुणवत्ता बढ़ायी जा सकती है। इससे अंतःसांस्कृतिक संवाद व अंतर्राष्ट्रीय शान्ति को भी बढ़ावा मिल सकता है। इसलिए भारतीय उच्च शिक्षा में सुधार प्रक्रिया को अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के मद्देनजर विश्वस्तरीय मापदंडों के अनुकूल बनाने व परखने की आवश्यकता है जो भारतीय उच्च शिक्षा के समक्ष एक बड़ी चुनौती है। उच्च शिक्षा की गुणवत्ता विकास हेतु तीन मुख्य बातों स्केल, स्किल एवं स्पीड पर बल देने की आवश्यकता है। स्केल, स्किल एवं स्पीड को शिक्षा जगत में सार्थक बनाना भी एक बड़ी चुनौती है। वर्तमान में विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों के शिक्षकों की जबावदेही सुनिश्चित कैसे की जाए यह भी एक चुनौती है।

उच्च शिक्षा की गुणवत्ता सुधार हेतु सरकार की नयी पहल

देश के उच्च शैक्षणिक संस्थानों में गुणवत्ता में सुधार के लिए सरकार ने नई 12 सूत्रीय गाइड लाइन तैयार की है जिसमें उन सभी पहलुओं को शामिल किया गया है जो किसी भी संस्थान के लिए जरूरी होता है। ये 12 बिन्दु इस प्रकार हैं–छात्रों के लिए प्रेरक कार्यक्रम, शिक्षा में परिणाम आधारित पाठ्यक्रम की रूपरेखा, प्रभावी शिक्षण प्रक्रिया के लिए आई. सी. टी. आधारित शिक्षा, उपकरणों का उपयोग, छात्रों के लिए कौशल विकास, प्रत्येक संस्थान

को समाज और उद्योग से जुड़ाव, छात्र करियर प्रगति, छात्र नेटवर्क संकाय प्रेरण कार्यक्रम, संकाय द्वारा गुणवत्ता अनुसंधान को बढ़ावा देना और नए ज्ञान का सृजन, परामर्श, सतत् उच्च शैक्षणिक संस्थानों में मानव मूल्यों और व्यावसायिक आचार नीति के लिए दिशा-निर्देश, सतत उच्च शैक्षणिक संस्थानों में पर्यावरण अनुकूलन और परिसर विकास की रूपरेखा, मूल्यांकन सुधार।

विकल्प

भारतीय उच्च शिक्षा का परिदृश्य तेजी से बदल रहा है। सरकार द्वारा भारतीय निजी संस्थानों, उद्योगों और विदेशी संस्थानों से भागीदारी की जा रही है। भारतीय जनसांख्यिकी और इसकी विविधता के अनुरूप शिक्षा को सशक्त बनाने का प्रयास किया जा रहा है, ताकि भारत को विकसित देशों में शुमार किया जा सके। हमारे देश में आई. आई. टी. और आई. आई. एम. जैसे संस्थान गुणवत्ता के पर्याय माने जाते हैं, लेकिन उन तक पहुंचना आसान नहीं है। वैसे तो देश में 1070 से अधिक विश्वविद्यालय हैं लेकिन गुणवत्ता वाली शिक्षण संस्थाओं का बहुत अभाव है।

उच्च शिक्षा की शिक्षा बजट में भागीदारी बढ़ी है लेकिन छात्रों की बढ़ती संख्या के अनुपात में आर्थिक संसाधन एवं योग्य शिक्षकों तथा प्रशिक्षकों की अत्यधिक कमी है जिसके परिणाम स्वरूप डिग्री लेकर बड़ी संख्या में छात्र-छात्राएं बेरोजगार घूम रहे हैं। भारत में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान बनने चाहिए जो दुनिया भर के छात्रों को आकर्षित करने में सफल हों और देश में नेतृत्व, संस्कृति एवं व्यक्तित्व का विकास कर सके। सन् 1951 में हमारे देश में 798 महाविद्यालय एवं 27 विश्वविद्यालय थे जिनकी संख्या बढ़कर 2022 में 1070 विश्वविद्यालय और लगभग 40000 महाविद्यालय हो गयी है। इस प्रकार विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। सन् 1854 में चार्ल्स वुड ने अंग्रेजी राज्य में शिक्षा का उद्देश्य राज्य सेवा हेतु ईमानदार सेवक तैयार करना बताया। सन् 1883 में विलियम हण्टर ने शिक्षा को जिला वार्ड और म्युनिस्पलिटी के अधीन करने की सिफारिश की। सन् 1917 में उच्च शिक्षा के दोषों की जाँच के लिए सैडलर कमीशन बनाया गया। सन् 1944 में सार्जेंट कमीशन ने स्नातक डिग्री कोर्स तीन वर्षों में पूरा करने की अनुशंसा की। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् 1948 में डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में बनाई गई कमेटी ने अवकाश, वेतन, अध्ययन स्तर व विषयों के संदर्भ में अपने विचार दिये। सन् 1966 में शिक्षा में सुधार हेतु कोठारी आयोग बनाया गया जिसने उच्च शिक्षा के लिए मानक निर्धारित करने एवं इसमें महत्वपूर्ण परिवर्तन के सुझाव दिये। सन् 1986 में राष्ट्रीय शिक्षानीति तथा 1992 में शिक्षा में सुधार हेतु नई शिक्षा नीति बनायी गयी। अभी-अभी केन्द्रीय सरकार द्वारा शिक्षा में व्यापक सुधार हेतु नयी शिक्षा नीति 2020 लायी गयी है। इस प्रकार विभिन्न समितियों एवं आयोगों द्वारा समय-समय पर उच्च शिक्षा के समक्ष खड़ी चुनौतियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया और आवश्यक सुझाव दिये गये। यद्यपि समितियों एवं आयोगों के रिपोर्टों में बार-बार इन बातों पर बल दिया गया कि हमारी शिक्षा देश की आवश्यकताओं के अनुरूप होनी चाहिए परन्तु न तो शिक्षा पद्धति का भारतीयकरण हुआ और न ही शिक्षा दैनिक जीवन में उपयोगी बन पायी और न ही देश अर्थोत्पादक बन सका जिससे देश के नागरिकों को प्रजातंत्रीय भावनाओं, सामाजिक समरसताओं, नैतिक मूल्यों, उद्यमी कुशलताओं के विकास एवं वैश्विक आवश्यकताओं के अनुरूप व्यावहारिक तथा तकनीकी ज्ञान प्रदान किया जा सके।

शिक्षा के क्षेत्र में रोजगार की संभावनाएं

शिक्षा एक अविरल प्रक्रिया है जो व्यक्ति के लिए निरंतर आजीवन चलती रहती है। इसमें संकल्पित ज्ञान, अनुभव और कौशल की प्रवाहित धारा होती है जो एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी को संग्रहीत करती है। शिक्षा के अभाव में कोई समाज या नागरिक प्रगति करने में समर्थ नहीं होता। इतिहास में प्राचीन काल में, गुरुकुल एकमात्र संस्था थी जहां शिक्षा प्राप्त की जाती थी, लेकिन आज के समय में विभिन्न शैक्षिक संस्थानों के माध्यम से ऑनलाइन और ऑफलाइन माध्यम में शिक्षा के क्रियान्वयन के लिए आसान सुविधाएं उपलब्ध हैं। विविध माध्यमों के द्वारा शिक्षक बच्चों को शिक्षित एवं प्रशिक्षित करने का कार्य करते हैं। शिक्षा अपने आप में एक बहुत बड़ी इंडस्ट्री है इसमें शैक्षणिक और अशैक्षणिक गतिविधियों के अलावा एडुटेक की भी अपनी भूमिका है।

शिक्षा के क्षेत्र में सबसे आसान और सबसे महत्वपूर्ण करियर और रोजगार के अवसर शिक्षक के रूप में उपलब्ध हैं। शिक्षक एक समाज का रक्षक होता है जो नई पीढ़ी को देश के भविष्य का निर्माण करने में सहायता करता है। शिक्षा के इस महत्वपूर्ण क्षेत्र में कई अवसर होते हैं जो नौकरियां या उच्चतर शिक्षा के लिए प्रोफेसरों और असिस्टेंट

प्रोफेसरों की भर्ती से लेकर निजी ट्यूटर और ऑनलाइन शिक्षा प्रदाता तक विस्तारित होते हैं।

एक शिक्षक बनने के लिए निम्नलिखित योग्यताएं पूरी करनी होती हैं। पहले तो, आपकी आयु 18 से 45 वर्ष के बीच होनी चाहिए। विभिन्न राज्य सरकारों और केंद्र सरकार द्वारा जारी किए गए अधिसूचनाओं में निर्धारित आयु सीमाओं को देखकर विभिन्न वर्गों के लिए अधिसूचनाओं की जांच कर सकते हैं। दूसरे, भारत में सरकारी स्कूलों में पढ़ाने के लिए शिक्षक पात्रता परीक्षाएं देनी पड़ती हैं जैसे कि टीईटी, सीटीईटी, और एसटीईटी। तीसरे, किसी भी निजी और सरकारी शिक्षण संस्थान में पढ़ाने के लिए 12वीं के बाद शिक्षण ट्रेनिंग करनी पड़ती है। शिक्षक बनने के लिए आपकी अध्ययन और अध्यापन में रुचि होना चाहिए। साथ ही आप में हमेशा कुछ नया सीखने की रुचि, रचनात्मकता एवं खुद को आसान तरीकों से व्यक्त करने की क्षमता होना आवश्यक है। यदि आप शिक्षा के क्षेत्र में रोजगार ढूंढ रहे हैं और शिक्षा के क्षेत्र में अपने करियर को बनाना चाहते हैं तो शिक्षक के रूप में एक संतोषजनक और उपयुक्त विकल्प बन सकता है। इसके लिए उचित योग्यता और ज्ञान के साथ-साथ शिक्षा के क्षेत्र में काम करने से आप न सिर्फ अपने व्यक्तिगत विकास में मदद करेंगे, बल्कि समाज और देश के भविष्य के निर्माण में भी योगदान कर सकेंगे।

निष्कर्ष एवम् सुझाव

यदि हम भविष्य में भयंकर विपत्ति से घिरना नहीं चाहते तो हमें उच्च शिक्षा व अर्थव्यवस्था दोनों को शिक्षा द्वारा मजबूत करना होगा। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के स्थिति में सुधार की महती आवश्यकता है, परन्तु सुधार हेतु कर्त्व्यबोध का अभाव है। वास्तव में समस्या, साधन या संख्या की नहीं अपितु वातावरण एवं व्यवस्था की है। शिक्षा का परिणाम 15-20 वर्ष बाद सामने आता है। 20 वर्ष पहले का परिणाम आज हमारे सामने है। आज आवश्यकता ऐसी शिक्षा व्यवस्था की है जो राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सार्थक हो सके। समाज तथा देश के विकास में अपनी भागीदारी दे सके, छात्रों को रोजगार प्रदान कर सके। इस हेतु भारत सरकार द्वारा नयी शिक्षा नीति, 2020 देश के सभी विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों, माध्यमिक और प्राथमिक विद्यालयों में पूरी तरह लागू की गयी है। इस संबंध मे मेरा यह मानना है कि शिक्षकों को बिना प्रशिक्षित किए आनन फानन में यह व्यवस्था लागू कर दी गई है। वर्तमान में इससे शिक्षकों और छात्र-छात्राओं को अत्यंत कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। परन्तु निश्चय ही भारत अपने मौलिक विचारों, आदर्शों, तकनीकों एवं वैश्विक विकासों और मांगों से समन्वय स्थापित कर उच्च शिक्षा की गुणवत्ता का विकास करने में सफल होगा। विदेशों में उच्च शिक्षा ग्रहण करने हेतु जाने वाले छात्रों में अधिकांश भारतीय हैं। इस प्रकार उच्च शिक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त संभावनाएं है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. अग्रवाल. पी. (2006), भारत में उच्च शिक्षा बदलाव की आवश्यकता, सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली
2. तिलक, जन्धाला (2007), हायर एजुकेशन इन इंडिया फंडिंग एक्सेस, क्वालिटी और इक्विटी, न्यूपा, नई दिल्ली
3. नरेन्द्र सिंह व सीमा देवी, भूमण्डलीकरण के दौर में शिक्षा पर प्रभाव, कुरुक्षेत्र सितम्बर 2004, ग्रामीण विकास मन्त्रालय
4. प्रो. रमन बिहारी लाल, (2016), भारत में शिक्षा प्राणाली का विकास और उसकी समस्याएं
5. सिंह, जे. डी. व अन्य, (2001), विद्यालय प्रबन्ध व शिक्षा की समस्याएं, जयपुर रिसर्च पब्लिकेशन्स
6. एम.एच.आर.डी. (1989), नेशनल पॉलिसी आन एजुकेशन-1986, पीऑए-1990, न्यु देहलीः गवरनमेंट ऑफ इन्डिया प्रेस
7. सिंह, आर. पी. (2010), ऑन ऑपनिंग अ 'वर्ल्ड' क्लास युनिवर्सिटी, यूनिवर्सिटी न्यूज, नई दिल्ली, सितम्बर 13-19, 2010
8. योजना, मासिक पत्रिका जून 2010, (538) योजना भवन संसद मार्ग, नई दिल्ली, पृ. 13
9. Sharma, Shaloo (2002), *History and Development of Higher Education in India*. Sarup & Sons.
10. Jayaram, N. (2007), "India". *International Handbook of Higher Education*. Springer International Handbooks of Education. Vol. 18. Springer, Dordrecht. pp. 747n`767.
11. Datta, Surja (2017), *A History of the Indian University System*. London: Palgrave Macmillan UK.

डा. सारिका श्रीवास्तव
असिस्टेंट प्रोफेसर
बी. एड. विभाग, डी. जी. (पी.जी.) कालेज
कानपुर

ग्रामीण एवं नगरीय समाज : समाजशास्त्रीय संकल्पना

–जय प्रताप सिंह
–डा. अतुल कुमार यादव

शोध-सार

प्रस्तुत शोध पत्र ''ग्रामीण एवं नगरीय समाज : समाजशास्त्रीय संकल्पना'' पर आधारित है। इस शोध पत्र में ग्राम एवं नगर के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों के नवीन प्रतिमानों को प्रस्तुत किया गया है। ग्राम एवं नगर का अध्ययन समाजशास्त्र का मूलभूत अंग है। ग्रामीण एवं नगरीय समाज एक-दूसरे के विपरीत नहीं हैं बल्कि एक-दूसरे के पूरक रूप में प्रतिष्ठित हैं। ग्रामीण एवं नगरीय समाज गहन रूप से परस्पर अन्तर्सम्बन्धित हैं। स्वयं अभाव में जीवन यापन करने वाला ग्रामीण समाज, नगरीय समाज को विकास की ऊंची बुलन्दियों को छूने में मदद कर रहा है। आधुनिक समाज में नगरों की भूमिका निरन्तर तीव्र गति से बढ़ती जा रही है, वहीं ग्रामीण क्षेत्रों में अन्तर्क्रिया केवल अपने ही क्षेत्र तक सीमित होती है। वर्तमान आबादी वितरण की प्रणाली में बड़े नगर ग्रामीण क्षेत्रों को स्वयं में समाहित करते जा रहे हैं तथा स्थान एवं अपनी भूमिका में काफी बढ़ गए हैं। नगरीय समाज ने ग्रामीण समाज एवं ग्रामीण व्यक्ति के जीवन मूल्यों को बहुत गहराई तक प्रभावित किया है।

शब्द कुंजी : समाजशास्त्रीय संकल्पना, ग्रामीण समाज, नगरीय समाज, पारस्परिक अन्तर्क्रिया, औद्योगीकरण, नगरीयकरण, पारिवारिक संरचना।

वर्तमान युग संचार एवं प्रौद्योगिकी का युग है जो कि भौतिकवाद से परिपूर्ण है। इस वर्तमान युग में नए-नए उद्योगों के उद्‌भव ने आर्थिक और नगरीयकरण से सम्बन्धित विभिन्न प्रक्रियाओं को बल प्रदान किया है। विभिन्न उद्योग-धन्धों में पहले की अपेक्षा तीव्र गति से परिवर्तन दिखाई देने लगे एवं तीव्र गति से उद्योगों में गतिशीलता उत्पन्न हुई, जिसने वृहद परिवर्तन की ओर पदार्पण किया। मानव द्वारा नित्य होते अन्वेषण से समाज में परिवर्तनों का होना स्वाभाविक है। इस प्रकार वर्तमान आधुनिक नगर की संवृद्धि उद्योगों के विकास पर निर्भर होती गई। उद्योगों के निर्माण ने लोगों को रोजगार हेतु नगर में ही निवास को प्रेरित किया। देश में हजारों ऐसे नगर हैं, जो एक-दूसरे से भिन्न हैं, प्रत्येक नगर की

परिस्थितियाँ, जनसंख्यात्मक विशेषताएं अपने पास के दूसरे नगरों से कुल अलग होते हैं। इन विशेषताओं के होते हुए भी अनेक नगरों में कुछ समानताएं विद्यमान हैं। जैसे—उत्पादन केन्द्र, क्रय-विक्रय के केन्द्र, प्रमुख नगर, मनोरंजन के प्रमुख स्थल, सांस्कृतिक केन्द्र, विविध प्रकार के नगर आदि।[1]

नगरों का उद्भव जहाँ मानव की जनसंख्या वृद्धि से सम्बन्धित है, वहीं दूसरी ओर उसका झुकाव मुख्य रूप में नगर में होने वाले क्रय-विक्रय पर टिका हुआ है। उत्पादन में बढ़ोत्तरी से दुकानें, गोदाम, आने-जाने के साधन एवं संचार के साधनों की जरूरत होती है और साथ ही गाँवों के विकास से उन्नत गांव एवं शहरीकरण को प्रोत्साहन मिलता है। ''वर्तमान में मनुष्य या तो ग्रामवासी है या नगरवासी है, या दोनों। अपने क्षेत्र के प्रति सभी मनुष्यों का प्रमुख रूप से आकर्षण भी होता है। मानव जिस भी क्षेत्र या पर्यावरण में रहता है, उसका उसके जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है।[2] नगरीय जीवन का विस्तृत प्रभाव ग्रामीण क्षेत्रों पर भी देखा जा सकता है। वहाँ पर भी बिजली, विद्यालय, चिकित्सालयों, स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना होने लगी है। पत्र-पत्रिकाएं, रेडियो, डी.टी.एच. सेवा, केबल नेटवर्क, नए-नए शोरूम आदि के साथ-साथ मनोरंजन हेतु सिनेमा घर का भी निर्माण होने लगा है। विकास के इन प्रतिमानों से पता चलता है कि आज धीरे-धीरे गाँव भी नगर में परिणत हो रहे हैं। नवीन साहित्य का उद्गम हुआ है एवं नवीन विचारों का आविर्भाव हुआ है। ''विकास के इन पायदानों को देखते हुए यह परिलक्षित होता है कि अब वह दिन दूर नहीं जब सम्पूर्ण ग्रामीण क्षेत्र में नगरीय जीवन एवं नगरीय शैली के विभिन्न तत्वों का समावेश हो जाएगा। हेराडल्ड कार्ड के अनुसार जो गांव शहर के किनारे स्थित हैं, उन्हें शहरी ग्राम के नाम से जाना जाता है।''[3] जैसे-जैसे नगरीय क्षेत्र बढ़ेंगे, वैसे-वैसे विभिन्न ग्राम नगर के सीमान्त पर आ जायेंगे। इस परिप्रेक्ष्य में कृषि भूमि का उपयोग भी बढ़ जाता है। इस प्रकार ग्राम के निवास तुरन्त ही नगर के निवास में बदलकर ग्राम एवं नगर दोनों ही विशेषताओं को जीते हैं।[4] नगरीकरण के प्रभाव में ग्रामीण जीवन नगरों की ओर उन्मुख है, जिससे ग्रामीण जनजीवन प्रभावित हुआ है। नगरों में रहने वाले लोगों का जीवन गांवों में रहने वाले लोगों से अलग होता है। शहर में एक ही कुटुम्ब के अनेक लोग एक से अधिक व्यवसायों एवं उद्योगों में लगे रहते हैं। शहरों में व्यस्तता के कारण घर के लोगों में आपसी सामंजस्य की कमी होती है। आर्थिक रूप से सुदृढ होने की भावना उन्हें सदैव प्रेरित करती रहती है। समयाभाव के कारण वह मात्र अवकाश के समय ही अपने परिवार के सदस्यों से मिल बैठकर बातचीत कर पाते हैं। परिवार में चली आ रही पुरानी प्रथाओं के प्रति वह तटस्थ होते हैं। नगर में आकर निवास करने से वह गाँव में निर्मित पारिवारिक विरासत की भी परवाह नहीं करते। नगरीय लोग अपने रहन-सहन, खान-पान, विचारों को लेकर स्वतंत्रता बरतते हैं। रीतियों व रुढ़ियों को नगरीय मनोवृत्ति अधिक महत्व नहीं देती है। उन्हें किसी भी बात की परवाह नहीं होती कि लोग क्या कहेंगे या वह उनके आचरण को किस दृष्टि से देखते हैं। इस प्रकार का भय नगरीय जीवन में कहीं भी दिखाई नहीं देता है।

आधुनिक युग में भारत में विभिन्न आधारभूत ढाँचों में परिवर्तन दिखाई देने लगे हैं, जिसने भारतीय सामाजिक ढाँचे को प्रभावित किया है। वर्तमान में कुटुम्ब एवं विवाह संस्था में परिवर्तन की बयार चलने लगी है विभिन्न समाजशास्त्रियों के अनुसार—''संयुक्त परिवार टूट नहीं रहे हैं, बल्कि स्वरूप एवं प्रकार्यों में परिवर्तन आ रहा है। मुख्यतः कुटुम्बों का आकार एवं संरचना लगातार परिवर्तन की ओर अग्रसर है। कुटुम्ब के प्रमुख की सत्ता में ह्रास हुआ है। नयी पीढ़ी के विचारों के कारण व्यक्तिवादी भावना को प्रोत्साहन मिल रहा है। औद्योगीकरण एवं नगरीयकरण के संयुक्त रूप से होने से पारिवारिक व्यवसाय बदल गया है। अब कुटुम्ब के कार्य विभिन्न प्रकार की समितियों एवं संस्थाओं ने ले लिया है। संयुक्त परिवार के संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक तत्वों में वृहद परिवर्तन आया है।''[5] आधुनिक युग में हिन्दुओं में होने वाले विवाहों में अनेक परिवर्तन द्रष्टव्य हो रहे हैं। शादियों के प्रतिमान एवं आदर्श में परिवर्तन के अतिरिक्त शादी अब पुराने रीति-रिवाजों पर आधारित न होकर आधुनिक रीति-रिवाजों से होने लगी है, जिसमें आधुनिकीकरण का वृहद रूप द्रष्टव्य होता है—''नगर में वैवाहिक अवसरों पर पैसे का अत्यधिक व्यय होता है जो शहरी समाज में प्रतिष्ठा का सूचक माना जाता है एवं हिन्दू परिवारों का परम्परागत विवाह का विधान जिसमें पीले चावल या सुपारी के द्वारा विवाह आदि अवसरों पर आमंत्रित किया जाता था, में भी परिवर्तन आ गया है। अब मेहमानों को कार्ड द्वारा निमंत्रण पत्र भेजे जाते हैं जिसमें विवाह स्थल, प्रीतिभोज एवं वैवाहिक कार्यक्रमों का संक्षिप्त विवरण होता है।''[6] बारात में वाहन, दुल्हा-दुल्हन की वेशभूषा, उनके खाने-पीने, दहेज के पैसे आदि भी परिवर्तन के दौर में हैं, जिसके विभिन्न कारण रहे हैं, नगरों में बढ़ती महंगाई, नूतन विचार एवं आदर्श, बेरोजगारी आदि। इसके अतिरिक्त वैवाहिक सम्बन्धों में भी कमी

द्रष्टव्य हो रही है। साथ ही प्रेम, सौहार्द, सहयोग, संवेदनशीलता, त्याग, करुणा जैसे गुणों में भी कमी आई है। समाज में संवेदना बढ़ी है, अपराधों के बढ़ने के साथ महिलाओं के प्रति हिंसा एवं उनका उत्पीड़न बढ़ा है। विदेशी सभ्यता की नकल के कारण भी अनेक समस्याएं उत्पन्न हुई हैं। ''समाज में पारिवारिक संरचना में परिवर्तन धीरे-धीरे दिखाई पड़ रहा है, लोग संयुक्त परिवार को छोड़कर एकल परिवार को अपना रहे हैं जिसके फलस्वरूप लोग परिवार नियोजन की ओर बढ़ रहे हैं। साथ ही प्रसन्नता की बात यह है कि वर्तमान में माँ-बाप अपने नौनिहालों की शिक्षा के बारे में सोचने लगे हैं। अब वह अपने बच्चों के करियर के बारे में सोचने लगे हैं। समाज में ऊंच-नीति के प्रति भेदभाव में कमी हुई है। कुरीतियाँ, अंधविश्वासों में कमी के साथ स्त्री-साक्षरता बढ़ती है। विधवाओं की शादी अब हेय दृष्टि से नहीं देखी जाती। लड़कियों की सुरक्षा के प्रति समाज की सोच बदली है। दुनिया ग्लोबल हो गई है। अब हम एक विश्व के नागरिक बन गए हैं। पर्दाप्रथा, छुआ-छूत में कमी आई है।[7] भारतीय सामाजिक दृष्टिकोण में हिन्दू नारियों की स्थिति-प्रस्थिति में व्यापक परिवर्तन हुए हैं। ''भारत में कन्या जन्म को पहले अच्छी नजरों से नहीं देखा जाता था, जो अब पहले जैसा नहीं रह गया है। अब बौद्धिक एवं स्वच्छन्द परिवारों में पुत्र के प्रति मोह कम होता जा रहा है। अब पुत्र-पुत्री में कोई अन्तर नहीं माना जाता।[8]

वर्तमान में स्त्रियों की शिक्षा में बढ़ोत्तरी हुई है जिससे समाज में एक नूतन परिवर्तन हुआ है। आज की शिक्षित स्त्रियाँ दहेज, अनमेल विवाह एवं बाल-विवाह से किसी भी प्रकार का समझौता नहीं कर रही हैं। वर्तमान में पढ़ी-लिखी लड़कियाँ अब अपनी शादी को लेकर विशेष रूप से जागरुक हो गई हैं। शादी अब उनके लिए प्राथमिकता नहीं रही है। अब वे अपने भविष्य को लेकर विशेष रूप से जागरुक हुई हैं। ''नारी की अस्मिता एवं समानता के अधिकारों की बात करने वाले हमारे वर्तमान समाज में विवाहित युवती का जलकर मरना या उसे मार देना एक शोकजनक कृत्य के साथ-साथ यह तथ्य भी उजागर करता है कि हमारी खोखली परम्पराएं जो यह बतलाती हैं कि पति के बिना पत्नी का जीवन शून्य मात्र है, का खण्डन करती हैं।[9]

नगर में महिलाएँ उच्च शिक्षा ग्रहण करने में क्रियाशील हैं। उन्हें बिना किसी अंतर के अच्छी से अच्छी शिक्षा प्रदान की जाती है जिससे वह सामाजिक व आर्थिक रूप से सशक्त हो सकें। परिवार का छोटा आकार एवं नगरीकरण की प्रक्रिया ने महिलाओं की शिक्षा को नए आयाम दिये हैं। शिक्षा ग्रामीण एवं नगरीय अर्न्तक्रिया के माध्यम से गाँवों में नवीन मूल्यों तथा प्रतिमानों को प्रस्थापित कर रही है। शिक्षा के माध्यम से ग्राम-नगर से दिन-प्रतिदिन अन्तर्क्रिया करता है। ये अर्न्तक्रिया ग्रामीण जीवन में प्रविष्ट होती नवीन प्रवृत्तियों को उजागर करती है। इसी अर्न्तक्रिया ने ग्रामीण समाज में संक्रमणशील स्थिति उत्पन्न कर दी है। गांवों की चेतना में विद्यमान 'ज्ञान के स्रोतों' में कुछ तथ्यों को जोड़ने का काम ग्रामीण मूल्यों, मान्यताओं, रीतियों, प्रथाओं तथा एक रुढ़िगत कट्टर ग्रामीण संरचना को भेदने लगा है। ग्रामीण जीवन में परिवर्तन तो नहीं हो रहा है किन्तु गांव एवं शहर की बढ़ती साझेदारी से सहयोगात्मक परिवर्तन अवश्य गांवों में दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

संदर्भ सूची

1. Singh Jayant, Yadav, Hansraj, Smarandache, Flar & Entin (2010) "District Level Analysis of Urbanization From Rural to Urban Migration in the Rajasthan State, 11 August 2010, Dept. of Statistics, University of New Mexico, USA.
2. शर्मा राजेन्द्र कुमार (1996) 'नगरीय समाजशास्त्र, एटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, पृ. 39-40
3. सत्यकेतु विद्यालंकार (1997) समाजशास्त्र, श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली, पृ. 169
4. बर्मन, सावित्री, जी, (1966) सम जोग्राफीकल एस्पेक्ट ऑफ डेमोग्राफी डेटा (सम्पादन) आशीष बोस, गुप्ता राय चौधरी, पापूलेशन स्टेटिस्टिक्स इन इंडिया, नई दिल्ली, विकास वर्ष 14
5. प्रतियोगिता दर्पण, वर्तमान पारिवारिक संरचना में परिवर्तन और समाज, श्रीमती ज्योति माहेश्वरी, अक्टूबर 2010, पृ. 633
6. मिश्रा, प्रीति (2005) हिन्दू महिलाओं को जीवन में धर्म का महत्व, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. 53-54
7. गौरे मृणाल व कौशल स्वराज, रूप कवर-एक मर्मान्तक त्रासदी, 11 नवम्बर, धर्मयुग पत्रिका

जय प्रताप सिंह (शोधार्थी)
समाजशास्त्र विभाग
ए. के. (पी. जी.) कॉलेज, शिकोहाबाद
(सम्बद्ध डा. बी. आर. आंबेडकर विश्वविद्यालय, आगरा)

डा. अतुल कुमार यादव
एसोसिएट प्रोफेसर
समाजशास्त्र विभाग, ए. के. (पी. जी.) कॉलेज
शिकोहाबाद
(सम्बद्ध डा. बी.आर. आंबेडकर विश्वविद्यालय, आगरा)

हिन्दी एवं अंग्रेजी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों एवं छात्राओं का चैटबॉट के शैक्षिक उपयोग के प्रति जागरुकता के संदर्भ में तुलनात्मक अध्ययन

–डी. पी. मिश्रा
–कृष्ण कुमार जायसवाल

सारांश

शिक्षा जगत में कृत्रिम बुद्धिमत्ता के सबसे लोकप्रिय उत्पाद चैटबॉट का प्रचलन तेजी से बढ़ा है। चैटबॉट प्रश्नों के उत्तर ढूंढने, गीत, संगीत, कहानी, कविता, निबंध, ईमेल, लेख, पॉडकास्ट, प्रेजेंटेशन, प्रोजेक्ट, असाइनमेंट, गणितीय समस्याओं का हल, क्विज, और अन्य बहुत से कार्यों में सहायक हो सकता है। इसलिए विद्यार्थियों में चैटबॉट की लोकप्रियता और इसके शैक्षिक उपयोग के प्रति जागरुकता बढ़ी है। परन्तु क्या चैटबॉट का उपयोग हिंदी और अंग्रेजी माध्यम के विद्यार्थियों द्वारा समान रूप से हो रहा है? क्या छात्र और छात्राएं इस नवीन विधा के प्रति समान रुप से जागरूक हैं? प्रस्तुत शोध द्वारा इन प्रश्नों का उत्तर तलाशने का प्रयास किया गया है। इसमें स्तरीकृत यादृच्छिक न्यादर्श विधि से कुशीनगर के हिन्दी माध्यम के 50 छात्रों एवं 50 छात्राओं तथा अंग्रेजी माध्यम के 50 छात्रों एवं 50 छात्राओं का चयन किया गया है। शोध में मात्रात्मक उपागम के साथ सर्वेक्षण शोध विधि का प्रयोग किया गया है। इसमें निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि चैटबॉट के शैक्षिक उपयोग के प्रति जागरुकता में लिंग-भेद का प्रभाव नगण्य है। छात्रों एवं छात्राओं ने लगभग समान जागरुकता प्रदर्शित की है। परन्तु शैक्षिक पृष्ठभूमि का स्पष्ट प्रभाव दिखता है। अंग्रेजी माध्यम के विद्यार्थी हिन्दी माध्यम के विद्यार्थियों की तुलना में काफी जागरूक हैं। अर्थात् हिंदी माध्यम के विद्यार्थियों को तकनीकी सहायता और सुविधाओं की जरूरत है। ताकि वे तकनीकी जगत के नवीन विधाओं का शैक्षिक उपयोग कर सकें।

प्रमुख शब्द : चैटबॉट, शैक्षिक उपयोग, अध्ययनरत छात्र, तुलनात्मक अध्ययन।

प्रस्तावना

हम सबने जादुई दर्पण की कहानियां सुनी, पढ़ी या चलचित्र में देखी हैं, जिसमें जादूगरनी अपने दर्पण के सामने खड़े होकर जो प्रश्न करती थी, दर्पण उसका उत्तर अविलंब प्रदर्शित कर देता था। तकनीकी के विकास से यह काल्पनिक जादुई दर्पण साकार रूप ले चुका है। इण्टरनेट और गूगल जैसे सर्च इंजन के विकास के बाद प्रश्नों के उत्तर खोजना सरल, सहज हो गया था परन्तु इनमें एक बड़ी कमी थी। हम जिस प्रश्न का उत्तर चाहते थे, उससे जुड़े सभी लिंक प्रदर्शित होने लगते थे। हमें उनमें से उपयुक्त का चयन करना पड़ता था और कई वेबसाइट पर जाकर सामग्रियों का विश्लेषण-संश्लेषण करके उत्तर प्राप्त करना होता था। कृत्रिम बुद्धिमत्ता पर आधारित चैटबॉट ने इस कमी को दूर कर दिया है।

AI चैटबॉट (जिसे AI राइटर भी कहते हैं) एक ऐसा सॉफ्टवेयर प्रोग्राम या ऑनलाइन प्लेटफार्म है जो यूजर से संवाद स्थापित कर सकता है। यह यूजर के लिखित प्रॉम्प्ट के आधार पर प्रश्नों के उत्तर दे सकता है। गीत, संगीत, कहानी, कविता, निबंध, ईमेल, लेख, पॉडकास्ट, प्रेजेंटेशन, स्क्रिप्ट, ब्लाग, सोशल मीडिया पोस्ट गणितीय समस्याओं का हल, क्विज, और अन्य बहुत से काम को आसानी से और त्वरित रूप में प्रस्तुत कर सकता है।

चैटबॉट के क्रम में सबसे लोकप्रिय है Open AI का चैट जीपीटी। इसे 30 नवंबर 2022 को लांच किया गया और इसकी लोकप्रियता के समक्ष व्हॉट्स ऐप, फेसबुक भी फीके पड़ गए। जनवरी 2023 में यह 100 मिलियन यूजर्स के साथ इतिहास में तीव्रतम गति से लोकप्रिय हुआ एप्लिकेशन बन गया था।

चैटबॉट की इस कड़ी में चैट जीपीटी के अतिरिक्त अब कई अन्य नाम भी जुड़ चुके हैं। जैसे New Bing, Perplexity. AI, Jasper, You chat, Chatsonic, Google Bard, Socratic, Hugging Chat आदि।

कई भारतीय कम्पनियां भी चैटबॉट की सुविधा प्रदान करने लगी हैं। जैसे-AISHA, Engazify Bot, GoHero. AI, Gupshup, ixibaba, Magicx, Niki.ai, Recharge Bot, Skedool, Yana आदि।

प्रत्येक चैटबॉट कई कार्य कर सकता है। पर यह किस बारे में लिखने में सक्षम है यह उस चैटबॉट की विशेषताओं पर निर्भर करता है, जिसमे यह भी शामिल है कि वह किसी सर्च इंजन से जुड़ा है या नहीं। चैटबॉट मानव जैसी प्रतिक्रिया या प्रतिउत्तर प्रदान करने के लिए AI को प्रशिक्षित करने के लिए भाषा मॉडल का उपयोग करते हैं। कुछ वेब से जुड़े होते हैं, इसलिए उनके पास नवीनतम जानकारी होती है, जबकि अन्य पूरी तरह उस जानकारी पर निर्भर होते हैं, जिसके साथ वे प्रशिक्षित हैं।

चैटबॉट की लोकप्रियता भारत में भी बढ़ी है। भारतीय यूजर्स की अनुमानित संख्या 200 मिलियन हो चुकी है। भारतीय शिक्षा क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं है। आज विद्यार्थी प्रश्नों के उत्तर ढूढ़ने, सवालों को हल करने, लेख या कविता लिखने, प्रोजेक्ट, असाइनमेंट बनाने और अन्य कई कार्यों में इसका उपयोग कर रहे हैं। परंतु अभी इसका प्रयोग उच्च शिक्षा के विद्यार्थियों द्वारा ज्यादा है, माध्यमिक में कम। हालांकि माध्यमिक विद्यालयों के विद्यार्थी भी चैटबॉट के विषय में जानने लगे हैं।

अक्सर माना जाता है कि पुरुष प्रधान समाज होने के कारण छात्राओं को सीमित अवसर मिलते हैं। इसलिए उनमें सापेक्षिक रूप से जागरुकता का अभाव होता है। फिर भी माध्यमिक विद्यालयों की टॉपर हमेंशा छात्राएं रही हैं। तो चैटबॉट और उनके उपयोग के संदर्भ में छात्र और छात्राओं में से कौन ज्यादा जागरूक हैं यह शोध का विषय है।

साथ ही यह भी देखा जाता है कि नवीन तकनीकी का ज्ञान और उनका उपयोग धनी वर्ग के विद्यार्थियों में ज्यादा होता है, क्योंकि ये विद्यार्थी अंग्रेजी माध्यम के कान्वेंट विद्यालयों में पढ़ते हैं, जहां उन्हें कंप्यूटर, लैपटॉप आदि की सुलभता होती है। साथ ही शिक्षकों द्वारा उन्हें तकनीकी के प्रयोग से अवगत कराया जाता है। लेकिन अब हिंदी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों के विद्यार्थियों के पास भी मोबाइल है, 5जी नेटवर्क है। वो मोबाइल के उपयोग में काफी समय भी व्यतीत करते हैं। वे भी चैटबॉक्स और अन्य नवीन एप्लीकेशन का शिक्षा और ज्ञानार्जन में लाभ उठा सकते हैं। पर क्या इन विद्यालयों और वहां के विद्यार्थियों में इतनी जागरुकता आई है?

इन्हीं प्रश्नों का उत्तर तलाशने का प्रयास इस शोध में किया गया है जिसका विवरण अग्रांकित है।

समस्या कथन

हिन्दी एवं अंग्रेजी माध्यम वाले माध्यमिक विद्यालयों के छात्रों एवं छात्राओं का चैटबॉट के शैक्षिक उपयोग के प्रति जागरुकता के संदर्भ में तुलनात्मक अध्ययन करना

शोध-शीर्षक के अंतर्गत आये हुए पदों की संक्रियात्मक परिभाषाएं-

1. **हिन्दी एवं अंग्रेजी माध्यम के विद्यालय :** हिन्दी माध्यम के विद्यालयों से तात्पर्य उन विद्यालयों से हैं, जिनमें विभिन्न विषयों की शिक्षा हिन्दी में दी जाती है। प्रस्तुत शोध में माध्यमिक शिक्षा परिषद, उ. प्र. से सम्बद्ध अनुदानित विद्यालयों को हिन्दी माध्यम वाले विद्यालयों के रूप में चुना गया है।
2. **अंग्रेजी माध्यम के विद्यालय :** अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों से तात्पर्य उन विद्यालयों से है, जिनमें शिक्षा पूर्णरूपेण अंग्रेजी भाषा के माध्यम से दी जाती है। प्रस्तुत शोध में ब्ैम् बोर्ड से संबद्ध कॉन्वेन्ट विद्यालयों को अंग्रेजी माध्यम वाले विद्यालय के रूप में चुना गया है।
3. **चैटबॉट :** चैटबॉट से तात्पर्य कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) से संचालित प्रोग्राम्स, सॉफ्टवेयर या वेब प्लेटफॉर्म से है, जो इन्सान से लिखित संवाद स्थापित कर सकते हैं।
4. **शैक्षिक उपयोग :** यहां शैक्षिक उपयोग से तात्पर्य विद्यार्थियों द्वारा अपने अध्ययन और ज्ञानार्जन के लिए चैटबॉट के उपयोग से है।
5. **जागरुकता :** जागरुकता से तात्पर्य यह है कि विद्यार्थी चैटबॉट, उनकी कार्यप्रणाली, उनके महत्व और उनके उपयोग के तरीकों की सामान्य जानकारी रखते हैं या नहीं।

प्रस्तुत शोध के उद्देश्य प्रस्तुत शोध के तीन प्रमुख उद्देश्य हैं।

1. हिन्दी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों एवं छात्राओं का चैटबॉट के शैक्षिक उपयोग के प्रति जागरुकता के संदर्भ में तुलनात्मक अध्ययन करना।
2. अंग्रेजी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों एवं छात्राओं का चैटबॉट के शैक्षिक उपयोग के प्रति जागरुकता के संदर्भ में तुलनात्मक अध्ययन करना।
3. हिन्दी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों (छात्रों एवं छात्राओं) तथा अंग्रेजी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों (छात्रों एवं छात्राओं) का चैटबॉट के शैक्षिक उपयोग के प्रति जागरुकता के संदर्भ में तुलनात्मक अध्ययन करना।

प्रस्तुत शोध की परिकल्पनाएं

1. हिन्दी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों एवं छात्राओं की चैटबॉट के शैक्षिक उपयोग के प्रति जागरुकता में कोई सार्थक अन्तर नहीं होगा।
2. अंग्रेजी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों एवं छात्राओं की चैटबॉट के शैक्षिक उपयोग के प्रति जागरुकता में कोई सार्थक अन्तर नहीं होगा
3. हिन्दी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों (छात्रों एवं छात्राओं) तथा अंग्रेजी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों (छात्रों एवं छात्राओं) की चैटबॉट के शैक्षिक उपयोग के प्रति जागरुकता में कोई सार्थक अन्तर नही होगा।

शोध की रूपरेखा-

शोध उपागम : प्रस्तुत शोध में मात्रात्मक उपागम का प्रयोग किया गया है।

शोध का प्रकार : वर्णनात्मक

शोध विधि : प्रस्तुत शोध में सर्वेक्षण अनुसंधान विधि का प्रयोग किया गया है।

जनसंख्या : प्रस्तुत शोध में उ. प्र. के कुशीनगर जिले के हिन्दी एवं अंग्रेजी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों एवं छात्राओं को सम्मिलित किया गया है।

न्यादर्श- प्रस्तुत शोध में या च्छिक न्यादर्श विधि से हिन्दी माध्यम एवं अंग्रेजी माध्यम वाले पाँच-पाँच माध्यमिक विद्यालयों का चयन किया गया है। फिर स्तरीकृत यादृच्छिक न्यादर्श विधि से हिन्दी माध्यम के 50 छात्रों एवं 50 छात्राओं तथा अंग्रेजी माध्यम के 50 छात्रों एवं 50 छात्राओं का चयन शोध न्यादर्श के रूप में किया गया है।

न्यादर्श

माध्यमिक विद्यालय का प्रकार	*छात्र*	*छात्राएं*	*कुल विद्यार्थी*
हिंदी माध्यम	50	50	100
अंग्रेजी माध्यम	50	50	100

शोध का परिसीमन : प्रस्तुत शोध में केवल 10 वीं कक्षा में अध्ययनरत विद्यार्थियों को सम्मिलित किया गया है।

शोध उपकरण : प्रस्तुत शोध में आंकड़ों के संकलन हेतु शोधार्थी द्वारा स्वनिर्मित जागरुकता परीक्षण का प्रयोग किया गया। इसमें विद्यार्थियों से चैटबॉट के कार्य, शिक्षा में उसका महत्व, चैटबॉट के उपयोग करने की विधियों आदि से संबंधित सामान्य प्रश्नों को रखा गया।

विश्लेषण विधि : प्राप्त आंकड़ों के विश्लेषण के लिए निम्नलिखित सांख्यिकीय विधियों का प्रयोग किया गया।

1. मध्यमान
2. मानक विचलन
3. टी परीक्षण

प्राप्त आंकड़ों का विश्लेषण

शून्य परिकल्पना-01 का विश्लेषण

सारणी-प्रथम

हिन्दी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों एवं छात्राओं की चैटबॉट के शैक्षिक उपयोग के प्रति जागरुकता का तुलनात्मक अध्ययन (df =98)

समूह	*संख्या*	*मध्यमान*	*मानक विचलन*	*SEd*	*टी प्राप्तांक*	*सार्थकता*
हिंदी माध्यम के छात्र	50	45.78	08.68	01.55	0.52	0.05 स्तर पर
हिंदी माध्यम की छात्राएं	50	46.06	06.82			सार्थक नहीं

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि जो परीक्षण पर प्राप्त मान 0.52 है। यह मान 0.05 स्तर पर सार्थक नही है। अर्थात हिन्दी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों एवं छात्राओं की चैटबॉट के शैक्षिक उपयोग के प्रति जागरुकता में सार्थक अंतर नहीं है। इस आधार पर प्रथम शून्य परिकल्पना स्वीकृत की जाती है।

शून्य परिकल्पना-2 का परीक्षण

सारणी-द्वितीय

अंग्रेजी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों एवं छात्राओं की चैटबॉट के शैक्षिक उपयोग के प्रति जागरुकता का तुलनात्मक अध्ययन (df =98)

समूह	*संख्या*	*मध्यमान*	*मानक विचलन*	*SEd*	*टी प्राप्तांक*	*सार्थकता*
हिंदी माध्यम के छात्र	50	71.10	04.63	01.05	01.46	0.05 स्तर पर
हिंदी माध्यम की छात्राएं	50	72.64	05.88			सार्थक नहीं

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि टी परीक्षण पर प्राप्त मान 01.46 है। यह मान 0.05 स्तर पर सार्थक नहीं है। अर्थात अंग्रेजी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों एवं छात्राओं की चैटबॉट के शैक्षिक उपयोग के प्रति जागरुकता में सार्थक अंतर नहीं है। इस आधार पर दूसरी शून्य परिकल्पना भी स्वीकृत की जाती है।

परिकल्पना 03 का परीक्षण

सारणी-तृतीय

हिन्दी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों (छात्र एवम छात्राएं) तथा अंग्रेजी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों (छात्र एवम छात्राएं) की चैटबॉट के शैक्षिक उपयोग के प्रति जागरुकता का अध्ययन (df =198)

समूह	*संख्या*	*मध्यमान*	*मानक विचलन*	*टी प्राप्तांक*	*सार्थकता*
हिंदी माध्यम के छात्र	100	45.92	07.806	27.43	0.05 स्तर पर
हिंदी माध्यम की छात्राएं	100	71.87	05.344		सार्थक नहीं

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि टी- परीक्षण पर प्राप्त मान 27.43 है। यह मान 0.05 स्तर पर सार्थक है। अर्थात हिन्दी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों तथा अंग्रेजी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों की चैटबॉट के शैक्षिक उपयोग के प्रति जागरुकता में सार्थक अंतर है। इस आधार पर तीसरी शून्य परिकल्पना निरस्त की जाती है।

निष्कर्ष और प्राप्त परिणामों की व्याख्या

प्रस्तुत शोध में दो प्रमुख निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं।

1. चैटबॉट के प्रति जागरुकता में लिंग-भेद का प्रभाव नगण्य है। अर्थात छात्रों एवं छात्राओं ने चैटबॉट के शैक्षिक उपयोग के प्रति लगभग समान जागरुकता प्रदर्शित की है।
2. शोध में शैक्षिक पृष्ठभूमि का स्पष्ट प्रभाव देखने को मिला है। अंग्रेजी माध्यम के विद्यार्थी हिन्दी माध्यम के विद्यार्थियों की तुलना में काफी जागरूक हैं, जो कि समूह के संयुक्त मध्यमान से भी प्रदर्शित होता है।

वस्तुतः इस शोध में शिक्षा का माध्यम कई अन्य भेद को भी प्रदर्शित करता है। अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थी प्रायः सम्पन्न घरों के होते हैं। उनके माता-पिता भी प्रायः सुशिक्षित होते हैं, जो उन्हें तकनीकी संसाधन (लैपटॉप, कम्प्यूटर, वाई-फाई) आदि उपलब्ध कराते हैं, साथ ही नवीन तकनीकी के उपयोग के लिए प्रोत्साहित करते हैं। अंग्रेजी माध्यम के कान्वेंट विद्यालय भी तकनीकी सुविधाओं से सम्पन्न हैं। वहाँ छात्रों को कम्प्यूटर, इण्टरनेट और इसमें आ रही नवीन विधाओं जैसे ह्वाट्सअप और चैटबॉक्स आदि का शैक्षिक उपयोग सिखाया जा रहा है।

दूसरी तरफ हिन्दी माध्यम के अनुदानित माध्यमिक विद्यालयों में तकनीकी सुविधाओं का अभाव है। शिक्षक भी साधनाभाव में विद्यार्थियों को चैटबॉट जैसी नवीन तकनीकों का ज्ञान देने से कतराते हैं। शिक्षकों पर शिक्षणेत्तर कार्यों का दबाव भी इसका कारण है। हिन्दी माध्यम के विद्यार्थियों की अंग्रेजी थोड़ी कमजोर होती है। नवीन ऐप्लीकेशन और सॉफ्टवेयर अंग्रेजी पर आधारित हैं। इसका प्रभाव भी विद्यार्थियों की जागरुकता को कम करता है। हालांकि हिन्दी माध्यम के विद्यार्थियों के पास मोबाइल है परन्तु उन्हें विद्यालय या परिवार से जागरूक करने वाले लोगों की कमी है। हिन्दी माध्यम के विद्यार्थी साधारण या गरीब घरों से हैं। माता-पिता स्वयं भी तकनीकों के प्रति कम जागरूक हैं। इसलिए वे विद्यार्थियों को जागरूक नहीं कर पाते।

सुझाव : तकनीकी ज्ञान से अद्यतन होता वर्तमान जीवन में सफल होने के लिए नितान्त आवश्यक है। कम्प्यूटर, मोबाइल, कृत्रिम बुद्धिमत्ता और चैटबॉट जैसे एप्लीकेशन आदि के प्रति विद्यार्थियों का जागरूक होना बहुत जरूरी है। अन्यथा पिछड़े घरों के ये विद्यार्थी जीवन की दौड़ में भी पीछे रह जायेंगे।

1. हिन्दी माध्यम के विद्यालयों में कम्प्यूटर, लैपटॉप, अन्य आवश्यक संसाधन तथा वाई-फाई जैसी सुविधाएं उपलब्ध कराई जानी चाहिए।
2. कम्प्यूटर और नवीन तकनीकों के ज्ञान को पाठ्यक्रम का अंग बनाया जाना चाहिए।
3. कंप्यूटर और तकनीकी ज्ञान के लिए नियमित कक्षाएं होनी चाहिए ।
4. आजकल विद्यार्थी औसतन 5 घण्टे मोबाइल के उपयोग में गुजारते हैं। परन्तु प्रायः वे रील्स बनाने, इंस्टाग्राम, फोटोज, फेसबुक, व्हॉट्स ऐप, चौटिंग आदि में ज्यादा समय व्यतीत करते हैं। शिक्षकों और अभिवावकों द्वारा विद्यार्थियों को मोबाइल के सही उपयोग की जानकारी देना और इसके प्रति प्रोत्साहित करना नितान्त आवश्यक है। इससे वे कृत्रिम बुद्धि (AI), चैटबॉट आदि का सही और शैक्षिक उपयोग करने में सक्षम बनेंगे।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गुप्ता, एस.पी (2012), अनुसंधान संदर्शिका, इलाहाबाद, शारदा पुस्तक भवन
2. कपिल, एच.के. (1984), अनुसंधान विधियां, हरिप्रसाद भार्गव शैक्षिक प्रकाशन, 4/230, कचहरी घाट, आगरा।
3. गुप्ता, एस. पी.,(2003) 'आधुनिक मापन और मूल्यांकन', शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
4. भार्गव महेश, 'आधुनिक मनोवैज्ञानिक परीक्षण एवं मापन'।
5. Best, John W. (2006), 'Research in Education', 9th Edition, Pearson; Prentice Hal.
6. Chakraborty Utpal (2020), 'Artificial Intelligence for All', BPB Publications
7. Goel Lavica (2021), 'Artificial Intelligence: Concept and Application', Willey Publication
8. Russell, J. Stuart and Peter Norvig (2015), 'Artificial Intelligence: A Modern Approach', Prentice Hall Series in Artificial Intelligence
9. Steele, Daniel (2023), 'The Book on ChatGPT', Kindle Edition
10. Chakraborty, Utpal and Others (2023), 'Rise of Generative AI and ChatGPT', BPB Publications
11. Steele, Daniel (2023), 'The Book on ChatGPT-4', Kindle Edition

प्रोफेसर डी. पी. मिश्रा
शिक्षा संकाय, कमला नेहरू भौतिक एवं सामाजिक विज्ञान संस्थान, सुल्तानपुर

कृष्ण कुमार जायसवाल (शोधार्थी)
शिक्षा संकाय, बुद्धा पी.जी. कॉलेज
कुशीनगर (उ.प्र.)

गिरीश पंकज का व्यंग्य उपन्यास 'पॉलीवुड की अप्सरा' का चित्रण

–श्रीमती निगिता रामटेके
–डा. शंकर मुनि राय

'पॉलीवुड की अप्सरा' गिरीश पंकज का व्यंग्य उपन्यास है। यह उपन्यास दिल्ली से आर्य प्रकाशन मंडल द्वारा 2008 में प्रकाशित हुआ। 'पॉलीवुड की अप्सरा' छत्तीसगढ़ सहित अनेक छोटे राज्यों में पनप रहे फिल्मोद्योग पर केन्द्रित कृति है। 'पॉलीवुड की अप्सरा' उत्तर आधुनिक मनुष्य के मोहभंग की तथा-कथा है जिसमें गिरीश पंकज विशुद्ध व्यंग्यकार सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह है कि इस उपन्यास में व्यंग्यकार ने यथार्थ का पल्ला कहीं भी नही छोड़ा है जिससे यह समझने में आसानी होती है कि व्यंग्य लेखन सच्चा लेखन हो सकता है। जिस प्रकार 'हॉलीवुड' के सदृश्य पर 'बॉलीवुड' रखा गया, उसी प्रकार 'बालीवुड' के सदृश्य पर 'पॉलीवुड बना।' 'पॉलीवुड की अप्सरा' भी बॉलीवुड की समांतर भूमि में अपने रूप, रस, गंध और स्पर्श के साथ प्रतिष्ठित है। उपन्यास गाँव की एक लड़की पार्वती के साथ आगे बढता है जिसे अपना नाम पुरातन लगता है और वह पार्वती से पैरी हो जाना पंसद करती है और आगे बढ़ने के लिए हर तरह के समझौते के लिए तैयार रहती है। फिल्मी दुनिया मायालोक से कम नहीं है। इस मायालोक की अनेक विसंगतियों को गिरीश जी ने गहराई में जाकर उद्घाटित किया है। पूरा उपन्यास गाँव और शहर के चरित्र को भी दर्शाता है। शहर क्या है, इसे एक पात्र के माध्यम से पंकज जी ने कुल इस तरह से पेश किया है–''बहुत खतरनाक हो गए हैं। शहर बड़े-बड़े सपने दिखाते हैं बस; इन सपनों को पूरा करने लिए आदमी को तरह-तरह के उल्टे-सीधे काम भी करने पड़ते हैं। और जब सपने पूरे नहीं होते, तो हताश हो कर आदमी या तो अपनी जान ले लेता है या फिर दूसरों की। पार्वती के साथ जो कुछ हुआ, वह हर टूटे-फूटे सपने की अंतिम परिणति है।'' हिरोईन बनने की चाह में पैरी की सोच दिनों-दिन बदलती जाती है। वह चरित्रहीन होती चली जाती है। वह जिस्मफरोशी का धंधा करने लगती है। एक दिन ऐसा आता है जब उसे पुलिस पकड़ कर ले जाती है। अंत मे वह आत्महत्या कर लेती है। रंजीत, मालपानी, दामोदर जैस नीच फिल्म निर्माता जो शादीशुदा होकर भी लड़कियों को हिरोईन बनाने का झांसा देकर ब्लैकमेल करते हैं। सुनीता को जब बॉलीवुड, पॉलीवुड आदि के बारे में बात

करती हुई समझाती है तो सुनीता सोचती है–''करियर देखें की आत्मा की आवाज सुनें, समाज से भी क्यों डरें? इस समाज ने आखिर दिया ही क्या है? पिता जी रिटायर्ड होकर चल बसे। बूढ़ी मां पिता की आधी पेंशन के सहारे गुजर-बसर कर रही है। भाई आई. टी. आई करने के बाद में नौकरी करने बैंगलोर चला गया है और अब बची मैं। कब तक भूखी मरूं?'' जहां हमें एक तरफ पैरी, सुजाता, सुनीता, आदि हीरोईन मिलती हैं तो दूसरी तरह अस्मिता, सुमेधा और संज्ञा जैसे चरित्र भी मिलते हैं जो पॉलीवुड की गंदगी के बीच साफ-सुथरी छवि बनाए रखने में कामयाब चेहरों के उदाहरण हैं। जहां एक तरह रंजीत, लंबोदर, मालायानी, डिसूजा आदि यौन शोषण करने वाले फिल्म निर्माता हैं वही दूसरी तरफ विद्यासागर जैसे चरित्र जैसे बिल्कुल स्वच्छ फिल्म निर्माता भी हैं। एक जगह अस्मिता उनकी तारीफ करती हुई कहती है–''कुछ लोग अच्छे भी हैं शरीफ हैं। लड़कियों को केवल जिस्म नहीं समझते। उनमें कला भी देखते हैं। केवल कॉलगर्ल नहीं देखते, मां, बहन और बेटी भी देखते हैं। अभी भी कुछ अच्छे लोग जिंदा हैं। वरना यह संसार तो कब का धरातल में समा गया होता।'' पॉलीवुड में एक चालू किस्म का निर्माता है मालपानी। उसके चरित्र को गिरीश पंकज जी में कुछ इस प्रकार दर्शाया है। ''मालपानी निर्माता नंबर वन और ठग नंबर वन के रूप में कुख्यात हो चुका था। वह जितना बदमाश था, उतना ही धार्मिक प्रवृत्ति का भी था। सुबह शाम मंदिर जाता और भगवान के सामने कान पकड़ कर उठक-बैठक भी करता था। राह चलते लोग समझ नहीं पाते थे कि इस सेठ ने ऐसी कौन-सी गलती कर दी है कि बीच सड़क पर कान पकड़ने की नौबत आ गई है। ऐसी कौन-सी धार्मिकता है जो रोड-शो करने पर मजबूर करती है। सबके सामने स्वीकार करते तो शायद पिटाई हो जाती। भगवान तो भोले-भंडारी होते हैं। चुपचाप उनसे माफी मांग लो दस-बीस की मिठाई चढ़ा दो और खरीद लो भगवान को।'' गिरीश पंकज के हर उपन्यास की भाषा बेहद सरल है। अनेक उपन्यासों में वे छत्तीसगढ़ी मुहावरों का भी सटीक इस्तेमाल करते हैं। कथोपकथन की शैली सहजता लिए हुए व्यंग्य का पुट लिए हुए है। इसलिए उनके उपन्यास काफी रोचक बन पड़े हैं जिसके पठन के बाद चिंतन मनन के लिए पाठक बाध्य हो जाता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. गिरीश पंकज, 'पॉलीवुड की अप्सरा' दिल्ली आर्य प्रकाशन मंडल, 2008 पृ. 175
2. वही, पृ. 70
3. वही, पृ. 103
4. वही, पृ. 39

श्रीमती निगिता रामटेके
शोधार्थी
शासकीय दिग्विजय स्वशासी, महाविद्यालय
राजनांदगांव (छ. ग.)

डा. शंकर मुनि राय
शासकीय दिग्विजय स्वशासी, महाविद्यालय
राजनांदगांव (छ. ग.)

सूरदास की स्त्री-चेतना

–पूजा सरोज

स्त्री-चेतना की अभिव्यक्ति का मूल स्वर स्त्रियों की आर्थिक आत्मनिर्भरता एवं स्त्री-पुरुष की समानता के इर्द-गिर्द घूमता है। आर्थिक स्वावलम्बन के अभाव में स्त्री अपने ही परिवार में शोषित होती रही है, क्योंकि विरोध करने का न उनमें साहस है और न ही सम्बल। प्रश्न है स्त्री-चेतना में सूरदास के रचे, गाये गये पदों के महत्त्व का सूर के काव्य में पहली बार स्त्री अपने वजूद के साथ दो प्रधान भूमिकाओं में प्रकट होकर सामने आयी है–एक अपने सबसे उदात्त जननी या माँ के रूप में और दूसरी प्रेमिका के रूप में, भले ही उसके प्रेम के आलम्बन श्रीकृष्ण हों।

स्त्री-चेतना के प्रथम स्वरूप माँ की ममता का जैसा उद्दाम ललित वर्णन सूर ने किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। सूर के भ्रमरगीत में प्रेमिका के दो रूप सामने आते हैं, एक तो राधा का रूप और दूसरा गोपियों का। राधा के माध्यम से सूर ने स्त्री-चेतना के जिस कोमल पक्ष पर प्रकाश डाला है, यदि पुरुष से तुलना की जाय तो कृष्ण उसके सामने कहीं नहीं ठहरते। कृष्ण के पास मथुरा का राज है, वासुदेव-देवकी जैसे माता-पिता हैं, उद्धव जैसे सखा, बलिराम जैसे भाई हैं और न जाने क्या-क्या? इसे पाकर वे राधा को भूलते हुए से दिखते हैं, कम से कम तो लौकिक दृष्टि से देखने पर तो यही लगता है। कृष्ण जिस वैभव को पाकर राधा और गोपियों को भूल गये, उस वैभव को राधा और गोपियों ने लात मारकर कृष्ण को पाया था। कोई आलोचक तो यह कह सकता है कि गाँव में रहने वाली ग्वालिनों के पास तो था क्या? लेकिन सर्वस्व तो सर्वस्व होता है। उसे संसाधनों की अल्पता और अधिकता से नहीं तौला जा सकता और कम से कम राधा तो एक नगर प्रमुख की पुत्री थी। उसे तो किसी प्रकार के वैभव की कमी नहीं थी, लेकिन राधा ने कभी परपुरुष की तरफ देखा नहीं, कृष्ण के लिए रोई नहीं, क्योंकि कृष्ण को अपने आप में मिलाकर एकाकार कर दिया। क्या नारी के चरम का प्रतिनिधित्व करने वाली राधा के प्रेम, समर्पण, भक्ति और अनुरक्ति आदि की तुलना में कृष्ण कहीं भी टिकते हैं? राधा जिस स्वाभिमान के साथ अपना जीवन गुजारती है उससे स्पष्ट है कि सूर ने स्त्री-चेतना को जिस सन्दर्भ में समझा है और मध्ययुगीन आलोक में जिस प्रकार प्रस्तुत किया है वैसा वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है।

स्त्री के दूसरे रूप को सूर ने भ्रमरगीत में गोपियों के रूप में चित्रित किया है, जो गाँव में गोबर पाथने वाली गोपियाँ हैं, गाय खिलाती हैं, दूध दूहती हैं, मक्खन निकालती हैं, घर-गृहस्थी संभालती हैं, यमुना से जल लाती हैं। गोपियों के प्रति

उत्कट प्रेम के संयोग और वियोग के जो चित्र सूर ने उकेरे हैं, उनमें स्त्री के हृदय की उस प्रेम-पिपासा को लक्ष्य किया जा सकता है, जिसे मध्यकालीन सामंती समाज की सारी घुटन के बीच सूर ने अभिव्यक्ति दी है। जन्म-जन्म की यह प्यास है, जो स्त्री हृदय में उमड़ती-घुमड़ती रही है और पुरुष वर्चस्व के समाज में उसके द्वारा थोपी गयी नैतिकता के चलते स्त्री अभिव्यक्ति करने में असमर्थ रही है। सूर ने उसे अभिव्यक्ति दी और वह कुंठाओं तथा वर्जनाओं से परे बड़े निष्कलुष, निर्मल रूप में सामने आई है। संयोग एवं वियोग दोनों में उसकी उत्कृष्टता एक जैसी है। ''सूर की गोपियों का प्रेम कोई सीमा नहीं जानता। वह कोई बंधन नहीं मानता, न संयोग में न वियोग में। उसका लक्ष्य है तन्मयता। इस लक्ष्य में बाधक बनने वाले शास्त्र और लोक के सभी बंधन असत्य हैं।''[1]

मध्यकालीन सामंती समाज के नारी पर थोपे गये विविध निषेधों पर ध्यान दें, स्पष्ट होगा कि अपनी सीमाओं में सूर किस तरह सामंती जकड़बंदी के खिलाफ प्रेम के इस महारास को सम्भव बनाते हैं—''सूर के कृष्ण और गोपियाँ पक्षियों के समान स्वच्छंद हैं। वे लोक के बन्धनों से जकड़े हुए नहीं दिखाए गये हैं। जिस प्रकार स्वच्छंद समाज का स्वप्न अंग्रेज कवि शेली देखा करते थे, उसी प्रकार का यह समाज सूर ने चित्रित किया है।''[2]

विप्रलम्भ के परिदृश्य में मानिनी नारी की अस्मिता की जो छवि सूर ने उकेरी है उसका कोई भी मुकाबला नहीं है। आचार्य शुक्ल जैसे मर्मज्ञ भी इस धरातल पर सूर की सही पहचान से चूक गये हैं। कृष्ण जो एक बार मथुरा गये तो फिर वापस लौटकर कभी नहीं आये। बात यहीं तक सीमित नहीं है, नारी अस्मिता की महानता और गरिमा के चितेरे सूर अपनी ग्रामीण गोपिकाओं को भी फिर कभी मथुरा नहीं भेजते। कृष्ण नहीं आये, वादा करके भी नहीं आये, यदि उनमें इतना अभिमान है, तो नारी का अभिमान कम तो नहीं। वह उनकी याद में तिल-तिल कर गल जाना, मर जाना पसंद करेगी, किन्तु आत्मसम्मान बेचकर ऐसे झूठे व्यक्ति के पास अपनी ओर से जाना नहीं चाहेंगी। ''गोपाल के पास नहीं, ऐसे निष्ठुर और राजा कृष्ण के पास जाकर गोपियों के लिए अनुनय-विनय करना और न्याय की भीख माँगना, उनके स्वभाव के प्रतिकूल था और उनके आत्मसम्मान को एक चुनौती।''[3] वे नहीं जायेंगी, यह है सूर की स्त्री-चेतना। उद्धव-गोपी प्रसंग में सूर ने नारी मन की न जाने कितनी परतों को खोला है। अज्ञ, अपढ़ गोपिकाओं को ऐसी जबान, समझदारी और विदग्धता दी कि वे ज्ञानी उद्धव के ज्ञान को चूर-चूर कर देती हैं। उद्धव कृष्ण का सन्देश लेकर ब्रज पहुंचते हैं। दूर से ही उद्धव दिखाई पड़ते हैं, बिल्कुल कृष्ण की तरह, जिस प्रकार की रथ में बैठकर कृष्ण मथुरा गये थे वैसा ही रथ, कृष्ण जैसी ही वेश-भूषा, यह सूचना पूरे ब्रज में फैल जाती है। गोपियाँ सारे गृहकार्य छोड़कर दौड़ पड़ती हैं कि कृष्ण आ रहे हैं। उन्हें रोकने वाला कौन है :

''कोऊ आवत है तन स्याम।
वैसेइ पट, वैसिय रथ-बैठनि, वैसिय है उर दाम।
जैसी हुति उठि तैसिय दौरी छाँड़ि सकल गृह-काम।''[4]

यह है सूर की नारी-स्वतंत्रता का चित्रण जो नारी परदे में रहकर घुट-घुट कर जीवन व्यतीत करती थी, जिस नारी के लिए परपुरुष पर नजर डालना पाप था, वही सूर की गोपियाँ परदे से बाहर निकलकर उद्धव के सामने प्रश्नों की झड़ी लगा देती हैं। इसी के दौरान शिकवे-शिकायतों का दौर शुरू होता है। गोपी-उद्धव-संवाद का यह सारा प्रसंग अत्यंत मार्मिक, व्यंजक और सूर की वाक चातुरी तथा विदग्धता से भरा हुआ है। एक सूर ही थे जो स्त्री को बेबाक कहने का साहस दे सकते थे :

''गोकुल सबै गोपाल उपासी।
जोग-अंग साधत जे उधो ते सब बसत ईसपुर कासी।
यद्यपि हरि हम तजि अनाथ करि तदपि रहति चरननि रस-रासी।''[5]

सूर की नारियों में आत्माभिमान है। वे अपनी स्थिति को सुधारने के लिए प्राणपण से जुटी हुई हैं। वह जमाना चला गया जब स्त्रियों को गाय-भैंस की तरह जिस खूंटे में बाँध दो, उफ तक न करती थीं। अब वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत हैं। पुरुष प्रधान समाज में जो ठगी का शिकार होती थीं अब वह ठगाने वाली नहीं रहीं :

''जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहैं।
यह व्योपार तिहारो उधो ! ऐसोई फिरि जैहैं
जापै लै आए हौ मधुकर ताके उर न समैहैं
दाख छाँड़ि कै कटुक निबौरी को अपने मुख खैहैं ?''[6]

भारतीय पुरुष प्रधान समाज ने जो लज्जा का आभूषण वैदिक और स्मृतिकाल के बाद स्त्रियों पर थोपा और मर्यादा की सीमा रेखाओं का निर्धारण किया, सूर की गोपियों ने उसे अस्वीकार कर दिया। फेंक दिया वह पुराना लबादा, जिसमें देखने, सुनने पर, पर पुरुष से बात करने, घर की देहली से पाँव बाहर निकालने, रात में वन जाने, यहाँ तक कि पुरुष के सामने खाने-पीने, उठने-बैठने, सोने तक को

अप्रतिबंधित कर दिया। सूर की गोपियाँ चीर, तट और तरुवर पर रखकर स्नान करती हैं, गगरी से पानी भरकर लाते समय हँसी-ठिठोली करती हैं। कृष्ण की बंसी पर सुध-बुध भूलकर घर से वन तक चली जाती हैं। यहाँ तक कि परदेश से आये हुए उद्धव के सामने भी अपने अंतरंग प्रेम के बहुआयामी रंग को रंजित करने से बाज नहीं आतीं हैं। जनम-जनम की बेड़ी को तोड़कर अपने तर्कों-वितर्कों से पुरुष को भी अपने सामने झुकने के लिए बाध्य कर देती हैं और दिखा देती हैं कि नर से नारी भारी है।

क्षमा नारी का शाश्वत गुण है। अपनी गलती तो छोड़ दीजिए, दूसरे की गलती पर भी अपने को गुनाहगार समझ बैठने वाली भारतीय नारी उद्धव को उलाहना देते हुए क्रोध के कोमल स्वरूप से प्रबल प्रतिकार करती हैं। यहाँ तक कि बात-बात पर गाली देने वाले पुरुष समाज के प्रति उद्धव को निशाना बनाते समय वह अक्रूर, उनके बाप, मथुरा तथा कृष्ण तक को गाली देने से बाज नहीं आतीं :

'विलग जनि मानहु उधौ प्यारे !
वह मथुरा काजर की कोठरि, जे आवहिं ते कारे।
तुम कारे, सुफलकसुत कारे, कारे मधुप भँवारे।'[7]

नारी को माँ और प्रेमिका के रूप में देखते हुए उपरोक्त बातें स्त्री-चेतना के सम्बन्ध में कही गयी हैं, लेकिन ममता और प्रेम के अतिरिक्त एक और तत्त्व सूरदास द्वारा वर्णित भ्रमरगीत में दिखता है, वह है ज्ञान पक्ष। ज्ञान और शक्ति की सामर्थ्य तो देवियों में ही मिलती है। उद्धव कृष्ण के सखा थे। योग और ज्ञान की प्रतिमूर्ति थे। यही नहीं उन्हें अपने ज्ञान पर अभिमान था और शायद यह उनकी पुरुष मानसिकता ही थी जो अपने को ज्ञानी और गोपियों को अज्ञानी समझते थे। जिस ज्ञान के गर्व और घमण्ड को लेकर उद्धव ब्रज में शिक्षक भाव से आए थे, गोपियों के आगे उनका सारा ज्ञान धरा का धरा रह गया। शिक्षक विद्यार्थी बन गया और विद्यार्थी गुरु। गोपियाँ पुरुष ज्ञान के मूर्खतापूर्ण दम्भ पर ऐसा तंज कसती हैं कि उद्धव के पास उसका कोई जवाब नहीं है :

''निर्गुण कौन देस को बासी ?
मधुकर ! हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी।
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी?'[8]

सूर की गोपियों ने ऐसा गुरु ज्ञान दिया कि उद्धव के ऊपर से उसका रंग ही नहीं उतरा। वह श्याम तो थे ही गोपियों ने उन्हें श्याम रंग में ही डुबो दिया। शायद गोपियों ने उनके अंदर के कोरेपन को देख लिया था इसी कारण श्याम रंग के कालिख से उन पर प्रेम के अमर गीत लिख दिये, जिसे गाते-गाते उद्धव मथुरा तक चले गये। स्त्री-चेतना का यह तीसरा रूप की वह ज्ञान की देवी भी होती है, जितना स्पष्ट सूरदास के भ्रमरगीत में है, उतना हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सूर के काव्य की नारी अबला नहीं है। वह बिन्दु-बिन्दु पर अपने अधिकारों के लिए खड़ी हो जाती है। पुरुष समाज से उठने वाले प्रश्नों को सुनकर उसका चुन-चुन कर जवाब देती है। वह राधा के रूप में कृष्ण की पत्नी न बनकर प्रेमिका बनना स्वीकार करती है, उपासी बनना स्वीकार करती है परन्तु दासी बनना उसे स्वीकार नहीं है। सूर की गोपियों ने युग की त्रास को अमान्य करते हुए प्रेम को गोपनीय नहीं रखा। चाहे कृष्ण हों या उद्धव उनके शारीरिक या वैचारिक सभी प्रकार के संत्रासों का न केवल बराबरी से प्रतिकार किया है, बल्कि पराजित किया है। शायद स्त्री-चेतना की वही सुगंध ब्रज की मिट्टी से बहकर यमुना में और यमुना से बहकर स्त्री-चेतना की मानस गंगा में संगम करती हुई पुरुषों के अत्याचार से उत्पन्न पाप का आज के युग में न केवल परिष्कार कर रही है, बल्कि उनके सामने दण्ड का मानदंड भी निर्धारित कर रही है। प्रसन्नता की बात यह है कि सूर ने जिस स्त्री-चेतना की बात पहले उठायी थी, आज वर्तमान समय में इस सोच एवं वैचारिकता वाले स्त्री-चरित्र गढ़े जा रहे हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. मैनेजर पाण्डेय, भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, 2003, पृ. 39
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (सं.) भ्रमरगीत सार, साहित्य सेवा प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2009, पृ. 17
3. डा. शिव कुमार मिश्र, हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली, अठारहवाँ संस्करण, 2008, पृ. 284
4. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (सं.) भ्रमरगीत सार, साहित्य सेवा प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2009, पृ. 60
5. वही, पृ. 64
6. वही, पृ. 65
7. वही, पृ. 69
8. वही, पृ. 75

पूजा सरोज
असिस्टेंट प्रोफेसर
रघुनाथ गर्ल्स पी. जी. कॉलेज, मेरठ (उ.प्र.)

जम्मू-कश्मीर केंद्रित हिंदी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

–प्रियंका सरोज

सारांश

जम्मू-कश्मीर भारतवर्ष का धुर उत्तर राज्य है। 5 अगस्त, 2019 तक भारत के एक राज्य के रूप में था जिसे अगस्त 2019 में द्विविभाजित कर जम्मू और कश्मीर एवं लद्दाख नामक दो केंद्र शासित प्रदेश के रूप में स्थापित कर दिया गया। इससे पूर्व यह ब्रिटिश भारत में शाही रियासत हुआ करता था। इस राज्य का क्षेत्र भारत के विभाजन के बाद से ही भारत, पाकिस्तान और चीन के बीच विवादित रहा है। इसे प्राकृतिक सौंदर्य, संसाधनों तथा अपनी विशिष्ट संस्कृति के कारण हमेशा से ही एक विशिष्ट पहचान मिली है। कश्मीर प्राचीन काल से ही भारतीय ज्ञान परंपरा का केंद्र रहा है। यहाँ भारतीय दर्शन, साहित्य एवं तंत्रागम के रूप में ऐसे विमर्श विकसित हुए जिन्होंने कश्मीर को वैभवशाली परंपरा का बिंदु बनाया। नाट्य एवं काव्यशास्त्र के अनेक आचार्यों को इस क्षेत्र ने जन्म दिया। समकालीन साहित्य धरातल आज अनेक विमर्शों की चर्चा में संलग्न है तथा चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण विषय बनकर उभरा है जम्मू-कश्मीर। भारत में विलय के साथ ही स्वर्ग की उपमा से विभूषित यह प्रदेश धर्म और सत्ता के पाटों के बीच पिस गया। हिंदी साहित्य में उपन्यास, कथा, कविता, यात्रा साहित्य आदि अनेक विधाओं के अंतर्गत साहित्यकारों ने कश्मीर की इन समस्याओं का विचार-विश्लेषण एवं मार्मिक चित्रण किया है। जम्मू-कश्मीर केन्द्रित हिन्दी साहित्य में जिन विषयों को प्रमुख रूप से चित्रित किया गया है, उसे इस आलेख में दर्शाया गया है।

बीज शब्द : जम्मू-कश्मीर, साहित्य, संस्कृति, कश्मीरियत, आतंकवाद, निर्वासन, मानवाधिकार, कश्मीरी स्त्री

मूल आलेख

कश्मीर कला, साहित्य, संस्कृति, दर्शन के साथ ही सांप्रदायिक समरसता का क्षेत्र रहा है। कश्मीर में हिंदी भाषा और उसके बाद साहित्य सर्जन के प्रचलन का श्रेय काशी के पुराने आचार्यों, तत्पश्चात् भारतीय संतों और उसके बाद हिंदीभाषी पर्यटकों को है। कश्मीर और काशी का संबंध अत्यंत प्राचीन है। कश्मीर में हिंदी की इस प्रतिष्ठा से प्रेरित होकर

कश्मीरी भाषा के लेखक भी हिंदी रचना में प्रवृत्त हुए। 17 वीं शताब्दी की संत कवयित्री रूपा भवानी ने कश्मीरी वाखों के साथ-साथ हिंदी में भी रचना की है।

सामुदायिक सद्भाव की धरती जम्मू-कश्मीर में उदित होने वाले आतंकवाद, परायेपन, भय व सामाजिक, राजनीतिक दुर्व्यवस्था का चित्रण सृजित साहित्य के केंद्र में है। इसके साथ ही धर्म, जाति, वर्ग से ऊपर उठकर आह्लादित कर देने वाले संबंध भी वर्णित हैं। अंधविश्वास और रूढ़ मान्यताओं का विरोध है तो साथ ही स्त्री शिक्षा व मानवाधिकार के ज्वलंत प्रश्न भी हैं। पलायन की पीड़ा है तो कहीं भी न बस पाने का दुःख भी है। स्त्री की अस्मिता, अधिकारों और संघर्ष के प्रश्न भी हैं। कश्मीर की ज्वलंत समस्याओं का चित्रण करते हुए साहित्य मानवीय करुणा व जिजीविषा की अद्भुत मिसाल भी रखता है।

आधुनिक कश्मीर के हिंदी साहित्य के सशक्त हस्ताक्षरों में मास्टर जिंदा कौल, नीलकंठ शर्मा, दीनानाथ नादिम, दुर्गाप्रसाद काचरू, हरिकृष्ण कौल, जवाहर कौल, शची रानी गुई, त्रिलोकीनाथ वैष्णवी, निर्मला कुसुम, पृथ्वीनाथ मधुप, पृथ्वीनाथ पुष्प, मोहनलाल निराश, रतनलाल शांत, त्रिलोकीनाथ गंजु, शांतिवीर कौल, अग्निशेखर, क्षमा कौल, श्याम जुनेजा, मीराकांत, चंद्रकांता, रजनी पथरे राजदान, शिबन कृष्ण रैणा, दीपक बुदकी, शर्मा जी, जे. एल. हंडु, उपेंद्र रैणा, संजना कौल, महाराज कृष्ण संतोषी, दिलीप कुमार कौल, गौरीशंकर रैणा, राजनाथ भट्ट, महाराज कृष्ण शाह, सतीश विमल और महाराज कृष्ण मूसा भारत प्रमुख हैं। अपने साहित्य के माध्यम से इन साहित्यकारों ने जम्मू-कश्मीर के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला है।

जम्मू-कश्मीर को लेकर मुख्यतः दो धारणाएं जनमानस में व्याप्त हैं, एक यह कि जम्मू-कश्मीर पृथ्वी पर स्वर्ग है और दूसरा यह कि कश्मीर भारत का वह हिस्सा है जिसे हम खीर देंगें, चीर देंगे विमर्श को ध्यान में रखकर एक हिस्से से ज्यादा कुछ नहीं समझते। वास्तव में कश्मीर को लेकर आम जनमानस पहली धारणा को ही ध्यान में रखना ज्यादा पसंद करता है। जम्मू-कश्मीर एक सैर-सपाटे की जगह से बढ़कर कभी बाहरी राज्यों के लिए संवेदना का विषय बनने में सफल नहीं हो सका। जम्मू-कश्मीर व उसके साथ अन्य राज्यों के संबंध हमेशा अतिरेकों से प्रभावित रहे हैं। उनमें वह सुलभ संपर्क कभी स्थापित ही नहीं हो पाया जो दो राज्यों के बीच होना चाहिए। साहित्यकारों ने इसी असल कश्मीर को पाठकों से जोड़ने का प्रयास किया।

जम्मू-कश्मीर के हिंदी साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में वहाँ के सौंदर्य व साझी विरासत का वर्णन गौरव के अनुभव के साथ प्रस्तुत है। कश्मीरियत जिसे कि वहाँ की सांस्कृतिक पहचान के रूप में माना जाता है, साहित्य में इसकी स्पष्ट झलक है। कश्मीरियत वास्तव में एक ऐसी प्रवृत्ति है जहाँ धार्मिक अस्तित्व गौण हो जाता है और कश्मीरी अस्मिता प्रमुख। जहाँ आकर हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, बौद्ध और जैन एकमात्र कश्मीरी रह जाते हैं। 'कथा सतीसर' उपन्यास में चंद्रकांता इस विशिष्ट संस्कृति का चित्रण करते हुए उसके विघटित हो रहे रूप के प्रति चिंता व्यक्त करती हैं। उन्हें लगता है कि घाटी में अलगाववाद ने जो तांडव मचा रखा है, उसकी वजह से आने वाली पीढ़ी यह कभी नहीं जान पाएंगी कि वह कितनी भव्य परंपरा का हिस्सा रही हैं।

जम्मू-कश्मीर के हिंदी साहित्य में ऐतिहासिक परिस्थितियों का वर्णन बहुत मार्मिक ढंग से हुआ है। 14वीं शताब्दी तक यहाँ पर हिंदू राजाओं के शासनकाल के पश्चात यह प्रदेश क्रमशः शाहमीर, चक, मुगल, अफगान, सिख, डोगरा तथा ब्रिटिश रेजीडेंसी के शासनाधीन रहा। ललितादित्य, कुतुबुद्दीन, सुल्तान जैनुल आब्दीन उर्फ बड़शाह जैसे कुछ गिने-चुने शासकों को छोड़ दें तो बाकी सारी हुकुमतें कश्मीर व कश्मीरियों का शोषण करने में लगी रहीं। 1931 में रीडिंग रूम पार्टी के नेता के रूप में उभरकर आए शेख अब्दुल्ला से उनके हक और अधिकारों का नारा बुलंद होता है। शेख अब्दुल्ला, कश्यप बंधु, प्रेमनाथ बजाज, मिर्जा अफजल बेग, सरदार बुध सिंह जैसे समाज सुधारकों ने जम्मू-कश्मीर वासियों के हालातों को बेहतर करने के लगातार प्रयास किए। भारत की स्वतंत्रता के पश्चात तत्कालीन महाराजा हरि सिंह की अस्पष्ट नीतियों के कारण कश्मीर हमेशा के लिए भारत व पाकिस्तान के बीच विवाद का मुद्दा बन गया। मुस्लिम बहुल राष्ट्र की उपेक्षा तथा भारतीय नेताओं की शेख अब्दुल्ला के प्रति सद्भाव की भावना से आहत वे जम्मू-कश्मीर को एक स्वतंत्र राज्य बनाकर रखना चाहते थे। कबायली आक्रमण के दौरान उन्होंने जिन हालातों में भारत के साथ विलय किया, पाकिस्तान का उसके प्रति निषेधात्मक रवैया अब तक बरकरार है। इस प्रकार जम्मू-कश्मीर भारत-पाकिस्तान के विवाद के रणक्षेत्र के रूप में ही रहा है जिससे वहाँ का जनजीवन भय और त्रासद परिस्थितियों की जकड़ में है।

चंद्रकांता अपने उपन्यास 'कथा सतीसर' में 1931 से लेकर 2001 तक के जम्मू-कश्मीर के इतिहास की परतें उघाड़ती हैं तथा उन कारणों की तलाश करती हैं जिन्होंने आज इस क्षेत्र का यह अंजाम किया है। उनका मानना है

कि चुनावों में हो रही धांधलियाँ, नेताओं की महत्त्वाकांक्षा तथा केंद्र सरकार के ढुलमुल रवैयों ने इस प्रदेश को संभलने के बहुत कम मौके दिए हैं। अपनी व्यथा को व्यक्त करते हुए वह कहती हैं, ''लम्हें खता करते हैं और सदियाँ सजा पाती हैं।''[1] 'शिगाफ' उपन्यास की लेखिका मनीषा कुलश्रेष्ठ भी इन कमियों पर तीव्र आक्रोश व्यक्त करती हैं।

जम्मू-कश्मीर का समाज हिंदी साहित्य में अपने विविध आयामों के साथ उपस्थित है। कश्मीरी पुरुष-स्त्रियाँ उनके पहनावे, जीवनशैली, गहने, विविध लजीज व्यंजन, कुटीर व लघु उद्योगों के वर्णन जहाँ-तहाँ मिल जाते हैं। शाहीबागों का चित्रण, डल और वूलर का सौंदर्य, हाउसबोट की कतारें, समावार, हम्माम, बोखारा के चित्र, कश्मीरी लोककथा व लोकगीत साहित्य में पिरोए हुए हैं। वर्णन सहज ही चित्ताकर्षक है और इस प्रदेश के प्रति प्रेम उमड़ पड़ता है। कश्मीर की खूबसूरती की एक झलक अशोक कुमार पाण्डेय की कविता 'कश्मीर : जुलाई के कुछ दृश्य' में दर्शनीय है:

''पहाड़ों पर चिनार हैं या कि चिनारों के पहाड़
और धरती पर हरियाली की ऐसी मखमल कि जैसे किसी कारीगर ने बुनी हो कालीन
घाटियों में फूल जैसे किसी कश्मीरी पेंटिंग की फुलकारियाँ ।''[2]

जम्मू-कश्मीर आधारित हिंदी साहित्य में आतंकवाद के भय तथा उसके फलस्वरूप हुए विनाश को बड़ी मार्मिकता के साथ चित्रित किया गया है। कश्मीर में आतंकवाद का प्रारंभ आंशिक रूप से सन् 1968 में ही 'अलफतेह' नामक संगठन के साथ हो गया था परंतु उसका वीभत्स रूप सन् 1987 के आम चुनावों में हुई धांधली के बाद सामने आया। साक्ष्यों के अनुसार सन् 1987 के चुनाव में भारी हेरफेर सामने आया। सैयद सलादुद्दीन घाटी के एक प्रमुख क्षेत्र से चुनाव जीत गया था परंतु उसे विजयी न घोषित कर हारे हुए प्रतिनिधि को विजेता करार दिया गया। बाद में सलादुद्दीन प्रमुख आतंकवादी संगठन हिजबुल मुजाहिदीन का संरक्षक बना। इसके साथ ही जबरन व स्वेच्छा से युवा वर्ग के आतंकवादी बनने के अनेक केस सामने आये। घाटी में बेरोजगारी व पाकिस्तान का भितरघात इसमें सहायक हुआ। 'कथा सतीसर' और 'पाषाणयुग' उपन्यासों में आतंकवाद का यह घिनौना रूप द्रष्टव्य है। चंद्रकांता कहती हैं कि कश्मीर के जनजीवन का हिस्सा बन चुका है आतंकवाद तो वहीं दूसरी ओर दैनिक रूप से हो रहे अपहरण, बमबारी, हत्याओं को लक्ष्य कर संजना कौल स्वयं को इक्कीसवीं सदी की सांस्कृतिक यात्रा से वापस लौटकर पाषाण युग की संवेदनहीन दुनिया में पाती हैं। मुस्लिम युवाओं के भटकाव को चिंता का विषय समझते हुए यास्मीन अपनी डायरी में लिखती हैं, ''घर वीरान और अंधेरे हो रहे हैं। मजहब की आड़ बनाकर गुनाह को मजहब का जामा पहनाया जा रहा है।''[3]

चंद्रकांता कहती हैं, ''उम्रों की मुहब्बतों पर खाक पड़ गई। भाई-भाई एक-दूसरे से नजर चुराने लगे। इतना क्या मन को खरोंचने के लिए कम था?''[4] जम्मू-कश्मीर प्रदेश में आतंकवाद के इस भयावह रूप हेतु शासन व नीतियाँ जिम्मेदार रहीं हैं। आतंकवाद के खात्मे हेतु केंद्र व राज्य सरकार के एक सशक्त कदम न उठाए जाने का आक्रोश चंद्रकांता के उपन्यासों में है। कश्मीरी लोगों का आपसी सौहार्द आतंकवाद की भेंट चढ़ गया। निधीश त्यागी अपनी कविता 'कश्मीर' में कहते हैं :

''थोड़ा जल्द बड़ा होता बचपन थोड़ा जल्द सीख लेना फातिहा पढ़ना
तनी बंदूकों और गड़ती नजरों के बीच थोड़ा तेज कदमों से निकलना
कँटीली बाड़ों के साथ-साथ थोड़ा लंबा रास्ता, थोड़ा लंबा दिन
थोड़ा सँकरा आसमान।
शब्दों से ज़्यादा सच आहटों के पास हैं आहटों से ज़्यादा माएने सन्नाटों को
इस वक्त जो बच्चा चौदह साल का है उसने वही दुनिया देखी है।
जिंदगी जहाँ से बेदखल है।''[5]

जम्मू-कश्मीर केंद्रित हिंदी साहित्य में विमर्श का दूसरा महत्त्वपूर्ण बिंदु है– निर्वासन की पीड़ा। कश्मीर में उपजे आतंकवाद के कारण लाखों लोग अपने घरों को रातों-रात छोड़कर देश-विदेश में बसने हेतु मजबूर हो गए। 1990 से लगातार घाटी में विस्थापन जारी रहा है। सन् 1989 से लगातार की जा रही राजनैतिक हत्याओं के कारण घाटी में आतंक का माहौल था। 19 जनवरी, 1990 को सुबह से ही मस्जिदों में लाउडस्पीकरों द्वारा लगातार पंडितों को भागकर जाने और अपनी बहू-बेटियों को छोड़कर जाने की घोषणाएँ होती रहीं। प्रतिष्ठित कश्मीरी पंडितों के खिलाफ फतवे जारी किए गए। धर्म परिवर्तन कर लो, भाग जाओ या मर जाओ के नारे देकर मार्च किए गए। सरकार द्वारा समुचित सुरक्षा व्यवस्था न उपलब्ध कराये जाने और अल्पसंख्यक होने के कारण वे रातों-रात वहाँ से विस्थापित हो गए। समय के साथ उनके वहाँ वापस जा पाने की

आशा भी धूमिल होती गई। 19 जनवरी में हुए भीषण नरसंहार व हिंसा के अनेक संदर्भ 'कथा सतीसर' , 'शिगाफ', 'कश्मीर 370 किलोमीटर' उपन्यासों, 'पोशनूल की वापसी' जैसी अनेक कहानियों में दर्ज है। 'शिगाफ' की लेखिका अपने ब्लाग में आक्रोश व्यक्त करती हुई पोस्ट करती हैं– ''मैं आज निर्वासित हूँ, क्योंकि तुमने चुना था निहत्थों को मारना। मैं आज निर्वासित हूँ, मैंने चुना सम्मान से जीना, हथियार न उठाना। मैं आज निर्वासित हूँ क्योंकि पूरा संसार चुप रहा, महज कुछ लोग ही तो मर रहे थे। मैं आज निर्वासित हूँ, क्योंकि मेरा भारतीय होने में विश्वास था।''[6]

रातों-रात कई परिवार कश्मीर छोड़कर जाने के लिए अंधेरे में सिर्फ इसलिए निकल पड़ते हैं, क्योंकि वे हिंदू कश्मीरी पंडित हैं। नर्क बन चुके कश्मीर से अपनी जान बचाकर भागे इन कश्मीरी पंडितों को शरणार्थी कैंपों में भी नारकीय जीवन मिलता है। विरोध करने पर भी इस नारकीय जीवन से मुक्ति का उन्हें केवल आश्वासन ही मिलता है, लेकिन बदलता कुछ भी नहीं। एक छोटे से कमरे में कई लोगों का परिवार जैसे-तैसे सिर छुपाने भर की जगह पाता है। अपनी इस दुर्गति से आहत ब्रजकृष्ण पूछता है, ''क्या खुली झोपड़ी हमारा अधिकार नहीं? आठ-आठ जनों का परिवार तंग कोठरियों में कैसे रहेगा। लू, बरसात के मौसम में, एक दूसरे के ऊपर गिर पड़े ब्लैक होलों में सांस लेंगे हम?''[7] इस पीड़ा का एहसास उस महान सांस्कृतिक विरासत से कट जाने का एहसास है और दूसरी ओर कहीं भी अपनी जड़ न जमा पाने का एहसास है। विस्थापन की पीड़ा, कहीं का भी ना होने का एहसास है। अपनी अस्मिता, अपनी पहचान हेतु संघर्ष की पीड़ा का एहसास है।

जम्मू-कश्मीर में हुए विस्थापन का साहित्य उनके संघर्ष तथा घुटन भरे कैंपों में उनके जिजीविषा का अद्भुत प्रमाण है। तब से लेकर बीते इन तीन दशकों में भी उन्हें इस पीड़ा से निजात नहीं मिल सकी है। अपनी भूमि, अपनी संस्कृति, अपनी विरासत से कटने की टीस उन रचनाओं में है साथ ही यह उम्मीद भी कि हम एक दिन वापस जा सकेंगे।

जम्मू-कश्मीर में मानवाधिकार का प्रश्न ज्वलंत है। वहाँ के नागरिकों के मानवाधिकार-हनन की समस्या विमर्श में बनी हुई है। यह सामूहिक हत्याओं, जबरन हुए अत्याचारों, लापता व्यक्तियों को लेकर चुप्पी, बलात्कार तथा यौन हिंसा से लेकर राजनीतिक दमन और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के दमन तक है। 'पाषाणयुग' उपन्यास के पत्रकार ब्रजमोहन मानवाधिकार के मुद्दों को लेकर सक्रिय हैं। स्त्री शिक्षा व आत्मनिर्भरता हेतु प्रयासरत राजनाथ कौल नामक पात्र 'यहाँ वितस्ता बहती है' उपन्यास में प्रभावी हैं। वे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को महत्ता देते हैं। 'शिगाफ' उपन्यास की पात्र अमिता श्रीनगर पहुंचकर प्रोफेसर आयशा की सेमिनार 'कश्मीरी स्त्री और मानवाधिकार' विषय के अंतर्गत भाग लेती है। प्रोफेसर आयशा कहती हैं, ''फौज और उग्रवादियों ने मिल-जुल कर ग्यारह हजार जवान विधवाओं की फसल तैयार की है जिसे न समाज से आसरा है न सरकार से। पर अपने होंठ सिए घातक मानसिक रोगों और हताशाओं का शिकार होती जा रही है या कि बहुत सहन करने पर तो पृथ्वी विचलित हो जाती है, उनमें भी दरारें पड़ जाती हैं वे तो बेटियाँ हैं इस जमीन की असहाय औरतें।''[8]

निष्कर्ष : इस प्रकार जम्मू-कश्मीर केंद्रित हिंदी साहित्य व उससे जुड़े प्रश्नों व स्थितियों को व्यक्त करता है। इसमें कश्मीर के विचारणीय मुद्दों यथा–साम्प्रदायिकता, अलगाववाद, आतंकवाद, भय, मानसिक शोषण, अनिश्चितता, स्त्री संबंधी चेतना आदि विषयों पर मुखर अभिव्यक्ति हुई है तथा कश्मीर की आत्मा कश्मीरियत में विश्वास रखते हुए कहीं ना कहीं कश्मीर के सुखद वर्तमान और उज्ज्वल भविष्य हेतु आश्वासन दिया गया है।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. चंद्रकांता (2001) 'कथा सतीसर', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 33
2. https%///www-hindwirg/kavita/kashmir/kashmir-ha-julai-ke-kuch-drishya-ashok-kumar-pandey-kavita\sort
3. कौल, संजना, (2003), पाषाण युग, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृ. 48
4. चंद्रकांता (2001) 'कथा सतीसर', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 142
5. https%//www-hindwi-org/kavita/kashmir/Kashmir-nidheesh-tyagi-kavita&14\sort=k
6. कुलश्रेष्ठ, मनीषा, (2012), शिगाफ, राजकमल पेपरबैक्स, दिल्ली, पृ. 29
7. चंद्रकांता (2001) 'कथा सतीसर', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.103
8. कुलश्रेष्ठ, मनीषा, (2012), शिगाफ, राजकमल पेपर बैक्स, दिल्ली, पृ. 218

प्रियंका सरोज

सहायक प्राध्यापक, हिंदी

एस.आर.डी.ए.के.पी.जी.कॉलेज, हाथरस

दलित आत्मकथाओं में अस्मितामूलक विमर्श

—डा. अजय कुमार यादव

'अस्मितामूलक-विमर्श' समकालीनता की देन है। इस विमर्श पर आधुनिकतावाद, अस्तित्ववाद, मार्क्सवाद, और उपनिवेशवाद आदि जैसी विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव देखने को मिलता है। अतः इस अस्मिता बोध की आवश्यक्ता व्यक्ति को तभी पड़ती है जब उसकी पहचान पर किसी प्रकार का खतरा मंडरा रहा होता है। यह अस्मिता सिर्फ एक व्यक्ति से ही सम्बन्धित नहीं होती बल्कि यह तो सम्पूर्ण मनुष्य जाति से सम्बन्धित होती है। जब भी व्यक्ति की जाति, धर्म, भाषा, संस्कृति आदि को मिटाने की साजिश रची जाती है तो उस जाति या समुदाय से सम्बन्धित व्यक्ति उसे बचाने का प्रयास करता है। इसके लिए वह आन्दोलन करता है, अपने विचार प्रस्तुत करता है, इतिहास-लेखन तथा साहित्य लेखन आदि का सहारा भी लेता है। इस संदर्भ में अभय कुमार दुबे लिखते हैं, ''यह (अस्मिता) एक ऐसा दायरा है जिसके तहत व्यक्ति और समुदाय यह बताते हैं कि वे खुद को क्या समझते हैं। 'अस्मिता' का यह दायरा अपने-आप में एक बौद्धिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक संरचना का रूप ले लेता है जिसकी रक्षा करने के लिए व्यक्ति और समुदाय किसी भी सीमा तक जा सकते हैं।''[1] अस्मितावाद में सबसे अहम बात अपनी पहचान को पाना तथा उस पहचान को बनाये रखना है। अस्मिता प्राप्ति के लिए जो संघर्ष किये जाते हैं वे व्यक्ति और उस समुदाय को जागरूक बनाते हैं। अस्मिता बोध को सही दिशा में समझने के लिए विमर्श की आवश्यकता पड़ती है। विमर्श शब्द का अर्थ है—'तार्किक दृष्टि से विचार-विमर्श' करना। विमर्श शब्द जागरूकता का परिचायक है। अतः बिना जागरूकता के किसी भी विषय में जानकारी जुटा पाना संभव नहीं है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अस्मिता को समझने के लिए किया गया विमर्श 'अस्मितामूलक विमर्श' कहलाता है।

समकालीन समय में कई वर्ग ऐसे उभरे जिन्होंने अपनी अस्मिता एवं अपने अस्तित्व को बचाने के लिए संघर्ष किया जैसे-स्त्री, आदिवासी, अल्पसंख्यक और दलित समाज आदि। दलित लेखकों ने साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से अपने समाज की विभिन्न समस्याओं और उनके साथ हो रहे अत्याचारों का चित्रण अपनी रचनाओं में किया। दलित समाज से उभरने वाले विभिन्न भाषी लेखकों ने अपनी-अपनी भाषाओं में अपने विचार अभिव्यक्त किये तथा समाज को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक भी किया। साहित्य में आत्मकथा एक ऐसा माध्यम बनकर उभरा जिसमें यथार्थ को बिना

किसी लाग-लपेट के प्रस्तुत किया गया। लेखकों ने अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से अपने अनुभवों को समाज के सामने प्रस्तुत किया। अतः अपनी अस्मिता को प्राप्त करने के लिए उन्होंने जो संघर्ष किया वह अविस्मरणीय है। आत्मकथा लिखना किसी जोखिम से कम नहीं होता। आत्मकथा के महत्व को बताते हुए तथा लिखते समय आने वाली समस्याओं को उजागर करते हुए डा. जय प्रकाश कर्दम अपने विचार प्रस्तुत करते हैं, ''आत्मकथा लिखना निःसंदेह एक हिम्मत और जोखिम का काम है, बल्कि यूँ कहिए कि तलवार की धार पर नंगे पैर चलना है। यदि लेखक सच्चाई पर टिका रहेगा तो उसका लहूलुहान होना लगभग निश्चित है, क्योंकि आत्मकथा नंगी सच्चाई की मांग करती है और इतना साहस बहुत कम लोगों में होता है, जो सामाजिक यथार्थ के साथ-साथ अपने जीवन के नंगे यथार्थ का सार्वजनिक प्रदर्शन कर सके।''[2] दलित लेखकों की स्वानुभूति ही उनकी आत्मकथाओं में चित्रित होती। दलित आत्मकथाओं पर विस्तार से चर्चा करें उससे पहले दलित शब्द को समझना महत्वपूर्ण एवं आवश्यक है। सामान्य स्तर पर समाज में दलित के लिए कई शब्द प्रयोग में लाए जाते हैं। जैसे—शूद्र, अछूत, बहिष्कृत, अंत्यज, अस्पृश्य, हरिजन आदि। परन्तु दलित का शाब्दिक अर्थ है—मसला हुआ, रौंदा हुआ, कुचला हुआ और पीड़ित आदि। वर्धा हिंदी शब्दकोश में दलित शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया गया है, ''जिसका दलन या शोषण हुआ हो, रौंदा या कुचला हुआ हो, अति निर्धन कंगाल, जो समाजिक, आर्थिक, शैक्षिक आदि रूपों से पिछड़ा हुआ हो।''[3] इस प्रकार समझा जा सकता है कि समाज में दलित वर्ग या समाज को लेकर जो भ्रांतियाँ फैली हुई हैं या जो अपशब्द प्रयोग में लाए जाते हैं वे शाब्दिक स्तर पर बिलकुल भिन्न हैं। जहाँ दलितों को अस्पृश्य या अंत्यज समझा जाता है वहीं वह सामाजिक स्तर पर पिछड़े होने की निशानी है। समाज में दलितों के प्रति फैली हुई इसी मानसिकता की उपज है 'दलित साहित्य'। दलित साहित्य से तात्पर्य है 'दलितों के हितों में लिखा गया साहित्य।' साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है। समाज में जो भी घटित होता है उसका सीधा और सरल वर्णन साहित्य के माध्यम से होता है। ज्ञात हो कि महावीर प्रसाद द्विवेदी ने माना भी है कि 'साहित्य समाज का दर्पण है।' किसी समाज को जानना एवं समझना हो तो उस समाज में लिखे गए साहित्य का अध्ययन कर लेने भर से ही उस समाज की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिस्थिति का ज्ञान प्रात हो जाएगा।

हिंदी साहित्य की प्रथम दलित आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' में लेखक ने अपने जीवन की विभिन्न परतों को खोला है। अपनी आत्मकथा के माध्यम से लेखक मात्र अपने जीवन को ही रेखांकित नहीं करता बल्कि सम्पूर्ण दलित समाज को रेखांकित करने का प्रयास करता है। निम्न जाति के कारण उन्हें कितना कष्ट अथवा पीड़ा झेलनी पड़ी इसका वर्णन अपनी आत्मकथा में करते हैं। छोटी जाति का होने के कारण सिर्फ हिंदू ब्राह्मण ही उनका शोषण नहीं करते थे बल्कि मुसलमान भी उनका शोषण करते थे। वे लिखते हैं, ''हमारे मुसलमान पड़ोसी भी अधिकांश मजदूरी पेशा करते थे उनके कोई सैय्यद, शेख, पठान न था। अधिकांश जुलाहे, कसाई, कलाल, अंसारी ही थे पर उनके तेवर पठानों से कम न थे। बोलने का लहजा उसी मानसिकता से प्रभावित था। वह बात-बात पर हमें चमट्टे कहते थे और महिलाओं को चमट्टी। हम उनकी नजरों में घटिया लोग थे। हमारी जाति की औरतों को तो बार-बार जलील होना पड़ता था। कभी-कभी वे ऐसा भी सोचते थे कि हम उनके रहमो-करम पर जिन्दा हैं।''[4] समाज में घटित हो रहे दुर्व्यवहार को नैमिशराय जी अपनी आत्मकथा में इस प्रकार चित्रित करते हैं, ''हमारे स्कूल को बाहर अकसर चमारों का स्कूल कहा करते थे, जैसे चमारों का कुंआ, चमारों का जल, चमारों का नीम, चमारों की गली, चमारों की पंचायत आदि। वैसे ही स्कूल के साथ जुड़ी थी हमारी जात। जात पहले आती थी स्कूल बाद में। यही करण था कि इस स्कूल में कभी भी गिनती के पुरे अध्यापक न हुए थे। दो-दो और कभी तीन-तीन कक्षाओं को एक-एक अध्यापक ही संभालता था। बच्चे भेड़-बकरी की तरह कमरों में भरे होते थे। अध्यापक लम्बी छूट्टी पर रहते थे या फिर दूसरे स्कूल में किसी न किसी तरह ट्रांसफर करा लेते थे।''[5] दलित समाज के साथ छुआछूत का व्यवहार बड़े स्तर पर किया जाता था। उनकी पहचान उनके कर्म न होकर उनकी जाति ही रह जाती थी। उनके साथ हो रहे इस दुर्व्यवहार के कारण ही वह शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। लेखक ने अपनी रचना में यह दिखाने का प्रयास किया है कि यदि कोई दलित शिक्षा ग्रहण करना भी चाहे तो भी समाज में उसे उलाहने दिए जाते और उसे आगे बढ़ने से रोका जाता। आत्मकथा में लेखक ने अपने साथ बीते एक वाकये का चित्रण किया है कि एक बार उसके पिता और माँ किसी कार्य के चलते गाँव से बाहर जाते हैं जिसके फलस्वरूप लेखक को अपने पिता की चप्पल की दुकान पर बैठना पड़ता है। इसी समय उसके पड़ोस का एक व्यक्ति अपनी चप्पल लाकर नैमिशराय को देता है कि इसे बना दे। वह चप्पल बनाने से इंकार करते

हुए कहते हैं कि उन्हें बनानी नहीं आती, जिसे सुनकर वह व्यक्ति तंज कसता है, ''अरे पढ़ लिखकर तू क्या लाटसाहब बन जायेगा, गढ़ेगा तो ये लीतरे ही।''[6] यहाँ लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि उनके कार्य क्षेत्र हों या अन्य स्थान उनकी पहचान उनकी जाति से ही की जाती है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि इन लेखक ने अपनी जाति के दंश को बार-बार झेला है। लेकिन इतने पर भी वे झुके नहीं और अपने अधिकारों और उसके महत्व को समझते हुए वह आगे बढ़ते गए।

भारतीय समाज में निम्न जाति के प्रति कितना दुर्व्यवहार किया जाता है। इस दुर्व्यवहार का बड़ा कारण कि भारतीय समाज का बड़ा तबका अशिक्षा से ग्रस्त है। बच्चों को नैतिक शिक्षा का न मिलना तथा अच्छे संस्कारों के अभाव में वह अच्छे-बुरे का निर्णय नहीं कर पाते। जातियों में बंटा भारतीय समाज धर्म का चोला ओढ़े अपने से निम्न समाज के प्रति असंवेदनशील व्यवहार करता है। नैमिशराय को भी बचपन में यह सब झेलना पड़ा। मंदिर का पुजारी पंडित नैमिशराय को प्रसाद देते हुए कहता, ''तु चमार का है न। सबकुछ भ्रष्ट कर दिया। कितनी बार कहा तुम ढेरों से, प्रसाद दूर से लिया करो''[7] अपने प्रति हुए जातिगत भेद भाव से नैमिशराय जी बहुत आहत हुए। वे बताते हैं कि बहन की ससुराल जाते में जब उन्हें प्यास लगी तो एक ब्राह्मण ने उन्हें अपने यहाँ से पानी पीने से सिर्फ इसलिए मना कर दिया क्योंकि वह निम्न जाति से थे। अपनी आत्मकथा में वे इस उद्धरण का उल्लेख करते हुए लिखते हैं, ''जोहड़ के पानी में गर्मी से बचने के लिए अपनी टांगे सिकोड़े दो-तीन भैंस बैठी थीं। पानी में हर जगह कालापन था। एक जगह चुल्लूभर पानी लेकर मुंह में डाला। सवर्ण जाति के लोगों ने तो हमें आदमी ही मानने से इंकार कर दिया था। तभी तो मुझे जानवरों के साथ पानी पीना पड़ा था।''[8] पूरे आत्मसम्मान के साथ जीने का अधिकार समाज का प्रत्येक व्यक्ति रखता है। इसी आत्मसम्मान को पाने के लिए लेखक अपने कलम को बड़ी नुकीली तरह से चलाते हैं।

अपने समाज को यथार्थ रूप में चित्रित करने वाले लेखक डा. तुलसीराम हैं। उन्होंने अपनी आत्मकथा मुर्दहिया में दलित समाज की सम्पूर्ण संस्कृति एवं समाजिक परिवेश को उजागर किया है। प्रस्तुत आत्मकथा 'मुर्दहिया' के केंद्र में है दलित जीवन, दलित संघर्ष, दरिद्रता, लोक-जीवन, आदि। मुर्दहिया में अन्धश्विास बड़े उफान के साथ दिखाई देता है। अंधविश्वास के प्रति इतनी रुचि दिखाने का बड़ा कारण है 'दलित समाज' का अशिक्षित होना। इसी अशिक्षा के कारण डा. तुलसीराम भी अंधविश्वास का शिकार हुए जिसका हर्जाना उन्हें पूरी जिंदगी भुगतना पड़ा। इस अधविश्वास के बारे में बताते हुए वे लिखते हैं, ''मेरे ऊपर चेचक का इतना जबरदस्त प्रकोप था कि जीवित रहने की उम्मीद लगभग घर वाले लगभग छोड़ चुके थे। देवी-देवताओं के मनौती के अलावा कोई चिकित्सकीय इलाज किसी भी तरह संभव नहीं था, क्योंकि घर वाले घोर अंधविश्वास के कारण दवा लेने से हठ के साथ इनकार कर देते थे।''[9] अतः लेखक ने अपनी आत्मकथा में इस तरह के अंधविश्वास पर गहरा कटाक्ष किया है। वे शिक्षा के प्रति गहन रूचि रखते थे और इसी रूचि के कारण वे अपनी कई तरह की समस्याओं को झेलते हुए अपनी शिक्षा प्राप्त करने में सफल भी हुए।

समाज में दलितों के प्रति छुआछूत की जो भावना पनप रही थी उसको भी लेखक ने अपनी आत्मकथा में उजागर किया है। इस भावना ने दलित वर्ग के व्यक्तियों के मानसिक स्तर को झकझोर दिया। उनके भीतर नकारात्मकता का भाव पैदा हो गया जिससे वे पिछड़ गए। छुआछूत की इसी भावना को तुलसीराम व्यक्त करते हैं कि हमें स्कूल में स्वयं के हाथों से बर्तन छूकर पानी पीने की स्वतंत्रता नहीं थी इसके लिए दूसरे व्यक्ति की मदद लेनी पड़ती थी। वे लिखते हैं, ''हम अंजुरी मुंह से लगाए झुके रहते और वे बहुत ऊपर से चबूतरे पर खड़े-खड़े पानी गिराते। वे पानी बहुत कम पिलाते थे, किंतु सिर पर गिराते ज्यादा थे जिससे हम बुरी तरह भीग जाते थे। इस खेल में मिसिर बाबा का बड़ा मनोरंजन शामिल था।...पानी पीना वास्तव में एक विकट समस्या थी।''[10] यह समस्या कोई बहुत पुराने दौर की नहीं है बल्कि भारत देश के स्वतंत्र होने के पश्चात की है। भारतीय संविधान में मिले अधिकारों के बावजूद दलित समाज के साथ हीनतापूर्ण व्यवहार किया जाता था।

'जूठन' आत्मकथा जातिगत उत्पीड़न का दस्तावेज है। जूठन के लेखक डा. ओमप्रकाश वाल्मीकि हैं। उनकी यह आत्मकथा पाठकों के कलेजे को उद्वेलित कर देती है। इस आत्मकथा के केंद्र में सिर्फ लेखकीय जीवन ही नहीं बल्कि समय-समाज भी उपस्थित है। समाज द्वारा दलित व्यक्ति को उपेक्षा की दृष्टि से देखना तथा उसके साथ अत्याचार करने जैसी समस्याओं का वर्णन लेखक ने किया है। इसी अत्याचार और उपेक्षा से उभरा है 'दलित विद्रोह'। दलित जीवन और उसकी पीड़ा को चित्रित करते हुए आत्मकथा की भूमिका में लिखा है, ''दलित-जीवन की पीड़ाएं असहनीय और अनुभव-दग्ध हैं। ऐसे अनुभव जो

साहित्यिक अभिव्यक्तियों में स्थान नहीं पा सके। एक ऐसी समाज-व्यस्था में हमने साँस ली है, जो बेहद क्रूर और अमानवीय है। दलितों के प्रति असंवेदनशील भी।''[11] जूठन उन घटनाओं और पीड़ाओं के अनुभवों से उपजी कराह है। यह कराह लेखक की ही नहीं बल्कि पूरे दलित समाज की कराह है। दलित समाज के व्यक्ति को स्थान-स्थान पर जातिगत उत्पीड़न झेलना पड़ता है, फिर यह स्थान पवित्र मंदिर हो या विद्यालय। अपने विद्यालय जीवन में हुए शोषण को लेखक वर्णित करते हुए लिखते हैं, ''दूसरे दिन स्कूल पहुंचा। जाते ही हेडमास्टर ने फिर झाड़ू के काम पर लगा दिया। पूरे दिन झाड़ू देता रहा। मन में एक तसल्ली थी कि कल से कक्षा में बैठ जाऊंगा।..तीसरे दिन मैं कक्षा में जाकर चुपचाप बैठ गया। थोड़ी देर बाद उनकी दहाड़ सुनाई पड़ी, अबे ओ चूहड़े के.... कहाँ घुस गया.... अपनी माँ...।''[12] एक व्यक्ति को स्वयं के लिए ऐसे अपशब्द सुनना बेहद दुखदायी था। दलित व्यक्ति को यह अपशब्द बार बार सुनने पड़ते थे। भारतीय संविधान में व्यक्ति को समानता का अधिकार तो प्राप्त है लेकिन व्यवहारिक स्तर पर व्यक्ति को समानता का अधिकार नहीं दिया जाता। दलित समाज आज भी असमानता का सामना करने पर मजबूर है। लेखक ने इसी असामानता को झेला और उसका वर्णन करते हुए लिखा है कि कैसे एक धोबी उसके कपड़े इस्तरी करने से मना कर देता है, ''हम चूहड़े-चमारों के कपड़े नहीं धोते, न ही इस्तरी करते हैं। जो तेरे कपड़े पे इस्तरी कर देंगे तो तगा हमसे कपड़े न धुलवाएंगे, म्हारी तो रोजी-रोटी चली जावेगी।''[13] समाज में छूआछूत का वातावरण इस कदर हावी था कि उच्च वर्ग का व्यक्ति किसी जानवर से भले छू जाए तो अपशकुन न मानते लेकिन किसी निम्न जाति के व्यक्ति से छू जाते तो वह अपशकुन हो जाता था। सुखदेव सिंह त्यागी की लड़की के ब्याह के समय जब सब बाराती भोजन करके चले गए तो माँ ने सुखदेव सिंह से कहा कि मेरे जातकों के लिए भी कुछ भोजन दे दें। इस पर सुखदेव पत्तलों से भरे टोकरे की ओर देखते हुए तंज कसते हए कहता, ''टोकरा भर तो जूठन ले जा री है.. उप्पर से जातकों के लिए खांणा माँग री है? अपणी औकात में रह चूहड़ी। उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बन।''[14] अपने आत्मसम्मान को ठेस लगते देख माँ बर्दाश न कर सकी और पत्तलों से भरे टोकरे को वहीं बिखेर दिया और सुखदेव सिंह को ललकारती हुई ऐसे निकली जैसे तीर से कमान निकलता है। माँ के भीतर जैसे काली माता ने जन्म ले लिया हो, ''इसे ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देना..।''[15] माँ द्वारा इस तरह चिंघाड़ना जीवन में नए अध्याय का खुलना था। इस घटना के बाद से लेखक के घर में जूठन उठाने का सिलसिला बंद हो गया। यह आत्मचेतना के द्वार का खुलना था।

संदर्भ

1. दुबे, अभय कुमार (सं.), भारत का भूमंडलीकरण, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ. 455
2. कर्दम जयप्रकाश, (2003) : नया मानदंड (पत्रिका-दलित आत्कथा अंक), वाराणसी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल शोध संस्था दुर्गा कुंद, पृ. 15
3. सक्सेना, राम प्रकाश (सं.), (2015) : वर्धा हिंदी शब्दकोश, दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 579
4. नैमिशराय, मोहनदास, (आवृत्ति 2009) : अपने-अपने पिंजरे, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ. 18
5. वही, पृ. 33
6. वही, पृ. 77
7. वही, पृ. 31
8. वही, पृ. 32
9. राम, डा. तुलसी, (आवृत्ति, 2015) : मुर्दहिया, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ.11-12
10. वही, पृ. 54
11. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, (आवृत्ति, 2009) : जूठन, दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, भूमिका
12. वही, पृ. 15
13. वही, पृ. 28
14. वही, पृ. 21
15. वही, पृ. 21

डा. अजय कुमार यादव
सहायक प्रोफेसर
सत्यवती कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली

शिवमूर्ति की कहानी 'कुच्ची का कानून' में टूटते सामाजिक-मूल्यों की पहचान

—एमन कुमार

समकालीन लेखकों से अलग शिवमूति के कथा-साहित्य में यथार्थवादी कथा-शिल्प की उपलब्धता पर्याप्त मात्र में मिलती है। कथा-लेखन के क्षेत्र में प्रारंभ से ही अपनी प्रभावी उपस्थिति दर्ज कराने वाले शिवमूर्ति की कहानियाँ ग्रामीण-जीवन की यथार्थ संवेदना को प्रकट करती हैं। उनकी कहानियाँ एक ओर तो समाज के दोहरे चरित्र को उजागर करती हैं तो वहीं दूसरी ओर यथार्थ कितना भयावह हो सकता है, इसका भी बराबर आभास दिलाती हैं। ग्रामीण जन-जीवन में व्याप्त नोक-झोंक उनके रचना-संसार को प्रभावित करता है और थपेड़े सहने को विवश हुए स्त्रियों एवं दलितों के जीवन को अभिव्यक्त भी करता है। ग्रामीण-परिवेश में पले-बढ़े और उन्हीं के बीच अपने जीवन की संवेदनाएं ढूंढ़ने वाले शिवमूति ने पितृसत्तात्मक मानव-समाज एवं उनके भीतर नारी की जो स्थिति है, उन्हें रेखांकित करना अपना कर्तव्य समझकर अपने इस प्राप्त अनुभव को सामाजिक-कुरीतियों के विरुद्ध लड़ने में खर्च कर दिया। प्रायः उनकी कहानियों को पढ़ने से ऐसा महसूस होता है कि उनके भीतर जैसे एक के बाद एक नई घटनाएं जन्म ले रही हों। ठीक इसी संदर्भ में उनकी कहानियों को एक ओर तदयुगीन-यथार्थ से लड़ना पड़ता है तो वहीं दूसरी ओर प्राचीन रीति-रिवाजों के गर्भ से ऊपजी त्रासदी का जायजा भी लेना पड़ता है। प्रेमचंद, रेणु, राही मासूम रजा और नागार्जुन के बाद भारतीय किसानों एवं दलितों के अभिशप्त जीवन को चित्रित करने वाले कहानीकार साहित्य-जगत में बहुत कम ही हुए हैं। कथाकार शिवमूति का रचना-कर्म अपनी मूल्यवत्ता के साथ इस कमी को पूरा करने का भार अपने कंधों पर उठाने का प्रयास करता है।

प्रायः हर कथाकार एक युग-द्रष्टा कथाकार होता है। वह पहले-पहल तो अपने समय के समाज में पल रहे दूषित मनोवृत्तियों को भली-भाँति परखता है, फिर अपनी लेखनी के माध्यम से उनका मुकाबला करता है। नासूर बन चुके रीति-रिवाज मानवीय-मूल्यों के टूटने में किस हद तक जिम्मेदार हैं और इसकी जड़ें कहाँ तक फैली हुईं हैं, उन्हें देखने का प्रयास भी वह ठीक इसी संदर्भ में करता है। इस प्रक्रिया के अंतर्गत वह निरंतर यथार्थ के साथ-साथ पौराणिक कथाओं पर अपनी पैनी दृष्टि जमाने का प्रयास करता है एवं उनके भीतर व्याप्त अनसुलझे-पहलुओं को उजागर करने का प्रयास भी

वह ठीक इसी अर्थ में ही करता है और एक सजग रचनाकार के इसी दायित्व का शिवमूर्ति ने अपनी कहानियों के माध्यम से ही व्यक्त किया। वे यथार्थवादी कहानीकार ठीक इसी संदर्भ में ठहरते हैं कि उनकी जीवन-दृष्टि ही यथार्थवादी रही है और उन्हें यह जीवन-दृष्टि ग्रामीण जीवन से संपृक्त होने के कारण ही मिली है। उनकी इसी दिनचर्या के संदर्भ में विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं—वे ग्रामीण एवं किसान जीवन के सहज रचनाकार हैं। उनका व्यक्तित्व, रहन-सहन, बोली-बानी सब कुछ ग्रामीण और किसानी है।[1]

कथाकार शिवमूर्ति के कहानी संग्रह—कुच्ची का कानून का प्रथम बार प्रकाशन, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली से सन 2017 ई. में मूल्य 150 रुपए के साथ हुआ था। इसमें 'ख्वाजा ओ मेरे पीर', 'बनाना रिपब्लिक', 'कुच्ची का कानून' और 'जुल्मी' नामक कहानियाँ संग्रहीत हैं। इस संग्रह में संग्रहीत कहानी 'कुच्ची का कानून' एक विस्तृत फलक पर लिखी गई कहानी नजर आती है जिसमें यथार्थ की अभिव्यक्ति, ग्रामीण-जीवन की असुविधा, अशिक्षा एवं दलित-चेतना का जीवंत दस्तावेज प्रस्तुत हुआ है। कुच्ची कहानी की प्रमुख स्त्री-पात्र है जिसके आस-पास ही कहानी की पूरी कथावस्तु गूथी गई है अर्थात कहानी की नायिका वही ठहरती है। बनवारी, बजरंगी, रमेसर, बितानु, बलई पांडे एवं लक्षमण चौधरी कहानी के प्रमुख पुरुष पात्र हैं तथा चतुरी अइया, सुघरा ठकुराइन, कुट्टी और सुलछनी कहानी के अन्य स्त्री पात्र हैं। यह कहानी एक विधवा-स्त्री की पीड़ा एवं उनके साथ हो रहे सामाजिक-शोषण के माहौल को लोक सामान्य भाव-भूमि के इर्द-गिर्द लाता है और इसकी कथावस्तु भी ग्रामीण आंचलिक-परिवेश से जुड़कर स्त्री-चेतना का आधार बनता चला जाता है। कथाकार ने इस कहानी में तो एक ओर वर्तमान सामाजिक-समस्याओं को रेखांकित करने का प्रयास किया है तो वहीं दूसरी ओर अतीत के संदर्भों को भी वर्तमान की सार्थकता में पेश करने का साहस जुटाया है। लेखक कहानी के प्रमुख पात्र कुच्ची के माध्यम से भविष्य में अन्याय एवं शोषण के विरुद्ध अपने हक की लड़ाई लड़ने का हौसला भी आत्मसात करते हैं।

कहानी की शुरुआत ग्रामीण-औरतों की चुगलबाजी से शुरू होती है। कुच्ची के पति बनवारी की मृत्यु शादी के कुछ समय बाद ही हो जाती है। इधर कुच्ची पाँच महीने से पेट से है और वह अपने बच्चों को दुनिया में लाना चाहती है। वह सहारा चाहती है, पर समाज इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं है। कुच्ची के गर्भ में पल रहा बच्चा गाँव के बूढ़े-बुजुर्गों की नजर में गंभीर मामला बन जाता है। कहानी की एक और स्त्री-पात्र चतुरी अइया कुच्ची के पेट में पाँच महीने का उभार देखकर आश्चर्यचकित रह जाती है और यही वह घटना-स्थल है जहाँ कहानी की संवादिक-बुनावट धीरे-धीरे यथार्थ में तब्दील होने लगती है। जब इस बात की भनक कुच्ची की सास को लगती है तो वह उस बच्चे को दुनिया में न लाने की सलाह देते हुए कहती है कि किसका नाम धरेगी, तो कुच्ची एक साहसी एवं जिंदादिली रवैये के साथ अपनी सास को प्रत्युत्तर देते हुए कहती है—किसी का नाम धरना जरूरी है क्या अम्मा? अकेले मेरा नाम काफी नहीं है?।[2]

कुच्ची के इन कथनों के माध्यम से कथाकार शिवमूर्ति उस पुरानी अनर्गल एवं अनैतिक विचारधारा पर भी आक्षेप करने से नहीं चूकते हैं जिसमें एक औरत की सक्षमता पर ऊंगली उठाई जाती है और यही वह स्थिति है जिसके अंदर समाज में पल रहे ढोंगी, दंभी, लोभी एवं दुराचारी किस्म के व्यक्ति टूटते हुए सामाजिक-मूल्यों को और टूटने के कगार पर लाकर खड़ा कर देते हैं। किसी बच्चे के नाम की सार्थकता अगर सिर्फ पुरुष के नाम के साथ ही दर्शायी जाए तब तो समाज में नारी-समुदाय के अस्तित्व पर प्रश्न-चिन्ह लगने लगेगा जो सामाजिक-समानता के विरुद्ध है। कुच्ची के द्वारा किया गया यह सवाल आज भी हमारे तदयुगीन-समाज के समक्ष एक गहरी चुनौती बनकर उभरता है जिनका जवाब देना पितृसत्तात्मक मानव-समाज के लिए एक गहरी विडंबना है और इस विडंबना से बचने के लिए उसने आदिकाल से ही प्रकृति, परमात्मा एवं मर्यादा का हवाला देकर स्त्रियों के हक को नजरअंदाज करता आया है। प्रायः समाज का वास्तविक स्वरूप तभी निखर कर सामने आता है जब उसके भीतर जीवन-यापन कर रहे सभी वर्गों के साथ उचित न्याय हो, पर अपनी हठधर्मिता एवं धार्मिक कठमुल्लापन के कारण पितृसत्तात्मक मानव-समाज प्राचीन काल से ही नारी-समुदाय को उसके अधिकार से वंचित रखने का प्रयास करता ही आया है। प्रस्तुत कहानी की इस संवादिक बुनावट को देखकर यही महसूस होता है कि कथाकार इन सभी दृश्यों को किसी पूर्व निर्धारित दृष्टिकोण से नहीं देख रहे हैं, बल्कि वर्तमान में हो रहे इस अनुचित परंपराओं का उचित निराकरण भी चाहते हैं। साक्षात्कार की प्रक्रिया में स्वयं कहानीकार ने अपनी इस दृष्टि का उल्लेख करते हुए लिखा है—मेरा नजरिया किसी पूर्व निर्धारित सोच या विचारधारा से नियंत्रित नहीं होता। जीवन को उसकी सघनता और निश्छलता में जीते हुए ही मेरे रचनात्मक सरोकार आकार ग्रहण करते हैं।[3]

प्रस्तुत कहानी में कथाकार यह दर्शाते हैं कि परंपरा के

नाम पर आज भी एक औरत के साथ कितना बड़ा छलावा किया जा रहा है। कहानी में समाज की दोमुहे वाली स्थिति उभर कर सामने तब आती है, जब कुच्ची को एक ओर उनके पति की मृत्यु के पश्चात श्रृंगारिक अधिकार से वंचित रखने का प्रयास किया जाता है तो वहीं दूसरी ओर उन्हें उपेक्षित पात्र के रूप में खड़ा करके उनसे उनका सहारा भी छीन लेना चाहते हैं। आगे कहानी में एक और नया मोड़ तब आता है जब कहानी के कुत्सित-पात्र बनवारी प्रापर्टी के लालच में बजरंगी के पिता और कुच्ची के ससुर रमेसर की सेवा करने के बहाने दिखावे एवं छल का सहारा लेता है। कथाकार अपनी इस कहानी के माध्यम से इन सभी मुद्दों को गौर से देख भी रहे हैं और समाज में पल रहे नकाबपोशी मुखौटे को भलीभाँति भाँप भी रहें हैं जिनसे सामाजिक-मूल्यों को ज्यादा खतरा है। इन तथ्यों के माध्यम से शिवमूति ने उन घटनाओं की ओर भी संकेत किया है जिसके कलेवर को ग्रहण करके हमारा भावी-समाज आधुनिकतावाद की इस त्रासदी को अपने जीवन का अभिन्न अंग बनाता चला जा रहा है। ठीक इसी रीति के कारण आज समाज में नैतिक-मूल्य विघटन की ओर दौड़ने लगा है और इसके साथ-ही सांस्कृतिक-पतन भी होता जा रहा है। कथाकार ने आदर्शवादिता का ढोंग पीटने वाले समाज की इसी जड़-मानसिकता के कुहासे में ढके आवरण को अपनी इस कहानी के माध्यम से भेदने का प्रयास किया है। वे आदर्शवादी बनने का ढोंग नहीं करते हैं वरन यथार्थ के भयावह चित्र को पूरी मूल्यवत्ता के साथ उकेरते हैं । उनके संदर्भ में कंवल भारती लिखते हैं—शिवमूर्ति आदर्शवादी नहीं है[3] वह यथार्थवादी हैं। यथार्थ कितना वीभत्स हो सकता है, वह उसे वैसे ही चित्रित करने में विश्वास करते हैं। इसलिए उनकी कहानियाँ गाँवो के यथार्थ की एक बेहतरीन फोटोग्राफी हैं।[4]

कहानी की कथावस्तु एक दिलोदानिश घटना के साथ थोड़ी और विस्तार तब पाती है जब कुच्ची अपने सास की सेवा करने अस्पताल पहुंचती है। वह अस्पताल पहुंचने पर देखती है कि यहाँ तो एक बेड (वाइजन बेड) के नाम से भी जाना जाता है जहाँ रोज कोई न कोई लड़की या औरत सामाजिक-शोषण से प्रताड़ित होकर अपनी अंतिम सांसें गिनने को आती है। अगर कहानी की कथावस्तु में निहित अंतर्वस्तु को थोड़ा गहराई से महसूस करें तो हमारे समक्ष यही तथ्य उपस्थित होता है कि ये टूटते हुए सामाजिक मूल्य केवल तदयुगीन यथार्थ की समस्या नहीं हैं, अपितु अतीत भी इन झमेलों से भरा पड़ा हैं। कथाकार शिवमूर्ति इन प्रसंगों की उद्भावना करके एक ओर समाज में व्याप्त कुप्रथाओं पर नजर रखते हैं तो वहीं दूसरी ओर इन सामाजिक-कुरीतियों से केवल स्त्री-वर्ग को ही पीड़ा क्यों झेलनी पड़ती है, यह सवाल पितृसत्तात्मक मानव-समाज के समक्ष भी रख रहे हैं। उनका मानना है कि इन कुत्सित रीति-रिवाजों के कारण ग्रामीण-संस्कृति पर तो आक्षेप होता ही है और इसके साथ-साथ पूरे देश में भी सामाजिक मूल्य अपने पतन की पटरी पर चल पड़ती हुई नजर आने लगती है। कथाकार ने दिल दहला देने वाली दिलोदानिश घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है—वह बेड भी शायद ही कभी खाली रहता हो। जहर खानेवालियों की मुक्ति तो उसी दिन हो जाती है, लेकिन जलनेवालियां चार-पाँच दिन तक पिहकने के बाद मरती है। कभी-कभी पूरा शरीर को स्वंमित होने में हफ्ते-दस दिन लग जाते हैं। कितनी बहू बेटियाँ हैं इस देश में की रोज जलने और जहर खाने के बाद भी खत्म होने को नहीं आ रही हैं?[5]

इन्हीं परिस्थितियों के इर्द-गिर्द कहानी शनैः-शनैः आगे बढ़ती है और एक के बाद एक पात्र कहानी की कथावस्तु से जुड़ कर मुख्य-धारा को विस्तार देने में सहायता भी पहुंचाते हैं। इस कहानी में इसी तरह का एक और पात्र है बितानू जिसके माध्यम से कहानी में एक नया मोड़ आता है। बनवारी की साजिश के चलते ही जहरीली शराब पीने से कुच्ची के पति बजरंगी की मृत्यु हुई थी, यह बात बितानू कुच्ची को बता देता है और ठीक इसी प्रसंग में कथाकार शिवमूर्ति ने ग्रामीण-जीवन में टूटते हुए इन सामाजिक-मूल्यों को पूरी संवेदना के साथ उकेरते हैं और इसे पूरे देश की समस्या के रूप में जोड़कर भी देखते हैं। अब कहानी में एक और जबरदस्त फैक्ट कुट्टी नामक पात्र के माध्यम से आता है जो सामाजिक-शोषण के साथ-साथ मानसिक-पीड़ा झेलती हुई चित्रित है जिनसे कुच्ची बहुत दूर तक प्रभावित भी रहती है। कुच्ची की मुलाकात कुट्टी से होना कहानी के पूरे भाव-धारा को केंद्रीय-बिंदु प्रदान करता है। कहानी के इन दोनों प्रमुख पात्रों के माध्यम से लेखक उन समस्याओं को भी समाज के सामने लाते हैं जिनके कारण एक लड़की या औरत की स्थिति एवं उनकी दिनचर्या सुरक्षित नहीं है। कहानी में टूटते हुए विघटित मानवीय-मूल्यों की पहचान कुच्ची एवं कुट्टी के मध्य हुए इस वार्तालाप से भी आसानी से आँकी जा सकती है । कुच्ची, कुट्टी से पूछती है कि तुम शादी क्यों नहीं करोगी तो कुट्टी इसके जवाब में कहती है—हमको जलने से बहुत डर लगता। दारू पीकर आएगा और केरासन डालकर जला देगा।[6]

अब कहानी यथार्थ की भीषण पथरीली भूमि से होकर गुजरने के लिए प्रस्तुत हो उठती है। कुच्ची के कानून के

पात्र रमेसर जो की बजरंगी का पिता है, प्रेमचंद के गोदान उपन्यास के पात्र होरी जैसी स्थिति में जीवन-यापन करने के लिए अभिशप्त नजर आता है। रमेसर और बनवारी के बीच काका-भतीजा का संबंध है, पर बनवारी उनसे साहचर्य प्रेम रखने के बजाय उन पर लातों से प्रहार करता है। वहीं दूसरी छोर से वह अपनी कुलवधू कुच्ची पर कुदृष्टि डालने का प्रयास करता है तथा बार-बार उन्हें परेशान भी करता रहता है। कहानी में कुच्ची एक कर्तव्य-परायण औरत के रूप में चित्रित है। उनके जैसी औरत ढूंढना भारतीय-संस्कृति में दुर्लभ हैं, पर बनवारी जैसा राक्षस देश के कोने-कोने में मौजूद मिलेंगे। इन्हीं गतिविधियों के चलते आज समाज में एक स्त्री अपने जीवन को असहज महसूस करने लगी है। केवल कुच्ची ही नहीं, अपितु उनकी ही तरह जीवन-यापन करने वाली हर विधवा औरत का यही हाल है। कहानी अब थोड़ा और विस्तार तब पाती है जब कथाकार अपनी यथार्थवादी पगड़ी उतारकर यथार्थ का नंगा चित्र प्रस्तुत करने पर उतर आते हैं। ग्रामीण-दिनचर्या की औरतें भी किस तरह असभ्य एवं अश्लील विचारों के साथ अपना जीवन व्यतीत करती हैं, इस भीषण त्रासदी को कथाकार ने पूरी सहृदयता के साथ रेखांकित करते हैं। कुच्ची की सास उनके पेट में पल रहे बच्चे को लेकर अपने ही पति रमेसर पर कुच्ची के साथ संबंध पर शक करते हुए रमेसर से कहती है—'कहीं तुम्हारा ही तो नहीं है?' 'पागल हो गई है क्या? बहू के साथ मेरा नाम जोड़ते शर्म नहीं आती?' 'तुम्हारा कोई भरोसा नहीं, अभी इतने बूढ़े भी नहीं हुए।' चुप कर बचने की राह खोज ले जाकर कहीं गिरवा दे।[7]

अब कहानी का यथार्थ और जमकर बरसने लगता है। बनवारी, कुच्ची के गर्भवती स्थिति का फायदा उठाकर बलई बाबा एवं लछिमन चौधरी जैसे कुत्सित-पात्रों के साथ मिलकर उनके खिलाफ पंचायत बुलाने की तैयारी करता है। इधर कुच्ची अपने बचाव के लिए धन्नू बाबा और सुघरा ठकुराइन का सहारा लेती है। और इन्हीं घटनाओं के इर्द-गिर्द कथाकार बड़ी चतुराई के साथ धन्नू बाबा के सहारे कर्ण और पांडवों की जन्म स्थिति पर भी प्रकाश डालते हैं। वे इस प्रसंग को कहानी के इन घटनाओं के बीच इसलिए सामने लाते हैं, क्योंकि हजारों-वर्षों पहले अतीत के गर्त में जो अन्याय एवं जघन्य अपराध कर्ण के साथ हुआ था, वही घटना कुछ परिवर्तनों के साथ आज कुच्ची के बच्चे के साथ भी घटित होने के कगार पर आ पहुंचता है। कुंती और कुच्ची में संवेदनात्मक दृष्टिकोण का अंतर है। कुंती अपने निजी-स्वार्थ एवं मान-मर्यादा के चलते कर्ण को नदी में बहा देती है, लेकिन कुच्ची लोक-मरजाद की परवाह न करके अपने जीवन में बच्चे को लाना चाहती है, वह सहारा चाहती है, चाहे उसके लिए समाज से ही लोहा लेना क्यों न पड़ें। कुच्ची अपने हक की लड़ाई लड़ने छिनारा की पंचायत में अकेले खड़ी होती है। उन्हें भरी पंचायत में डराया जाता है, धमकाया जाता है और तो और दलित एवं शोषित पात्र के रूप में खड़ा करके उन पर अनर्गल एवं अनैतिक सवाल के छीटें भी उड़ाए जाते हैं। कुच्ची विधवा होने के बावजूद अपने बच्चे को जीवन में लाना चाहती है। वह भरी पंचायत में अपने पेट में पल रहे बच्चे के न्याय के लिए अकेले ही लड़ती है। पंचायत शुरू होते ही बलई पांडे कुच्ची पर दबाव डालने का प्रयास करते हुए यह कहता है कि वंश माँ से नहीं बल्कि बाप की बूंद और नाम से चलता है, तो कुच्ची उनके शब्दों का प्रतिकार करते हुए कहती है—ऐसा क्यों है बाबा? पेट में तो नौ महीना सेती है महतारी। बाप तो बूंद देकर किनारे हो जाता है।[8]

कहानी में यथार्थ की अभिव्यक्ति धीरे-धीरे और अधिक सक्रिय तब होने लगती है जब कुच्ची भरी पंचायत में पंचों का अकेले ही सामना कर रही होती है और गाँव की औरतें भी उनका साथ देने के बजाय उनकी हँसी उड़ाती हैं। तरह-तरह के सवाल, तरह-तरह के पैंतरे। लाइलाज शब्दों का प्रहार कुच्ची पर कसा जा रहा होता है। वह उस शेरनी की भाँति खड़ी है जो अपने नन्हें शावक को बचाने के लिए गीदड़ों की टोली से अकेले ही संघर्ष कर बैठती है। उनके समक्ष एक ओर बनवारी, बलई पांडे, लछिमण चौधरी और धन्नू बाबा जैसे सियार खड़े हैं तो वहीं दूसरी ओर उनके पैरों तले औरतों की चुगलबाजी तपता हुआ लोहा बनकर पिघल रहा होता है। धन्नू बाबा के अनर्गल सवालों से कुच्ची काफी आहत हो जाती है, फिर भी पूरी जिंदादिली के साथ वह उनसे यह पूछती है कि ब्रह्मा ने औरतों को कोख किसलिए दिया है। कुच्ची के इस सवाल से धन्नू बाबा निरुत्तर हो जाते हैं और यही सवाल वह कुच्ची से पूछता है, जिनके जवाब में वह कहती है—मेरा मानना है कि कोख देकर बरम्हा ने औरतों को फंसा दिया। अपनी बला उनके सिर डाल दी। अगर दुनिया की सभी औरतें अपनी कोख वापस कर दें तो क्या बरम्हा के वश का है कि वे अपनी दुनिया चला ले।[9]

कहानी के एक और स्त्री-पात्र सुघरा ठकुराइन कुच्ची के समर्थन में आगे आती है और बलई पांडे की उक्तियों का जवाब देते हुए कहती हैं—गौतम मुनि ने अपनी सारी मर्दानगी अपनी औरत पर ही क्यों दिखाई? सूने घर में घुसकर जिसने छल से अकेली औरत की इज्जत लूटी,

उसका तो आप कुछ उखाड़ नहीं पाए। वह मूंछ ऐंठता मुस्कुराता सामने से निकल गया। उल्टे खिसियाहट मिटाने के लिए अपनी ही छली गई पत्नी को पत्थर बना दिया। यह कैसा इंसाफ है? इसमें औरत के सीखने के लिए क्या है?[10] कथाकार शिवमूर्ति ने सुघरा ठकुराइन के माध्यम से जो युक्ति गढ़ी है, वह लोक सामान्य भाव-भूमि का प्रश्न है। उन्होंने अतीत के संदर्भों को तदयुगीन सामाजिक-मूल्यों से जोड़कर एक अनोखा बिंब गढ़ा है। इस कहानी का माहौल भी कुछ परिवर्तनों के साथ कुछ वैसा ही है, जैसा अहिल्या के साथ हुआ था। बदला है तो बस घटनाओं का कलेवर। इस प्रसंग में पहले-पहल अहिल्या की मर्यादा टूटती है, फिर टूटती है मर्यादा गौतम की, लेकिन वे (गौतम) पितृसत्तात्मक मानव-समाज के साथ तो न्याय कर पाते हैं पर एक औरत के साथ हुए अन्याय पर पर्दा डाल जाते हैं। प्रस्तुत कहानी में यही घटना आज छिनारा की भरी पंचायत में कुच्ची के साथ भी घटित हो रही है, जहाँ पहले-पहल तो कुच्ची को बेसहारा करने वाला बनवारी उसके ही परिवार का एक सदस्य है, और जब वह जीवन-यापन के लिए अपने बच्चे के माध्यम से समाज में सहारा चाहती है तो उनके व्यक्तित्व को संदेह के कटघरे में खड़ा करके उनके खिलाफ पंचायत बुलाई जाती है। अहिल्या और कुच्ची में संवेदनात्मक दृष्टिकोण का अंतर है। पतिव्रता दोनों ही हैं। पर कुच्ची का पति मर चुका है और वह विधवा होने के बावजूद भी पेट से है जिसके कारण समाज उन पर लांछन लगाता है। अहिल्या एक बद्धमूल नारी की स्थिति का प्रतीक है तो कुच्ची अपने अधिकार के प्रति सचेत नारी के रूप में चित्रित है। अहिल्या विद्रोह करने में असक्षम थी, लेकिन कुच्ची के समक्ष सामाजिक-मूल्य इस कदर टूट कर बिखर रहे होते हैं कि उन्हें अपनी अस्मिता बचाने के लिए विद्रोह करना पड़ता है।

कहानी में एक तरफ उनकी मर्यादा तोड़ी जा रही होती है तो वहीं दूसरी ओर उन्हें उसके अधिकार से वंचित करने की कोशिश भी की जा रही होती है। कुच्ची भरी पंचायत में इन तमाम परिस्थितियों का सामना अकेले ही करती है। अपने कोख में पल रहे बच्चे का हवाला देते हुए वह भरी पंचायत को ललकारते हुए कहती है—ऐ आजी! कुच्ची खड़ी होती है। कुंती माई डर गई, अंजनी माई डर गई, सीता माई डर गई लेकिन बालकिशन (बच्चे का काल्पनिक नाम) की माई डरने वाली नहीं है। मेरा बालकिशन पैदा होकर रहेगा।[11]

संदर्भ

1. मंच, संपादक, मयंक खरे, अतिथि संपादक, संजीव. जनवरी-मार्च 2011, पृ. 32
2. शिवमूर्ति, कुच्ची का कानून, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दरियागंज, पहला संस्करण, 2017, पृ. 77
3. शिवमूर्ति, मेरे साक्षात्कार, नई दिल्ली, किताब घर प्रकाशन दरियागंज, पहला संस्करण, 2014, पृ. 120
4. मंच, संपादक, मयंक खरे, अतिथि संपादक, संजीव, जनवरी-मार्च, 2011, पृ. 32
5. शिवमूर्ति, कुच्ची का कानून, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दरियागंज, पहला संस्करण, 2017, पृ. 90
6. वही, पृ. 93
7. वही, पृ. 109
8. वही, पृ. 119
9. वही, पृ. 121
10. वही, पृ. 132
11. वही, पृ. 137

एमन कुमार
शोधार्थी,
शासकीय दानवीर तुलाराम स्नाकोत्तर महाविद्यालय,
उतई, जिला—दुर्ग, छत्तीसगढ़

हिंदी डायरी लेखन में प्रेमाभिव्यक्ति का स्वरूप

—राम भवन यादव

डायरी की एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि इसमें अनेक विषयों का समावेश एक पुस्तक में किया जाता है। हमारी चित्तवृत्तियाँ हर क्षण एक जैसी नहीं होती हैं। यही वजह है कि डायरी लेखन में विविधता ज़्यादा पाई जाती है। सौन्दर्य और प्रेम एक ऐसा विषय है कि जीवन को प्रेम करने वाला प्रत्येक साहित्यकार इस विषय पर चिंतन अवश्य करता है। सौन्दर्य का संबंध दृष्टि से है और प्रेम का संबंध अनुभूति से है। अनुभूत संवेदन ही हमारी भावनाओं को संचालित करते हैं। साहित्यकार के सृजन में उसकी संवेदनाओं की छाया ही चित्रित होती है। इस प्रतिसंवेदन को डायरी में उसके मूल रूप में ही व्यक्त किया जाता है। यही कारण है कि डायरी में सौन्दर्य और प्रेम का बहुत यथार्थ और अकृत्रिम स्वरूप व्यक्त हुआ है। प्रत्येक लेखक इन विषयों को अपनी दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। निर्मल वर्मा प्रेम को 'स्वप्न की अवस्था' कहते हैं। उनका मानना है कि हम तभी तक किसी को अपना मानते हैं जब तक वह हमारे साथ में या हमारे स्वप्न में है। जैसे ही वह व्यक्ति स्वप्न छोड़कर यथार्थ की दुनिया में प्रवेश करता है हम दुबारा स्वप्न देखने लगते हैं। यानी जब तक सामने वाला व्यक्ति स्वप्न में है तब तक हम प्रेम का भ्रम या ढोंग करते रहते हैं। ''जब हम दुबारा प्रेम करने लगते हैं तो पता चलता है कि जब हम जगे थे, तो इसलिए कि दूसरा व्यक्ति हमारा स्वप्न छोड़ कर अपने यथार्थ में चल गया है और हम बत्ती बुझा कर नए सिरे से दूसरा स्वप्न देखने लग जाते हैं।''[1] इसीलिए निर्मल वर्मा प्रेम के क्षण को कृतघ्नता का क्षण भी कहते हैं। ''जिन्हें हम अपने जीवन के 'सृजनात्मक क्षण' कहते हैं वे घोर कृतघ्नता के क्षण होते हैं। वे चाहे प्रेम के हों या लेखन के।''[2] मनुष्य स्वभाव की यह प्रवृत्ति है कि इसमें निरन्तरता बनी रहती है। अगर हम सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में प्रेम की अभिव्यक्ति का अवलोकन करें तो देखने को मिलता है कि समय के साथ प्रेम के स्वरूप और प्रेमाभिव्यक्ति में परिवर्तन आया है। हमारे जीवनमूल्य बदले हैं। इसी का परिणाम है कि वर्तमान साहित्यिक जगत में प्रेम, त्याग और बलिदान को अव्यावहारिक और अनावश्यक पीड़ा समझा जाने लगा है।

नामवर सिंह अपनी डायरी 'पन्नों पर कुछ दिन' में प्रेम संबंधी विचार व्यक्त किए हैं। प्रेमरत जोड़े को देख कर इनके हृदय में प्रेम पुलकित होता है। अपनी कक्षा 9 वीं की मधुर स्मृतियों को याद करके प्रेममय हो जाते हैं। प्रेम की स्मृति कितनी मधुर और कोमल होती है कि जब भी आती है हृदय में मनुष्यता का संचार बढ़ा देती है। मनुष्य प्रेम में ही ज़्यादा

वास्तविक है। प्रेमी को दूसरे के प्रेम को भी देख कर एक अलौकिक आनंद प्राप्त होता है। यही कारण है कि नामवर सिंह अपने गत प्रेम की स्मृति में पुलकित हो जाते हैं। बकौल नामवर सिंह, ''मैं अपने गत प्यार वाले भयंकर युग के परावर्तन की कल्पना कर काँप उठा। सचमुच प्यार अंधा होने के साथ मूर्ख अथवा अबाध होता है या इंद्रियहीन होता है।''[3] हालाँकि यह बचपन के प्रेम की स्मृति है। बचपन के प्रेम में अतिशय भावुकता होती है। इसीलिए नामवर सिंह उसे अंधा होने के साथ-साथ मूर्ख और अबोध भी कहते हैं। प्रौढ़ा अवस्था में प्रेम को लेकर धारणा बदल गई थी। उनका मानना था कि प्रेम का मूल तत्व है सेक्स की पवित्र भावना। आदर्शवादी लोग भले प्रेम को बिल्कुल हौवा बनाए रखें और ऐसा बनाए जो खुद आदर्श ही आदर्श रह कर यथार्थ न बन सके।''[4] मोहन राकेश भी भावनाओं की सही परिणति शारीरिक उपलब्धि' में ही बताते हैं। प्रेम एक आंतरिक अनुभूति है। यह अनुभूति ही शारीरिक उपलब्धि में फलित होती है। नामवर सिंह जिस प्रेम को यथार्थ की भूमि पर फलित होने की आकांक्षा रखते हैं, वह सामाजिक नैतिकता और वर्जनाओं का शिकार है। जिस तरह से प्रेम एक सहज अनुभूति है। उसी तरह सेक्स भी सहज और अनिवार्य क्रिया है। इसे समाज हौवा क्यों समझता है? लेकिन आज भी रूढ़िवादी खेमे के लिए प्रेम के पवित्रता की शर्त इंद्रिय निग्रह है। 1945 के भारतीय समाज में इस तरह की सोच अपने आप में एक क्रांतिकारी कदम है। इस सोच के पीछे नामवर सिंह प्रगतिशील चिंतन की बुनियाद है। प्रेम का भारतीय सभ्यता-संस्कृति में एक पूजनीय स्थान है। हमारे यहाँ एक समय में काम की भी पूजा की जाती थी जिसके उपलक्ष्य में 'मदनोत्सव' जैसा पर्व भी मनाया जाता था। प्रेम और काम के स्वरूप में परिवर्तन के बाद के दिनों में होना शुरू हुआ। इसका प्रमुख कारण 'विक्टोरियन युग की नैतिकता' है। औपनिवेशिक शासन में हम सिर्फ भौगोलिक रूप से ही परतंत्र नहीं थे, हमारी सोच-चिंतन भी औपनिवेशिक मानसिकता के अनुसार संचालित हो रही थी जिसका प्रभाव हमारी सभ्यता-संस्कृति पर भी पड़ा। आज भी स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।

प्रेम हमारी अनुभूतियों में मनुष्यता की संवेदना को जिंदा रखने का कार्य करता है। यही कारण है कि साहित्य में प्रेम और श्रृंगार हमेशा से सृजित होता रहा है। हम कुछ क्षण के लिए अपनी मूल प्रवृत्ति से पृथक भले हो सकते हैं। लेकिन हमारी मनुयता अपनी मूल रूप से ज्यादा दिन तक अलग नहीं रह सकती है। डायरी लेखन में अनेक तरह के विचार और टिप्पणी व्यक्त हैं। लेकिन प्रत्येक डायरी लेखक ने प्रेम और श्रृंगार संबंधी अपनी अभिव्यक्ति दी है। मलयज की सभी डायरियों में प्रेमाभिव्यक्ति है जिसमें उनका स्वयं का जीवन प्रतिबिंबित होता है। इनका जीवन काफी संघर्ष और पीड़ा में व्यतीत हुआ। इन्होंने अपने दुर्दिन समय में भी श्रृंगार और प्रेममानुभूति को अपने चिंतन के केंद्र में रखा, क्योंकि प्रेम ही ऐसी अनुभूति है जो हमें कुछ समय के लिए सारी परेशानियों से पृथक कर सकती है। 16 जून, 1954 की डायरी में लिखते हैं प्रेम और प्रकृति की तुलना करते हुए प्रेम का बहुत मार्मिक वर्णन करते हैं। ''प्रकृति में दुबारा बहार आती है और उसका खोया उत्साह, प्रेम और आशा फिर लौट आती है लेकिन मनुष्य जीवन में ऐसा नहीं होता है। शीशा जो एक बार टूटा तो फिर नहीं जुड़ता। शायद प्रकृति और मानव में यही अंतर है।''[5] यह कोई अनिवार्य शर्त नहीं है कि एक बार प्रेम टूट जाए तो फिर से जुड़ नहीं सकता। यह प्रेम को देखने समझने का एक अहंवादी नजरिया है। प्रेम निर्वाह में हमारी मानसिकता की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। मानसिकता की निर्मिति सामाजिक संरचना पर निर्भर करती है। यह समय और समाज सापेक्ष मूल्य है। यही कारण है कि प्रेम को लेकर हर जगह एक जैसी मान्यताएं नहीं हो सकती हैं। यह भी बहुत हद तक हमारी मानसिकता और सामाजिकता पर निर्भर करता है। जब प्रेम में अहं मुखरित होता है, तभी यह संभव होता है कि व्यक्ति अपने रिश्ते को वापस नहीं प्राप्त कर पाता है। प्रेम में अहं को जागृत नहीं उपशमित करना होता है। मलयज 16 अप्रैल, 1964 की डायरी में प्रेम संबंधी प्रगतिशील विचार प्रस्तुत करते हैं। दरसल, प्रेम करते वक्त हम यह भूल जाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की अलग-अलग सत्ता और इयत्ता होती है। इन दोनों तत्वों को स्वीकार करके ही प्रेम की बुनियाद को मजबूत बनाया जा सकता है। ''प्यार के लिए दो क्षितिज चाहिए, दो आकाश, दो धरती अलग-अलग, विपरीत भिन्न प्यार दो तत्वों की परस्पर पहचान है, पूरी पहचान एक का दूसरे पर लदना नहीं।''[6] जब व्यक्तित्व का टकराव होता है तभी प्रेम की बुनियाद कमजोर होने लगती है। अब यहाँ ध्यान देने की आवश्यकता है कि डायरी किस तरह से मनुष्य स्वभावगत विकास का लेखा-जोखा रखती है। जो साहित्यकार 1954 में प्रेम को लेकर एक अहंवादी नजरिया पेश करता है, वही 1964 में स्वतंत्र व्यक्तित्व इयत्ता की वकालत करता है। प्रेम करने का अर्थ यह नहीं होता है कि एक दूसरे के व्यक्तित्व को विलीन करके साथ रहा जाए बल्कि वास्तविक प्रेम वह होता है जो एक दूसरे के व्यक्तित्व की रक्षा करते

हुए आगे बढ़े। मलयज प्रेम के मामले में एक लोकतांत्रिक विचार करते हैं जो प्रत्येक पीढ़ी और समय के लिए प्रासंगिक है। साहित्यकार अपनी दृष्टि के साथ दुनिया की रहनुमाई करता है। हम अपने को आधुनिक युग की दुनिया का नागरिक मानने में गर्व करते हैं। लेकिन आधुनिक चेतना का संस्कार हमारे भीतर प्रवेश नहीं कर पाया है।

अज्ञेय प्रेम को ही ईश्वर की संज्ञा देते हैं। ''प्रेम तो इस और उस दो मानव इकाइयों के बीच नहीं, यह तो ईश्वर के एक अंश और ईश्वर के एक दूसरे अंश के बीच का आकर्षण है जिसकी ये दोनों मानव इकाइयाँ मानो साक्षी भर हैं। ईश्वर के साक्षात्कार से कुछ कम थोड़े ही है उसके दो अंशो के मिलन का साक्षात्कार''[7] प्रेम हमें उच्च भाव भूमि पर ले जाता है। ईश्वर क्या हैं? उनके भीतर वे सारे उच्च आदर्श विद्यमान होते हैं जो एक सामान्य मनुष्य के भीतर नहीं होते हैं। प्रेम हमें उसी उच्चता का एहसास कराता है। प्रेम संबंधी अज्ञेय का यह विचार भारतीय संस्कृति से प्रभावित है। जहाँ प्रेम की प्रतिष्ठा ईश्वर के रूप में है। प्रेम लोकोत्तर और अनिर्वचनीय भी है। इसलिए यह उतना ही महान है जितना ईश्वर। बकौल रसखान, 'प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरी प्रेमसरूप। एक होई द्वै यों लसैं, ज्यौं सूरज और धूप।' दिनकर के यहाँ प्रेम का स्वरूप थोड़ा खुला है। इनके यहाँ प्रेम का त्रासद अंत की महान प्रेम की श्रेणी में आता है। ये कहते हैं कि ''सुखी प्रेम का इतिहास नहीं होता। प्रेम का इतिहास रोमांस का इतिहास है और रोमांस तब जन्म लेता है, जब प्रेम में बाधा पड़ती है, रुकावट आती है, विशेषतः तब, जब प्रेम दुखांत होता है।''[8] रामधारी सिंह दिनकर के यहाँ भी यह दृष्टि भारतीय परंपरा से ही विकसित हुई है। कृष्ण को भारतीय सभ्यता में प्रेम के भगवान् के रूप में पूजा जाता है। राधा-कृष्ण का प्रेम पूर्णता को प्राप्त नहीं होता है। लेकिन आज भी इन्हें प्रेम के प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। ऐसा नहीं है कि दिनकर जी कोई नई मान्यता की स्थापना किए हैं। हमारे यहाँ रोमांस को कभी हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था। यहाँ तक कि भारतीय मंदिरों की दीवारों और परिसर में भी रोमानी चित्रकारियाँ उकेरी गई हैं। भारतीय लोक कथाओं में भी इस तरह की त्रासद प्रेम कहानियाँ देखने को मिलती हैं। मसलन– हीर-राँझा, सोहनी- माहीवाल, पद्मावत इत्यादि।

कृष्ण बलदेव वैद के साहित्य में स्त्री, सौन्दर्य और प्रेम का अनेक रूप देखने को मिलता है। उनका मानना है कि ''तनहाई एक नेमत भी है, नहूसत भी। प्यार तनहाई को गहराई देता है, उस गहराई को कम भी करता है। कामयाब प्यार सलाहियत को जन्म देता है। नाकाम प्यार अँधेरे को और उसकी खूबसूरती को।''[9] इनकी चारों डायरियों में प्रेम संबंधी यही महत्वपूर्ण अवधारणा है। इनके प्रेम का वही मूल्य उच्च है जिस प्रेम में आजीवन भर का साहचर्य संभव नहीं है। दरअसल, हमेशा से प्रेम को लेकर दो विभाजन समाज में रहा है। हमारी प्राचीन भारतीय परंपरा में प्रेम और काम को हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था। बाद के दिनों प्रेम को लेकर सामाजिक नैतिकता हावी हो गई और शरीर के स्थान पर आत्मिक और वायवीय प्रेम का महिमामंडन किया जाने लगा। पश्चिम में भी यही स्थिति रही। शारीरिक सत्य को स्वीकारना आज भी सर्वमान्य नहीं है। प्रेम संबंधी जो मान्यताएं डायरियों में मिली उनमें से मोहन राकेश को छोड़ कर किसी भी डायरी लेखक ने प्रेम के शारीरिक पक्ष की सत्यता को स्वीकार नहीं किया है। यही वायवीयता सूफियों के यहाँ भी देखने को मिलती है। वहाँ भी प्रेम के त्रासद पक्ष को ही महिमामंडित किया गया है। लेकिन अब ये मान्यताएं टूट रही हैं। इस समय सामाजिक संपर्क के साधन विकसित हुए हैं और प्रेम संबधी शुद्धतावादी दृष्टिकोण टूट रहे हैं। आज का समय प्रेम यथार्थवादी पक्ष को जीना चाहता है।

संदर्भ

1. वर्मा, निर्मल, धुन्ध से उठती धुन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2018, पृ. 189
2. वही, पृ. 189
3. सिंह, नामवर सिंह, पन्नों पर कुछ दिन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2021, पृ. 23
4. वही, पृ. 35, 5. वही, पृ. 155
6. सिंह, नामवर, मलयज की डायरी-1, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2015 पृ. 305
7. अज्ञेय, शाश्वती, अज्ञेय रचनावली, खंड, 09, सं. कृष्णदत्त पालीवाल), भारतीय ज्ञानपीठ, सं. 2012, पृ. 304
8. दिनकर, रामधारी सिंह, दिनकर की डायरी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 2019, पृ. 93
9. वैद, कृष्ण बलदेव, शम'अहयर रंग में, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2007, पृ. 183

राम भवन यादव
शोधार्थी, भारतीय भाषा केंद्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

वर्तमान संदर्भों में दलित पहचान का संकट और समाज

—डा. कुमार भास्कर

दलित पहचान पर काफी विमर्श हो चुका है। बावजूद इसके पहचान का संकट बना हुआ है। दलित शब्द जिनके लिए पहचाना जाता है उसके लिए डाक्टर दिनेश राम का कहना है कि ये वर्णाश्रम व्यवस्था के बाहर के समूह है, इनकी ऐतिहासिकता समान है। इसलिए किसी नए शब्द के अभाव में दलित शब्द ही उपयुक्त है। इसी से काम चलाया जाना चाहिए।'[1] पहचान का संदर्भ अपने काल समय के अनुसार बदलता रहा है। वह पहचान जो किसी जाति विशेष से जुड़ी है और उस बंधन को तोड़ने की चाहत दलित समाज को सदैव से बेचैन करती आई है। पहचान के इस संकट में मामला आत्म सम्मान का है। सिर्फ पहचान के साथ नहीं बल्कि सम्मान के साथ भी जीना है। इसलिए अंबेडकर हिन्दू धर्म को छोड़ कर बौद्ध धर्म अपनाते हैं। प्राचीन काल में भी दलितों ने बौद्ध धर्म को अपनाया। जब मुगल आए तो काफी दलितों ने मुस्लिम धर्म अपनाया। शासक का धर्म अपनाने से कहीं न कहीं सम्मान की भूख, जो हिंदू धर्म में नहीं मिल रही थी, वह मुस्लिम धर्म में मिलने की संभावना लगी। लेकिन दलित वहाँ भी सबसे निचले पायदान पर ही रहा। इसी के साथ-साथ सिख-क्रिश्चियन धर्म को भी अपनाने की परंपरा रही है। धार्मिक पहचान के लिए दलित समाज सदियों से अपने सम्मानजनक स्थान पाने को तरसता रहा है। धर्म की यह तलाश अपनी पहचान को बड़ा बनाने का नहीं है, बल्कि समतामूलक और सम्मान से जीने की चाह है। इन परिस्थितियों में वैष्णव धर्म के हिंदूवादी विचारों से दलित समाज के जो लोग प्रभावित हैं, वह अपनी पहचान, ब्राह्मणत्व में देखने लगे हैं। इसी बात को महात्मा गांधी से जोड़ते हुए डोड्डबेल्लापुरा रामैया नागराज लिखते हैं—गाँधी जी में छिपे हुए चतुर राजनीतिक नेता और व्यावहारिक व्यक्ति ने हरिजनों में सशक्त विकल्पों के अभाव में मंदिरों के प्रति गहरी ललक को पहचान लिया था। जैसा कि मैंने पहले कहा है, मंदिर सदैव आध्यात्मिक आनंद के स्रोत और भौतिक गर्व के प्रतीक रहे हैं। दलित लोग अपनी नयी पहचान पर बल देने के लिए प्रायः मंदिरों में प्रवेश और अन्य धार्मिक अधिकारों में समानता की माँग करते हैं। यह दोनों पहलू उनके लिए एक तीखे यथार्थ की तरह रहते हैं। दूसरी तरफ, जब कोई धार्मिक परंपरा दलितों के आत्मसम्मान को ठेस पहुंचाती है, तो वे अपनी गरिमा पर बल देने के लिए अपनी पारंपरिक भूमिकाओं को नकार देते हैं।'[2] सब के साथ बने रहने का यह दबाव, ब्राह्मणवादी संस्कारों और कर्मकांडों से प्रभावित होकर, दलित समाज का एक बड़ा हिस्सा अपने आप को सम्मानित

महसूस करता है। इस दोहरी पहचान में दलित समाज ब्राह्मणत्व के काफी नजदीक जाना चाहता है। यह व्यवहार, धर्म के आधार पर ब्राह्मण धर्म को फायदा पहुंचाता है। इस पूरे प्रकरण में दलित समाज गफलत में खुद को गौरवान्वित महसूस करता है। अपनी जातिगत पहचान का निवारण दलित, धर्म और जाति के उच्च पायदान में स्वयं को विलीन कर देना चाहता है। लेकिन उसका चाहना दूसरे धर्म और जाति के शीर्ष पर बैठे जनों को अक्सर स्वीकार नहीं होता है। पहचान के इस पलायन पर डा. धर्मवीर कहते हैं–'दलित अपने संघर्ष की जिम्मेदारी लेने से क्यों बचता है? जो लड़ाई उस पर थोपी गई है, उबाल खा कर, वह उससे लड़ता क्यों नहीं है? वह बौद्ध धर्म के, सिक्ख धर्म के, इस्लाम के और ईसाइयत के घरों में लुकता-छिपता क्यों फिर रहा है? क्या उसे यकीन है कि वहाँ-वहाँ वह ब्राह्मण द्वारा ढूँढ़ नहीं लिया जाएगा? सच यही है कि किसी भी धर्मान्तरण के द्वारा वह लड़ नहीं रहा है बल्कि छिप रहा है।'[3] इसलिए दलित समाज का एक तबका प्रचलित धार्मिक परंपरा से अलग, अपनी खोई हुई सामाजिक अस्मिता को ढूंढता है जहाँ दलित अस्मिता से पलायन न करके अपितु वह अपनी पहचान से खुद को सही ढंग से जोड़ पाता है। जैसा की कबीर-रैदास के परंपरा में नजर आता है और जिस कड़ी में मख्खली गोसाल का आजीवक धर्म आता है। दलित पहचान का बड़ा संकट इस बात से ज्यादा कहीं और है। जो चमार अब चमड़े का काम नहीं करता, धोबी जो कपड़े नहीं धोता, डोम जो गंदगी साफ नहीं करता, ऐसे में जाति ढ़ोने का कोई मतलब नहीं बनता, यह बात समझी जा सकती है। लेकिन यही बात अन्य जातियों पर भी लागू होगी? अब कोई राजा नहीं तो राजपूत कहलाने का क्या मतलब? अब कोई श्रेष्ठ और पूजनीय नहीं तो ब्राह्मण होने का क्या मतलब? जाति के पहचान में एक जाति, अपनी जाति को छोड़ना चाहती है। वहीं दूसरी जाति उसको अपनाए रखना चाहती है। जाति की हीनता उसके कार्य से जुड़ी है। ऐसे में क्या दलित जातियों को किसी नई जाति का निर्माण करना होगा या जातिविहीन समाज की कोशिश में खुद को भी जाति मुक्त रखना होगा? सवाल महत्वपूर्ण है। आज हम अपने आप को आधुनिक कहते हैं, लेकिन हमारे समाज का आचरण मध्ययुगीनता और आधुनिकता के बीच का है जिसे पूर्ण रूप से न आधुनिक कहा जा सकता है और ना ही मध्ययुगीन। इसलिए आधुनिक शिक्षा पद्धति के प्रभाव में दलित समाज मध्ययुगीनता के बहुत सारे परंपरागत पहलुओं को भूलना चाहता है तो वहीं गैर दलित समाज उसको अपनाए रखना चाहता है। यह नजरिया दोनों के लिए अलग है। इस संदर्भ में डा. दिनेश राम के अनुसार आधुनिक संस्कृति का प्रभाव जितना उच्च वर्ग की शिक्षित जनता पर पड़ा। उतना ही प्रभाव निम्न वर्ग की जनता पर भी पड़ा। इसलिए जिस तरह उच्च शिक्षित वर्ग साम्राज्यवादी सत्ता से अपनी मुक्ति चाहता था। उसी तरह निम्न वर्ग पहले वर्णाश्रम व्यवस्था से, अर्थात जातीय सामन्तवाद से और बाद में ही साम्राज्यवाद से। इस तरह उच्चशिक्षित वर्ग के लड़ाई का केंद्र अलग था और निम्न वर्ग का अलग।'[4] यही लड़ाई आंबेडकर की थी। लेकिन जाति की सोच, साम्राज्यवादी व्यवस्था के खत्म होने के बाद भी नए ढंग से मौजूद है। मूल रूप से पहचान को बदलने की चेष्टा समाज की रूढ़ मानसिकता के कारण है जिसमें जाति से बचना मुश्किल है। लाख प्रगतिशील विचार और आधुनिक शिक्षा के बावजूद जाति की जटिलता कहीं सामने तो कहीं परछाई की तरह पीछे है। यह वजह है की भारतीय समाज में जाति, जन्म से मृत्यु तक जीवन के प्रत्येक पड़ाव में मौजूद है। इसलिए भी अपनी पहचान को दलित अस्मिता से इतर, दलित समाज किसी दूसरे धर्म की आड़ में छुपाने की कोशिश करता रहा है। वहीं दूसरी ओर अपने परंपरागत काम धोबी, मोची, जमादार इत्यादि से पहचाना भी जा रहा है। रोजगार के परंपरागत उपमानों से दलित समाज बाहर तो आ रहा है लेकिन जाति का दंश बना हुआ है। फिर पहचान बदलने और ना बदलने से क्या फर्क पड़ रहा है? आज बड़े महानगरों में दलित समाज का व्यक्ति अपनी सोसाइटी में पहचान छुपा कर रह रहा है। महंगी सोसाइटी और गाँव, छोटे शहर हो या कस्बाई मोहल्ले इनमें अंतर है। अंतर पहचान का है। महानगरों की महंगी सोसाइटी में अपवाद स्वरूप ही कोई दलित व्यक्ति महंगे मकान खरीद पाता है, इसलिए उनकी तादाद बहुत कम है। आर्थिक स्थिति की कठिनाई समाज को बढ़ने से रोकता है। जे.एन.यू., सावित्रीबाई फुले पुणे यूनिवर्सिटी और भारतीय दलित अध्ययन संस्थान के सर्वेक्षण, जो वर्ष 2015-17 तक चला, में बात सामने आई है कि संपत्ति के मामले में देश के टाप 1 प्रतिशत घरों के पास देश की कुल संपत्ति का 25 प्रतिशत है, वहीं टाप-5 प्रतिशत घरों के पास देश की कुल संपत्ति का 46 प्रतिशत है। उच्च जाति के हिंदुओं के पास देश की कुल संपत्ति का 41 प्रतिशत है, वहीं 'हिंदू ओबीसी' के पास 30 प्रतिशत, अन्य के पास 9:, मुस्लिमों के पास 8 प्रतिशत, हिंदू एससी के पास 7.6 प्रतिशत और हिंदू एसटी के पास 3.7 प्रतिशत संपत्ति है।'[5] यह वजह बताती है कि दलित समाज बड़े या महत्वपूर्ण इलाकों में नगण्य हैं और उनकी पहचान, ज्यादातर कमजोर इलाकों तक सिमटी

हुई है। ऐसे इलाकों में जहाँ बड़ी तादाद में दलित समाज इकट्ठा है, वह उनकी पहचान का कारण बनता है और राजनीतिक उद्देश्य के लिए महत्वपूर्ण भी। महानगरों के चरित्र में ऊंची जाति का व्यक्ति अपनी जातीय पहचान के साथ और आत्मविश्वास के साथ रहता है। वहीं दलित व्यक्ति कम ही इस तरह के मिलेंगे। कारण ऊपर दिए गये अध्ययन से हम समझ सकते हैं। इसका मतलब तो यह निकलता है कि पहचान, परंपरागत अर्थों में तो कलाकार, नेता, अभिनेता, समाजसेवी इत्यादि के रूप में हो सका है। लेकिन अपनी जाति को किसी अच्छी सोसाइटी में कम पाए जाने की वजह से दलित पहचान को छिपाकर रहता है। जब दलित समाज भी अपने नाम के सरनेम में सिंह चौहान, वर्मा, चौधरी इत्यादि शब्दों का इस्तेमाल करता है। किसी दूसरी जाति के सरनेम से अपनी पहचान या बिना सरनेम वाले नाम जो किसी जाति विशेष को रेखांकित नहीं करता, यह थोड़ा बहुत ही सही लेकिन कई बड़ी जातियों के लोगों के नाम भी बगैर सरनेम के देखने को मिलते हैं। लेकिन बिना सरनेम वाले दलित की तुलना में बड़ी जातियों के मायने अलग निकलते हैं। संभवतः दोनों जातिविहीन समाज की परिकल्पना में इस तरह के नाम को देखते हैं। लेकिन दलितों में कई लोग जो किसी दूसरे के सरनेम को अपने ऊपर आच्छादित नहीं करना चाहते हैं, वे बगैर सरनेम के अपनी दलित पहचान के, नाम को रखते हैं। महानगरों और बड़े शहरों में इसी तरह से जाति छिपाकर रहने की वजह, प्रतिष्ठा में जाति का महत्व और बच्चों पर जातीय द्वेष की संभावना मालूम पड़ती है। यह स्थिति दिल्ली जैसे महानगरों पर ज्यादा प्रभावी मालूम होता है जहाँ उत्तर भारतीय जातिवादी संस्कारों का बहुत जोरदार असर है। दलित आंदोलन और अस्मिता के सूत्रपात करने वाले कई महानायक और दलित कार्यकर्ता पंजाब, महाराष्ट्र इलाकों से हैं जिसकी वजह से वहां के सिनेमा, साहित्य और संगीत में भी इसका प्रभाव हम बखूबी देख सकते हैं। इस पर केंद्रित मराठी लेखक बाबूराव बागुल की एक प्रसिद्ध कहानी भी है—जब मैंने अपनी जाति छिपायी थी। महानगरों की स्थिति अलग है। महानगरीय निवास के संदर्भ में इस पहचान का एक संकट अंतरजातीय विवाह भी है। देखा जाए तो अंतरजातीय विवाह का बेहतर उद्देश्य जाति के मिलन से है जिसे जाति को खत्म करने या कम करने का सबसे मजबूत हथियार माना जा सकता है। ऐसा ही कुछ अमेरिका में काले और गोरे नस्लों के बीच संबंधों से एक नया अमेरिका निर्मित हुआ जिसके राष्ट्रपति बराक ओबामा बने। विविध नस्लों के अंतरराष्ट्रीय मिलन ने अमेरिकी समाज के वैचारिकी और संस्कृति को बदलने में काफी मदद की है। बावजूद इसके वहाँ आज भी नस्लवाद की मौजूदगी है। फिर भी अमेरिका, एक संभावना और आदर्श के रूप में, राजनीतिक और सामाजिक मंथन के लिए विश्व में नजर आता है। सवाल यह है कि भारतीय समाज के दलित पुरुष और उच्च जाति की स्त्री में, स्त्री की पहचान दलित पहचान के साथ विलीन नहीं होती है। यह देखने को मिलता है। लेकिन उच्च जाति का पुरुष और दलित जाति की स्त्री में, दलित स्त्री की पहचान उच्च जाति में विलीन हो जाती है। यह देखने में ज्यादा नजर आता है। विलय से तात्पर्य सांस्कृतिक कर्मकांड से भी है। जो जाति विशेष के लिए अलग-अलग होते हैं। दूसरी ओर एक और कर्मकांड है जिसे सामाजिक कर्मकांड कहते हैं जिसमें समाज की परंपरागत विधियाँ मौजूद हैं। उसके विरुद्ध जाने पर सामाजिक जातिगत कर्मकांड का अपमान होता है। दलित के मूंछ रखने से, रोबदार कपड़े पहनने से और चश्मा आदि पहनने से कहीं न कहीं उनके आत्मविश्वास में गौरव और गर्व नजर आता है। इस तरह का व्यवहार सामाजिक कर्मकांड के विरुद्ध पड़ता है जिसको बड़ी जातियाँ स्वीकार नहीं कर पातीं और उसका जवाब दलितों को पीट करके देती हैं। जून 2023 की एक खबर के अनुसार, गुजरात के बनासकांठा स्थित गाँव के दबंगों ने अच्छे कपड़े और काला चश्मा पहनने पर दलित युवक की पिटाइ की! दबंग बोले- बहुत उड़ रहा है।[6] यूपी में हाथरस, सितंबर 2020 को गैंगरेप की पीड़ित, दलित लड़की को पुलिस ने रातों-रात जला दिया था। यह उस सामाजिक कर्मकांड की मानसिकता है जिससे यह दुस्साहस छोटी जातियों के लिए बड़ी जाति में आ जाता है। वरना क्या हाथरस की वह दलित लड़की अगर किसी अगड़े समाज की होती तो पुलिस-प्रशासन यह हिम्मत कर पाता? संभवतः नहीं। ऐसी कई घटनाएं और प्रकरण हैं, जो रोजमर्रा की जिंदगी या किसी खास मौके पर इस तरह की मानसिकता देखी जा सकती है। इसके आगे का संकट पहचान के संदर्भ में बाजार के स्वरूप का है जिसमें ब्रांडिंग जाति की अवधारणा से ग्रसित है। जैसे किसी शाकाहारी भोजनालय या किसी चक्की का आटा खरीदना हो तो उसकी पहचान में पंडित जातिगत सरनेम उस ब्रांड में विश्वसनीयता को बनाता है। कई बार यह छवियों के माध्यम से भी किया जाता है। किसी वस्तु या आटे की बोरी पर किसी पंडित की चोटी वाली तस्वीर हो या वैष्णव भोजनालय, यह पवित्रता और ईमानदार होने की छवि जातिगत आधार पर पेश करता है। बाजार में ब्राह्मण ब्रैंड भी हैं, जैसे कि ब्राह्मण मसाले या

फिर ब्राह्मण फूड्स चेन की वेबसाइट जो कि बिना मीट वाला खाना देती है और जाति को खाने से जोड़ती है। पहचान से जुड़ी राजनीति के इस दौर में पहचान भी मार्केटिंग स्ट्रैटिजी का हिस्सा बन गई है।[7] ऐसा नहीं है कि दलित जातिगत ब्रांड के नाम इस्तेमाल नहीं किए गए हैं। जैसे चमड़े के काम में मोची फुटवियर एक मजबूत ब्रांड है। यह चमड़े से जुड़े हुए काम करने वाले जाति की विश्वसनीयता से जुड़ी हुई है। भले ही उसका मालिक जाति का मोची नहीं है फिर भी, जिस प्रकार से पवित्रता के नाम पर वैष्णव, ब्राह्मण या पंडित शब्द का इस्तेमाल किया जाता है। उसी तरह से मोची शब्द जूते के लिए उसकी विशिष्ट वजह बन जाता है। यह अवधारणा उसे सामाजिक संरचना को भी रिफ्लेक्ट करती है जो समाज में बनी हुई है। लेकिन कई और भी दलित ब्रांड हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में कोशिश की है। एक रिपोर्ट के अनुसार, बहुजन शाप से लेकर जय भीम ब्रैंड और रबर के बैगों के जरिये देश भर में नए आर्थिक माडल के तहत दलित पहचान को स्थापित करने की कोशिश की जा रही है। यह नया आर्थिक माडल इस विश्वास पर आधारित है कि अगर दलित समुदाय दलित पहचान वाले उन ब्रैंड्स को स्वीकार करता है जो दलितों द्वारा बनाए गए हैं तो इससे मिलने वाला पैसा दलित समुदाय के लोगों को आर्थिक स्वतंत्रता देगा और उन्हें सियासी फलक में भी अपनी जगह बनाने में आसानी होगी।[8] बाजार में वस्तु की पहचान उसकी गुणवत्ता पर होती है। कई बार गुणवत्ता कम हो तो उसके विज्ञापन से उसको संतुलित किया जाता है। दलित ब्रांड की गुणवत्ता बाजार की प्रतिस्पर्धा में बने रहने के लिए बहुत मायने रखेगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि आदिवासी कलाओं और हस्तशिल्पों को अंतरराष्ट्रीय और दिल्ली-मुंबई जैसे महानगरों में उच्च कीमतों पर खरीदा बेचा जाता है। भले ही इसका पूरा लाभ उन आदिवासियों को ना मिलता हो जिन्होंने इसे बनाया हो लेकिन फिर भी आदिवासी लोक संस्कृति की एक ब्रांडिंग बन जाती है। जाति, धर्म और बाजार में दलित समाज का एक वर्ग जो निकला हुआ है, सामाजिक रूप से प्रतिष्ठा को पा चुका है और दूसरी तरफ वह वर्ग जो संघर्ष कर रहा है और एक तीसरा वर्ग जो अभी बहुत बदहाल जिंदगी जी रहा है। ऐसे में पहचान का संकट सभी के लिए अलग-अलग ढंग से लागू होता है। अभी के हालात में कुछ बदलाव गाँव और छोटे कस्बों की तुलना में बड़े शहरों में ज्यादा नजर तो आता है। लेकिन अभी यह नहीं कहा जा सकता कि दलित पहचान किस दिशा में या अलग रास्ते से तय होगा या अपनी पहचान को बनाए रखने में होगा या सभी के मिले-जुले प्रभावों से एक नए रूप को भविष्य में देखा जा सकेगा, जिस पर उसकी स्थानीयता या क्षेत्र विशेष का प्रभाव जरूर होगा। परंपरागत कामों के इतर दलित समाज की पहचान कहीं-कहीं पहले से तीसरी पीढ़ी तक के बीच ही देखने को अभी मिल रही है जिसकी अवस्था आरंभ से थोड़े आगे की कही जा सकती है। इसलिए इतने विविध नतीजा हमें देखने को मिलते हैं। जो किसी पहचान के लिए एकदम से तय कर देना जल्दी बड़ी होगी। इतना तो तय है कि उसका स्वरूप किसी एक नजरिए से तो नहीं ही होगा।

संदर्भ

1. दलित मुक्ति का प्रश्न और दलित साहित्य, डा. दिनेश राम, पृ. 34
2. आधुनिकता के आईने में दलित, संपादक, अभय कुमार दुबे (आत्मशुद्धि बनाम आत्मसम्मान : डोड्डबेल्लापुरा रामैया नागराज), पृ. 72
3. दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर, डा. धर्मवीर, अंतर्वस्तु और मूल्यांकन
4. दलित मुक्ति का प्रश्न और दलित साहित्य, डा. दिनेश राम, पृ.177-178
5. https://thewirehindi-com/71901/upper-casteh indus -ho lds-41-perc ent-of-country-s-total-asset-says-study/
6. https://www-jansatta-com-
7. https://www-bbc-com/hindi/indi हिंदू 11, चिंकी सिन्हा बीबीसी संवाददाता, 3 जनवरी 2020
8. वही.

डा. कुमार भास्कर
एसोशिएट प्रोफेसर
शहीद भगत सिंह कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली

भारतीय मीडिया में महिलाओं का प्रतिनिधित्व : एक अध्ययन

–नीलेश साहू
–डा. संतोष कुमार

सारांश

मीडिया के माध्यम से सामाजिक क्रांति की बात करना आसान हो जाता है अपेक्षाकृत किसी विचार को प्रत्यक्ष रूप से कहने में, क्योंकि सामाजिक क्रांति किसी एक व्यक्ति को कह देने भर से नहीं आती है उसके लिए जितनी ज्यादा मात्रा में लोगों को बताया जाएगा वह उतना ही जल्दी अपनी प्रतिक्रिया के रूप में सामाजिक परिवर्तन करता है, पर यह तब ज्यादा प्रभावी होता है जब उस बात को रखने वाला उस वर्ग से आता हो जो परिवर्तन के लिए आस लगाए बैठा हो। ठीक उसी तरह महिलाओं से सम्बंधित खबरों और संवेदनाओं को मीडिया के माध्यम से अपनी बात रखने के लिए स्वयं महिलाओं की भागीदारी यानी मीडिया में महिलाओं का प्रतिनिधित्व भी जरूरी है।

मूल शब्द : मीडिया, महिला, प्रतिनिधित्व, समाज, खबर, संवेदना, प्रस्तुतिकरण।

प्रस्तावना

पत्रकारिता के माध्यम से केवल खबरें भर नहीं प्रसारित की जातीं बल्कि ऐसे सामाजिक सच को भी सामने लाया जाता है जो एक तीखा प्रहार करता है समाज पर, जिसे परिवर्तन की आवश्यकता है पर यह तब निरंतर जारी रह पाता है जब इन जैसे विषयों में लिखने वाले खुद उन वर्ग का प्रतिनिधित्व करे। पत्रकारिता एक महत्वपूर्ण माध्यम है जो समाचार, जानकारी और समाज में जागरूकता की संवाहक होती है। यह जनसमर्थन और सार्वजनिक जनसभा के माध्यम से जनता को समाचार और जानकारी पहुंचाने का माध्यम होता है और समाज में कमियों की खोज और उनके खिलाफ आवाज़ उठाने का साधन है। महिलाओं की भागीदारी इस क्षेत्र में अभी भी सीमित है, और इस विषय पर हमारे समाज में गंभीर विचार करने की आवश्यकता है। इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि वैदिक काल में जो कार्य किये जाते थे वहां हर क्षेत्र

में महिलाओं की भागीदारी समान रहती थी। ''शिक्षा, धर्म, व्यक्तित्व और सामाजिक विकास में उनका बहुत योगदान होता था।''[1] पुरुषों की तरह महिलाएं भी हमारे समाज का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं, और उनके विचार और दृष्टिकोण समाज को परिर्वतनकारी और समृद्ध बना सकते हैं। इसलिए, महिलाओं की पत्रकारिता में भागीदारी को बढ़ावा देना महत्वपूर्ण और सामाजिक समानता के प्रति एक सकारात्मक कदम हो सकता है। इस शोध कार्य में इस महत्वपूर्ण विषय पर गहरा अध्ययन किया गया है और महिलाओं की पत्रकारिता में भागीदारी को बढ़ावा देने के उपायों पर विचार किया गया है।

खबरों पर असर

महिलाओं को हर क्षेत्र में इसलिए होना आवश्यक होता है कि वे अपनों से जुड़ी बातें उपलब्धियां, अवसर की समानता और समस्याएं समाज के बीच रख सकें और पत्रकारिता जैसे बहुयामी पेशे में जिसका सीधा संबंध समाज से है और उन तक आसान और प्रभावी ढंग से नीति निर्माताओं तक पहुंच भी। ऐसे में महिलाओं के मीडिया जैसे महत्वपूर्ण माध्यमों में होने या न होने से भी उनसे संबंधित जो खबरों का प्रसार है, उन पर भी बहुत असर पड़ता है। यदि महिलाओं की आजादी को लेकर किसी मीडिया संस्थान में कोई खबर प्रकाशित की जानी है तो संभव है बिना किसी महिला के सहायता से वह खबर तो बना सकता है पर जो संवेदना एक स्त्री अपने खबर को कवर करने में दिखाती है वह संवेदना संभव है कि पुरुष न दिखाए इसलिए जो सार्थकता खबर की होगी वह ज्यादा प्रभावी होगी अपेक्षाकृत किसी पुरुष के द्वारा कवर किये गए खबर की। ''नीति-निर्णायक पदों पर भारी संख्या में पुरुषों के होने के कारण ही मीडिया में स्त्री की विकृत छवि का प्रस्तुतीकरण और मीडिया क्षेत्र में गिनी- चुनी महिलाओं की नियुक्ति पुरुषों की सत्ता और नियुक्तियों स्त्री-पुरुषों के साथ लैंगिक भेदभाव को स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं।''[2]

सैद्धांतिक ढांचा

भारतीय मीडिया में महिलाओं के प्रतिनिधित्व पर इस शोध की सैद्धांतिक रूपरेखा विषय वस्तु की व्यापक समझ प्रदान करने के लिए कई परस्पर जुड़े सैद्धांतिक दृष्टिकोणों पर आधारित होगी। प्राथमिक सैद्धांतिक लेंस में नारीवादी मीडिया सिद्धांत और कल्टीवेशन थ्योरी शामिल हैं।

1. **नारीवादी मीडिया सिद्धांत :**
   यह परिप्रेक्ष्य सैद्धांतिक ढांचे की नींव बनाता है, क्योंकि यह लिंग-सचेत लेंस के माध्यम से मीडिया सामग्री के विश्लेषण पर केंद्रित है। नारीवादी मीडिया सिद्धांत यह पता लगाने का प्रयास करता है कि मीडिया प्रतिनिधित्व किस प्रकार लिंग भूमिकाओं, रूढ़िवादिता और शक्ति गतिशीलता को कायम रखता है या चुनौती देता है। यह भारतीय मीडिया में महिलाओं के चित्रण की जांच करने, सशक्तीकरण के उदाहरणों और पारंपरिक लिंग मानदंडों को तोड़ने की पहचान करने के लिए एक महत्वपूर्ण रूपरेखा प्रदान करता है। यह सिद्धांत उन तरीकों को उजागर करने में मदद करेगा जिनसे मीडिया सामग्री या तो मौजूदा असमानताओं को मजबूत कर सकती है या सकारात्मक परिवर्तन और सामाजिक परिवर्तन के लिए एक मंच के रूप में कार्य कर सकती है।

2. **कल्टीवेशन थ्योरी :**

   जार्ज गर्बनर द्वारा विकसित, कल्टीवेशन थ्योरी का मानना है कि मीडिया सामग्री का लंबे समय तक संपर्क दर्शकों की सामाजिक वास्तविकता की धारणा को आकार दे सकता है। इस शोध के संदर्भ में, लैंगिक भूमिकाओं के बारे में सामाजिक दृष्टिकोण और मान्यताओं पर महिलाओं के मीडिया प्रतिनिधित्व के दीर्घकालिक प्रदर्शन के प्रभाव का आकलन करने के लिए कल्टीवेशन थ्योरी को लागू किया जाएगा।

शोध के उद्देश्य

1. मीडिया में महिलओं की भागीदारी के संबंध में इस पेशे से जुड़े लोगों के बीच एक दृष्टिकोण प्रदान करना की समाज के सभी वर्ग को हर क्षेत्र में अवसर की समानता हो जिससे सभी वर्ग समावेशी विकास के कार्य में समान भागीदारी सुनिश्चित कर सकें।
2. प्रतिनिधित्व के कारण प्रस्तुतिकरण में पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना जिससे उचित दिश मिल सके जो समाज कल्याण के लिए की जानी वाली पत्रकारिता में बेहतर परिवर्तन किया जा सके।
3. नीति निर्माताओं को यह सत्य बताना जिससे पत्रकारिता जैसे बहुआयामी पेशे में सकारात्मक प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक कदम उठाए जा सके।

शोध प्रविधि

शोध में महिलओं के प्रतिनिधत्व की जांच करने के लिए राष्ट्रीय स्तर के इलेक्ट्रॉनिक मीडिया एवं डिजिटल मीडिया के प्रमुख पांच-पांच संस्थान का चयन किया गया है इसमें विभिन्न संपादक स्तर जैसे निर्णायक पदों पर पदस्थ महिलाओं के बारे में जानकारी एकत्र करने के लिए मात्रत्मक शोध प्रविधि से प्राप्त आंकड़ो का विश्लेषण किया गया तथा गुणात्मक पद्धति का प्रयोग करते हुए महिला पत्रकारों, मीडिया के क्षेत्र में शोध कर रहे शोधकर्ताओं तथा मीडिया विषय के प्राध्यापकों से साक्षात्कार भी लिए गए है जिससे शोध पारदर्शी एवं तथ्यात्मक हों इस दृष्टि से देखें तो शोध में मिश्रित पद्धति का प्रयोग किया गया है।

चर्चा

भारतीय मीडिया में महिलाओं के प्रतिनिधित्व की चर्चा इसलिए भी की जानी चाहिए क्योंकि मीडिया उद्योग से जो भी विषय-वस्तु बनकर लोगों के बीच पहुंच रही है उसमें क्या दिखाया जा रहा है जिससे की महिलाओं के प्रति संवेदना जुड़ी हुई है यह निर्भर करता है कि उत्पाद को बनाने वाला कौन है। आगे कुछ संदर्भों से इसे समझने का प्रयास करते हैं। विभिन्न मंचों पर महिलाओं के चित्रण में प्रगति और चुनौतियाँ दोनों स्पष्ट हैं। मीडिया सामग्री के विश्लेषण ने भारत में मीडिया उत्पादन को प्रभावित करने वाले विविध सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक कारकों को दर्शाते हुए सशक्तक्त चित्रण और गहराई में निहित रूढ़िवादिता का मिश्रण प्रदर्शित किया है। सामग्री विश्लेषण से पता चला कि सकारात्मक प्रतिनिधित्व के उदाहरण हैं, जैसे कि फिल्मों और टीवी शो में मजबूत और स्वतंत्र महिला पात्र और रूढ़िवादिता कायम हैं। इसे समझने के लिए दैनिक धारावाहिक में आने वाली कहानियों में महिलओं को सास बहू के रूप दिखाकर एक दूसरे के प्रति प्रपंच करते दिखाना यह सिद्ध करता है कि महिलाओं का घर में इनके सिवाय दूसरा कोई कार्य है ही नहीं। महिलाओं को अक्सर देखभाल करने वाली, गृहिणी और इच्छा की वस्तु के रूप में चित्रित किया जाता है, जो पितृसत्तात्मक मानदंडों को और भी पुख्ता करती है और उनकी भूमिकाओं को पूर्वनिर्धारित सामाजिक अपेक्षाओं तक सीमित करती है। इस तरह के चित्र्ण न केवल महिलाओं की आत्म-धारणा को प्रभावित करते हैं बल्कि समाज में लैंगिक असमानताओं को और भी ज्यादा मजबूत करने में योगदान देते हैं। यह मीडिया रचनाकारों और हितधारकों को उनके द्वारा दिए जाने वाले संदेशों के प्रति अधिक जागरूक होने और हानिकारक रूढ़िवाद को सक्रिय रूप से चुनौती देने की आवश्यकता पर प्रकाश डालता है। दिलचस्प बात यह है कि अध्ययन में डिजिटल मीडिया और सोशल नेटवर्किंग प्लेटफार्मों में प्रतिनिधित्व को सशक्त बनाने की बढ़ती प्रवृत्ति भी पाई गई। महिलाएँ इन स्थानों का उपयोग अपनी कहानियाँ साझा करने, लैंगिक समानता की वकालत करने और सामाजिक मानदंडों को चुनौती देने के लिए कर रही हैं। सोशल मीडिया अभियान महिलाओं के मुद्दों के बारे में जागरूकता बढ़ाने और सकारात्मक आदर्श छवि को बढ़ावा देने के लिए शक्तिशाली उपकरण बन गए हैं। यह इंगित करता है कि डिजिटल प्लेटफार्म में पारंपरिक मीडिया कथाओं को बाधित करने और लैंगिक मानदंडों को चुनौती देने वाली विविध आवाजों को बढ़ाने की क्षमता है। सामग्री निर्माताओं और निर्णय निर्माताओं के बीच लैंगिक विविधता की कमी को रूढ़िवादिता को कायम रखने में एक योगदान कारक के रूप में देखा गया। इसलिए, मीडिया नेतृत्व भूमिकाओं में महिला प्रतिनिधित्व बढ़ाने के प्रयास अधिक समावेशी और विविध कहानी कहने को बढ़ावा देने के लिए महत्वपूर्ण हैं। महिलाओं के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण पर मीडिया प्रतिनिधित्व के प्रभाव को कम करके आंका नहीं जा सकता है। ''बदलते हुए दौर की भाषा यह कहने की इजाजत ही नहीं देती की नारी पुरुष की बंदिनी ही जंचती है उसकी सहयोगिनी नहीं।''[3] मीडिया में हानिकारक रूढ़ियों को मजबूत करने और उन्हें चुनौती देने की शक्ति है, जिससे यह लैंगिक समानता को बढ़ावा देने और महिलाओं को सशक्त बनाने के लिए एक महत्वपूर्ण उपकरण बन गया है।

मीडिया में लैंगिक विविधता के लाभ

1. **विविध परिप्रेक्ष्य :** मीडिया में लैंगिक विविधता के सबसे महत्वपूर्ण लाभों में से एक व्यापक श्रेणी के दृष्टिकोणों का समावेश है। जब महिलाएं निर्देशक, निर्माता, पत्रकार और लेखिका के रूप में निर्णय लेने वाली भूमिका निभाती हैं, तो वे कहानी कहने में अद्वितीय अंर्तदृष्टि और अनुभव लाती हैं। दृष्टिकोणों की यह विविधता समाज का अधिक व्यापक और सूक्ष्म प्रतिनिधित्व प्रस्तुत करने में मदद करती है, जिससे यह सुनिश्चित होता है कि कहानियां व्यापक दर्शकों के बीच गूंजती हैं।
2. **रूढ़िवादिता को तोड़ना :** लिंग विविधता भारतीय

मीडिया में लंबे समय से चली आ रही हानिकारक रूढ़िवादिता को चुनौती देती है और तोड़ती है। जैसे-जैसे महिलाएं सामग्री को आकार देने में अधिक प्रभाव प्राप्त करती हैं, महिला पात्रें को एक-आयामी आदर्शों को मजबूत करने के बजाय उनकी आकांक्षाओं, शक्तियों और कमजोरियों के साथ बहुआयामी व्यक्तियों के रूप में चित्रित करने की संभावना बढ़ जाती है।

3. **सशक्तीकरण और प्रेरणा :** जब महिलाएं अन्य महिलाओं को मीडिया उद्योग में सफल होते देखती हैं, तो यह प्रेरणा और सशक्तीकरण के स्रोत के रूप में कार्य करती है। यह, बदले में, अधिक महिलाओं को मीडिया में करियर बनाने के लिए प्रोत्साहित करता है, जिससे अंततः बढ़े हुए प्रतिनिधित्व और विविधता का सकारात्मक फीडबैक लूप प्राप्त होता है।
4. **बढ़ी हुई विश्वसनीयता :** एक विविधता से परिपूर्ण मीडिया कार्य बल मीडिया आउटलेट्स की विश्वसनीयता को बढ़ाता है। यह संदेश देता है कि मीडिया उद्योग समावेशी है और समाज की संरचना इसमें प्रतिबिंबित है। यह विश्वसनीयता दर्शकों और विज्ञापनदाताओं के अधिक विश्वास में तब्दील हो सकती है।
5. **दर्शकों का विस्तार :** लिंग-विविध सामग्री दर्शकों की एक विस्तृत श्रृंखला के साथ प्रतिध्वनित हो सकती है, जिससे मीडिया संगठनों को पहले से वंचित जनसांख्यिकी तक पहुंचने में मदद मिलती है। इससे न केवल दर्शकों की संख्या बढ़ती है बल्कि विज्ञापन और राजस्व के नए अवसर भी खुलते हैं। भारतीय मीडिया उद्योग में लैंगिक विविधता हासिल करना न केवल सामाजिक न्याय का मामला है, बल्कि अधिक समावेशी और प्रतिनिधि मीडिया कथाएं बनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम भी है। इन रणनीतियों को लागू करने और सहयोगात्मक रूप से काम करने से, उद्योग एक ऐसे माहौल को बढ़ावा दे सकता है जहां महिलाएं सशक्त हों, उनकी आवाज सुनी जाए और उनकी कहानियों का प्रमाणिक रूप से प्रतिनिधित्व किया जाए, जिससे अंततः उद्योग और समाज दोनों को लाभ होगा।

निष्कर्ष

इस अध्ययन के निष्कर्षों ने भारतीय मीडिया उद्योग में महत्वपूर्ण निर्णय लेने वाली भूमिकाओं में महिलाओं के कम प्रतिनिधित्व को रेखांकित किया है। मीडिया क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी को आकार देने में सामाजिक-सांस्कृतिक कारक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। पारिवारिक अपेक्षाएं, सामाजिक दबाव और गहराई तक व्याप्त लैंगिक मानदंड अक्सर महिलाओं को मीडिया में करियर बनाने से रोकते हैं। भारतीय मीडिया उद्योग में बढ़ती लैंगिक विविधता के प्रभावों को कम करके नहीं आंका जा सकता। भारतीय मीडिया उद्योग में महिलाओं की भागीदारी के अध्ययन से लैंगिक असमानताओं, रूढ़ियों और सामाजिक-सांस्कृतिक बाधाओं की विशेषता वाले एक जटिल परिदृश्य का पता चलता है। हालाँकि, यह सकारात्मक परिवर्तन और बदलाव की अपार संभावनाओं को भी उजागर करता है। लैंगिक विविधता के महत्व को पहचान कर, मीडिया उद्योग सामाजिक धारणाओं और मूल्यों को नया आकार देने में एक शक्तिशाली शक्ति बन सकता है। इस शोध पत्र में प्रस्तावित रणनीतियाँ भारतीय मीडिया में व्यापक समावेशन और लैंगिक समानता को बढ़ावा देने के लिए एक रोडमैप प्रस्तुत करती हैं, जो अंततः एक अधिक न्यायसंगत और समावेशी समाज में योगदान देती हैं। हमारी आशा है कि यह अध्ययन कार्रवाई के लिए उत्प्रेरक के रूप में कार्य करेगा और मीडिया क्षेत्र के हितधारकों को अधिक विविध, प्रतिनिधि और न्यायसंगत उद्योग की दिशा में काम करने के लिए प्रेरित करेगा। केवल लैंगिक विविधता को अपना कर ही भारतीय मीडिया उद्योग सामाजिक परिवर्तन और प्रगति के चालक के रूप में अपनी क्षमता का पूरी तरह से एहसास कर सकता है।

सुझाव : भारतीय मीडिया उद्योग में लैंगिक विविधता और समावेशन को बढ़ावा देने के लिए विभिन्न हित धारकों के ठोस प्रयास की आवश्यकता है। यह भाग इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रमुख रणनीतियों और अनुशंसाओं की रूपरेखा प्रस्तुत करता है।

एक नीति सिफारिशें

1. **लिंग-समान प्रतिनिधित्व नीतियां :** मीडिया संगठनों को प्रमुख भूमिकाओं के लिए लिंग-समान प्रतिनिधित्व नीतियों को अपनाने, लिंग समानता प्राप्त करने के लिए स्पष्ट लक्ष्य और समय सीमा निर्धारित करने के लिए प्रोत्साहित करें।
2. **भेदभाव विरोधी उपाय :** लैंगिक पूर्वाग्रह और उत्पीड़न को रोकने के लिए मीडिया क्षेत्र के भीतर सख्त भेदभाव विरोधी कानून और नियम लागू करें।
3. **प्रोत्साहन और अनुदान :** महिलाओं के नेतृत्व वाली

मीडिया परियोजनाओं का समर्थन करने के लिए वित्तीय प्रोत्साहन और अनुदान पेश करें, विशेष रूप से वे जो रूढ़िवादिता को चुनौती देते हैं और लैंगिक समानता को बढ़ावा देते हैं।

सन्दर्भ

1. अब्दुस्सलाम, 2012, भारतीय इतिहास, शिवांक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 202
2. शुक्ला, सुधा, 2012, महिला पत्रकारिता, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 197
3. धर्मपाल, दिनेश, 2008, स्त्री, भावना प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 33

वेबसाइट लिंक :

4. https://www.aajtak.in/anchor/sudhir-chaudhary
5. https://www-aajtak-in.translate.goog/author/sharat-kumar?_x _tr _sl= en &_x_tr_ tl= hi &_x_tr_hl=hi&_x_tr_pto=tc
6. https://www.aajtak.in/anchor/anjana-om-kashyap
7. https://www.abpnetwork.com/team
8. https://www.exchange4media.com/people-movement-news/zee-media-appoints-rajnish-ahuja-as-editor-zee-news-cco-indiacom-websites-115691.html
9. https://news24online.com/about-us/
10. https://www.indiatvnews.com/cms/about-us
11. https://www.thequint.com/author/27543/shelly-walia-2
12. https://www.thelallantop.com/team-lallantop/editorial-team
13. https://www.newsclick.in/about-us
14. https://theprint.in/author/shekhargupta/
15. https://www.newslaundry.com/team

नीलेश साहू
शोधार्थी
श्री रावतपुरा सरकार यूनिवर्सिटी
रायपुर, छत्तीसगढ़-492001

डा. संतोष कुमार
एसिसोएिट प्रोफेसर
श्री रावतपुरा सरकार यूनिवर्सिटी
रायपुर, छत्तीसगढ़-492001

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में कुपोषण का परिवर्तित स्वरूप (एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण)

—सुश्री सीता पाण्डेय
—कृष्ण कुमार विश्वकर्मा

सारांश

किसी भी देश के सतत् विकास हेतु उसके नागरिकों का स्वस्थ और सुपोषित होना अनिवार्य है, तभी हम ऊर्जावान व कुशल मानव संसाधन का विकास कर सकते हैं जो राष्ट्र के निर्माण और अन्ततः आत्म निर्भर भारत के लक्ष्य को गति प्रदान करेगें। भारत के वर्तमान सामाजिक संरचना में कुल जनसंख्या का लगभग 67 प्रतिशत से अधिक महिलाएं और बच्चे हैं तथा कुपोषण के लिए यह सर्वाधिक सुभेद्य समूह है, यद्यपि कि पुरुष कुपोषण की समस्या से वंचित नहीं हैं अपितु उनकी प्रतिशत अपेक्षाकृत कम है। ऐसे में जब भारत विश्व की पाचवीं बड़ी अर्थव्यवस्था हो तथा तीव्रगति से विज्ञान और प्रोद्योगिकी का विकास करते हुए भारत चन्द्रमा के दक्षिणी ध्रुव पर पहुंच चुका हो, तब जनसंख्या के एक भाग का कुपोषित रहते हुए रूग्ण मानव पूंजी का निर्माण करना, कुपोषण मुक्त भारत के अभियान में एक नकारात्मक तथ्य है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से लेकर आजादी के अमृत काल तक कुपोषण को दूर करने के लिए किए गए विविध प्रावधान, कल्याणकारी योजनाओं, कार्यक्रमों और नीतियों के निर्माण के परिणामस्वरूप कुपोषण की स्थिति में सुधार आया है तथा उसकी प्रकृति में भी परिवर्तन दृष्टिगत हो रहा है। बदलते परिप्रेक्ष्य में कुपोषण के कारणों और प्रकृति में आ रहे बदलाव के इस नवीन स्वरूप का अध्ययन इस शोध प्रपत्र में किया जायेगा। कुपोषण के भारतीय परिदृश्य तथा समाज पर इसके प्रभाव का एक तर्कसंगत अध्ययन का प्रयास भी इस शोध पत्र में किया जायेगा। इस शोध प्रपत्र में वर्णात्मक शोध प्ररचना तथा तथ्यों का विश्लेषणात्मक व अनुभविक दृष्टिकोण से प्रयोग किया गया है। आँकड़ो का अर्न्तवस्तु विश्लेषण तथा तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। शोध प्रपत्र में वस्तुनिष्ठता तथा तर्क संगतता को बनाये रखने के लिए आवश्यकतानुसार

राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय रिपोर्ट व सर्वेक्षण से प्राप्त द्वितीय आकड़ों तथा तथ्यों को सम्मिलित किया गया है। विद्वतजनों से कुपोषण पर परिचर्चा तथा अवलोकन प्रविधि का प्रयोग तथ्यों के एकत्रीकरण में किया गया है।

मुख्य शब्द : कुपोषण, मानव संसाधन, सतत् विकास, परिवर्तन।

प्रस्तावना

दुनिया के किसी भी देश के विकास के लिए स्वस्थ एवं कौशलयुक्त मानव पूँजी अनिवार्य तत्व है। यदि भारत जैसे सनातन समाज की बात की जाये तो यहां प्राचीन काल से ही 'जीवेम शर्देशतः अर्थात सौ वर्षों तक जीवित रहने का आशीर्वाद दिया जाता रहा है जो सुपोषण और आरोग्य से ही फलीभूत हो सकता है। परम्परागत भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जीवन को सौ वर्ष मानकर ही आश्रम व्यवस्था का गठन किया गया था और 100 वर्षों की लम्बी आयु सुपोषित व स्वस्थ रहने पर ही प्राप्य है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 47 में भी यह तथ्य दृष्टिगत होता है कि राज्य अपनी जनता के पोषण रहन-सहन का स्तर बढ़ाने व सार्वजनिक स्वास्थ्य को बनाये रखने का प्रयास करेगा। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय नीति-निर्माताओं ने स्वास्थ्य, पोषण तथा खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने को प्राथमिकता प्रदान किया। प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि पर फोकस किया गया वही पांचवी पंचवर्षीय योजना में गरीबी हटाओं का नारा दिया गया तथा नीतियां और बहुस्तरीय कार्यक्रम चलाए गए। वर्तमान में बढती जीवन प्रत्याशा पोषणयुक्त भोजन व स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता का ही संयुक्त परिणाम है। संतुलित व उचित पोषण, मानव जाति के स्वास्थ्य व कल्याण का आधार स्तम्भ है।

स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है, इसलिए उत्तम व संतुलित पोषक पदार्थो से युक्त आहार मनुष्य के सर्वागींण विकास का केन्द्र बिन्दु है। स्वस्थ मन, मस्तिष्क व चित्त के विकास हेतु पोषक तत्वों से भरपूर खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है। कहा भी गया है कि जैसा खाए अन्न वैसा होवे तन अर्थात जैसा हम भोजन ग्रहण करते है उसी के अनुरूप हमारे शरीर का निर्माण होता है तथा वैसे ही विचारों की निसप्ति होती है। स्वस्थ व सृजनशील वैचारिकी मानव को श्रमशील, धैर्यवान, चिन्तनशील, विवेकवान तथा बुद्धिमत्ता से परिपूर्ण करती है। किन्तु आहार में सन्तुलित मात्रा में पोषक पदार्थों की कमी कुपोषण की समस्या को उत्पन्न करती है। कुपोषण से अभिप्राय व्यक्ति का शारीरिक व मानसिक रूप से कमजोर होना है। जिससे रूग्ण (कमजोर) मानव संसाधन का विकास होता है जो किसी भी राष्ट्र के संदर्भ में एक नकारात्मक तथ्य है। भारत विविधताओं से परिपूर्ण देश है और इससे क्षेत्रीय असमानताओं की उत्पत्ति होती है। विभिन्न राज्यों में खान-पान तथा रहन-सहन के अलग-अलग प्रतिमान के कारण राज्यों के मध्य कुपोषण की समस्या में भी विभन्नता दृष्टिगत होती है। इतना ही नहीं ग्रामीण तथा नगरीय क्षेत्रों के मध्य कुपोषण की प्रकृति में अन्तर है। स्वतन्त्रता के उपरान्त से ही कुपोषण और भुखमरी की समस्या को दूर करने के लिए अनवरत प्रयास किये जा रहें है। हरित क्रान्ति से लेकर गरीबी हटाओं तक का उद्देश्य पोषण के स्तर को सुधारना तथा खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करना था। 1991 के आर्थिक सुधारों के पश्चात भारतीय अर्थव्यवस्था हिन्दू वृद्धि दर वाली अर्थव्यवस्था के छवि से बाहर निकलते हुए तथा तीव्र गति से वृद्धि करते हुए आज विश्व की पांचवी वृहद अर्थव्यवस्था बन चुकी है। राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम-2013 और पोषण मिशन जैसे कुपोषण को दूर करने वाले कार्यक्रम निरन्तर क्रियाशील है फिर भी आज के आधुनिक परिवेश और बदलते परिप्रेक्ष्यों तथा परिस्थितियों में कुपोषण के परम्परागत स्वरूप में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इस शोध पत्र में इसी समस्या पर ध्यान केन्द्रित करते हुए आँकड़ों और तथ्यों को एकत्रित किया जायेगा। इस शोध पत्र में कुपोषण की प्रकृति में आ रहे बदलाव का तुलनात्मक अध्ययन भी किया जायेगा और समाज पर इसके पड़ने वाले प्रभाव का आंकलन किया जायेगा। कुपोषण एक वैश्विक समस्या है परन्तु भारत में कुपोषण के परिदृश्य पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि विश्व के अन्य देशों की अपेक्षा जनसंख्या का एक बड़ा भाग भारत में कुपोषण की समस्या से ग्रस्त है। वह भी ऐसे समय में जब भारत विश्व स्तर पर दलहन, दूध, केला, मसाला जूट व कपास के उत्पादन में प्रथम तथा चावल, गेहू, मूँगफली, गन्ना, आलू, टमाटर, संतरा, चाय के उत्पादन में द्वितीय स्तर पर है। भारत में खाद्य एवं पोषण की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो निम्नलिखित दृष्टिगत होती है।

भारत में खाद्यान्न उपलब्धता की स्थिति

- वर्ष 1950-1951 में 50 मिलियन टन,
- 2012.2013257.12 मिलियन टन,
- 2021.22315.7 मिलियन टन (प्रथम अग्रिम अनुमान)

स्रोत : कृषि व किसान कल्याण विभाग 21.09. 2022 में जारी।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि निरन्तर जारी है। इतना ही नहीं भारत खाद्यान्न उत्पादन में आत्म निर्भर होने के साथ-साथ विश्व के अन्य देशों को खाद्यान्न निर्यात भी कर रहा है। वर्ष 2021-22 में भारत ने 50 विलियन अमेरिकी डालर का कृषिगत निर्यात किया है। ऐसे में उसके स्वंय के नागरिकों के एक बड़े भाग का कुपोषित होना गम्भीर सवाल उत्पन्न करता है। ऐसे में यह प्रश्न उठता है कि या तो जो खाद्य पदार्थ उपलब्ध है वे गुणवत्तापूर्ण नहीं है? अथवा उनकी पहुँच सभी तक समान रूप से नहीं है। या वितरण में समस्या है जिसके कारण भारत में कुपोषण अपनी जड़े जमाए हुए है। ऐसा भी हो सकता है कि बदलती जीवन शैली, बढ़ता नगरीकरण, जोमैटो, सुइगी, फास्ट फूड व जंक फूड के कल्चर ने खाद्य पदार्थो में पोषक तत्वों की कमी कर दी है जिससे कुपोषण के नये स्वरूप को बढावा मिल रहा है। परम्परागत भोजन के प्रतिमान में आधुनिक फूड हैविट (या भोजन की वर्तमान आदते) जो सामान्यतः स्वाद पर अधिक आधारित है ने कुपोषण की स्थिति को ऊर्जा प्रदान की है जबकि असन्तुलित दिनचर्या ने हमारे जीवन के संतुलन को ही बिगाड़ दिया है। प्रकृति से दूरी तथा कृत्रिमता से सन्निकटता और शारीरिक क्रिया कलापों से दूर होता जनसंख्या का एक बड़ा भाग किसी न किसी रूप में एक रूग्ण मानव पूँजी तैयार कर रहा है जो बिमार तो नहीं है परन्तु श्रमशील व धैर्यशील भी नहीं है। नगरीय क्षेत्रों में कुपोषण का कारण अल्प पोषण नहीं है बल्कि आधुनिक जीवन शैली, फास्ट फूड, जंकफूड और अति पोषण है जो मोटापा, हृदय रोग, कैंसर, कमजोर प्रतिरक्षा प्रणाली, वैड कोलेस्ट्राल में वृद्धि जैसी बिमारियों के मूल में है। इन खाद्य पदार्थों के निरन्तर सेवन से हमारे शरीर में विटामिन्स, मिनरल्स, आयरन, फोलिक एसिड जैसी लाभप्रद तत्वों की धीरे-धीरे कमी होने लगती है और व्यक्ति कुपोषण ग्रस्त होता जाता है। इस प्रकार कुपोषण वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से कमजोर होता है तथा इससे उसकी कार्यक्षमता प्रभावित होती है। कुपोषण एक जटिल समस्या है जिसके अन्तर्गत अति पोषण तथा अल्पपोषण दोनों को ही सम्मिलित किया जाता है।

एक रिपोर्ट के अनुसार 2021 में विश्व में लगभग 76.8 करोड़ लोग कुपोषण से ग्रस्त थे और विश्व के कुल कुपोषितों का लगभग एक चौथाई स अधिक लगभग 22.4 करोड़ लोग भारत में कुपोषित है। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण की 5वीं रिपोर्ट के अनुसार भारत में एक तरफ जहां मोटापा में वृद्धि हुई है वही एनीमिया ग्रस्त लोगों की संख्या भी बढ़ी है। विश्व बैंक, विश्व स्वास्थ्य संगठन तथा यूनिसेफ ने कुपोषण के प्रमुख तीन संकेतकों को रेखांकित किया है जो इस प्रकार है :

1. बौनापन या नाटापन (Stunting) यदि पाँच वर्ष से कम आयु के किसी बच्चे की लम्बाई उसकी आयु के अनुपात में कम रह जाती है तो उसे नाटापन कहा जाता है।
2. बाल दुर्बलता (iasting) यदि पाँच वर्ष से कम आयु के (59 माह तक) किसी भी बच्चे का वजन उसकी लम्बाई के सापेक्ष कम होता है तो उसे बाल निर्बलता कहा जाता है।
3. कम वजन (Under weight) आयु के अनुपात में कम वजन वाले बच्चों को अन्डरवेट कहा जाता है।

भारत में बच्चों के कुपोषण की स्थिति और एनीमिया पर एफ.एच.एस. की 4वीं 5वीं रिपोर्ट :

भारत में बच्चों के में कुपोषण की स्थिति और एनीमिया पर एफ.एच.एस. की 4वीं 5वीं रिपोर्ट के अनुसार 4वीं रिपोर्ट में पांच वर्ष सें कम उम्र के बच्चों में बाल बौनापन 4वीं रिपोर्ट में 38.7 प्रतिशत 5वीं रिपोर्ट में 35.5 प्रतिशत तथा 4वीं 5वीं रिपोर्ट के अनुसार क्रमशः ग्रामीण तथा नगर (5 प्रतिशत) में 37.3 तथा 30.31 प्रतिशत है। इसी प्रकार 4वीं 5वीं रिपोर्ट के अनुसार 4वीं रिपोर्ट में पांच वर्ष सें कम उम्र के बच्चों में बाल दुर्बलता 21.0 प्रतिशत 5वीं रिपोर्ट में 19.3 प्रतिशत तथा 4वीं 5वीं रिपोर्ट के अनुसार क्रमशः ग्रामीण तथा नगर (5 प्रतिात) में 19.5 तथा 18.5 प्रतिशत है। इसी प्रकार कम वजन वाले बच्चों की स्थिति 4वीं 5वीं रिपोर्ट के अनुसार 4वीं रिपोर्ट में पांच वर्ष से कम उम्र के बच्चों में 7.5 प्रतिशत 5वीं रिपोर्ट में 7.7 प्रतिशत है। इसी प्रकार एनीमिया ग्रस्त बच्चे (6-59 माह) की स्थिति 4वीं 5वीं रिपोर्ट के अनुसार 4वीं रिपोर्ट में पांच वर्ष सें कम उम्र के बच्चों में 58.6 प्रतिशत 5वीं रिपोर्ट में 67.1 प्रतिशत है।

स्रोत : राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण की 4वीं 5वीं रिपोर्ट।

उपर्युक्त आंकणों के विश्लेषण से यह स्पस्ट है कि एफ.एच.एस. की 4वीं 5वीं रिपोर्ट की अपेक्षा 4वीं 5वीं रिपोर्ट मे कुछ सुधार हुआ है। परन्तु इसी रिपार्ट के आधार पर 5 वर्ष के कम आयु के बच्चों में एनीमिया की समस्या में 8.5 प्रतिशत के लगभग वृद्धि हुई है। एनीमिया जहां एक तरफ बच्चों के मानसिक विकास को बाधित करती है

वही शारीरिक विकास को कमजोर करती है। तथा संक्रामक रोगों में वृद्धि करती है। नयी राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में स्पस्ट कहा गया है कि बच्चों का 85 प्रतिशत तक मानसिक विकास 6 वर्षकी अवस्था तक हो जाता है। वैश्विक भुखमरी सूचकांक में सम्मिलित आधारों के माध्यम से भी किसी देश में कुपोषण की स्थिति का आकलन किया जा सकता है इन्हक कुपोषण के चार संकंतको के माध्यमों से देखा जा सकता है-

वैश्विक भुखमरी सूचकांक

1. अल्प पोषण (औसत से कम कैलोरी ग्रहण करनें वालों की संख्या), 2. बाल दुर्बलता (5 वर्ष से कम आयु के ऐसे बच्चे जिनका वजन उनके लम्बाई के सापेक्ष कम है। यह स्थिति तीक्ष्ण अल्प पोषण की है।) 3. बाल बौनापन (5 वर्ष से कम आयु के ऐसे बच्चे जिनकी लम्बाई उनकी औसत आयु से कम है।), 4. बाल मृत्यु दर (5 वर्ष से कम आयु के बच्चों में मृत्यु दर यह संकेतक किसी भी देश के अस्वस्थकर पोषण स्तर को प्रतिबिंबित करता है।) वैश्विक भुखमरी सूचकांक में भारत की स्थिति इस प्रकार रही है- भारत 2022 में 121 देशों में 107वें स्थान पर रहा है जबकि 2021 में कुल 116 देशों में 101वें स्थान पर और इस आधार पर भारत को इस सूचकांक में गम्भीर श्रेणी में रखा गया है। मानव विकास रिपोर्ट 2021-22 में भारत कुल 191 देशों में 132वें स्थान पर रहा है। जिन तीन आयामों को लेकर यह रिपोर्ट तैयार की जाती है वे भी कुपोषण की स्थिति को व्यक्त करते है। ये आयाम हैं– जन्म के समय जीवन प्रत्याशा, शिक्षा और प्रति-व्यक्ति आय। यद्यपि मानव विकास के इन आयामों में सुधार हुआ है। परन्तु अभी बहुत कुछ किया जाना शेष है। कोविड-19 वैश्विक महामारी, रूस युक्रेन युद्ध तथा जलवायु संकट के संयुक्त परिणाम स्वरूप न केवल भारत बल्कि सम्पूर्ण विश्व की जीवन प्रत्यामा में लगभग 02 वर्षों की गिरावट आयी है। भारत में यह 69.7 वर्ष से घटकर 67.2 वर्ष हो गयी है। इसी तरह शिक्षा व प्रति व्यक्ति आय भी प्रभावित हुई है। ये सभी कारण कुपोषण को बढ़ाते है।

कुपोषण के कारण : कुपोषण के कुछ कारण तो परम्परागत है किन्तु कुछ कारण ऐसे है जो आधुनिक जीवन शैली तथा खाद्य पदार्थों के सेवन के अस्वस्थ कर आदतों से उत्पन्न होते है। इन्हें निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है। परंपरागत कारणों में निर्धनता तथा बहुआयामी निर्धनता जिससे निर्धनता का दुष्चक्र निर्मित होता है, गुणवत्ता युक्त खाद्यान्नों में निरन्तर आ रही गिरावट यद्यपि उत्पादन बढ़ रहा है, महिलाओं द्वारा स्वयं की उपेक्षा तथा लिंग-भेद की संस्कृति, सभी के पास कृषि योग्य भूमि का अभाव, बढ़ती बेरोजगारी तथा खाद्य पदार्थों के मूल्य, धार्मिक मान्यताएं, रूढ़िया तथा अंधविश्वास, स्वास्थ्य सेवाओं की कमी, लड़कियों का कम उम्र में विवाह, स्वच्छता सम्बन्धी आदतें, असुरक्षित पेयजल, कुपोषण तथा सामाजिक आर्थिक असमानता, कुपोषण के प्रति जागरूकता में कमी तथा शिक्षा में व्याप्त असमानता।

आधुनिक जीवन शैली, असन्तुलित दिनचर्या, बढ़ते भौतिकता बाद के कारण बदलते जीवन मूल्य/नैतिकता तथा मूल्यों में आ रहे बदलाव की संस्कृति, उपभोक्तावाद तथा बाजार के समीकरण, जंक फूड फास्ट फूड के सेवन को आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में देखने की बढ़ती प्रवृत्ति, भोजन सम्बन्धी अस्वस्थकर आदतें, विज्ञापनों की दुनिया तथा बाजारों के समीकरण, शारीरिक श्रम के प्रति बढ़ती अरूचि, जीएम फसलों तथा उर्वरक और कीटनाशक के अति प्रयोग से अनाज की गुणवत्ता में आ रही कमी। उपर्युक्त कारणों से स्पष्ट है कि कुपोषण किसी एक कारण का परिणाम नही है बल्कि बहुत से कारकों का संयुक्त परिणाम है। कुपोषण के कारण जहां एक तरफ कमजोर प्रतिरक्षा तन्त्र का निर्माण होता है वही दूसरी तरफ सामाजिक व आर्थिक विकास गति शिथिल होती है।

कुपोषण का समाज पर प्रभाव

1. पोषण और मानव की उत्पादकता (कार्य करने की क्षमता) के मध्य सकारात्मक सम्बन्ध देखने को मिलता है। खराब स्वास्थ्य के कारण व्यक्ति की श्रम करने की क्षमता में कमी आती है इससे व्यक्ति, उसके परिवार तथा अन्ततः राष्ट्र के आर्थिक विकास पर इसका नकारात्मक प्रभाव दृष्टिगत होता है। व्यक्ति की क्रय शक्ति कमजोर होती है तथा बचत भी प्रभावित होती है और अन्ततः राष्ट्र निर्माण की एक कड़ी कमजोर होती है।
2. कुपोषण से स्त्रियां और बच्चे अधिक प्रभावित होते है लेकिन पुरूष भी इससे वंचित नहीं है। माँ के कुपोषित होने पर जन्म लेने वाली संतान में कुपोषण के लक्षण परिलक्षित होने लगते है 0-5 वर्ष तक के अर्थात शिशु मृत्युदर का एक बड़ा कारण कुपोषण है। कुपोषण मातृ मृत्यु-दर का एक गम्भीर कारण भी है। इतना ही नहीं एनीमिया, घेंघा रोग, रतौधी कजोर प्रतिरक्षा प्रणाली, अन्डरवेट ये सभी कुपोषण के कारण ही महिलाओं

और बच्चों में अधिक देखने को मिलता है। इससे महिलाओं की कार्यशीलता (श्रम करने की क्षमता) प्रभावित होती है तथा उनके स्वास्थ्य और कल्याण पर अतिरिक्त धन व्यय करना पड़ता है। इससे गरीबी के दुष्चक्र के साथ कुपोषण का दुष्चक्र भी जुड़ जाता है। जिससे निजात पाने के लिए तरह-तरह की समाज कल्याण से सम्बन्धित नीतियां व कार्यक्रम चलाये जाते है जिससे बच्चों और महिलाओं को अल्प पोषण की समस्या से निजात दिलाया जा सके।

3. कुपोषण बच्चों के शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करता है। एक रिपोर्ट के अनुसार विश्व स्तर पर बच्चों की 45 प्रतिशत मृत्यु कुपोषण के कारण होती है। एन. ई.पी. 2020 के अनुसार 85 प्रतिशत बच्चें का मानसिक विकास 6 वर्ष से पूर्व ही हो जाता है ऐसे में बच्चे जो किसी भी राष्ट्र के भविष्य के आधार होते है यदि उनकी नींव कमजोर होगी तो सशक्त, आत्मनिर्भर भारत के निर्माण में बांधा उत्पन्न होगी।
4. 05 वर्ष से कम आयु के लगभग 50 प्रतिशत बच्चों की मृत्यु का कारण कुपोषण है। महिलाओं में कुपोषण के कारण लगभग 20 प्रतिशत बच्चे कम भार अर्थात वजन के होते है। जिससे कमजोर मानव पूँजी का निर्माण होता है।
5. पोषक पदार्थों की आहार में कमी से शारीरिक व मानसिक वृद्धि शिथिल हो जाती है थकान, त्वचा के रंग का पीला पड़ना, कमजोरी, वजन कम जैसी समस्याएं उत्पन्न होती है तथा प्रतिरक्षा प्रणाली कमजोर हो जाती है। इससे संक्रमण का खतरा भी बढ़ जाता है और अन्ततः एक कमजोर मानव संसाधन का विकास होता है। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में कुपोषण न केवल भारत की बल्कि एक वैश्विक समस्या बन चुका है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने विश्व को रहने के लिए बेहतर स्थान बनाने हेतु 17 वैश्विक सतत् विकास लक्ष्य तथा 169 उपलक्ष्य धारित किए हैं जिसमें एस.डी.जी. लक्ष्य संख्या 1, 2, 3 क्रमशः विश्व पटल से गरीबी, भुखमरी को समाप्त कर उत्तम स्वास्थ्य व खुशहाली से सम्बन्धित है। भारत भी इन लक्ष्यों और उपलक्ष्यों का हस्ताक्षर करता राष्ट्र है। इसलिए भारत 2016-2030 तक इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न कार्यक्रम और नीतियां चल रहा है। जिससे भारत के सभी राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों को इन लक्ष्यों और उपलक्ष्यों से आच्छादित कर स्वस्थ सुपोषित तथा कौशल युक्त मानव संसाधन का विकास किया जाय जो समावेशी व आत्मनिर्भर भारत के निर्माण में अपना योगदान दे सके। इसके लिए कुछ महत्वपूर्ण नीतियाँ, योजनाएं व कार्यक्रम चलाएं जा रहे है जो इस प्रकार है :-

1. राष्ट्रीय पोषण मिशनः मार्च 2018 से संचालित, 2. मध्याहन भोजन कार्यक्रम 1995 से संचालित वर्तमान में यह योजना पीएम पोषण शक्ति निर्माण योजना के नाम से है, 3. एकीकृत बाल विकास योजना 1975 से संचालित, 4. मिशन संक्षम आंगनवाडी, 5. मिशन शक्ति, 6. मिशन वात्सलय 7.पोषण 2.0, 8. पोषण भी पढ़ाई भी यह राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के संदर्भ में विकसित है, 9.राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम-2013, 10. वैश्विक पोषण लक्ष्य 2025 (विश्व स्वास्थ्य संगठन),11. राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीतिः 2017, 12. प्रधानमंत्री मातृ वंदना योजना, जनवरी 2017, 13. मिशन इन्द्र धनुष

उपर्युक्त पोषण सम्बन्धी इन समस्त नीतियों कार्यक्रम व योजनाओं का उद्देश्य आधुनिक परिप्रेक्ष्य में शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ्य सशक्त व रचनात्मक मानव पूँजी का विकास करना है जो ऊर्जा और सकारात्मकता से युक्त हो। इसके लिए संतुलित व पौष्टिक आहार आवश्यक है जो इन नीतियों कार्यक्रमों व योजनाओं के सफल संचालन, लक्षित समूह तक पहुँच तथा सतर्क व सशक्त निगरानी तन्त्र से ही संभव है।

सुझाव

1. बदलते परिवेश में पोषण को लेकर स्वस्थ सन्तुलित आहार सम्बन्धी जागरूकता के प्रसार की आवश्यकता उपर्युक्त अध्ययन से प्रतीत होती।
2. ग्रामीण, नगरीय, जनजातीय और आकांक्षी जिलों में विशेष पोषण अभियान चलाने के साथ-साथ जन जागरूकता के लिए सरकारी स्तर पर प्रयास के साथ-साथ सोशल मीडिया, आंगनवाडी और गैर सरकारी संगठनों (एन.जी.ओ.) का सम्मिलित प्रयास आवश्यक है।
3. गुणवत्तापूर्ण स्वास्थ्य सेवाओं की पहुँच नगरीय क्षेत्रों के साथ-साथ पिछड़े, दुर्गम तथा ग्रामीण क्षेत्रों तक सुनिश्चित करने की आवश्यकता क्योकि इन क्षेत्रों के मानव संसाधन के सुपोषित और स्वस्थ रहने पर ही समावेशी विकास की अवधारणा फलीभूत होगी।
4. कुपोषण, भुखमरी व गरीबी में कारणात्मक सम्बन्ध दृष्टिगत होते है। इसलिए भुखमरी व निर्धनता के दुष्चक्र को खण्डित कर के ही समावेशी समाज का

निर्माण संभव है। इसलिए एस डी जी के लक्ष्य संख्या-1, 2 व 3 को कुपोषण के संदर्भ में प्राप्त करना अति आवश्यक है।

5. महिलाओं और बच्चों की सम्मिलित जनसंख्या लगभग 67 प्रतिशत है। कुपोषण का एक बड़ा भाग भी ये ही है ऐसे में इस समूह के स्वास्थ्य और कल्याण को अधिकतम करके ही कुपोषण मुक्त भारत के अभियान को सफल बनाया जा सकता है।
6. श्री अन्न को पौष्टिकता के दृष्टिगत से 'सुपर फूड' की संज्ञा दी जाती है। श्री अन्न के उत्पादन, वितरण तथा सभी तक इसकी पहुँच को बढ़ाकर कुपोषण और स्वास्थ के स्तर में सुधार किया जा सकता है।
7. महिलाओं का एक बड़ा भाग एनीमिया तथा कुपोषण से ग्रस्त है इसके पीछे अन्य कारकों के साथ-साथ जेंडर विभेद की संस्कृति भी कार्य करती हैं, इस माइंडसेट (मानसिक मनोवृत्ति) में बदलाव करके कुपोषण से महिलाओं का कल्याण किया जा सकता है।
8. जंग फूड, फास्ट फूड, डिब्बा बंद खाद्य पदार्थों को यदि श्री अन्न अर्थात 'सुपर फूड' से परिष्कृत व नवीनीकृत करके बाजार में लाया जाए तो इसके नकारात्मक प्रभाव को कम किया जा सकता है।
9. राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के तहत चावल व गेहूँ के वितरण के साथ-साथ श्री अन्न की पहुँच भी लोगों तक सुनिश्चित की जाए तो ऐसे में इस अधिनियम से आच्छादित समूह को अधिक गुणवत्तापूर्ण खाद्यान्न प्राप्त हो सकते है।
10. जैविक ढ़ग से उत्पादित खाद्य पदार्थ गुणवत्ता व पौष्टिकता दोनों ही दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। ऐसे में फल सब्जियों के जैविक उत्पादन के लिए किसानों को प्रशिक्षित किया जाए तथा इसके लाभ से उन्हें अवगत कराते हुए जैविक उत्पादों के वितरण पहुँच, मार्केटिंग तथा भण्डार का बेहतर प्रबंधन किया जाए।
11. स्वच्छता, कुपोषण व रूग्णता को दूर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है ऐसे में उन क्षेत्रों को लक्षित किया जाए जहां इसमें कमी दिखती है जैसे कुछ ग्रामीण क्षेत्रों, दुर्गम क्षेत्रों, गन्दी बस्तियों, जनजातीय क्षेत्रों में।
12. जेन्डर सम्बन्धी असमानता को कमजोर करने के लिए मनोवृत्तियों में बदलाव की आवश्यकता है और तभी स्वंय महिला भी अपने प्रति भोजन सम्बन्धी उपेक्षा के भाव को त्याग सकेगी।
13. सामाजिक सांस्कृति वर्जनाएं, धार्मिक निषेध, रूढ़िया तथा परम्पराए महिलाओं व बच्चों पर भोजन संबंधी कुछ निषेध आरोपित करती है जिसे शिक्षा व जागरूकता के माध्यम से खण्डित किया जा सकता है।

निष्कर्ष

आधुनिक परिवर्तित परिप्रेक्ष्य मं कुपोषण की समस्या के समाधान के लिए हमें आहार में परिवर्तन के साथ-साथ अपनी दिनचर्या व फूड हैविट में भी बदलाव की आवश्यकता है। श्री अन्न को आहार में सम्मिलित करके हम 'स्वास्थ्य हितैषी' हो सकते है क्योंकि मोटे अनाज अर्थात श्री अन्न जहां पोषक तत्वों से भरपूर है वही मजबूत प्रतिरक्षा प्रणाली का निर्माण कर कुपोषण के किसी भी स्वरूप से लड़ने में सक्षम भी है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. भारत 2023, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, जन सूचना भवन, सी जी ओ काम्पलेक्स, लोधी रोड नई दिल्ली-110003
2. योजना फरवरी, 2006, मई, 2018 अंक : 05
3. राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण रिपोर्ट-1, 2, 3, 4, 5 वीं
4. ग्लोबल हंगर इंडेक्स रिपोर्ट-2022
5. मानव विकास रिपोर्ट-2021-2022
6. वैश्विक पोषण रिपोर्ट-2021
7. कुरूक्षेत्र जुलाई, 2017 अंक : 9 'ग्रामीण स्वास्थ्य' प्रकाशन विभाग, सूचना और और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार
8. कुरूक्षेत्र, अगस्त, 2023 अंक : 10 'ग्रामीण स्वास्थ्य' प्रकाशन विभाग, सूचना और और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार।
9. National Inostitutes of Health (Gov) https://www.ncbi.nim-nih.gov.pmc.
10. राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति 2017 https://main. mohfw.gov.in.
11. सतत् विकास लक्ष्य-2030 संयुक्त राष्ट्रसंघ (1 जनवरी, 2016-2030 तक)।
12. संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन वर्ष 2021 की रिपोर्ट

सुश्री सीता पाण्डेय
असिस्टेंट प्रोफेसर-समाजशास्त्र, रमाबाई राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय अकबरपुर, अम्बेडकरनगर (उ.प्र.)

कृष्ण कुमार विश्वकर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर-शारीरिक शिक्षा, रमाबाई राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय अकबरपुर, अम्बेडकरनगर (उ.प्र.)

भारत में ऑनलाइन शिक्षा : एक दृष्टि

—डा. रियंका सिंह
—डा. आशीष कुमार

शोध सार

भारत में इंटरनेट की व्यापक प्रकृति और प्रौद्योगिकी की पहुंच ने वेब आधारित शिक्षण और सीखने की मांग में वृद्धि की है। ऑनलाइन शिक्षा देश भर के स्कूल जिलों और कॉलेजों में तेजी से घुसपैठ कर रही है। ऑनलाइन निर्देश की प्रभावशीलता पर हाल के अध्ययन पारंपरिक पाठ्यक्रमों की तुलना में ऑनलाइन पाठ्यक्रमों की तुलनात्मक प्रभावशीलता की तुलना में सीखने की प्रक्रिया, संतुष्टि और ऑनलाइन निर्देश में उपलब्धि को प्रभावित करने वाले कारकों पर अधिक ध्यान केंद्रित करते हैं। ऑनलाइन शिक्षा में सफलता के लिए योगदान देने वाले तीन प्रमुख चर के रूप में निर्देशात्मक डिजाइन, सामाजिक मामलों और छात्रों के व्यक्तिगत कारकों की पहचान की गई है। यह पेपर इस बात की पड़ताल करता है कि क्या छात्र ऑनलाइन पाठ्यक्रमों से लाभान्वित हो सकते हैं और ऑनलाइन कोर्सवर्क की संभावित चुनौतियों और कमियों की जांच करते हैं। यह पेपर इस बारे में सवाल उठाता है कि ऑनलाइन पाठ्यक्रम में नामांकित के छात्रों का सर्वोत्तम समर्थन कैसे किया जाए।

मुख्य शब्द : डिजिटलाइजेशन, क्लाउड लर्निंग, एजुकेशन, डिजिटल एजुकेशन, टेक्नोलॉजी आदि

परिचय

कई मायनों में, इंटरनेट पर विचार किए बिना समकालीन समाज के किसी भी पहलू पर चर्चा करना मुश्किल है। आज के आधुनिक समाज में शिक्षा का अभाव व्यक्तिगत उपलब्धि में बाधक बन गया है। इस बढ़ी हुई मांग को पूरा करने के लिए उनकी छात्र आबादी की बढ़ती संख्या के लिए एक व्यवहार्य, सुविधाजनक और लागत प्रभावी विकल्प के रूप में ऑनलाइन पाठ्यक्रमों और डिग्री की पेशकश में वृद्धि हुई है। ऑनलाइन विकल्प बड़ी संख्या में छात्रों के बीच लोकप्रिय

हो गया है। ऑनलाइन शिक्षा ने आधुनिक शिक्षा के परिदृश्य को मौलिक रूप से बदल दिया है।

ऑनलाइन शिक्षा शिक्षा का एक रूप है जिसे इंटरनेट का उपयोग करके वितरित और प्रशासित किया जाता है। ऑनलाइन शिक्षा को पाठ्यक्रम में शामिल की गई ऑनलाइन शिक्षा की मात्रा के आधार पर कई श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। भारत में ऑनलाइन शिक्षा ने प्रौद्योगिकी के विकास के साथ एक लंबा सफर तय किया है। भारत उन देशों में से एक है जो प्रौद्योगिकी के मामले में घातीय दर से विकास कर रहे हैं। 1.3 बिलियन से अधिक की आबादी के साथ, हाई-स्पीड इंटरनेट और स्मार्टफोन की उपलब्धता के साथ, भारत में तकनीकी रूप से संचालित व्यक्तियों की संख्या सबसे अधिक है। इंटरनेट के उदय ने भारत में जीवन के तरीके को बदल दिया है। लोग सब कुछ ऑनलाइन करना पसंद करते हैं, वे ऑनलाइन खरीदारी करते हैं, ऑनलाइन व्यापार करते हैं, ऑनलाइन दोस्त बनाते हैं, आदि। इंटरनेट पर उपलब्ध बढ़ती जानकारी और अनगिनत ऑनलाइन पाठ्यक्रमों के साथ भारत में बहुत से लोग ऑनलाइन सीखना पसंद करते हैं। भारत में डिजिटल प्रौद्योगिकी की क्षमता और अपार लोकप्रियता को देखते हुए, हमारे माननीय प्रधानमंत्री ने डिजिटल इंडिया पहल के माध्यम से डिजिटल प्रौद्योगिकियों का उपयोग करके हमारे देश को बदलने और सभी नागरिकों के लिए अवसर पैदा करने की कल्पना की है। इस पहल में स्वास्थ्य, शिक्षा, श्रम, रोजगार आदि से संबंधित विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न परियोजनाएं शामिल हैं। डिजिटल इंडिया परियोजना के एक हिस्से के रूप में, कई कॉलेज और विश्वविद्यालय ऑनलाइन पत्राचार पाठ्यक्रम प्रदान करते हैं। आइए अब भारत में ऑनलाइन शिक्षा के बारे में कुछ रोचक तथ्यों के बारे में जानें। भारत में ऑनलाइन शिक्षा बाजार 2016 में 247 मिलियन डॉलर का था, जिसके 2021 तक लगभग 1.96 बिलियन डॉलर बढ़ने की उम्मीद है। विभिन्न ऑनलाइन शिक्षण पाठ्यक्रमों के लिए नामांकित उपयोगकर्ताओं की संख्या 2016 में 1.6 मिलियन होने का अनुमान है, जो 2021 के अंत तक लगभग 9.6 मिलियन बढ़ने की उम्मीद है।

अध्ययन का उद्देश्य : ऑनलाइन शिक्षा की अवधारणा को समझने के लिए। भारत में ऑनलाइन शिक्षा की वर्तमान स्थिति और भविष्य की संभावनाओं का अध्ययन करना।

अनुसंधान क्रियाविधि : यह शोध पत्र प्रकृति में वैचारिक और खोजपूर्ण है। ऐसे उद्देश्य की पूर्ति के लिए द्वितीयक विधि अपनाई जाती है। माध्यमिक डेटा को अध्ययन के लिए पुस्तकों, पत्रिकाओं और जर्नल और प्रकाशित सामग्री से संबंधित डिजिटल लर्निंग के माध्यम से एकत्र किया गया था।

ऑनलाइन शिक्षण के तरीके

प्रस्तुतियाँ : अध्ययन के लिए सामग्री प्रस्तुत करना कक्षा शिक्षण और ऑनलाइन शिक्षा के प्रकारों में दोनों का उपयोग किया जाता है। उचित प्रस्तुतिकरण छात्रों को एक शानदार तरीके से प्रभावित करता है चाहे वे ऑफलाइन सीख रहे हों या ऑनलाइन। शिक्षकों को केवल प्रस्तुति के रूप में संबंधित विषय और पुस्तक की जानकारी प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। एक अच्छी प्रस्तुति बनाने में, शिक्षक इसे देखने योग्य बनाने के लिए छवियों, जीआईएफ, वीडियो आदि जैसे दृश्यों को शामिल कर सकते हैं और इस तरह से छात्रों को जानकारी देना तुलनात्मक रूप से आसान है। छात्र बाद के उद्देश्यों के लिए प्रस्तुति का उपयोग करने में सक्षम होंगे जैसे पाठ्यक्रम का अध्ययन और संशोधन। प्रेजेंटेशन बनाने के लिए कुछ प्रेजेंटेशन टूल्स उपलब्ध हैं— माइक्रोसॉफ्ट पावरप्वाइंट गूगल स्लाइड, स्लाइडशेयर

ऑनलाइन व्हाइटबोर्ड : शिक्षक ऑनलाइन शिक्षण में सर्वोत्तम प्रथाओं के लिए ऑनलाइन व्हाइटबोर्ड का उपयोग कर सकते हैं। वर्चुअल क्लासरूम सेटअप में, एक ऑनलाइन व्हाइटबोर्ड उन्हें जानकारी देने और शिक्षकों और छात्रों के बीच बेहतर संबंध बनाने में मदद करता है। ऑनलाइन व्हाइटबोर्ड एक कैनवास है जिस पर शिक्षक आरेख बना सकते हैं, पूर्व-निर्मित टेम्पलेट और चार्ट साझा कर सकते हैं, रेखाचित्र बना सकते हैं, लिख सकते हैं, आदि। यह कक्षा के ब्लैकबोर्ड की तरह ही काम करता है शिक्षक जो पढ़ाते हैं उसे डिजिटाइज कर सकते हैं। यह उन्हें सामग्री को फिर से साझा करने की भी अनुमति देता है। शिक्षक और छात्र वास्तविक समय में भी एक ही कैनवास पर जुड़ सकते हैं और इसका उपयोग विभिन्न उद्देश्यों के लिए कर सकते हैं जैसे कि माइंड मैपिंग, इंटरएक्टिव अभ्यास करना, असाइनमेंट करना, होमवर्क की समीक्षा करना, पाठों के आसपास मंथन करना, फीडबैक देना आदि।

लाइव ऑनलाइन क्लासेस : ऑनलाइन कक्षाओं के साथ, शिक्षकों को उन्हें पढ़ाने के लिए कक्षा में छात्रों को इकट्ठा करने की आवश्यकता नहीं है। इसके बजाय वे लाइव ऑनलाइन कक्षाओं के माध्यम से वास्तविक समय में व्याख्यान दे सकते हैं। लाइव ऑनलाइन कक्षाएं शिक्षकों और छात्रों को आमने-सामने बातचीत करने और सीखने के लिए समान कक्षा जैसा माहौल देने की अनुमति देती

हैं। शिक्षक ऑनलाइन उपलब्ध वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग ऐप और टूल का उपयोग कर सकते हैं और नियमित कक्षाएं चलाने के लिए छात्रों के साथ संबंध बना सकते हैं। लाइव ऑनलाइन कक्षाएं पहुंच की बाधाओं को तोड़ती हैं और शिक्षक उन छात्रों से भी जुड़ सकते हैं जो विदेश में रह रहे हैं। लाइव ऑनलाइन कक्षाओं में ऑनलाइन व्हाइटबोर्ड अधिक आकर्षक काम करता है। शिक्षकों को लाइव ऑनलाइन कक्षा के दौरान छात्रों को शामिल करने के लिए शिक्षण के विभिन्न तरीकों का उपयोग करने की आवश्यकता होगी और इसके लिए उन्हें तैयार रहना चाहिए कि वे क्या पढ़ाने जा रहे हैं। कक्षा के दौरान छात्रों को निष्क्रिय महसूस न होने देने के लिए, शिक्षकों को कक्षा के दौरान और बाद में प्रश्न पूछना चाहिए और छात्रों को उत्तर देने की अनुमति देनी चाहिए। उन्हें सक्रिय भाग लेने की अनुमति देने के लिए एक चर्चा समूह की व्यवस्था करनी चाहिए। इसे और अधिक आकर्षक और रोचक बनाने के लिए शिक्षकों को पोस्टर, वीडियो, विजुअल, ग्राफिक आयोजकों, छवियों आदि का उपयोग करना चाहिए। शिक्षकों को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि वे पूरे विषय को एक बार में न दें। इसके बजाय, इसे सुपाच्य बनाने के लिए विषय को छोटे टुकड़ों में तोड़ दें।

प्री-रिकॉर्डेड वीडियो लेक्चर : प्री-रिकॉर्डेड वीडियो लेक्चर की अवधारणा में, जो उपयुक्त ऑनलाइन शिक्षण विधियों और शिक्षाशास्त्र में से एक है, व्याख्यान पहले से ही लाइव व्याख्यान लेने के बजाय छात्रों द्वारा रिकॉर्ड और साझा किए जाते हैं। कुछ छात्र इस ऑनलाइन शिक्षण विधियों और शिक्षण को लाइव ऑनलाइन कक्षाओं से बेहतर पाते हैं क्योंकि यह उन्हें अपने समय पर व्याख्यान में भाग लेने के लिए लचीलापन देता है। लाइव ऑनलाइन कक्षाओं के विपरीत, छात्र वीडियो का उपयोग संशोधन उद्देश्यों के लिए भी कर सकते हैं और अपनी शंकाओं को दूर कर सकते हैं। यदि छात्र समझ नहीं पाते हैं तो यह अवधारणा को दोहराने के शिक्षकों के काम को कम कर देता है। व्याख्यान रिकॉर्ड करते समय शिक्षकों को निम्नलिखित बातों की जानकारी नहीं होनी चाहिए—अपनी स्क्रिप्ट के साथ तैयार रहें, यदि आप रिकॉर्ड करने के लिए आश्वस्त नहीं हैं, तो एक बार इसका पूर्वाभ्यास करें, वीडियो थोड़े समय के लिए रिकॉर्ड किए जाने चाहिए। लंबे वीडियो अपलोड होने में समय लेते हैं और बोरिंग भी करते हैं। छात्र अक्सर उन्हें छोड़ देते हैं। रिकॉर्डिंग करते समय, एक आरामदायक जगह पर बैठें और ध्यान भटकाने से बचें।

खेल आधारित शिक्षण : छात्रों को खेल पसंद होते हैं और वे खेल खेलते समय ऊब नहीं पाते हैं। खेल-आधारित शिक्षण छात्रों को खेलों का उपयोग करके उन्हें पढ़ाने में संलग्न करने में मदद करता है। अवधारणा छात्रों पर दबाव नहीं डालती, बल्कि सीखने में उनकी भागीदारी को बढ़ाती है। जो छात्र पढ़ाई में काफी अच्छे नहीं हैं, वे शिक्षण के इस तरीके को सीखने और याद रखने में मददगार पा सकते हैं। खेल-आधारित शिक्षण शुरू करने के लिए, शिक्षकों को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि छात्रों के पास उसी प्रकार के डेटा तक पहुंच हो। वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग टूल से शिक्षक गेमिंग सत्र सहित पढ़ाना शुरू करते हैं। साथ ही चौट का विकल्प खोला जाए जहां छात्र सवाल पूछ सकें।

क्लास ब्लॉग : कक्षा ब्लॉग एक अभिनव अवधारणा है जो छात्रों को व्यक्तिगत रूप से या समूह में उन्होंने जो सीखा है उसके बारे में एक ब्लॉग बनाकर स्वयं सीखने का पता लगाने देता है। ज्ञान साझा करने के लिए इस ब्लॉग को अन्य छात्रों के साथ साझा किया जा सकता है। दूसरी ओर, शिक्षक भी अपनी शिक्षण सामग्री को ब्लॉग पर साझा कर सकते हैं।

लाभ

कहीं से भी, किसी भी समय काम करें : संतुलन के लिए कई कर्तव्यों वाले छात्रों के लिए ऑनलाइन शिक्षा का यह सबसे आकर्षक लाभ है। चूंकि सब कुछ ऑनलाइन उपलब्ध है, कक्षा सामग्री तक पहुंचना और काम जमा करना बहुत सुविधाजनक है। यह कब और कहां होता है, यह छात्र पर निर्भर करता है, जब तक कि असाइनमेंट की नियत तारीखें पूरी नहीं हो जातीं।

व्याख्यान की तुरंत समीक्षा करें : हालांकि, कई ऑनलाइन कार्यक्रमों में, छात्र प्रोफेसरों के शब्दों की तुरंत समीक्षा कर सकते हैं, या तो ऑडियो या वीडियो को रिवाइंड करके या व्याख्यान के साथ आने वाली प्रतिलिपि को पढ़कर।

कम डराना : कक्षा के वातावरण में कई छात्र सार्वजनिक रूप से बोलने में सहज नहीं होते हैं। एक ऑनलाइन वातावरण में, दूसरों के साथ विचार साझा करना बहुत आसान हो सकता है। नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ मेंटल हेल्थ के अनुसार, 74 प्रतिशत लोग भाषण चिंता से पीड़ित हैं, ऑनलाइन शिक्षा बेहतर कक्षा भागीदारी को बढ़ावा देती है।

24/7 पर पाठ्यक्रमों तक पहुंच : इन पाठ्यक्रमों के बारे में अच्छी बात यह है कि ये आमतौर पर एक छात्र के लिए 24/7 उपलब्ध होते हैं, जब तक उनके पास इंटरनेट और कंप्यूटर है। यह उन पाठ्यक्रमों के विपरीत है जो

परिसर में पेश किए जाते हैं जिनमें छात्र को किसी विशेष समय पर कक्षा में रहने की आवश्यकता होती है।

साझा करने से पहले सोचने के लिए अधिक समय : ऑनलाइन स्कूली शिक्षा में अभी भी एक चर्चा तत्व है, अक्सर चर्चा बोर्ड के लिए एक मंच में। ऑन-कैंपस छात्रों को कक्षा में जल्दी से एक रुख चुनना या एक विचार तैयार करना होता है, और कभी-कभी पूरी तरह से सब कुछ जांचने से पहले बोलना होता है। एक ऑनलाइन वातावरण में, छात्र अपने स्वयं के विचारों के बारे में सोचने और उन्हें सम्मानित करने के लिए जितना चाहें उतना समय व्यतीत कर सकते हैं। इससे अधिक आत्मविश्वास और अधिक सुरुचिपूर्ण चर्चा हो सकती है।

विचारों पर ध्यान दें : अनुमानित 93 प्रतिशत संचार गैर-मौखिक होने के कारण, ऑनलाइन छात्रों को उनके संदेश में हस्तक्षेप करने वाली शारीरिक भाषा के बारे में चिंता करने की जरूरत नहीं है। जबकि शरीर की भाषा कभी-कभी प्रभावी हो सकती है, शिक्षाविद विचारों के बारे में अधिक होते हैं, और ऑनलाइन शिक्षा भौतिक निर्णयों को समाप्त कर देती है जो तर्कसंगत चर्चा को धूमिल कर सकते हैं।

समूह संचार : कई डिग्री कार्यक्रम आज किसी न किसी प्रकार की समूह परियोजना या टीम वर्क को शामिल करते हैं। परिसर में या स्थानीय स्तर पर अन्य लोगों के साथ कार्य करने का अर्थ है विशिष्ट दिनों और समयों का समन्वय करना ताकि सभी लोग भाग ले सकें। दूरस्थ शिक्षा कार्यक्रम, हालांकि, आभासी संचार को बढ़ावा देते हैं और छात्रों को ईमेल, चौट रूम और अन्य उपयोग में आसान तरीकों के माध्यम से टीम के सदस्यों के साथ काम करने की अनुमति देते हैं।

लचीला सीखने का कार्यक्रम : परिसर में छात्रों को पिछले घंटों में व्यक्तिगत रूप से व्याख्यान सहना पड़ सकता है। जबकि सभी ऑनलाइन प्रोग्राम एक जैसे नहीं बनाए जाते हैं, कई पावरपॉइंट प्रेजेंटेशन और अन्य मीडिया का उपयोग करते हैं जिन्हें छात्र टुकड़ों में पचा सकते हैं। दूसरे शब्दों में, एक छात्र पाठ के पहले भाग का एक दिन और दूसरे भाग का अगले दिन अनुभव कर सकता है। यह उन लोगों के लिए विशेष रूप से सहायक हो सकता है जो बहुत देर तक एक ही स्थान पर बैठने का आनंद नहीं लेते हैं।

लागत : हालांकि एक ऑनलाइन पाठ्यक्रम की लागत एक पारंपरिक पाठ्यक्रम की तुलना में अधिक या अधिक हो सकती है, छात्र कैंपस-आधारित शिक्षा की कई फीस से बचकर पैसे बचा सकते हैं, जिसमें प्रयोगशाला शुल्क, आने-जाने की लागत, पार्किंग, छात्रावास आदि शामिल हैं। कल्पना कीजिए। ग्रामीण इलाके में रहते हैं लेकिन मुंबई में कॉलेज जा रहे हैं।

प्रशिक्षक की उपलब्धता : पारंपरिक कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में, कक्षा के बाद प्रोफेसर से बात करना चुनौतीपूर्ण हो सकता है। प्रशिक्षकों के पास कार्यालय का समय होता है, लेकिन यह अक्सर प्रत्येक सप्ताह केवल एक या दो घंटे होता है, जिसमें बहुत से छात्र ध्यान देने की प्रतीक्षा करते हैं। जबकि ऑनलाइन पढ़ाने वाले प्रोफेसरों ने छात्रों से बातचीत के लिए घंटे भी निर्धारित किए हैं, वेब-आधारित प्रौद्योगिकियां एक साथ कई छात्रों के साथ बातचीत करना बहुत आसान बनाती हैं। प्रोफेसर रात में या मध्यांतर के दौरान प्रश्नों को संबोधित करने, टिप्पणी छोड़ने और बहुत कुछ करने के लिए ऑनलाइन हॉप कर सकते हैं।

हानि

बहुत अधिक आत्म-अनुशासन की आवश्यकता होती है : दूरस्थ शिक्षा में कोई नियम और दिशानिर्देश नहीं होते हैं जिनका पालन करने की आवश्यकता होती है। इसलिए, एक शिक्षार्थी को व्याख्याता की चिंता किए बिना जो कुछ भी करना है उसे करने की बहुत स्वतंत्रता है। यह स्वतंत्रता शिक्षार्थी का ध्यान भंग कर सकती है।

सामाजिक संपर्क : दूरस्थ शिक्षा के छात्रों के लिए बहुत कम या कोई बातचीत नहीं होती है। यह बातचीत आमतौर पर सामाजिक और अध्ययन उद्देश्यों के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

प्रशिक्षक के साथ बातचीत : कई शिक्षार्थियों को आमतौर पर अपने प्रशिक्षकों के साथ सीमित बातचीत मिलती है और उन्हें अपने सवालों के जवाब पाने के लिए घंटों इंतजार करना पड़ सकता है।

मान्यता का अभाव : ऐसे शिक्षार्थियों के मामले हैं जिन्होंने ऑनलाइन स्कूलों से स्नातक की उपाधि प्राप्त की लेकिन उन्हें एहसास हुआ कि वे मान्यता प्राप्त नहीं हैं। कुछ ऑनलाइन स्कूलों को उसी तरह स्वीकार नहीं करते हैं जैसे वे पारंपरिक कक्षा में करते हैं। ऑनलाइन प्रोग्राम से ऐसे स्कूलों में क्रेडिट ट्रांसफर करना मुश्किल हो सकता है।

अधिक कार्यभार : अधिकांश दूरस्थ शिक्षा विद्यालय बहुत अधिक कार्यभार प्रदान करते हैं जिसकी वे दिन-प्रतिदिन निगरानी करने में असमर्थ होते हैं। यह एक बड़ी चुनौती है

कि दी जा रही शिक्षा की गुणवत्ता से समझौता होने का खतरा है। इस चुनौती को दूर करने के लिए वे छात्र को बहुत सारे असाइनमेंट और टास्क देते हैं। इसका मतलब है कि छात्र पेपर लिखने और पढ़ने में अधिक समय व्यतीत करते हैं।

वित्तीय सहायता : कई शिक्षार्थियों के पास पारंपरिक कक्षा कार्यक्रमों में छात्रों को दी जाने वाली वित्तीय सहायता तक पहुंच नहीं होती है।

सरकार द्वारा की गई पहल : सरकार ऑनलाइन पोर्टल के माध्यम से शिक्षकों के कौशल को उन्नत करने के लिए प्रौद्योगिकी का उपयोग करने की योजना बना रही है। केंद्रीय मानव संसाधन और विकास मंत्रालय (HRD) ने शिक्षकों को उनकी जीवन शैली को और अधिक डिजिटल बनाने के लिए डिजिटल प्लेटफॉर्म प्रदान करने के लिए पोर्टल लॉन्च किया है। इस पोर्टल के माध्यम से देश भर के सभी शिक्षक उन्नत डिजिटल तकनीक से लैस होंगे।

शिक्षकों और छात्रों के लिए शिक्षण सामग्री : छात्रों के लिए पूरक शिक्षण सामग्री प्रदान करने और शिक्षकों के कौशल को उन्नत करने के लिए, मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने ज्ञान साझा करने के लिए एक समर्पित डिजिटल इन्फ्रास्ट्रक्चर (DIKSHA) प्लेटफॉर्म विकसित किया है। छात्रों और शिक्षकों दोनों के लिए उच्च गुणवत्ता वाली ई-लर्निंग सामग्री मंत्रालय और राज्यों/केंद्र शासित प्रदेशों द्वारा इस पोर्टल पर अपलोड की जाती है। इससे बिना किसी अतिरिक्त लागत के छात्रों के ज्ञान के आधार और शिक्षकों के तकनीकी कौशल में काफी वृद्धि होने की उम्मीद है।

ई-पाठशाला : ई-पाठशाला को एनसीईआरटी (राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद) द्वारा पाठ्यपुस्तकों, ऑडियो, वीडियो, पत्रिकाओं और विभिन्न प्रकार की अन्य प्रिंट और गैर-प्रिंट सामग्री सहित सभी शैक्षिक ई-संसाधनों के प्रदर्शन और प्रसार के लिए विकसित किया गया है। अब तक पोर्टल और मोबाइल एप पर 3444 ऑडियो और वीडियो, 698 ई-बुक्स (ई-पब) और 504 फ्लिप बुक्स उपलब्ध कराई जा चुकी हैं।

शगुन पोर्टल : शगुन नामक एक वेब पोर्टल (शाला और गुणवत्ता शब्दों से) जिसके दो भाग हैं, जिनमें से एक स्कूली शिक्षा पर अच्छी प्रथाओं, तस्वीरों, वीडियो, अध्ययन, समाचार पत्रों के लेखों आदि का एक भंडार है, जो राज्य केंद्र शासित प्रदेश के अनुसार विकसित किया गया है सार्वजनिक डोमेन में। इसका उद्देश्य सफलता की कहानियों को प्रदर्शित करना और सभी हितधारकों को एक दूसरे से सीखने के लिए एक मंच प्रदान करना है।

स्टडी वेब्स ऑफ एक्टिव लर्निंग फॉर यंग एस्पायरिंग माइंड्स (स्वयं) सूचना और संचार प्रौद्योगिकी (आईसीटी) का उपयोग करते हुए ऑनलाइन पाठ्यक्रमों के लिए एक एकी त मंच है और स्कूल (9वीं से 12वीं) को स्नातकोत्तर स्तर तक कवर करता है। ऑनलाइन पाठ्यक्रमों के लिए एक एकीकृत मंच और पोर्टल प्रदान करता है, सूचना और संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का उपयोग करते हुए और सभी उच्च शिक्षा विषयों और कौशल क्षेत्र के पाठ्यक्रमों को कवर करता है ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि देश के प्रत्येक छात्र को सस्ती कीमत पर सर्वोत्तम गुणवत्ता वाली उच्च शिक्षा प्राप्त हो।

बड़े पैमाने पर खुले ऑनलाइन पाठ्यक्रम (एमओओसी) : एमएचआरडी ने 9 जुलाई, 2017 को एक व्यापक ओपन ऑनलाइन कोर्स (एमओओसी) प्लेटफॉर्म लॉन्च किया है, जिसे स्वयं (युवा महत्वाकांक्षी दिमाग के लिए सक्रिय सीखने का अध्ययन) के रूप में जाना जाता है। पोर्टल स्कूली शिक्षा और उच्च शिक्षा के लिए विभिन्न ऑनलाइन पाठ्यक्रम पेश कर रहा है। एनसीईआरटी 12 विषय क्षेत्रों (लेखा, व्यावसायिक अध्ययन, जीव विज्ञान, रसायन विज्ञान, आर्थिक, इतिहास, भूगोल, गणित, भौतिकी, राजनीति विज्ञान, और मनोविज्ञान)

शिक्षा चैनल : 32 राष्ट्रीय चैनलों अर्थात स्वयं प्रभा डीटीएच-टीवी के माध्यम से शैक्षिक ई-सामग्री के प्रसारण के लिए उपग्रह संचार प्रौद्योगिकियों के उपयोग के लिए एक कार्यक्रम शुरू किया गया है। सेंट्रल इंस्टीट्यूट ऑफ एजुकेशनल टेक्नोलॉजी (सीआईईटी) एनसीईआरटी एक डीटीएच टीवी चौनल यानी किशोर मंच के लिए राष्ट्रीय समन्वयक है और 9 जुलाई, 2018 से 24/7 शैक्षिक टीवी चैनल शुरू कर दिया है। इसके अलावा, एनआईओएस पांच चैनल चला रहा है। माध्यमिक और वरिष्ठ माध्यमिक स्तरों के लिए और सांकेतिक भाषा के लिए शिक्षक।

निष्कर्ष और सिफारिशें

ऑनलाइन शिक्षा अपरिवर्तनीय रूप से आधुनिक उच्च शिक्षा में एकीकृत हो गई है। चूंकि कॉलेज और विश्वविद्यालय लगातार उच्च शिक्षा के क्षेत्र में जमीन हासिल करने के तरीकों की तलाश कर रहे हैं, यह संभावना है कि इंटरनेट आधारित शिक्षा केवल गहराई और चौड़ाई में विस्तार करना जारी रखेगी। ऑनलाइन शिक्षा की पेशकश करने वाले संस्थानों में ऑनलाइन पाठ्यक्रम की कमी वाले तुलनीय संस्थानों पर प्रतिस्पर्धात्मक बढ़त है। इस प्रकार, कॉलेजों

और विश्वविद्यालयों की बढ़ती संख्या अपने स्कूल के शैक्षिक प्रस्तावों में ऑनलाइन डिग्री कार्यक्रमों को शामिल करने की कोशिश करेगी। सूचना और संचार प्रौद्योगिकियों के चल रहे विकास को देखते हुए, हम उम्मीद कर सकते हैं कि ऑनलाइन तकनीक दुनिया भर में सभी स्तरों पर शिक्षण-अधिगम के रूपों में बदलाव लाएगी। विश्वसनीय, उच्च गति वाले इंटरनेट के आगमन के साथ, विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए दूरस्थ शिक्षा बहुत अधिक संभव हो गई है। छात्र अब ऑनलाइन पढ़ाए जाने वाले एकल कक्षाओं या पूरे पाठ्यक्रमों के लिए साइन अप कर सकते हैं, जिसमें स्ट्रीमिंग व्याख्यान, ट्यूटर्स के साथ लाइव प्रश्नोत्तर चौट और इलेक्ट्रॉनिक रूप से कोर्सवर्क जमा करना शामिल हो सकता है।

संदर्भ

1. A.S. Sathish Kumar, emerging Technology on smart Class teaching in school education A literature review –IJSR Vol 3,issue8 Aug 2014.
2. https://www.ncsl.org /portals/1/ documents/ educèitem013161.pdf
3. http://eprints.ioe.ac.uk/628/1/Laurillard 2008Digital_technologies.pdf
4. http:// www. greenbay pressgazette.com/ story/money/2014/10/21/technologys-impact-higher-education/17693719/
5. https/ Indian express/ can digital educate India Written by Maya Escueta Updated: Aug 17, 2015.
6. A.S. Sathish Kumar, emerging Technology on smart Class teaching in school education A literature review –IJSR Vol 3,issue8 Aug 2014.
7. International journal on recent and innovation trends in computing and communication volume3, issue2

डा. रियंका सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर, बी.एड. विभाग,
वी.एम.एल.जी. कॉलेज, गाज़ियाबाद

डा. आशीष कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षा शास्त्र विभाग,
भदावर विद्या मंदिर (पी.जी.) कॉलेज, बाह, आगरा

भारत में शिक्षा अधिकार अधिनियम 2009 का क्रियान्वयन : एक दृष्टि

—शुभम यादव
—डा. आशीष कुमार

शोध सारांश

प्रस्तुत शोध में शिक्षा अधिकार अधिनियम 2009 के बारे में संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है तथा उसके क्रियान्वयन में आने वाली चुनौतियों को वर्तमान समय के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 को लागू हुए 10 वर्ष बीत चुके हैं परंतु आज भी इसका प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में शत-प्रतिशत क्रियान्वयन चुनौती बना हुआ है। प्रस्तुत शोध-पत्र में शिक्षा के अधिकार अधिनियम 2009 के क्रियान्वयन में प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में आने वाली प्रमुख समस्याओं जैसे अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की शत-प्रतिशत प्राप्ति की समस्या, आदर्श छात्र शिक्षक अनुपात की चुनौती, समान पाठ्यक्रम एवं भाषाई माध्यम, शैक्षिक बजट की चुनौती, अवसंरचनात्मक ढांचे की समस्या, निजी स्कूलों में 25% सीटों पर निःशुल्क दाखिला तथा शिक्षकों को गैर शैक्षिक प्रयोजनों में अभियोजित करने के प्रतिषेध की चुनौतियों पर विश्लेषणात्मक अध्ययन करके तथ्यों को उजागर करने का प्रयास किया गया है।

बीज शब्द : शिक्षा अधिकार अधिनियम, अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा, क्रियान्वयन, प्राथमिक शिक्षा, चुनौतियां।

प्रस्तावना

आज के युग में निरक्षरता एक बहुत बड़ा अभिशाप माना जाता है। निरक्षर व्यक्ति की तुलना एक अंधे व्यक्ति से की जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। एक सामान्य कहावत है ''काला अक्षर भैंस बराबर'' अर्थात अनपढ़ रहना सब से बड़ा अभिशाप है। शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो मनुष्य की जन्मजात शक्तियों के स्वाभाविक और सामंजस्य पूर्ण विकास में योग देती है। जीवन के हर क्षेत्र में साक्षरता का अपना महत्व होता है। किसी भी देश या राज्य के नागरिक जितने

ज्यादा शिक्षित होंगे वह उतने ही ज्यादा तरक्की करेगा। अतः देश या राज्य की सरकारों की जिम्मेदारी बन जाती है कि वह अपने नागरिकों को उचित शिक्षा प्रदान करने का प्रयास करे। भारतवर्ष जहां की जनसंख्या 130 करोड़ के आस-पास है, सभी के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना एक अत्यंत कठिन कार्य है। जब हमारा देश स्वतंत्र हुआ और हमारे देश का संविधान बना तो आर्टिकल-45 में 6 से 14 वर्ष के बालकों को निःशुल्क शिक्षा देने की बात की गई, जो राज्य सरकारों का कार्य निर्धारित किया गया। परंतु 86 वें संविधान संशोधन द्वारा, जो सन् 2002 में पारित हुआ, आर्टिकल 21(ए) जोड़कर प्राथमिक शिक्षा को मौलिक अधिकार बना दिया गया तथा कालांतर में इसी अधिकार की पूर्ति हेतु 2009 में शिक्षा अधिकार अधिनियम पारित किया गया। तब से लेकर आज तक हम उसके प्रावधानों को लागू करने का प्रयास कर रहे हैं। शिक्षा अधिकार अधिनियम 2009 को लागू करने में कई तरह की चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। इस लेख के माध्यम से हम उन चुनौतियों के बारे में चर्चा करेंगे लेकिन उससे पहले हम आर्टिकल 21(ए) व शिक्षा अधिकार अधिनियम 2009 के बारे में बात करते है।

आर्टिकल 21(ए) : ''राज्य 6 वर्ष से 14 वर्ष तक की आयु वाले सभी बालकों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा देने का ऐसी रीती में, जो राज्य विधि द्वारा अवधारित करें उपबंध करेगा।"

शिक्षा अधिकार अधिनियम 2009 का संक्षिप्त परिचय : सन् 2002 में 86 वे संविधान संशोधन द्वारा प्राथमिक शिक्षा को 6 से 14 वर्ष के बालकों के लिए मौलिक अधिकार घोषित किया गया परंतु इसके लिए कोई निश्चित कानून नहीं बन पाया। अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा के मौलिक अधिकार की प्राप्ति हेतु 4 अगस्त सन् 2009 को शिक्षा का अधिकार अधिनियम लोक सभा में पारित हुआ तथा 1 अप्रैल, 2010 को पूरे देश में लागू हो गया। परंतु राज्यों ने अपने-अपने हिसाब से इसे अलग-अलग तिथियों में लागू किया। उत्तर प्रदेश में शिक्षा अधिकार अधिनियम 2009, 27 जुलाई, 2011 को लागू किया गया। शिक्षा अधिकार अधिनियम में कुल 7 अध्याय व 38 धाराएं हैं। प्रथम अध्याय में नाम एवं परिभाषाएं, द्वितीय अध्याय में निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का अधिकार। तीसरे अध्याय में समुचित सरकार, स्थानीय प्राधिकारी और माता-पिता के कर्तव्य। चौथे अध्याय में विद्यालयों और शिक्षकों के उत्तर दायित्व। पांचवें अध्याय में प्रारंभिक शिक्षा का पाठ्यक्रम। छठे अध्याय में बालकों के अधिकारों का संरक्षण तथा सातवें अध्याय में विविध प्रावधान दिए गए हैं।

क्रियान्वयन में आने वाली चुनौतियां

अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की चुनौती : शिक्षा के अधिकार अधिनियम 2009 को लागू हुए 10 वर्षों से भी अधिक का समय बीत जाने के बावजूद आज भी अनिवार्य एवं नि:ुल्क शिक्षा नहीं मिल पा रही है। राज्य सरकारों ने अपने स्कूलों में अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा के साथ-साथ मिड डे मील, निःशुल्क गणवेश, निःशुल्क पाठ्य पुस्तकों, छात्रवृत्ति आदि की व्यवस्था की है। परंतु 6 से 14 वर्ष के बालकों की एक बड़ी संख्या निजी स्कूलों में पढ़ रही है। यू डाइस प्लस 2019-20 की रिपोर्ट के अनुसार भारत में कुल 778842 (कक्षा 1 से 5 तक) के प्राइमरी विद्यालय थे जिनमें 661369 सरकारी एवं सरकारी सहायता प्राप्त कक्षा एक से पांच तक के प्राथमिक विद्यालय तथा 117473 निजी मान्यता प्राप्त प्राथमिक विद्यालय एवं अन्य प्राथमिक विद्यालय थे। सरकारी एवं सरकारी सहायता प्राप्त प्राथमिक स्कूलों 72374001 छात्र नामांकित थे तथा निजी स्कूलों में 49312702 छात्र नामांकित थे। 59% छात्र सरकारी स्कूलों में पढ़ रहे थे जबकि 41% छात्र प्राइवेट स्कूलों में अध्ययनरत पाए गए। निजी स्कूलों में पढ़ने वाले छात्र मोटी फीस अदा करते हैं क्योंकि निजी स्कूलों का एकमात्र उद्देश्य लाभ कमाना होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि निजी स्कूलों के चलते निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा को प्रवृत्त करना एक बड़ी चुनौती है।

छात्र शिक्षक अनुपात की चुनौती : राज्य सरकारें अपने यहां लगातार शिक्षकों की भर्ती कर रही हैं परंतु उसके बाद भी सरकारी स्कूलों में छात्र शिक्षक अनुपात शिक्षा अधिकार अधिनियम 2009 के प्रावधानों के अनुरूप नहीं हैं। यू डायस प्लस रिपोर्ट 2019-20 के अनुसार भारत के कक्षा 1 से 5 तक के सरकारी एवं सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों में कुल 72374001 छात्र नामांकित थे जिनके सापेक्ष कुल 1872037 शिक्षक कार्यरत पाए गए। इन स्कूलों में छात्र शिक्षक अनुपात 38.66 पाया गया जबकि कुछ राज्यों की स्थिति अत्यंत खराब पायी गयी। उत्तर प्रदेश में कक्षा 1 से 5 तक सरकारी स्कूलों में 12132357 छात्र नामांकित थे जिनके सापेक्ष कुल 317184 शिक्षक कक्षा 1 से 5 तक के सरकारी स्कूलों में कार्यरत थे। उत्तर प्रदेश के सरकारी सहायता प्राप्त एक से पांच तक के विद्यालयों में कुल 273339 छात्र नामांकित पाए गए जिनके सापेक्ष कक्षा 1 से 5 तक कुल 1116 शिक्षक

कार्यरत थे। उत्तर प्रदेश के सरकारी प्राइमरी स्कूलों में छात्र शिक्षक अनुपात 38.25 एवं सरकारी सहायता प्राप्त प्राथमिक स्कूलों में छात्र शिक्षक अनुपात 244.92 पाया गया जोकि एक अत्यंत खेद जनक स्थिति है इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा अधिकार अधिनियम 2009 के प्रावधानों के अनुसार प्राथमिक स्तर पर 30 छात्रों पर एक शिक्षक का अनुपात अब भी एक चुनौती है। वही हम देखते हैं कि प्राइवेट स्कूलों में छात्र शिक्षक अनुपात उत्कृष्ट पाया गया जिस कारण भारत में कुल छात्र शिक्षक अनुपात प्राथमिक स्तर पर 26.5 पाया गया। यू डायस प्लस 2019-20 की रिपोर्ट के विशेषण के बाद पाया गया कि उत्तर प्रदेश में प्राथमिक स्तर पर 404411 शिक्षकों के सापेक्ष 317184 शिक्षक कार्यरत थे तथा 87227 प्राथमिक शिक्षकों की कमी पाई गई। उत्तर प्रदेश के सरकारी सहायता प्राप्त प्राथमिक विद्यालयों में 7995 प्राथमिक शिक्षकों के पद रिक्त पाए गए। अतः कहा जा सकता है कि राज्यों के लिए अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा हेतु सरकारी स्कूलों में आदर्श छात्र शिक्षक अनुपात एक बड़ी चुनौंती बना हुआ है।

प्राथमिक शिक्षा का माध्यम एवं समान पाठ्यक्रम की समस्या : शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 के प्रवर्तन में प्राथमिक शिक्षा का माध्यम एक बड़ी चुनौती है क्योंकि प्राथमिक शिक्षा के लिए मातृ भाषा का प्रावधान है परंतु अंग्रेजी माध्यम की तरफ अभिभावकों के रुझान के कारण मातृ भाषा के माध्यम से शिक्षा देना मुश्किल हो रहा है। इस कारण प्राथमिक सरकारी स्कूलों से लोगों का मोह भंग हो रहा है। एक ही राज्य में अलग-अलग माध्यमों से शिक्षा दी जा रही है निजी स्कूलों पर सरकार का कोई नियंत्रण नहीं है। शिक्षा को बिना लाभ वाला व्यवसाय माना जाता है परंतु निजी स्कूल इंग्लिश मीडियम के नाम पर लगातार लूट रहे हैं। दूसरी चुनौती समान पाठ्यक्रम की है जहां कुछ सरकारी स्कूल एन.सी.ई.आर.टी. तथा कुछ एस.सी.ई.आर.टी. के पाठ्यक्रमों को चला रहे हैं परंतु निजी स्कूल अपने मनमाने ढंग से पाठ्यक्रम संचालित कर रहे हैं। इस प्रकार समान पाठ्यक्रम की समस्या शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 के क्रियान्वयन में एक बड़ी चुनौती बनी हुई है।

शिक्षा के बजट की चुनौती : शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 के अनुसार शिक्षा पर जी.डी.पी. के 6% को खर्च करने की बात कही गई है तथा नई शिक्षा नीति 2020 में भी इसे दोहराया गया है परंतु बजट की कमी के चलते अभी केवल जी.डी.पी. का 4% तक ही हम शिक्षा पर खर्च कर रहे हैं। इस प्रकार जब तक हमारी आर्थिक स्थिति में सुधार नहीं होता और जब तक हम शिक्षा का विकास करने हेतु जी.डी.पी. का 6% खर्च करने की स्थिति में नहीं आ जाते तो यह भी एक चुनौती ही बना रहेगा।

भौतिक सुख सुविधाएं एवं अवसंरचनात्मक ढांचे की चुनौती : भौतिक सुविधाओं से तात्पर्य विद्यालय की इमारतों के साथ-साथ फर्नीचर, पेयजल, बिजली, पंखा, छात्र-छात्राओं के लिए अलग-अलग शौचालयों आदि की व्यवस्था से है। निजी स्कूलों ने तो अपने यहां पर अवसंरचनात्मक ढांचे को अच्छा खासा विकसित किया हुआ है परंतु सरकारी स्कूलों में अवसंरचनात्मक भौतिक व्यवस्थाओं में आज भी कमी दिखाई पड़ रही हैं। यू डायस प्लस 2019-20 की रिपोर्ट के आधार पर पूरे देश में 81.48% सरकारी स्कूलों में बिजली की व्यवस्था पाई गई। उत्तर प्रदेश के सरकारी प्राथमिक स्कूलों में 74.72% बिजली की व्यवस्था पाई गई। पेयजल उपलब्धता पूरे देश में 97.1% प्राथमिक स्कूलों में थी। देश के 89.88% सरकारी स्कूलों में छात्र शौचालय संचालित अवस्था में पाए गए तथा उत्तर प्रदेश में लड़कों के शौचालय 94.57% संचालित अवस्था में पाए गए। भारत में लड़कियों के लिए अलग शौचालय सरकारी स्कूलों में 92.95% पाया गया तथा हैंड वॉश की सुविधा 88.05% सरकारी स्कूलों में पाई गई। इस विश्लेषण के बाद हम कह सकते हैं कि सरकारी स्कूलों में भौतिक सुविधाओं में वृद्धि अवश्य हुई है परंतु जैसे फर्नीचर आदि की व्यवस्था अभी भी चुनौती पूर्ण है। कुछ राज्यों के स्कूलों में आज भी टाट-पट्टी की व्यवस्था चल रही है। इस प्रकार शत-प्रतिशत भौतिक सुविधाओं की प्राप्ति विद्यालयों के लिए अभी भी चुनौती बनी हुई है।

निजी स्कूलों में शिक्षा के अधिकार अधिनियम 2009 के अनुसार 25% बच्चों को निःशुल्क शिक्षा हेतु प्रवेश की समस्या : शिक्षा के अधिकार अधिनियम 2009 के अनुसार निजी स्ववित्त पोषित स्कूलों में आर्थिक एवं सामाजिक स्तर पर पिछड़े बालकों के प्रवेश का प्रावधान किया गया है। दुर्बल वर्ग के 25% बच्चों को निजी स्कूल अपने यहां प्रवेश देंगे, ऐसा प्रावधान किया गया है परंतु निजी स्कूलों की हठधर्मिता तथा मनमानी के कारण 25% गरीब छात्रों को निःशुल्क प्रवेश दिलाना बड़ा चुनौती पूर्ण कार्य है क्योंकि निजी स्कूल कुछ ना कुछ बहानेबाजी करके अपने यहां प्रवेश करने से बचते हुए दिखाई पड़ते हैं। कुछ स्कूल केवल कागजों में अपने यहां प्रवेश दिखाते हैं वास्तविक स्थिति एकदम अलग होती है। सरकार का निजी स्कूलों पर खास नियंत्रण नहीं होता। इस कार्य हेतु प्रभावी व्यवस्था राज्य सरकारें करेंगी तभी कुछ सकारात्मक परिणाम निकलने

की संभावना है।

गैर शैक्षणिक प्रयोजनों में शिक्षकों को लगाए जाने की समस्या : देश के अधिकतर राज्यों में सरकारी मिशनरियों में मानव शक्ति की कमी के कारण प्राथमिक सरकारी स्कूलों के शिक्षकों को समय-समय पर गैर शैक्षणिक प्रयोजन हेतु अभियोजित किया जाता रहा है जबकि शिक्षा के अधिकार अधिनियम 2009 के अनुसार चुनाव एवं जन गणना कार्य को छोड़कर अन्य किसी भी कार्य हेतु शिक्षकों को अभियोजित नहीं किया जा सकता। परंतु आए दिन समाचार पत्रों में न्यूज़ छपती है कि शिक्षकों को मतदाता सूची अद्यतन कार्य, राशन वितरण, हाउस होल्ड सर्वे जैसी अनेक कार्य हेतु अभियोजित किया जाता रहता है। यह समस्या अत्यंत गंभीर चुनौती के रूप में सामने आई है क्योंकि शिक्षकों को उनके मूल कार्य से इतर लगाने पर शैक्षिक गुणवत्ता की आशा करना बेमानी होगा। प्राथमिक स्कूलों के शिक्षक एक सफाई कर्मी से लेकर लिपिक रसोईया जन संपर्क अधिकारी के साथ-साथ तमाम अन्य भूमिकाएं अदा करता है और बचे हुए समय में वह शिक्षण कार्य करता है जिससे बालकों की शिक्षा के अधिकार का हनन होता है। इस प्रकार शिक्षकों को गैर शैक्षणिक प्रयोजनों में न लगाने की चुनौती अत्यंत बड़ी है।

निष्कर्ष एवं सुझाव : उपरोक्त विश्लेषण के बाद कहा जा सकता है कि आज 10 वर्ष से अधिक का समय बीत जाने के बाद भी शिक्षा अधिकार अधिनियम 2009 के शत-प्रतिशत क्रियान्वयन में चुनौतियां बरकरार हैं। इन चुनौतियों से पार पाकर ही हम अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा के अधिकार को साकार रूप दे सकेंगे तथा एक साक्षर एवं शिक्षित भारत का निर्माण संभव हो सकेगा। बालकों के अधिकारों के संरक्षण और शिक्षा हेतु हमें सरकारी आंकड़ों के अलावा जमीनी स्तर पर निष्पक्ष अवलोकन और सपोर्टिव सुपर विजन की आवश्यकता है जिससे प्राथमिक शिक्षा के उन्नयनीकरण में आने वाली समस्याओं की वास्त विकता को जाना जा सके तथा उनका स्थाई समाधान किया जा सके। शोध-पत्र की सीमा के कारण शिक्षा के अधिकार अधिनियम 2009 के क्रियान्वयन में आने वाली कुछ चुनौतियों को शामिल किया गया है। दूसरी समस्या एवं चुनौतियों तथा प्रावधानों को शामिल करके अन्य शोध-पत्र प्रकाशित किए जा सकते हैं।

संदर्भ

- पाण्डेय, रामशकल (2003), उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, पृ. 4
- Government of India the right of children to free and compulsory education RTEAct 2009 Ministry of Human Resource Development New Delhi, page 1& 13
- उत्तर प्रदेश सरकार उत्तर प्रदेश निःशुल्क एवं अनिवार्य बाल शिक्षा का अधिकार नियमावली 2011, शिक्षा अनुभाग 5, सरकारी गजट, उत्तर प्रदेश, पृ. 1-22
- Unified district information system for education Plus (udise Plus) 2019-20 Government of India Ministry of education department of school education and literacy, page 24 &142
- राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020, मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार, पृ. 6-16
- लाल रमन बिहारी एवं शर्मा कृष्णकांत (2014), भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्याएं, लाल बुक डिपो मेरठ, पृष्ठ संख्या 328-379
- गुप्ता एस. पी., अनुसंधान संदर्शिका संप्रत्यय, कार्य विधि एवं प्रविधि, शारदा पुस्तक भवन इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या 54-106

शुभम यादव
असिस्टेंट प्रोफेसर, भूगोल विभाग,
जे.एल.एन. (पी.जी.) कॉलेज, एटा

डा. आशीष कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षा शास्त्र विभाग,
भदावर विद्या मंदिर (पी.जी.) कॉलेज, बाह, आगरा

प्लेटो की प्रारंभिक ज्ञान की अवधारणा : एक विमर्श

—डा. विवेक सिंह

विकासवादी सामान्यतः प्लेटो के प्रारंभिक संवादों के द्वारा सुकरात का चित्रण करते हैं इसलिए प्लेटो के प्रारंभिक संवादों को कभी-कभी सुकराती संवाद भी कहा जाता है। यद्यपि इस संवादों में ज्ञानमीमांसा का कोई व्यवस्थित या क्रमबद्ध विवरण नहीं दिया गया है, फिर भी कई सामान्य ज्ञानमीमांसा संबंधित विचार सुकरात द्वारा व्यक्त किए गए हैं। इनमें से सबसे सर्वव्यापी को 'ज्ञान का अस्वीकरण' के रूप में जाना जाता है।[1] आधुनिक अध्ययनकर्ताओं ने इस अस्वीकरण को चिह्नित करने के सर्वोत्तम तरीके पर आपस में बँटे है लेकिन इसके कुछ पहलू निर्विवाद है। प्रथमतः सुकरात अपने अस्वीकरणों में ज्ञान का प्रयोग बौद्धिकता के रूप में करते हैं और न केवल किसी भी प्रकार की बौद्धिकता बल्कि विशेष रूप से, वह ज्ञान जिसे वह 'सबसे महत्वपूर्ण वस्तुएं' कहता है। तदनुसार, ज्ञान न होने का दावा करते हुए सुकरात सार्वभौम संशयवाद के लिए स्वयं को प्रतिबद्ध नहीं कर रहा है। इसके अलावा, कई खंड पाए जा सकते हैं जिसमें सुकरात या तो किसी प्रकार का ज्ञान होने का दावा करते हैं या दूसरों को कुछ ज्ञान[2] या बौद्धिक[3] होने का श्रेय देते हैं। दूसरा, जिस प्रकार का ज्ञान सुकरात अपने पास नहीं होने का दावा करता है वह केवल या विशुद्ध रूप से सूचनात्मक नहीं है, बल्कि इसमें तकनीकी कौशल जैसी कोई चीज भी शामिल है।[4] तीसरा, सुकरात के पास जिस प्रकार के ज्ञान का अभाव है, वह नैतिक शब्दों का निश्चित ज्ञान है, जिसके बिना कोई यह व्याख्या नहीं कर सकता है कि कौन सी बात किसी नैतिक निर्णय को सही या गलत बनाती है।[5] अंत में, सुकरात के पास जिस ज्ञान की कमी है, वह भी अन्य सभी मनुष्यों के पास नहीं है। यही कारण है, इसे सुकरात ने 'एपोलॉजी' में रखा है, जब डेल्फी की देवी ने चेरफोन से कहा कि सुकरात से अधिक बुद्धिमान कोई नहीं है। उसके अनुसार मानव ज्ञान बहुत सीमित है या उसका कोई मूल्य नहीं है। और ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसा व्यक्ति सुकरात है और मेरे नाम का उपयोग करने के लिए, मुझे उदाहरण के रूप में लेते हुए, जैसे कि कहने के लिए, ''तुम में से यह, हे मनुष्य, सबसे बुद्धिमान है, जैसा कि सुकरात है'' क्योंकि वह यह सत्य जानता है कि वह ज्ञान के संबंध में बेकार है।

सुकरात के पास वह है जिसे कुछ विद्वानों ने 'गैर-विशेषज्ञ ज्ञान' कहा है।[6] उसके और अन्य सभी मनुष्यों के पास 'सबसे महत्वपूर्ण चीजों' के 'विशेषज्ञ ज्ञान' की कमी है, जिसके द्वारा उनका आशय यह जानना है कि कैसे अच्छी तरह

जीना है, जिसमें कम से कम संपूर्ण समझ एवं सभी मूल्यों पर अधिकार शामिल है। ऐसा लगता है यह बाद का ज्ञान है, जो केवल देवताओं के लिए उपलब्ध है। लेकिन भले ही केवल देवता ही विशेषज्ञ अर्थों में जान सकते थे, सुकरात का स्पष्ट रूप से विश्वास था कि हम ज्ञानमीमांसीय सुधार के लिए सक्षम हैं। जिसे प्रश्न पूछने की सुकरातीय पद्धति के रूप में जाना जाता है, उसमें ज्ञानमीमांसीय आशावाद अंतर्निहित है। इसका आशय है कि जब हमारे विचारों में विसंगतियाँ हमारे सामने प्रकट होती हैं, तो हम जो कुछ भी करते हैं, उसके ज्ञानमीमांसीय मूल्य के बारे में आशावाद का एक रूप। सुकराती प्रश्नावली के जवाब में, वार्ताकारों को उनके संज्ञानात्मक प्रणाली में विसंगति को समाप्त करने के लिए अपने विचारों में से एक को पृथक करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। एक निराशावादी यह तर्क दे सकता है कि एक वार्ताकार जो निर्णय लेता है वह सही होने की तुलना में गलत होने की संभावना अधिक है। लेकिन सुकरात का मानना है कि वार्ताकार जो भी निर्णय लेता है वह वार्ताकार की संज्ञानात्मक प्रणाली में सुधार होने की संभावना है। वह कभी भी स्पष्ट रूप से यह नहीं बताता है कि वह ऐसा क्यों सोचता है। लेकिन सुधार हम सभी के द्वारा सहज रूप से धारण किए गए संज्ञानों से प्राप्त होता है। यही कारण है कि हम कभी-कभी सुकरात को दूसरों के लिए सही मान्यताओं के रूप में जिम्मेदार मानते हैं। यहाँ तक कि इन अन्य लोगों के लिए भी उन विश्वासों को धारण करने से सख्ती से इंकार करते हैं।[7] इसका सैद्धांतिक आधार जो भी हो, यह सुकरात की ज्ञानमीमांसा संबंधी आशावाद है। हम मान सकते हैं जिसने उन्हें यह दावा करने के लिए प्रेरित किया कि अनपेक्षित जीवन मानव के लिए जीने लायक नहीं है। हालाँकि, क्योंकि कोई भी सुकरात से अधिक बुद्धिमान नहीं है, जैसा कि देवी ने कहा। सुकराती ज्ञानमीमांसीय आशावाद ने कोई महत्वपूर्ण आशा प्रदान नहीं की कि कोई भी मनुष्य उस ज्ञान को कैसे प्राप्त कर सकता है जिसकी सुकरात के पास कमी थी। यहाँ तक कि सबसे गंभीर प्रश्नकर्ता भी कितनी प्रगति प्राप्त कर सकता था। सुकरातीय ज्ञानमीमांसीय आशावाद, तदनुसार, काफी हद तक ज्ञानमीमांसीय निराशावाद द्वारा गंभीर रूप से सीमित था।

'थियाटिटस' प्लेटो द्वारा रचित एकमात्र संवाद है जो पूरी तरह से इस सवाल के लिए समर्पित है कि ज्ञान क्या है? यह संवाद स्वयं समकालीन अध्ययनकर्ताओं के लिए निराशाजनक हो सकता है क्योंकि बहुत सारे तर्क स्पष्ट भ्रम, विशेष रूप से झूठे विकल्पों को समर्थन करते प्रतीत होते हैं। लेकिन इनमें से कम से कम अधिकांश समस्याएं उस पद्धति का परिणाम है जिसे प्लेटो ने सुकरात से संवाद में प्रदर्शित किया है। इस संवाद में दोहराया गया ज्ञान का परिचय सुकराती अस्वीकरण है, लेकिन यहाँ अस्वीकरण को एक बहुत ही नये संदर्भ में लागू किया गया है। अब ऐसा लगता है कि सुकरात के ज्ञान की कमी सार्वभौमिक नहीं है। अन्य अब दावा करते हैं कि उनके पास वह ज्ञान हो सकता है जिसकी उन्हें कमी प्रतीत होती थी। प्रश्नकर्ता के रूप में उनकी भूमिका 'दाई का काम' जैसी बन गई है, क्योंकि वे दूसरों की उस ज्ञान को जन्म देने में मदद करते हैं जो उनके भीतर है। स्मरण कीजिए, प्रारंभिक संवादों में सुकरात सबसे अधिक बुद्धिमान थे क्योंकि उन्होंने स्वयं ही अपने बुद्धि की अज्ञानता को पहचाना था। संवाद का यह पहलू उस बात की पुष्टि करता है जिसे 'ज्ञानमीमांसीय आशावाद' कहा है। लेकिन शेष संवाद इस आशावाद को समझने या बनाए रखने के लिए कुछ भी प्रदान नहीं करता है, क्योंकि संवाद स्वयं निराशाजनक परिणाम के साथ समाप्त होता है कि थियाटिटस ने वास्तव में किसी भी ज्ञान को जन्म नहीं दिया। सोक्रेटिक मिडवाइफरी की समस्या को थियाटिटस के साथ बातचीत में उदाहरण द्वारा बताया गया है। वार्ताकार वास्तविक ज्ञान के स्थान पर प्रेत के साथ गर्भवती हो सकते हैं और यह सुकरात की दाई के रूप में नौकरी का भी हिस्सा है जो सत्य को असत्य से अलग करता है। फिर भी, ऐसा कोई संकेत नहीं दिया गया है कि थियाटिटस की विफलता एक ऐसी चीज है जिसकी हमें हर गर्भावस्था से उम्मीद करनी चाहिए।

थियाटिटस यह कहने के लिए ज्ञान क्या है, कई प्रयास करता है। इनमें से पहला यह है कि 'ज्ञान धारणा (perception) है'।[8] इस सिद्धांत को एक लंबी चर्चा के बाद विफल दिखाया गया है। साधारणतया इस आधार पर कि कोई उन चीजों को देख या ग्रहण कर सकता है जिन्हें कोई नहीं जानता। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति बोली गई विदेशी भाषा सुन सकता है (या लिखा हुआ देख सकता है) परंतु वह क्या ग्रहण करता है या समझता है, नहीं जानता। और इसलिए भी कि अगर ज्ञान सिर्फ धारणा है, तो कोई ज्ञान नहीं हो सकता है। जहाँ कोई धारणा नहीं है उदाहरण के लिए पूर्व की धारणा की स्मृति से कोई ज्ञान नहीं हो सकता है— ज्ञान गायब हो जायेगा जैसे ही जानने वाले ने आँखें बंद की। असत्य निर्णय के बारे में पहेली से जुड़े एक लंबे तर्क के बाद, सुकरात और थियाटिटस ने यह विचार दिया कि ज्ञान स्मृति से ज्यादा कुछ और हो सकता है। इस प्रतिमान में, आत्मा की तुलना मोम की गोली से की जाती

है जो धारणा के माध्यम से बाहरी दुनिया से छाप (impressions) प्राप्त करती है। लेकिन केवल वे जो पर्याप्त और स्थायी प्रभाव छोड़ते हैं, उन्हें ज्ञान के रूप में गिना जाता है। इस सिद्धांत को इस आधार पर विफल दिखाया गया है कि यह गैर-धारणात्मक विवरणों (विवरणों में अंकगणतीय त्रुटियों को शामिल किया गया) के लिए गलत निर्णय असंभव प्रतीत होता है क्योंकि साधारण संख्याओं के 'छाप' पर्याप्त एवं स्थायी दोनों प्रतीत होते हैं, इस मामले में उन्हें शामिल करने वाली त्रुटियाँ अकथनीय लगती हैं। इस विफलता की प्रतिक्रिया में, सुकरात ने आगे प्रस्ताव दिया कि आत्मा को पिजड़ा माना जाये, जहाँ पिजड़े में 'पक्षी' ज्ञान है, लेकिन ये कभी-कभी यह बच निकल जाते हैं। और अन्य समय में, यहाँ तक कि जब किसी के पिजड़े में एक पक्षी होता है, तब भी हो सकता है कि वह वास्तव में उस पक्षी को अपने नियंत्रण में न रखे। चीजें सीखी गईं लेकिन अब संज्ञानात्मक रूप से उपलब्ध नहीं है, वे पिजड़े में अग्रसित पक्षियों की तरह होंगी। इस तरह सुकरात ने उस अंतर का परिचय दिया जिसे अब स्वाभाविक और आकस्मिक ज्ञान कहा जाता है। असत्य निर्णय की समस्या यहाँ फिर से उठती है, हालाँकि, ऐसा लगता है कि एक पक्षी को दूसरे के साथ पहचानने की आवश्यकता होगी। जहाँ पहचान के लिए आधार केवल एक दूसरा (सत्य) पक्षी हो सकता है, जो थियाटिटस को बेतुके ढंग से सुझाव देता है कि शायद पिजड़े में पक्षियों में अज्ञानता के सकारात्मक अंश भी शामिल होने चाहिए। एक बार सुकरात ने दिखाया कि यह सुझाव कितना अनुपयोगी है, थियाटिटस अधिक आशाजनक रूप से प्रस्तावित करता है कि 'ज्ञान सच्चा निर्णय है' (जिसका अनुवाद 'विश्वास' किया गया है)।[9] यहाँ तर्क यह है कि एक समकालीन दार्शनिक अधिक संतोषजनक पायेंगे, यदि यह भी भविष्यवाणी करने में सक्षम हैः अब समस्या यह है कि लोगों को गलत कारणों के माध्यम से सही विश्वास रखने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। सुकरात उदाहरण देता है कि एक मामला जूरी के बारे में सही विश्वास रखने के लिए नेतृत्व किया जा रहा है लेकिन विकृतियों के आधार पर या मामले की पैरवी करने वाले अधिवक्ताओं द्वारा पेश किए गए केवल आंशिक सत्य। थियाटिटस एक औचित्य शर्त की तरह कुछ जोड़कर इस आपत्ति पर प्रतिक्रिया करता हैः वह अब दावा करता है कि 'ज्ञान, एक दिए गए विवरण के साथ सही निर्णय है' (जिसका अनुवाद 'कारण' भी किया गया है)। लेकिन अब सुकरात और थियाटिटस को यह तय करना होगा कि किसी चीज का 'विवरण' होने के लिए क्या आवश्यक है। यहाँ समस्या उसी के समान है जिसे अब अनावस्था की प्रामाणिकता कहा जाता है। या तो विवरण की मूल शर्तें (सुकरात इन 'तत्वों' को stoichei कहता है) को नहीं जाना जा सकता है क्योंकि उनका हिसाब नहीं किया जा सकता है। या उन्हें जाना जा सकता है परंतु ज्ञान के विश्लेषण के उदाहरण के रूप में एक विवरण के साथ सही निर्णय के रूप में। सुकरात और थियाटिटस अन्य संभावित विवरणों पर विचार करते हैं कि एक विवरण क्या हो सकता है। इनमें से पहला किसी के विचारों को बोलना या कहना है। इसे हम वास्तव में किसी के विश्वास के लिए किसी के औचित्य को प्रदान करने की कल्पना कर सकते हैं। लेकिन यह विफल हो जाता है क्योंकि सच्चा विश्वास वाला कोई भी व्यक्ति यह समझा सकता है कि वह क्यों विश्वास करता है कि वह क्या करता है। अगली संभावना यह है कि एक विवरण वस्तु के सभी घटक भागों का एक विस्तृत विवरण होगा, लेकिन (अनावस्था दोष से बचने के लिए) यह उस तरह के अविनाशी तत्वों की ओर ले जाता है जिसने पहली जगह में समस्या पैदा की। वे जिस आखिरी संभावना पर विचार करते हैं वह यह है कि एक विवरण में एक विशिष्ट चिन्ह प्रदान करना शामिल हो सकता है जिसे हम मापदंड कह सकते हैं। सुकरात एक उदाहरण के रूप में देता है, सूर्य के विवरण को कहता है कि यह आकाशीय पिंडों में सबसे चमकीला है। यह सुझाव इस आधार पर धराशायी हो जाता है कि मापदंड स्वयं ज्ञात होना चाहिए और इसलिए परिभाषाओं को ज्ञान जोड़ता है साथ ही परिभाषा को परिपत्र प्रदान करता है। यौगिकों (compounds) का ज्ञान, इस संस्करण में, भेद चिन्ह का ज्ञान के संदर्भ में परिभाषित किया जाएगा। लेकिन अब हमें उस तरह के ज्ञान की परिभाषा की आवश्यकता है। इस बिंदु पर, थियाटिटस बस हार मान लेता है, जिसके बाद सुकरात ने लड़के को केवल हवा हवाई बातें करने वाला कहा।

संवाद के अंतिम युक्ति में सुकरात के अविश्लेषणीय तत्वों में प्लेटो के आकारों को देखना आकर्षक है (हालाँकि उहें कभी भी इस तरह नामित नहीं किया गया है।), इस विवरणमें शायद इन तत्वों के एक अलग प्रकार के ज्ञान को उस चक्रीयता से बचने के लिए आमंत्रित किया जा सकता है जो अंतिम गतिरोध की ओर ले जाता है।[10] लेकिन ऐसा लगता है कि आकारों का सिद्धांत प्लेटो द्वारा अपने जीवन में इस समय तक संशोधन के तहत किया गया है क्योंकि यह 'पार्मेनाइडीज' में व्यापक आलोचना के अधीन है। तो ठीक है कि हमें कैसे मान लेना चाहिए कि प्लेटो ने अपने

ज्ञानमीमांसा को अपने तत्वमीमांसा के उपयुक्त करने की माँग की थी। जब उसने थियाटिटस लिखा है कि जितना हम इसे पसंद करते हैं उससे कम स्पष्ट है। यह इस प्रकार है कि संवाद पहेली में समाप्त होता है। और अध्ययनकर्ता को 'सोफिस्ट' और 'स्टेट्समैन' को पढ़कर खोज जारी रखने के लिए आमंत्रित किया जाता है। जहाँ ज्ञान पहले एक नई आध्यात्मिक तस्वीर से जुड़ा होता है और फिर एक आदर्श शासक के रूप में फिर से लागू किया गया। हालाँकि, इन संवादों में ज्ञान की सटीक प्रकृति को कभी भी निर्धारित नहीं किया गया है, और न ही ज्ञानमीमांसा को प्लेटो के बाद के कार्यों में फिर से प्राथमिकता से ध्यान दिया गया है।

सन्दर्भ

1. Examples may be found at Apology 20ct-3, 21d2-7, 23b-7, 23b2-4; charmides 165b4-c2, 166c7-d6,Euthyphro 5a7-c5, 15c12, 15e5-16a4; Laches 186b8-c5,186d8-e3, Lysis 212a4-7, 223b4-8, Hippias Major 286-e2, 304d4-e5,gorgias 509a4-6, Republic I. 337e4-5.
2. Apology 23b2-4m29b9,32b8; Euthydemus 293b7-8, 296e8-297a1, Gorgias 511c4-5, 512b1-2, lon 532d8-e3.
3. Apology 22c9-e1.
4. The association of Knowledge with craft, skill, or expertise (techne) may be found at Apology 22c9-e1; Euthydemus 279d6-280d3; Gorgias 459b1-3, 464c6, Protagoras 361a5-c2.
5. See Gorgias 509a5. On the connection between definitional knowledge and reliable judgement, see Euthyphro 4e1-5d1, 6d9-e7; Hippias Major 304d5-e3; Laches 189e3-190b1; Lysis 223b4-8; Protagoras 312c1-4. For discussion of the implications of these passages, see Brickhouse and Smith (1994:36-60).
6. Woodruff, P.B., "Plato's early theory of knowledge", S.Everson (ed.), Companions to Ancient Thought 1: Epistemology, Cambridge University Press,pp. 60-84.
7. See, for example, Gorgias 474b2-8, 475e3-5.
8. Plato, "Theaetetus", tr. By Benjamin Jowett, Phoros books Private Limited, 2020, P. 20.
9. Ibid, P. 60.
10. Lasher, J.H., "Gnosis and episteme in Socrates dream in the Theaetetus", Journal of Hellenic Studies, 1969, pप 72प

डा. विवेक सिंह
दर्शनशास्त्र विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

निर्मल वर्मा कृत 'चीड़ों पर चाँदनी' में जीर्णोद्धार अभिव्यक्ति की पराकाष्ठा और संवेदनात्मक परिणति

—प्रीति सिंह
—रविरंजन कुमार

शोध सार

'यात्रा' मानव जीवन की नीरसता को तोड़ने का एक मात्र साधन है या यों कहें कि जीवन के उस अनुभूति से परिचित कराने का, जिससे वह अभी तक अनभिज्ञ रहा है। अपने जीवन की स्थिरता और अनभिज्ञता के कारण शायद हम दूसरे लोग या दूसरे देश तो क्या अपने आप से भी नहीं मिल पाते हैं। अपनी परिधि से बाहर जाने का प्रयास तक नहीं करते और निरंतर इसी में घूमते रहते हैं। इस शिथिलता और नीरवता से इतर जब हम अपने ही द्वारा लगाई बेड़ियों को तोड़ते हैं तो हम उस अदृश्य वस्तु या जीवन को देख पाते हैं, जो अभी तक हमसे अछूता रहा था, या जिसके प्रति हमारी अज्ञानता का कोई अंत नहीं था। कहते हैं कि किसी देश या किसी जीवन को जानना है तो उनके विचार, उनके साहित्य, उनकी संस्कृति को जानो, उसे समझो, अपने आप ही उस देश की विशुद्ध भावनाओं से आप परिचित हो जाओगे। निर्मल वर्मा अपनी इस कृति में विभिन्न प्रकार के अनुभवों से गुजरते हैं और इसे ही व्याख्यायित करते हुए चलते हैं। लेखक जहाँ से अपनी यात्रा की शुरूआत करता है और जहां पहुंचता है उसके बीच की सारी कहानी ही उनके अनुभव से होकर गुजरती है। लेखक कैसे अपने पूर्वाग्रह के साथ अपनी यात्रा का आरंभ करते हैं और कैसे किसी देश के लोगों से मिलने और वहाँ की संस्कृति को जानने पर एक अलग ही अनुभूति से परिचित होते हैं, इन्ही सभी तथ्यों को आधार बनाकर लेखक के अनुभवों की व्याख्या इस शोध आलेख में किया जा रहा है।

बीज शब्द : प्राग, संस्कृति, साहित्य, आइसलैंड, कम्युनिस्ट, यायावर, बर्लिन, अनुभूति, आधुनिकता

मूल आलेख : मानव जीवन में बहुत से ऐसे पल आते हैं जिन्हें वो सहेज के रखना चाहता है या कभी-कभी उसके

द्वारा बुने हुए कुछ ख्वाब उसके जीवन का आधार बन जाते हैं। उनके द्वारा जिए हुए पल उन्हें प्रेरणा देते हैं लोगों को समझने का और उन्हें अपने आप में आत्मसात करने का। इन्हीं सभी भावनाओं को जीते हुए लेखक भी एक यात्रा पर निकलता है जहां शायद ही कोई जाना चाहेगा वो स्थान है 'आइसलैंड'। लेखक अपनी पुस्तक की भूमिका में ही अपनी यात्रा का वर्णन करते हैं कि उन्हें कुछ ऐसी स्थितियों का सामना करना पड़ा था की वो उन्हें याद तक नहीं करना चाहते हैं, एक स्थान पर वो वर्णित करते हैं, ''लेकिन घोर निराशा और दैन्य के क्षणों में भी यह खयाल कि मैं इस दुनिया में जीवित हूँ, हवा में सांस ले रहा हूँ, हमेशा एक मायावी चमत्कार जान पड़ता है।''[1] यहाँ लेखक अपनी यात्रा के दौरान पड़ने वाले विभिन्न प्रकार के कारणों से त्रस्त होकर ऐसा कहते हैं। 'आइसलैंड' एक ऐसा देश जो अपने आप में विभिन्न प्रकार के गुणों को समाहित किए हुए है और अपनी यात्रा के दौरान लेखक भी इनके गुणों का कायल हो जाता है। किसी देश को अपनी यथार्थता बनाए रखने के लिए क्या करना चाहिए, अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए कोई देश क्या-क्या कर सकता है? आप और हम यदि सोचे तो हमारा मत होगा की सैन्य सुदृढ़ीकरण, टेक्नोलॉजी का ज्यादा से ज्यादा प्रयोग और विश्व स्तर पर अपना वर्चस्व। परंतु एक ऐसा देश जिसने इन सभी उपायों में से कुछ भी नहीं किया। इसी संदर्भ में विभिन्न स्थानों पर लेखक अनेक बातों को वर्णित किए हुए चलते हैं। लेखक एक ऐसे देश का वर्णन करता है जो तीन सौ साल से भी ज्यादा गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा रहा। जहां की आबादी बहुत ही कम है, परंतु वहाँ की संस्कृति और भाषा पर उस शासक देश का प्रभाव नाम मात्र ही पड़ा। किसी भी देश के सुदृढ़ीकरण का आधार उसकी संस्कृति ही है। अपनी संस्कृति के संरक्षण से ही उस देश का अस्तित्व बना रह सकता है। इस संदर्भ में बाबू गुलाब राय लिखते हैं, ''संस्कृति का एक ही मूल उद्देश्य मानते हुए भी हम कह सकते हैं कि संस्कृति देश-विदेश की ऊपज होती है, उसका संबंध देश के भौतिक वातावरण और उसमें पालित, पोषित एवं परिवर्धित विचारों से होता है''।[2] निर्मल वर्मा विभिन्न प्रकार की बातों को वर्णित करते हुए आइसलैंड की संस्कृति और भाषा के प्रति प्रेम को बताते हैं। लेखक सर्वप्रथम जब 'प्राग' शहर से अपने मित्र के साथ आइसलैंड जाते हैं, तो वहाँ वह विभिन्न अनुभवों से गुजरते हैं। उनका मन मस्तिष्क कभी द्वन्द्व की भावना से ग्रसित होता है तो कभी रोचकता और अनुराग से भर जाता है। एक स्थान पर लेखक वर्णित करते हुए लिखते हैं, ''मैं कहता हूँ की हर यात्री को अपनी झोली खोलकर यात्रा करनी चाहिए जो न मिले उसका दुःख न करके जो मिले उसे समेट कर ही अपने भाग्य की सराहना करनी चाहिए। क्योंकि यह तो मैं अपने अनुभव से जानता हूँ की सुख का अभाव कभी दुःख का कारण नहीं बनता, उलटे एक नए अपरिचित सुख को जन्म देता है''।[3] इस संदर्भ से लेखक के भाव स्पष्ट रूप से समझ में आ रहे हैं। इसके साथ ही साथ निर्मल वर्मा एक यायावर को केंद्र में रखकर सिख भी दे रहे हैं कि किसी भी यायावर को बिना कुछ खोने और पाने की चिंता किए बिना बस यात्रा करनी चाहिए। इस आधार पर ही चलकर एक यायावर को शायद दुःख में भी सुख की अनुभूति होने लगे। लेखक अपनी यात्रा का वर्णन प्राग शहर से आरंभ करते हैं जहां से उनका जुड़ाव है और वहाँ की प्रत्येक अनुभूतियों को किसी अन्य स्थान पर जाने के साथ तुलनात्मक आधार भी देने लगते हैं तो कभी यात्रा के बीच हो रही परेशानियों से खिन्न होकर आने के निर्णय को गलत भी समझने लगते हैं। परंतु उनका वहाँ जाना और वहाँ के लोगों, लेखकों और वहाँ की संस्कृति से रूबरू होना लेखक के जीवन को एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान करता है। लेखक दो देशों के बीच यात्रा कर रहे थे। एक देश जो घोर कम्युनिस्ट है और दूसरा देश उससे बिल्कुल अलग। जब लेखक एक स्थान पर प्राग के 'आर्यन कर्टेन' के पीछे रहने की बात करते हुए लिखते हैं कि यह स्थान घोर कम्युनिस्टों का आधार स्थल है और यहाँ रहने वाला प्रत्येक इंसान घोर कम्युनिस्ट है, ''मैं भारतीय हूँ यह इतना महत्वपूर्ण नहीं जितना यह कि मैं एक कम्युनिस्ट देश से आ रहा हूँ''।[4] निर्मल वर्मा अपनी यात्रा को जब आरंभ करते हैं तो उसके साथ ही साथ अपनी एक इच्छा का वर्णन भी करते हैं, कि कैसे उनका बर्लिन जाने और वहाँ ठहरने का बड़ा मन था। बर्लिन एक ऐसा शहर जो अपनी खूबसूरती से ज्यादा अपनी त्रासदी के लिए पूरे विश्व में प्रसिद्ध है। एक ऐसा देश जो पूर्ण रूप में था और अचानक उसका विभाजन होता है और वीभत्सता की जिस स्थिति तक सोचा जा सकता है उस स्थिति तक पहुंच जाता है। बर्लिन के विभाजन के विषय में लेखक वर्णित करते हुए लिखते हैं, ''शीतयुद्ध की इतनी नंगी बेलौस तस्वीर शायद यूरोप के किसी शहर में दिखाई नहीं देती''।[5] कुछ सत्य मनुष्य के जीवन में एक कड़वी याद बनकर रह जाती है, और ये यादें कई पीढ़ियों को इसी रूप में विचलित और प्रभावित करती रहती हैं। अपनी भयावहता लिए हुए एक शीतयुद्ध न जाने कितनी जिंदगियों को इस घिनौने सत्य के साथ जीने को मजबूर करती है, कितनी ही

उदासीनता और शिथिलता का द्योतक बन जाती है। 'शीतयुद्ध' की निंदा हमेशा से ही विश्व स्तर पर होती रही है। बर्लिन के विषय में वर्णित करते हुए 'धर्मवीर भारती' लिखते हैं, "इतिहास में पढ़ी दिल दहला देने वाली घटनाओं की साक्षी एक इमारत, एक बुर्ग, एक टूटी सीढ़ी या कभी-कभी एक ईंट भी छूओ तो लगता है एक पूरे युग को छू रहें हो। उस युग के संघर्ष, रक्तपात, आकांक्षाएं, लालसाएं, उत्तराधिकार सब अतृप्त प्रेतों की भांति उस पुरानी ईंट के चारों ओर अभी भी चक्कर काट रहे हैं''।[6] इस प्रकार एक देश की वो घिनौनी तस्वीर जिसमें मानव जीवन और उनकी संवेदनाओं का कोई स्थान नहीं है ऐसी बर्बरता का वर्णन विभिन्न विद्वान अपने-अपने अनुसार करते हैं। मानवीय जीवन की वीभत्सता को व्याख्यायित करती हुई बर्लिन की ये अनुभूतियाँ सभी को अपने चपेट में लिए हुए है। इस संदर्भ में रामधारी सिंह दिनकर वर्णित करते हैं, ''बर्लिन महान है, लेकिन उसके सपने में प्रेत घूमते हैं। बर्लिन खूबसूरत है लेकिन उसके कलेजे में गाँस गड़ी हुई है।''[7] विभिन्न रचनाकारों ने अपने यात्रा वृतांत में जर्मनी की त्रासदी का वर्णन किया है। लेखक की यात्रा जब बर्लिन से आगे चलते हुए आइसलैंड तक होती है तब वह उस देश के विभिन्न स्थानों, लेखकों व लोगों का वर्णन विभिन्न स्मृतियों और उदाहरणों के साथ करते हैं। आइसलैंड जो अपने आप में विभिन्न उपमानों का आधार हो सकता है, जैसे भाषा, साहित्य, वियर, लेखक इत्यादि। किसी भी देश का अस्तित्व उसकी सांस्कृतिक विरासत में मौजूद होती है और संस्कृति उस देश की भाषा, खान-पान, वेश-भूषा, साहित्य इत्यादि का सम्मिश्रण होता है, इनमें से यदि किसी का भी अंत हो जाए तो संस्कृति के अंत होने में देर नहीं लगेगी। लेखक सर्वप्रथम आइसलैंड के लोगों का वर्णन करते हुए लिखते हैं, ''आइसलैंड के लोगों का दो चीजों के प्रति गहरा लगाव अद्भुत है-वियर और अपनी भाषा। अपनी भाषा के प्रति ललक और प्यार मैंने अपने देश में बंगालियों में और यूरोप में आइसलैंड निवासियों से अधिक कही नहीं देखा''।[8] इस प्रकार देखने पर हमें ज्ञात होगा की लेखक किसी स्थान पर घूमने के साथ-साथ उस देश के लोगों की भावनाओं और विचारों को भी बड़ी गहराई के साथ अपने संज्ञान में लेते हुए चलते हैं। इसके अतिरिक्त लेखक आइसलैंड के लोगों की आत्मीयता, प्रेम और सरल स्वभाव का वर्णन भी खुले दिल से करते हैं। विभिन्न स्तरों और स्थानों पर विभिन्न प्रकार से आइसलैंड के लोगों के स्वभाव और विचार को प्रकट करते हैं। एक स्थान पर आइसलैंड में मिले एक आदमी द्वारा यह कहे जाने पर की तुम उस देश में जाकर अपने आपको कम्युनिस्ट कहना क्योंकि कम्युनिस्टों का वहाँ बड़ा आदर है। लेखक को यह एक विरोधाभास सा प्रतीत होता है क्योंकि यह मनुष्य नियति के बिल्कुल विपरीत है कि जिस चीज या विचार का वह विरोध कर रहा है, उसी से जुड़े लोग उस देश के लिए सराहनीय है। इस संदर्भ में लेखक लिखते हैं, ''शीत युद्ध की राजनीति में, जहां हर चीज काले और सफेद रंगों में देखी जाती है, यह अपने में एक विलक्षण और असाधारण घटना थी। कम्युनिस्ट देशों के बाहर शायद आइसलैंड ही एक ऐसा देश है, जहां लोग कम्युनिस्ट विचारधारा से तीव्र मतभेद रखते हुए भी कम्युनिस्ट नेता के प्रति इतनी गहरी निष्ठा और आस्था प्रकट कर सकते हैं''।[9] मानवीय संवेदना और विभिन्न प्रकार के विचार ये दोनों एक तरफ तो मानव जीवन को विभिन्न संशय में डालती है, परंतु उनके मन मस्तिष्क में एक दूसरे के साथ जीने की ललक भी पैदा करती है।

जब एक लेखक यात्रा करता है और अपनी यात्रा से जुड़े विभिन्न तथ्यों को अपनी लेखनी के माध्यम से प्रस्तुत करता है तो एक बात स्पष्ट है कि उसके विचार बहुत सतही बातों से होते हुए उस तथ्य तक पहुँच जाते हैं, जहां मानव जीवन की परिणति है। लेखक मानवीय संवेदना को अपनी अनुभूतियों के द्वारा गहरे सामंजस्य के साथ स्थापित करता है। इस रचना में विभिन्न ऐसे स्थान आए हैं, जहां हमें ऐसे तथ्य देखने को मिलते हैं। जब लेखक आइसलैंड के लोगों और उनके विचारों को वर्णित करता है तो उनकी सौम्यता पर कायल हो उठता है। उनकी निर्भीकता और अपनत्व की भावना लेखक को अत्यधिक मंत्रमुग्ध कर देती है। मनुष्य का स्वभाव और प्रेम ही तो है जो विदेश में भी अपनापन का आभास होता है। आइसलैंड जैसे देश में जहां तीन सौ वर्षों की गुलामी के बाद भी ये लोग युद्ध और शस्त्रों में विश्वास नहीं करते। यह देश अपनी स्वतंत्रता को अपने तर्कों और वाद-संवाद के जरिए प्राप्त करता है, क्योंकि मानव जीवन को हानि पहुंचा कर वे कुछ पाने को इच्छुक नहीं है। इस संदर्भ में मनोहर श्याम जोशी का यह वक्तव्य बिल्कुल ठीक ठहरता है, ''यह मृत्युबोध ही हम इंसानों को इंसान बनाता है और आपस में जोड़ता है।''[10]

निर्मल वर्मा आइसलैंड के विभिन्न स्थानों से लेकर वहाँ के लेखकों और साहित्य तक का वर्णन खुले विचारों के साथ करते हैं। जब हम यात्रा करते हैं, तो विभिन्न विचारों और उत्सुकताओं के साथ इसकी शुरुआत होती है, जहां हमारे मन में विभिन्न प्रकार के प्रश्न उद्वेलित होते रहते हैं कि जिस स्थान या देश की हम यात्रा करने जा रहे

हैं वह कैसा होगा या उस देश के किस रूप को हम बहुत गहनता व रुचि के साथ देख पाएंगे व महसूस कर पाएंगे। जब किसी देश को देखकर अपने देश की हम उससे तुलना करते हैं तो यह भी हमारी यात्रा का ही हिस्सा होता है। यात्रा मात्र किसी स्थान को देखने तक सीमित नहीं होती क्योंकि हम विभिन्न दृष्टिकोणों से यात्रा करते हैं। रामधारी सिंह दिनकर यूरोप की यात्रा जब करते हैं तब वहाँ के सुख सुविधाओं को देखकर लिखते हैं, ''यूरोप को देखकर भारतवर्ष के संदर्भ में विकलता का बोध होता है। देश का बहुत बड़ा होना गुण भी है और दोष भी''।[11] ऐसे ही विचारों की टकराहट लेखक के मन में भी उठती रहती है। जब लेखक आइसलैंड के लोगों से मिलता है, वहाँ के कलाकार, मूर्तिकार, लेखक इत्यादि से रूबरू होता है, तो विश्व में चल रहे विभिन्न प्रकार के वादों जैसे, सामवाद, आधुनिकतावाद, इत्यादि की ओर देखने का उनका नजरिया ही बदल जाता है। निर्मल वर्मा एक बार एक आइसलैंड के मूर्तिकार 'आसमुन्दुर स्वेन सॉन' से मिलते हैं और आधुनिकता इत्यादि पर उनके विचार जानकर दंग रह जाते हैं। एक स्थान पर सॉन कहते हैं कि अक्सर लोग उनकी मूर्तियों को देखकर उन्हें अत्याधुनिक समझते है परंतु उन्हें आज तक आधुनिकता का अर्थ ही नहीं पता। कितनी अजीब बात है न कि जो मूर्तिकार इतना प्रगतिशील है उसे आधुनिकता का मतलब ही नहीं पता। मूर्तिकार से मिलने के बाद निर्मल वर्मा लिखते हैं, ''आधुनिकता-यदि वह सिर्फ एक खाली शब्द नहीं है, आस-पास की हर चीज को ऐसे अंदाज से देखने और परखने की क्रिया है, जो हमसे पहले किसी भी पीढ़ी के पास नहीं था-सिर्फ देखना-परखना ही काफी नहीं है, उसके लिए एक बिलकुल नए सिरे से जिना जरूरी है-एक ऐसे स्तर पर जहां हर निगाह एक खोज है और हर खोज अपने में एक छोटी सी साहसिकता''।[12] एक स्थान पर पिकासो की एक उक्ति का वर्णन करते हुए निर्मल वर्मा लिखते हैं, ''जो कलाकार आईने में देखे बिना अपनी तस्वीर नहीं बना सकता, वह भला आईने में देखकर ही अपनी स्वयं की तस्वीर बना सकेगा, इसकी क्या गारंटी है? इस संदर्भ में वे आगे लिखते हैं, आधुनिकता पर यही चीज बहुत ठीक उतरती है-जो व्यक्ति कला के आईने से बाहर आधुनिकता को नहीं पहचान पाता, वह उसके भीतर उसे परख सकेगा, मुझे इसमें संदेह है''।[13]

निष्कर्ष

अतः इन विभिन्न प्रकार के विचारों से एक बात तो स्पष्ट है, कि लेखक का अनुभव आइसलैंड को लेकर काफी अच्छा रहा। मात्र किसी स्थान को देखने से शुरू हुई यात्रा एक जुड़ाव का रूप ले लेगी ये शायद लेखक को भी नहीं पता था। मानवीय संवेदना किस-किस रूप में लेखक को प्रभावित कर रही थी उसका वर्णन ही इस यात्रा वृतांत का मूलाधार है। लेखक अपनी यात्रा में एक ऐसे देश को देखते हैं उसे इतने करीब से जानने का प्रयास करते हैं जो शायद बहुत से लोगों के लिए आसान न हो। आइसलैंड देश की ये सबसे बड़ी उपलब्धि है कि किसी को अनभिज्ञ नहीं रहने देता वह स्वयं मनुष्य को आमंत्रित करता है अपने आप से जुड़ने के लिए। निर्मल वर्मा आइसलैंड के लोगों का अपने भाषा के प्रतिप्रेम का, अपनी संस्कृति, अपने जीवन मूल्यों का लेकर संघर्ष के और सहजता का वर्णन बहुत ही स्पष्ट रूप में करते हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. वर्मा, निर्मल, चीड़ों पर चाँदनी, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2021, पृ. 8
2. गुलाब राय, बाबू, भारतीय संस्कृति, रवींद्र प्रकाशन, पाटनकर बाजार, ग्वालियर 1975, पृ. 4
3. वर्मा, निर्मल, चीड़ों पर चाँदनी, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2021, पृ. 99
4. वही, पृ. 41
5. वही पृ. 31
6. भारती, धर्मवीर, यात्रा-चक्र, वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, 1999, पृ. 75
7. दिनकर, रामधारी सिंह, मेरी यात्राएं, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2019, पृ. 70
8. वर्मा, निर्मल, चीड़ों पर चाँदनी, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2021, पृ. 27
9. वही पृ. 51
10. जोशी, मनोहर श्याम, पश्चिमी जर्मनी पर उड़ती नजर, वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ सं. 22
11. दिनकर, रामधारी सिंह, मेरी यात्राएं, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2019, पृ. 16
12. वर्मा, निर्मल, चीड़ों पर चाँदनी, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2021, पृ. 109
13. वही पृ. 109

प्रीति सिंह
शोधार्थी, हिन्दी विभाग, झारखंड केन्द्रीय विश्वविद्यालय (राँची)

रविरंजन कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, झारखंड केन्द्रीय विश्वविद्यालय (राँची)

हिंदी विज्ञान कथाओं की सामाजिक उपादेयता

—डा. आशीष कुमार यादव

मानव सामाजिक प्राणी होने के साथ-साथ चेतन प्राणी भी होता है। समाज में स्वातंत्र्य और चेतना के फलस्वरूप वर्तमान समाज का स्वरूप अत्यंत क्लिष्ट हो गया है। समाज के इस स्वरूप के पीछे मुख्य रूप से विज्ञान की प्रगति व प्रौद्योगिकी की प्रगति रही है। वर्तमान समाज में विज्ञान, तकनीकि और प्रौद्योगिकी के विकास से समाज काफी बदला है। साहित्य और विज्ञान के बीच परस्पर संबंध आज के युग में और महत्त्वपूर्ण हो गया है, क्योंकि वर्तमान सदी विज्ञान व प्रौद्योगिकी की सदी है। विज्ञान ने समाज व मानव जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया है। साहित्य ने विज्ञान को जहाँ पर नयी कल्पनाओं व संवेदनाओं से युक्त किया है, वहीं विज्ञान ने साहित्य को तार्किक, वैज्ञानिक और आधुनिकताबोध से युक्त किया है। मानव चेतन प्राणी है। मानव का सारा 'चैतन्य' उसे तमस के अधोगामी पतन से उबारकर सत्वस्थ उर्ध्वगामी बनाए रखने के लिए सदा से प्रयासरत रहा है। मानव में जब से बुद्धि जाग्रत हुई है तब से कालखण्ड के हर मोड़ों पर मानव ने 'व्यक्ति' और 'परिवेश' के बीच सार्थक संबंधों की तलाश अनिवार्य रूप से की है और उससे उत्पन्न अनुभूतियों को अभिव्यक्ति दी है। यह 'तलाश' उद्घोषित रूप में मानवता के कल्याण, विकास एवं सुख के लिए रही है। इसी तलाश के परिणामस्वरूप 'विज्ञान' का विकास हुआ। इसी तलाश से प्रभावित-प्रेरित होते हुए और बल पाकर आज हम विकास और प्रगति के इस सोपान तक पहुँचे हैं। दूसरी तरफ अनुभूतियों के अभिव्यक्ति का संकलन 'साहित्य' कहलाया। यह साहित्य आज तक पूरी निष्ठा के साथ मानवता के कल्याण एवं पोषण से जुड़ा हुआ है। उल्लेखनीय है कि विज्ञान के विकास से मशीनों का आविष्कार हुआ। औद्योगीकरण की शुरुआत हुई और आधुनिक युग की रूपरेखा तैयार होने लगी। वैज्ञानिक युग तक आते-आते विज्ञान के विकास ने अपनी पूरी रफ्तार पकड़ ली। इसने न केवल देश-दुनिया की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक सोच में बदलाव लाया वरन् साहित्य जगत् को भी बहुत गहरे प्रभावित किया। जीवन-शैली, रचना-शैली, मुद्रण-शैली और दृष्टिकोण के निर्माण आदि में विज्ञान और वैज्ञानिक गतिविधि ने हिन्दी ही नहीं वरन् समग्र वैश्विक साहित्य को अनेक आयामों में बहुविध प्रभावित किया। हिन्दी साहित्य ने भी विज्ञान की महत्ता को समझा। उसके चतुर्दिक प्रभाव को महसूस किया। उसकी सर्वव्यापी पहुँच से अवगत होकर उसे विषयवस्तु के रूप में अपनाया और उसे एक विधा (विज्ञानकथा) के रूप में स्थान दे दिया, क्योंकि प्रत्यक्ष या

परोक्ष रूप से दोनों के उद्देश्य एक ही हैं और वह है मानव कल्याण। 'विज्ञानकथा' नामक इस विधा के रूप में साहित्य और विज्ञान की मित्रता हमारे सामने आई और इसी मैत्री संबंध के संदर्भ में विज्ञानकथा की उपादेयता और प्रासंगिकता स्पष्ट होती है। इस अध्याय में विज्ञानकथाओं की उपादेयता और प्रासंगिकता को रेखांकित करने का प्रयास किया जा रहा है।

विज्ञानकथा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक उपादेयता विज्ञान का प्रकारान्तर से वैज्ञानिक अनुसन्धानों को एक सुनिश्चित दिशा देने की क्षमता के रूप में उजागर होती है। विज्ञानकथाओं में भविष्योन्मुखी कल्पना होती है जो आगे चलकर सच साबित हो सकती है। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि वह सत्य ही साबित हो। यह सम्भावना से अधिक संभाव्य सत्य पर आधरित होती है। विज्ञानकथा या तो सृजनात्मक, सुन्दर, सुखमय भविष्य का वर्णन कर आशान्वित प्रेरणाप्रद होती है या वैज्ञानिक आविष्कारों के दुरुपयोग के दुष्परिणामस्वरूप द्वारा विध्वंस, विनाशमय एवं त्रस्तकारक भविष्य का भयावह खाका खींचते हुए निराशावादी होती है। हालांकि वैज्ञानिक आविष्कार का भला बुरा होना 'उपयोगकर्त्ता के विवेक' पर निर्भर होता है परन्तु अपने स्वरूप के द्वारा ही 'विज्ञान-कथा' वैज्ञानिकों को शिवत्व की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देने का श्लाघ्य कार्य करती है।

हमारी आज की अनेक सामाजिक समस्याओं के हल के बीज विज्ञान-कथाओं की अति विशाल उर्वर कल्पना-भूमि में छिपे पड़े हैं। जनसंख्या की अधिकता से लड़ने के लिए अंतरिक्ष में कृत्रिम मानव बस्तियाँ स्थापित कर जनसंख्या का स्थानान्तरण, प्रदूषण की भयावहता देखते हुए पर्यावरण की स्वच्छता बनाये रखने के लिये धरती के औद्योगिक कारखानों का अंतरिक्ष में संस्थापन, कच्चे माल के लिए पृथ्वी से चुकते भण्डारों की जगह समुद्र या चंद्रमा की धरती से प्राप्य संसाधनों का दोहन आदि ऐसी संभावनाएँ हैं, जिन्हें रेखांकित कर विज्ञान कथायें कल का सच बना सकती हैं। इन्हीं प्रेरणाओं के परिणामस्वरूप वायुयान, रॉकेट, रोबोट आदि से लेकर संचार-उपग्रह तक निर्मित हुए हैं। हम उम्मीद कर सकते हैं कि आगामी भविष्य में आने वाले जनसंख्या संकट, खाद्यान्न संकट, पर्यावरण संकट आदि तमाम विपत्तियाँ जो कि मानवहित में बाधक हैं, 'विज्ञान कथाओं' के जरिये समय रहते ही निवारित होंगी और यही उनकी सबसे बड़ी उपादेयता है। विज्ञान कथा के कई अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। जैसे 'विज्ञान कथा' लोगों को शिक्षा देने का कार्य भी करती है और लोगों को अधुनातन आविष्कारों से, उनके प्रभावों से परिचित कराती है। 'विज्ञान कथा' का एक गौण उद्देश्य मनोरंजन तो होता ही है, साथ ही वह विज्ञान का प्रचार-प्रचार भी करती है। आइजक आसिमोव का मानना था—''विज्ञान कथा 'साहित्य' की वह विधा है जो विज्ञान और प्रौद्योगिकी में संभावित परिवर्तनों के प्रति मानवीय प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्ति देती है।''[1] चूंकि शुद्ध विज्ञान में नीरसता एवं दुरुहता होती है इसलिए सामान्य जनवर्ग इसे आसानी से आत्मसात नहीं कर पाता है। इसी नीरसता एवं दुरुहता को 'कथा' अपने लालित्य में समाहित कर अत्यन्त कम कर देती है और विज्ञान को अत्यन्त सरस, सरल, ग्राह्य, भावप्रवण बनाकर सामान्य जन के समक्ष प्रस्तुत करती है। इसमें कौतुहल उत्पन्न करने के साथ-साथ मानवीय समस्याओं के निवारणार्थ एक सुन्दर कथा के रूप में विज्ञान को प्रस्तुत किया जाता है जिसे पाठक आसानी से आत्मसात् कर लेता है। इसी प्रकार 'विज्ञान व्याख्यान' एवं 'विज्ञान कथा' में अंतर होता है। जहाँ 'विज्ञान व्याख्यान' केवल जिज्ञासु एवं इच्छुक लोगों की ही जिज्ञासा का निवारण कर ज्ञान देता है वहीं 'विज्ञान कथा' सामान्य जन को आकर्षित कर उन्हें विज्ञान से रू-ब-रू कराती है और उनमें वैज्ञानिक प्रवृत्ति को अंकुरित एवं विकसित करती है। हमारे संविधान के मूल कर्तव्यों में एक कर्तव्य 'वैज्ञानिक दृष्टि' के प्रगति एवं विकास का भी है और इस दृष्टि से 'विज्ञान कथाएं' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपादेय व प्रासंगिक हैं।

विज्ञान कथाएँ समाज को विज्ञान की शिक्षा देने के साथ-साथ उनमें विज्ञान एवं वैज्ञानिक प्रगतियों के प्रति रुझान पैदा करने का कार्य भी करती है। क्योंकि जितने भी महत्त्वपूर्ण एवं खर्चीले वैज्ञानिक अनुसन्धान होते हैं वे हालांकि मानवहित के लिए ही होते हैं परन्तु उनके लिए पैसा सामान्य जन से ही आता है। इसलिए ऐसे अनुसन्धानों के लिए जन समर्थन आवश्यक है। विज्ञान कथाओं का एक अप्रत्यक्ष कार्य इस जन समर्थन को जुटाना भी है।

विज्ञान कथाओं की एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक उपादेयता यह भी है कि वे पाठक की कल्पना शक्ति को उद्बुद्ध करती है। लेखक की अनंत कल्पना से पाठक वर्ग का वैचारिक क्षितिज और दृष्टिकोण विस्तारित होता है। ये कार्य मनोरंजन के साथ-साथ संपन्न होते हैं। क्योंकि एक तो यह साहित्य का गुण भी है और विज्ञानकथा साहित्य का अंग है। बल्कि दूसरे मनोरंजन से विहीन होकर 'वह' विज्ञानकथा नहीं वैज्ञानिक प्रबंध मात्र रह जायेंगे।

विज्ञान कथाओं का एक गुरुतर सामाजिक दायित्व मानवता पर मंडराती भयानक विभीषिकाओं से सतर्क करना है। न्यूक्लियर विस्फोट, वातावरण प्रदूषण, जनसंख्या विस्फोट,

पारिस्थितिक असंतुलन, मानव क्लोनिंग के खतरे, ऊर्जा भंडारों का क्षय, भुखमरी, अकाल, बाढ़, महामारी जैसे अनेकानेक प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष समस्याएं हैं जिनके चंगुल से मुक्ति दिलाने में विज्ञान कथाओं की चेतावनी सार्थक सिद्ध हो सकती है। इन समस्याओं की भयावहता विज्ञान कथायें उजागर कर सकती है जिनकी पहचान के बाद हम उनसे जूझने की प्राथमिकताएं निर्धारित कर सकते हैं। इन विशाल उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मनुष्य में एक नई चेतना, एक नये स्वस्थ वैचारिक धरातल की सृष्टि का कार्य यह विज्ञान कथाएँ सफलतापूर्वक कर सकती है। इस प्रकार समय के तीव्र प्रवाह के साथ नई सोचों का निर्माण करना और भविष्य के लिए बेहतर तरीके से तैयार करना विज्ञानकथाओं की महत्त्वपूर्ण उपादेयता है। विज्ञान कथाएँ आने वाले कल के संभावित परिणामों को आज सामने रखकर वे हमारे 'आज' को भी बुद्धिमत्तापूर्ण जीने लायक बनाने का कार्य करती है। युद्ध और अंतर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता के विध्वंस-भयावह परिणामों को दिखाकर वे अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में हमें और सहिष्णु बना सकती है और संभवतः संपूर्ण विश्वशांति और एक सुखी समाज का निर्माण ही सभी विज्ञानकथाओं का मूलमंत्र है। मानव तथा प्रकृति के संबंधों को सुधरना तो उनका प्रमुख उद्देश्य होता है। इस प्रकार शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का उपदेश देती विज्ञानकथायें एक और बात पर बल देती है कि हम इस पृथ्वी के स्वामी नहीं अपितु एक निश्चित अवधि विशेष के लिए ही इसके भण्डारों के उपभोक्ता और संरक्षक हैं। इसलिए नैतिकता की दृष्टि से और व्यावहारिक दृष्टि से हमें इन भण्डारों का मनमाना दोहर और छेड़छाड़ करने का कोई अधिकार नहीं है। इसे हमें भविष्य की आने वाली पीढ़ियों के लिए अमानत के रूप में देखना होगा। यही हमारा कर्तव्य है और इस कर्तव्यबोध को जगाने में विज्ञान कथाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

विज्ञान कथाओं की एक अन्य सामाजिक उपयोगिता मानव मन की जिज्ञासा को शांत करना भी है। मानव मन में एक कौतुहल या प्रबल चाह होती है स्वयं के बारे में जानने की और साथ ही भविष्य के बारे में जानने की। इसी उत्सुकता के चलते आज ज्योतिष का एक अलग ही समृद्ध क्षेत्र है और प्राचीन भारतीय वाङ्मय के रूप में 'भृगु संहिता', 'रावण संहिता' तथा 'भविष्य पुराण' आदि कितने ग्रंथ हैं जिनकी 'क्रेज' आज के वैज्ञानिक युग में भी बरकरार है। मेरा कल क्या होगा? मानव जाति के भविष्य के गर्भ में क्या छिपा है? और यदि आशंकायें, बाधाएँ हैं तो उनको मार्ग से दूर करने के क्या उपाय हो सकते हैं? इन सभी प्रश्नों का उत्तर विज्ञान कथायें प्रदान कर रही हैं क्योंकि वैज्ञानिक और तकनीकी प्रत्ययों के साथ सामाजिक चेतना को गुंफित कर मनुष्य को एक नये युग में प्रवेश की दिशा दे सके, यही तो विज्ञान कथा का एक उद्देश्य भी है और उपयोगिता भी। डा. अरविंद मिश्र का कहना है—''विज्ञान और प्रौद्योगिकी की बढ़ती प्रगति से भावी मानव और उसका समाज किस तरह प्रभावित, परिवर्तित हो सकता है, विज्ञान कथाएँ इसका पूर्वावलोकन कराती हैं। इस तरह विज्ञान कथाएँ वास्तव में मानव के 'भविष्य दर्शन' की प्रबल चाह का भी शमन करती हैं।''[2]

जब साहित्य और विज्ञान दोनों लोकहित के अभीष्ट के साथ-साथ व्यक्ति और परिवेश के सार्थक संबंधों की तलाश के लिए सतत् सन्नद्ध है तब इनमें आपसी दूरी को कम से कम किया जाना अभीष्ट ही है और 'विज्ञान कथा' विज्ञान तथा साहित्य का संगम कर इनके बीच की दूरी को कम करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

कुल मिलाकर 'विज्ञान कथायें' मूल रूप से समाज के मानव हित से सम्बद्ध है। जब आज रोज नये-नये आविष्कार होते जा रहे हैं तो उनमें मानवीय मूल्यों को खोजना अनिवार्य हो गया है। यह कार्य 'विज्ञान कथा' द्वारा संपादित होता है और इस संदर्भ में वर्तमान युग में विज्ञान की तीव्र गति को देखते हुए 'विज्ञान कथाओं' की प्रासंगिकता और भी बढ़ गई है।

समय के परिवर्तन के कारण विज्ञान कथाओं की संख्या में लगातार बढ़ोतरी होती गयी है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद समाज में शिक्षा का प्रसार बढ़ा है और लोगों ने अपने जीवन को सरल और सुखमय बनाने में विज्ञान का उपयोग किया है। शिक्षा के प्रसार और समाज में विज्ञान की भूमिका को देखते हुए सत्ता पर आसीन सरकारों ने भी इसके विकास में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की हैं, जिससे जीवन के लगभग हर क्षेत्र यथा—कृषि, चिकित्सा, अंतरिक्ष, नैनो टेक्नोलॉजी, परमाणु, इंटरनेट, समुद्री खोज आदि क्षेत्रों में नयी-नयी खोजों एवं विकास से पूरा देश करवटें बदलने लगा है। सूचना प्रौद्योगिकी क्रांति ने देश के प्रत्येक व्यक्ति को आंदोलित किया है। पहले लोग विज्ञान जादूगरी के बारे में सुना करते थे, लेकिन अब विज्ञान के प्रभाव, उससे होने वाले परिवर्तन को देखकर उसके महत्त्व को समझने लगे हैं और उसका महत्त्वपूर्ण उपयोग अपने निजी जीवन में करने लगे हैं। इस अद्भुत विज्ञान के प्रसाद को हिंदी विज्ञान कथाएँ अपनी कथावस्तु का विषय बनाई हैं, जिससे धीरे-धीरे विज्ञान के तद्नरूप हिंदी विज्ञान कथाएँ भी समाज और साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग बन

गयी हैं और लोग हिंदी साहित्य की इस विधा को गंभीरतापूर्वक आत्मसात् करने लगे हैं।

एक विज्ञान कथाकार को मन से साहित्यकार होना अनिवार्य है। तभी वह विज्ञान जैसे विषयों में संवेदनाएँ पिरो सकता है। साथ ही एक विज्ञान कथाकार के लिए विज्ञान के विषयों की मूलभूत जानकारी भी आवश्यक है। उसे विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में हो रही नित नयी खोजों से वाकिफ होना चाहिए। तभी वह भविष्य की सार्थक कल्पना कर सकता है।

गाँधी जी ने कहा था—''मशीनें इतनी बड़ी नहीं होनी चाहिए जो आम आदमी की पहुँच के बाहर हों और मनुष्यता उनके बोझ के नीचे दब जाए। वैज्ञानिक की हर यात्रा और आयोजन में मनुष्य केंद्रित होना चाहिए। मानवमुखी प्रौद्योगिकी मनुष्यता के सुखद भविष्य की जननी है।''[3]

अतः सूत्र रूप में कहें तो विज्ञान कथाओं की सामाजिक उपयोगिता को निम्न प्रकार रेखांकित किया जा सकता है -

- प्रौद्योगिकी के भावी स्वरूप से मानव के भविष्यगत जीवन पर पड़ने वाले अच्छे-बुरे प्रभावों का एक आकलन प्रस्तुत करना।
- मानव या मानव समाज के प्रति आसन्न संकटों से आगाह करना। इस अर्थ में विज्ञान कथायें भविष्यदर्शी की भूमिका निभाती हैं।
- प्रौद्योगिकी जनित सामाजिक बदलाव के प्रति विचारकों, प्रशासकों और नीति निर्धारकों को समय रहते आगाह करना।
- मानव के बौद्धिक दृष्टिकोण को विस्तीर्ण करना और व्यापक फलक प्रदान करना जिससे सामाजिक व मानवीय उत्थान का मार्ग प्रशस्त हो सके।
- समाज में वैज्ञानिक प्रवृत्ति को बढ़ावा देना।
- अंधविश्वासों, सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ मान्यताओं का मूलोच्छेदन करना।
- वैज्ञानिक तथ्यों एवं नूतन अनुसन्धानों की नित प्रति जानकारी उपलब्ध कराना।
- वैज्ञानिकों एवं वैज्ञानिक कार्यों, नवीन शोध अनुसंधानों को व्यापक जनसमर्थन दिलाना।
- स्वस्थ और उपयोगी मनोरंजन प्रदान करना।
- वैज्ञानिक अनुसंधानों को दिशा, लक्ष्य और गति प्रदान करना।
- भविष्य संबंधी मानवीय जिज्ञासा का शमन करना।
- मानवीय कल्पनाशीलता को उद्वेलित व उद्बोधित कर और क्षमता प्रदान करना।
- उत्कृष्ट साहित्य की अभिवृद्धि में निरन्तर योगदान की महती भूमिका का निर्वहन करना।

सन्दर्भ

1. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सांइस फिक्शन, प्रकाशक, आक्टोपस बुक्स लिमिटेड, लंदन (द्वितीय स्रोत) संस्करण, 1978, पृ. 15.
2. एक और क्रौंच वध, डा. अरविंद मिश्र, प्रकाशक, लोक साधना केंद्र, वाराणसी, संस्करण, 2000, पृ. 10
3. विश्व विज्ञान कथाएं, संपादक, शुकदेव प्रसाद, प्रकाशक, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 2012, पृ. 15.

डा. आशीष कुमार यादव

पोस्ट डॉक्टोरल फैलो स्कॉलर, (हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय)

भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद् (ICSSR)

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली

शिक्षा, सेवा और राष्ट्र निर्माण–एक दार्शनिक विश्लेषण

–डा. अनिल प्रकाश

शोध-सारांश

शिक्षा, सेवा और राष्ट्र निर्माण यह परस्पर ऐसे विषय है जो किसी भी देश की रचना और विकास में अपना सकारात्मक योगदान देकर वहां के सामान्य मानवीय जीवन को सुगम और समृद्धशाली बनाते हैं। शिक्षा की बात करें, तो यह किसी भी देश, राष्ट्र या फिर समाज के विकास, नवाचार और सांस्कृतिक उन्नति के लिये एक प्रमुख आयाम है। शिक्षा ही है जो विद्यार्थियों में मौलिक चिन्तन की क्षमता तथा ज्ञान को प्राप्त करने की ललक पैदा करती है, उनके व्यक्तित्व को निखारने और उनमें चारित्रिक मूल्यों का संचार करके उन्हें राष्ट्र निर्माण में सहयोग करने की ऊर्जा और शक्ति प्रदान करती है। शिक्षा में यदि सेवा-भाव न हो तो वह यन्त्रवत और घातक सिद्ध हो सकती है। सेवा हमारी संस्कृति में एक उपासना है। श्रीमद् भागवत में जो नवधा भक्ति बताई गयी है उसमें से सेवाभाव भी भक्ति का एक प्रकार है। सनातन दर्शन के प्रणेता युवा संन्यासी स्वामी विवेकानन्द जी भी गरीबों में ही नारायण का दर्शन करते हैं उनका कहना था कि मानव-सेवा ही सबसे बड़ा धर्म है। हम सभी अवगत हैं कि शिक्षा सेवा के लिए प्रेरित करती है और राष्ट्र निर्माण के लिए सेवा-भाव और समर्पण का होना नितान्त आवश्यक है। भारतीय मनीषियों ने हमेशा ही इस बात पर जोर दिया कि शिक्षा का स्वरूप इस तरह का हो जो देशवासियों में राष्ट्र के प्रति समर्पण और उसके विकास में योगदान करने की प्रवृत्ति जाग्रत कर सके।

प्रमुख शब्द : सांस्कृतिक उन्नति, मौलिक चिन्तन, राष्ट्र निर्माण, सेवा-भाव, नवाचार।

शिक्षा एक ऐसा विषय है जो किसी भी देश, राष्ट्र या फिर समाज के विकास, नवाचार और सांस्कृतिक उन्नति के लिये एक प्रमुख आयाम है। यही विद्यार्थियों में मौलिक चिन्तन की क्षमता तथा ज्ञान को प्राप्त करने की ललक पैदा करती है उनके व्यक्तित्व को निखारने और उनमें चारित्रिक मूल्यों का संचार करके उन्हें राष्ट्र निर्माण में सहयोग करने की ऊर्जा और शक्ति प्रदान करती है। हमारी संस्कृति और परम्परा में शिक्षा का लक्ष्य सत्य का साक्षात्कार करना रहा है, यहां सत्य से मेरा अर्थ केवल आध्यात्मिक और दार्शनिक सत्य से ही नहीं है अपितु सामाजिक जीवन में हम रोज दैनन्दिन

व्यावहारिक समस्याओं का सामना करते हैं उसमें भी सत्य की ही महत्ता होती है, जो उसे जान जाता है वह आसानी से सामाजिक और व्यावहारिक जीवन की समस्याओं का हल निकाल लेता है। शास्त्रों में कहा गया है '' शास्त्र प्रयोजनम् तत्व दर्शनम्'' स्पष्ट है कि ज्ञान या शिक्षा का उद्देश्य सत्य को जानना है। आधुनिक समय में विज्ञान और टेक्नोलॉजी की जो बात की जाती है उसका लक्ष्य भी शिक्षा के द्वारा सत्य को ही खोजने का प्रयास है। ज्ञान के लिये आंख, मस्तिष्क और कान खुले रखने पड़ते हैं। यह हमारे चिन्तन और दर्शन की विशेषता रही है। ज्ञान या शिक्षा जहां कहीं से भी मिले और जिस माध्यम से मिले उसे ग्रहण करना चाहिये। 'ऋग्वेद' में कहा गया हैः

'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः' अर्थात् लाभकारक और शुभ विचारों को चारों ओर से आने दो। यह विचार हजारों वर्ष पहले ही भारत की संस्कृति में रच-बस गया था। विचारों को ग्रहण करने की यह लचीली एवं उदार धारणा सतत् हमारी संस्कृति में अपनी जड़ें जमाये रही है। गाँधी जी ने 'यंग इण्डिया' के जून 1921 के अंक में बड़े सधे हुए और आलंकारिक कलेवर में कहा था कि ''मैं नहीं चाहता कि मेरे घर की सभी दिशाओं में (बंदीगृह की तरह) दीवारें हों और मेरी खिड़कियां बन्द रखी जायें। मैं चाहता हूं कि सभी देशों कि सांस्कृतिक हवाएँ मुक्त रूप से प्रवेश और विचरण करें। लेकिन मुझे ये कतई स्वीकार नहीं कि उनके प्रभाव से मेरे पैर ही अपनी धुरी से उखड़ जाएँ। मेरा ऐसा धर्म नहीं जो मेरे घर को कैदखाना बना दे। इन्हीं उदार विचारों कि देन थी कि प्राचीन काल में हमारे देश का विज्ञान इतनी ऊँचाई को छू सका था। बहुत से लोगों कि टिप्पणी रही है कि भारत आध्यात्मिक चिंतन में तो अग्रणी रहा लेकिन वैज्ञानिक सोच विकसित नहीं कर सका। वास्तविकता ठीक इसके विपरीत है। हमारी वैज्ञानिक उपलब्धियों के ढेर सारे प्रमाण इतिहास और वर्तमान में सहजता से खोजे जा सकते हैं। आज सारा विज्ञान जिस अंक प्रणाली पर टिका है उसे भारत ने ही विश्व को दिये हैं। प्राचीन समय में भारत विविध विधाओं में महारत रखता था, ज्योतिष शास्त्र, भू-गर्भ शास्त्र, चिकित्सा विज्ञान आदि। चरक और धन्वन्तरि को कौन भुला सकता है। ये न केवल भारत के लिये अपितु विश्व के लिये अनुसरणीय है।

शिक्षा अपने साकार रूप में उसी स्थिति में सफल मानी जाती है जब वह राष्ट्र और राज्य के प्रति लोगों में सेवा भाव पैदा कर सके, साथ ही मानवतावादी दृष्टिकोण का अभिसिंचन समाज में कर सके। शिक्षा के अंतर्गत ही जब हम चिकित्सा शिक्षा की बात करते हैं तो स्पष्ट होता है कि शिक्षा का यह आयाम सेवा की ओर ले जाता है, यह भारतीय संस्कृति और परम्परा का ही परिणाम है कि हमारे यहां चिकित्सा के क्षेत्र को व्यवसाय के दृष्टिकोण से नहीं देखा जाता वरन् इसमें भी सेवा भाव ही सर्वोच्च है और इसी लिये भारतीय चिकित्सा विज्ञान को मानवता की सेवा से जुड़ा हुआ माना जाता है। हमारी संस्कृति मानव-सेवा को ही सच्चा और परम धर्म स्वीकार करती है। इसका उदाहरण हमारे धार्मिक, आध्यात्मिक और साहित्यिक ग्रन्थों में स्पष्ट देखा जा सकता है—

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वाचको जल्पको वा
धृष्टः पार्श्वे भवति च वसन्दूरतोऽप्यप्रगल्भः
क्षान्त्या भीरूर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

अर्थात् सेवा धर्म बड़ा ही विकट है, योगियों क लिए भी अगम्य, दुर्बोध है। सेवक यदि चुप रहता है तो गूँगा कहलाता है, हाजिर जवाब हुआ तो बड़बड़िया और भटर-भटर करने वाला, यदि समीप में खड़ा रहे तो ढीठ, दूर में रहे तो लजीला कहलाता है, सहनशीलता के कारण कायर और यदि बात न सहे तो नीच कहलाता है। यद्यपि यह सेवा धर्म के पालन की दुरूहता को बताता है लेकिन यहां एक बात तो साफ हो जाती है कि हमारे यहां सेवा को कितनी बड़ी उपासना माना गया है। श्रीमद् भागवत में जो नवधा भक्ति बताई गयी है उसमें से सेवाभाव भी भक्ति का एक प्रकार है। सनातन दर्शन के प्रणेता युवा संन्यासी स्वामी विवेकानन्द जी भी गरीबों में ही नारायण का दर्शन करते हैं उनका कहना था कि मानव-सेवा ही सबसे बड़ा धर्म है। गौतम बुद्ध का शोषितों-पीड़ितों के प्रति दया भाव सीधे-सीधे सेवा से ही जुड़ता है। गोस्वामी तुलसीदास ने स्पष्ट शब्दों में स्वरचित 'रामचरित मानस' में कहा है—

''परहित सरिस धरम नहिं भाई।
परपीड़ा सम नहि अधमाई॥''

अर्थात् दूसरों का हित करने के समान कोई धर्म नहीं है, और इसी तरह दूसरों को दुःख पहुँचाने के समान कोई पाप नहीं है। सदैव से हमारा चिन्तन 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का ही रहा है। अपने सेवा भाव की चिंतन विचारधारा के कारण ही हम समूचे विश्व के सुखी और नीरोग रहने की प्रार्थना करते हैं। एक वैदिक प्रार्थना में कहा गया है-

''ॐ सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख भाग्भवेत्''

सभी सुख को प्राप्त करें, सभी का जीवन रोगमुक्त रहे, सभी मंगलमय घटनाओं के साक्षी बनें और किसी को भी दुःख का भागी न बनना पड़े। इस तरीके से देखें कि हमारी शिक्षा न केवल सेवा प्रेरण के सिद्धान्त पर चलती है बल्कि यह सभी को प्रेरित करती है कि वे किसी के दुःख का कारण न बने। सेवा भाव को हमारी संस्कृति में इतनी प्रधानता दी गयी है कि उसके समक्ष स्वर्ग, राज्य तथा मोक्ष तक की कामना को ठुकरा दिया गया है। 'भागवत' में इस विचार को इस प्रकार व्यक्त किया गया है-

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखताप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

अर्थात् न तो मुझे राज्य की कामना है, न ही स्वर्ग की चाह, और न कि पुनर्जन्म की इच्छा है। हमारी तो केवल एक ही इच्छा है कि मैं पीड़ितों का दुःख दूर कर सकूँ। बापू ने इसी सेवा भाव को 'यंग इण्डिया' के 28 जुलाई 1921 के अपने लेख में इस प्रकार कहा है ''सेवा एक कर्तव्य है, और कर्तव्य एक ऋण है, जिसे न निभाना एक पाप है।''

अतः हम कह सकते हैं कि हमारी शिक्षा प्रणाली में सेवा की भावना का सम्बन्ध न केवल एक समाजिक और मानवीय प्रेरण से है अपितु इसका सम्बन्ध धार्मिकता और आध्यात्मिकता से भी रहा है। पाप और पुण्य की भावना भी कहीं न कहीं सेवाभाव से ही जुड़ी अवधारणा है। समस्त धर्मों के केन्द्र में देखा जाय तो सेवाभाव ही है। इस्लाम धर्म में जैसा कि कहा गया है-''मेरे बन्दों की खिदमत में ही मेरी खिदमत है।''

यहाँ सेवा भाव का इतने विस्तार से चर्चा करने के पीछे जो मेरा मन्तव्य है वह केवल इतना है कि किसी भी प्रकार की शिक्षा व्यवस्था में जो सबसे महत्वपूर्ण तत्व है वह यही है, बिना सेवा भावना के शिक्षा निर्जीव और यन्त्रवत हो जाती है और इस तरह विकास और मानवता के लिये घातक सिद्ध हो सकती है। प्रायः देखा गया है कि विश्व की जितनी भी अतिवादी ताकतें हैं वह इसी शिक्षा को नकारात्मक रूप में अपना कर स्वयं के देश और समाज के साथ ही विश्व मानवता के लिये मुसीबतें ले कर आती हैं। भारत एक विकासशील देश है, ऐसे में यहां के लिये सेवा-भावना की आवश्यकता का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। अभी भी हमारे देश में बहुत से ऐसे लोग हैं जिन्हें दो समय के भोजन के लिये संघर्ष करना पड़ रहा है, कुछ तो इस संघर्ष में हार जाते हैं, उन्हें भूखे पेट ही सोना पड़ता है। इसी लिये सरकारों को गरीबी हटाओ जैसे नारे देने पड़ते हैं और इसके लिये नीतियां बनानी पड़ती हैं। वर्तमान सरकार ने भी अपनी नई शिक्षा नीति में शिक्षा को व्यवसाय परक बनाने और नवाचार को बढ़ावा देने को अपना मुख्य विषय बनाया है। सेवाभाव से प्रेरित शिक्षा को लेकर महात्मा गाँधी जी ने अपने लेख 'हेल्थ गाइड' के में लिखा है-''याद रखें कि प्राणियों की सेवा करने के लिये मनुष्य ईश्वर का प्रतिनिधि है और इसके माध्यम से वह ईश्वर की गरिमा और प्रेम को अभिव्यक्त करता है। सेवा-भाव को अपनी आत्मा का आनन्द बनने दो, तब तुम्हें जीवन में किसी अन्य आनंद की आवश्यकता नहीं होगी।''

जब हम राष्ट्र की बात करते हैं तो मन में एक अमूर्त धारणा बन जाती है और तरह-तरह से हम इसे व्याख्यायित करने लगते हैं। प्रश्न यह है कि किसी जन-समूह को किन-किन लक्षणों के आधार पर एक राष्ट्र के रूप में मान्यता दी जा सकती है? ऐसे अनेक लक्षण गिनाये जा सकते हैं, परन्तु मानव सभ्यता और आधुनिक राज्य का जितने विविध रूपों में विकास हुआ है, उन्हें ध्यान में रखते हुए इन लक्षणों की कोई प्रामाणिक और मान्य सूची तैयार नहीं की जा सकती । किसी जन-समूह को राष्ट्रत्व प्रदान करने के अनेक आधार हो सकते हैं-जैसे कि सामान्य भाषा, जाति, धर्म, रीति-रिवाज, संस्कृति आदि। यह भी एक तरीके का आधार हो सकता है कि उद्देशित समूह के लोग एक ही भूक्षेत्र में साथ-साथ रहते हों, हो सकता है कि एक ही राज्य के नागरिक हों और एक से कानून का पालन करते हों। परन्तु वास्तविक जगत में हम जिन राष्ट्रों से परिचित हैं, उनमें ये सारे लक्षण एक साथ नहीं मिल पाते। राष्ट्र एक भावनात्मक विषय है यह भूमि, सीमाओं और नभ थल से अलग होता है। भारत की प्रबुद्ध विभूतियों ने हमेशा ही इस बात पर जोर दिया कि शिक्षा का स्वरूप इस तरह का हो जो देश वासियों में राष्ट्र के प्रति समर्पण और उसके विकास में योगदान करने की प्रवृत्ति जगा सके। अगर हम अपवादों को छोड़ दें तो ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्र और उसकी महत्ता को भान कराने का कार्य सजग और समर्पित शिक्षक ही करते हैं। लिंकन ने कहा है, ''एक अच्छा शिक्षक अंधकार में प्रकाश की किरण की तरह होता है।'' हमारे प्रथम उपराष्ट्रपति और बाद में राष्ट्रपति के पद को सुशोभित करने वाले महान विद्वान और दार्शनिक श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन कहते हैं, ''शिक्षक राष्ट्रनिर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है। भावी पीढ़ी को गढ़ने का काम शिक्षक के हाथ में ही होता है।''

राष्ट्र की बात करें और राष्ट्रवाद की चर्चा न आये तो विषय कुछ अधूरा सा रह जाता है। वैसे भी आज विश्व स्तर पर अनेक देशों में राष्ट्रवाद के प्रति एक अलग प्रकार की

चेतना का उदय होते देखा जा सकता है, स्वाभाविक है कि इस वाद को विभिन्न समाजों के प्रबुद्ध लोग अपनी-अपनी तरह से सकारात्मक या नकारात्मक विचारधारा के रूप में परिभाषित करेंगे। लेकिन एक बात तो साफ है कि इस ओर लोगों का ध्यान गया है। ऐसे में भारत इससे कैसे अछूता रह सकता है। विशेष कर 2014 में सत्ता में आई भाजपा की सरकार ने इसे मूल विमर्श का केन्द्रीय विषय बना दिया है। स्वाभाविक है कि इसे साकार करने के लिये एक शैक्षिक और सामाजिक वातावरण को रचने की आवश्यकता होती है और हमें लगता है कि यह स्वतः स्फूर्त हो जाता है, बस थोड़ा प्रयास करने की आवश्यकता होती है। क्योंकि पीछे हम चर्चा कर आये हैं कि राष्ट्र और राष्ट्रवाद एक भावनात्मक और अमूर्त धारणा है इसे विचारों में धारण किया जा सकता है। राष्ट्रवाद क्या है? ऐसे में इसकी भावना का एक ही उपयुक्त आधार उभर कर सामने आता है कि प्रस्तुत जन-समूह के सदस्य स्वयं को एक स्वाभाविक समुदाय मानते हुए एक राष्ट्र के रूप में पहचानते हों। इस दृष्टि से वे अपनी सामान्य राजनीतिक आकांक्षाओं, सामान्य हितों, सामान्य इतिहास और सामान्य नियति की चेतना के कारण एकता के सूत्र में बंधे हुए अनुभव करते हैं। शिक्षा और सेवा के साथ जब हम राष्ट्रनिर्माण की बात करते हैं तो इसका अर्थ है पूरे राष्ट्र के लोगों के लिए निष्ठा का एक ही केन्द्र विकसित करना ताकि वे अपने-अपने संकीर्ण समूहों के प्रति प्रचलित निष्ठा से आगे बढ़कर पूरे राष्ट्र को अपनी निष्ठा का केन्द्र बना लें। राष्ट्र-निर्माण की समस्या विशेष रूप से वहां पैदा होती है जहाँ अनेक भाषाभाषी, अनेक धर्मावलम्बी, भिन्न-भिन्न परम्पराओं के अनुयायी और भिन्न-भिन्न जाति और सम्प्रदायों के लोग साथ-साथ रहते हैं। समकालीन विकासशील देशों में यह समस्या बहुत गंभीर है। भारत भी इससे अलग नहीं है वो भी कहीं न कहीं इन समस्याओं से दो-चार है, क्योंकि ये सारी बातें यहां भी समान रूप से देखी जा सकती हैं। शिक्षा की भूमिका ऐसे में महत्वपूर्ण हो जाती है। इसका प्रमुख कार्य होना चाहिये कि भिन्न-भिन्न समूहों में बंटे हुए समस्त देशवासियों के मन में राष्ट्रीय साहचर्य की भावना का संचार करे ताकि वे एक सकारात्मक और खुशहाल वातावरण में मिल-जुलकर शांति पूर्वक रह सकें और राष्ट्रीय विकास में कन्धे से कन्धा मिलाकर सहयोग देने को तत्पर हों।

सारांशत

कहा जा सकता है कि शिक्षा, सेवा और राष्ट्र आपस में एक दूसरे के विकास में पूरक एवं सहयोगी हैं। शिक्षा बिना सेवा-भावना के निरंकुश और विनाशकारी हो सकती है। सेवा भावना को शिक्षा के द्वारा पुष्ट और नित्य नये कलेवर में समाज और मानवता के सतत् उत्थान में लगाया जा सकता है, साथ ही शिक्षा और सेवाभाव मिलकर किसी भी राष्ट्र की प्रगति और नवनिर्माण में अपना अप्रतिम योगदान दे कर वहां के समाज और मानवता को नवीन ऊर्जा प्रदान कर सकते हैं। विश्व और मानव समाज के कल्याण के लिये हम सभी का प्रयास होना चाहिए कि विज्ञान और तकनीकी का मूल्यांकन सदैव मानवता की कसौटी पर करें तभी उसे व्यवहार में लायें। वैसे भी पिछले दो सालों से हमने यह तो सीख ही लिया है कि एक महामारी सम्पूर्ण विश्व को अपनी चपेट में लेकर, सारी आधुनिकता और तकनीकी मानव प्रगति को मुंह चिढ़ा रही है। ऐसे में विश्व के समक्ष विकास की इस अंधी दौड़ और उपभोगवादी संस्कृति के विषय में पुनर्विचार करने की चुनौती है। हमारी संस्कृति तो ''सर्वे भवन्तु सुखिनः'' का सन्देश देती है। आज विश्व को भारतीय दर्शन और संस्कृति का अनुसरण कर सीख लेने का समय आ गया है।

संदर्भ

1. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, सं. 1990, जयपुर पब्लिशिंग हाउस
2. श्रीमद् भागवद्, गीताप्रेस गोरखपुर, सं. 1985
3. ओम् प्रकाश गावा, राजनीति विज्ञान विश्वकोश, सं. 2016, मयूर पेपरबैक्स, नोयडा
4. डॉ शंकर दयाल शर्मा, हमारे चिंतन की मूलधारा, सं. 1995, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
5. श्री तारिणीश झा, श्री भर्तृहरिविरचितम् नीतिशतकम्, सं. 2016, रामनारायण विजयकुमार, कटरा रोड, इलाहाबाद

डा. अनिल प्रकाश
सहायक आचार्य (अतिथि शिक्षक)
लोक प्रशासन विभाग
बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर केन्द्रीय विश्वविद्यालय
लखनऊ

'रासो' काव्य की भाषा में स्त्रीवाद

—डा. धीरेन्द्र कुमार पाण्डेय
—डा. गीता

शोध सारांश

भारतीय समाज और भारतीय साहित्य की निश्चित रूप से एक समृद्धशाली परंपरा रही है। इस परंपरा में एक से एक श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियां रची गई जो समाज को निश्चित रूप से एक नई दिशा दृष्टि देने में समर्थ हुई है। यह भी उतना ही सत्य है, मानव सृष्टि से लेकर अद्यतन काल तक साहित्य की भाषा काल, परिस्थियो के अनुसार अपना स्वरूप परिवर्तित, संवर्धित करती रही है। अगर कुछ नही बदला, तो स्त्री के प्रति भाषिक दृष्टिकोण यह केवल भारतीय साहित्य, रासो साहित्य तक ही सीमित नहीं, बल्कि जब वैश्विक पटल पर देखेंगे वैश्विक वांग्मय का अध्ययन करेंगे, तब भी यह देखने को मिलेगा, कि किस तरह से भाषा के माध्यम से स्त्री को भेद, भाव, एवं हीन समझा गया है। यहां तक स्त्री के लिए पुरुषवादियों ने तो एक अलग शब्दकोश तक गढ़ लिया है, जिसमें एक ही शब्द के दो अर्थ है। अर्थात् महिला के अर्थ में अलग अर्थ पुरुष के अर्थ में अलग अर्थ है जिससे स्वतः स्पष्ट होता है कि पुरुष मानसिकता वाले लेखकों ने पक्षपात पूर्ण दृष्टिकोण अपनाया है, जिन साहित्यिक कृतियों को महानता की श्रेणी में रखा गया है, उन रचनाओं में भी स्त्रियों की खास तरह की छवि उजागर की गई है, तथा उनके चरित्र का समग्रता से अध्यन नहीं किया गया है। स्त्रीवादी चिंतक मानते है कि भाषा एक सशक्त मानवीय औजार है, जिसका प्रयोग वर्चस्व स्थापित करने के लिए किया जाता है, पुरूषों ने इसे बाखूबी प्रयोग किया है। रासो साहित्य में तो प्रत्येक ग्रंथ इस तरह की भाषा शब्दावलियों से भरा हुआ है ।

बीज शब्द : स्त्रीवादी भाषा, पुरुष, पुरुषवादी, रासो, पितृसत्ता, कामुकता आदि।

प्रस्तावना

सातवें दशक में 'गाइनोक्रिटिसिज्म' के अंतर्गत स्त्री रचनाकारों और स्त्री-सम्मत विषय वस्तुओं का अलग से अध्ययन आरंभ हुआ। इसके अंतर्गत स्त्री की वे छवियां जो उसकी एक खास 'छवि' को उजागर करती है, जो हमारे

पारंपरिक पाठों में मौजूद है। उनकी नये सिरे से पड़ताल आरंभ हुई। यदि हम इसे भारतीय संदर्भ में कहें तो हमारे यहां स्त्रियों को मूक आज्ञाकारिता की छवि से एकाकार करके देखा जाता है। यह उसके चरित्र को देखने का एकांगी दृष्टिकोण है जो हमारे प्राचीन पाठों में मुख्य रूप से अपनाया गया है। कवि स्त्री की उपस्थिति से इतना निरपेक्ष दिखाई देता है कि ऐसा दिखाई ही नहीं देता कि देह से परे भी उसका कोई अस्तित्व है आदिकाल व रीतिकालीन साहित्य को पढ़कर तो ऐसा लगता है कि स्त्रियां 'देह' से परे कुछ हैं ही नहीं। यह दृष्टिकोण स्त्री को व्यक्ति नहीं बल्कि वस्तु रूप में देखने का पक्षपाती है।[1] 'सैण्ड्रागिलबर्ट और सूसनगूबर ने स्त्री लेखन व स्त्री सम्मत विषय वस्तुओं के अध्ययन का अलग सौंदर्यशास्त्र निर्मित किया कि (1) साहित्य महान ग्रंथों का निरपेक्ष समुच्य नहीं है, 'कैनन' के निर्माण में पुरुष-लेखकों के प्रति पक्षपातपूर्ण रवैया तो अपनाया ही गया है, जिन कृतियों को महान बताया गया है, वे भी 'स्त्रियों' की एक खास तरह की छवि उजागर करता है और उनके चरित्र का समग्रता में अध्ययन नहीं करती।[2]

प्रश्न यह उठता है कि भाषा निर्मित कैसे होती है?

इसका निर्माण हमारे समाज के बीच से ही होता है। भाषा यदि विचारों को प्रकट करने का माध्यम है तो प्रश्न यह भी उठता है कि विचार का आधार क्या है? विचारों का आधार यह समाज व भौतिक जीवन ही तो है। इस सन्दर्भ में रामविलास शर्मा लिखते हैं—'अधिकतर भाषा वैज्ञानिक भाषा को मानसिक क्रिया मात्र मानते हैं। भाषा के पीछे सक्रिय भौतिक शक्ति को ये लोग समझ ही नहीं पाते। भाषा मानसिक क्रिया मात्र नहीं है। इसका भौतिक क्रियाओं से गहरा रिश्ता है। भाषा की जरूरत मानव जगत को होती है। भाषा-रचना मानव-व्यवहार के साधारण नियमों का अपवाद नहीं है, वह उन साधारण नियमों को पुष्ट करती है। साधारण नियम यह है कि जैसा मनुष्य का जीवन होता है, वैसे ही उसके विचार होते हैं। उसका जीवन कैसा है, यह इस पर निर्भर है कि वह जीवनयापन के लिए आवश्यक सामग्री कैसे संग्रह करता है। जैसे समाज के पुराने ढांचे में उत्पादन और वितरण के नये तरीके स्वतःस्फूर्त ढंग से पैदा होते हैं और इन नये तरीकों के अनुरूप नये सामाजिक सम्बन्ध मनुष्य की योजना के अनुसार नहीं, वरन उसकी इच्छा से स्वतंत्र, सामाजिक नियमों के अनुसार कायम होते हैं, वैसे ही मनुष्य बुद्धि से, सोचकर योजना के अनुसार भाषा नहीं रचता वरन उसकी जीवनयापन की आवश्यकताओं के अनुसार वह स्वतःस्फूर्त ढंग से निर्मित होती है।' इस प्रकार भाषा के निर्माण में परम्परा, परिवेश, सामाजिक मानसिकता और उससे सम्बद्ध कवि प्रतिभा व मूल्य बोध आदि तत्व भी सक्रिय होते हैं। इसीलिए तो सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ-साथ भाषा में भी परिवर्तन आते हैं।[3] स्त्रीवादी परिप्रेक्ष्य के आलोक में बात करें तो स्त्रीवादी चिंतक मानते हैं कि भाषा एक सशक्त मानवीय औजार है जिसका प्रयोग वर्चस्व स्थापित करने के लिए किया जाता है। इनके अनुसार सभी तरह के विचार, विवरण, विश्लेषण पहले से निर्मित सामाजिक वैचारिक और भाषिक सच्चाइयों के दायरे में आते हैं। चाहे उसका प्रयोगकर्ता उस दायरे से परिचित हो अथवा न हो। स्त्रीवादी सिद्धान्तकारों ने समाज में पुरुषों की सत्ता को रेखांकित किया है। उनके अनुसार हमारा समाज पितृसत्तात्मक समाज है। 'पितृसत्ता जिसके जरिए अब संस्थाओं के एक खास समूह को पहचाना जाता है, को सामाजिक संरचना और क्रियाओं की एक ऐसी व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसमें पुरुषों का स्त्रियों पर वर्चस्व रहता है, और वे उनका शोषण और उत्पीड़न करते हैं।'[4] इस व्यवस्था में पुरुष सदैव इस स्थिति में रहे हैं कि अपनी श्रेष्ठता का मिथ निर्मित कर सकें बल्कि अपनी श्रेष्ठता के पक्ष में प्रमाण भी जुटा सकें। 'हम अपने सत्य का निर्माण जिस रूप में करते हैं या करने के लिए उत्प्रेरित किया जाता है उसमें इन नियमों की अहम भूमिका होती है।

लिंग व जेण्डर के भेद को स्पष्ट करना नारीवादी चिंतकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इससे स्त्री-पुरुष के बीच शक्ति व हैसियत में असमानता के जैविक निर्धारणवाद के मत को खारिज करने में सहायता मिलती है। साथ ही यह भी कि पुरुष या स्त्री का वर्चस्व व्यक्तिगत घटना नहीं बल्कि व्यापक सामाजिक संरचना का अंग है। यह भाषा में कैसे व्यक्त होता है? एक स्त्री या पुरुष होने में क्या फर्क है?संस्कृति में जेण्डर का रूपायन किस प्रकार हुआ है? इन सवालों के जवाब तभी सम्भव है जब जेण्डर का विश्लेषण भाषिक व सामाजिक सन्दर्भ में किया जाए। 'वैसे तो समाजशास्त्र और मनोविज्ञान का दाय नकारा नहीं जा सकता, पर अद्यतन फेमिनिस्ट आलोचना अपनी मुख्य लड़ाई भाषाई औजारों से लड़ती है। वह यह मान कर चलती है कि जितने उचित-अनुचित सामाजिक उत्पाद्य (कन्सट्रक्ट) होते हैं, उनका सबसे महीन प्रतिबिम्बन भाषा में होता है। मानव-मन की सूक्ष्मतम तरंगों, उसकी सारी विसंगतियों को भाषा और भाषाई दरारें अपने कोनों-अंतरों में सँभाले रखती हैं, और उनका सही परिदृश्य में माकूल

विश्लेषण सामाजिक उत्पाद्य के विरोधाभास समझने में हमारी गहरी मदद कर सकता है।'[5] इस दिशा में प्रसिद्ध स्त्रीवादी भाषा वैज्ञानिक डेबोराह कामरान ने बेहतरीन काम किया है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि भाषा में लिंगभेद कैसे दोनों की सामाजिक स्थिति का अंकन करता है। इसके साथ ही स्त्रीवादी भाषा वैज्ञानिकों ने भाषा के विविध रूपों का अध्ययन स्त्रीवादी दृष्टि से किया है।[6] स्त्री भाषा के प्रश्न पर विचार करने वाली प्रसिद्ध नारीवादी चिंतक डेलस्पेण्डर अपनी पुस्तक 'मैनमेड लैंग्वेज' में लिखती हैं- 'एक व्यवस्था के रूप में भाषा लैंगिक गैर बराबरी पर टिकी है और इससे स्त्री लाभान्वित नहीं होती। स्पेण्डर सवाल करती हैं कि क्या स्त्री के भाषिक अवमूल्यन और सामाजिक अवमूल्यन में कोई सम्बन्ध है। उन पदबंधों के निर्माण में स्त्रियों की क्या भूमिका है जो उन्हें तुच्छ, वंचित व छोटा बनाती हैं।' लूसइरीगरी ने भी भाषा में लिंग की खोज का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भाषा में पुरुष प्रधानता को अन्य शोधकर्ताओं ने भी चिन्हित किया है। एन बोदी ने इसे 'पुरुष केन्द्रित', जॉनराबर्ट्स इसे 'मर्दवादी', कोरा काप्लान इसे पितृसत्तात्मकता, स्पेण्डर इसे 'कामुक' व 'पितृसत्तात्मक' मानती हैं।[7] सारा मिल्स ने शैली विज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। रचना के निर्माण में शैली की अपनी निजी गरिमा होती है। भाषा शैली का रिश्ता अटूट है। शैली से ही कलाकार की मौलिकता व विशिष्टता का विश्लेषण किया जाता है। क्योंकि रचनाकार वर्ण्य विषय का चयन अपने समाज से ही करता है जिसके कारण कभी-कभी एक ही विषय पर कई कवि व रचनाकार रचना करते हैं। इसमें भिन्नता अवश्य रहती है जिसका कारण है अभिव्यंजना की अलग-अलग शैलियों का चुनाव।[8] इस प्रकार शैली से तात्पर्य पाठ अभिव्यक्ति के उस रूप से है जिसमें उसके सजीव चित्रण और भाव अभिव्यक्ति की पूर्ण क्षमता निहित हो। अध्ययन के अनुशासन के रूप में शैली विज्ञान का दायरा विस्तृत हो जाता है। जिसके अन्तर्गत एक समूह विशेष का व्यक्ति, व्यक्तिगत व सामाजिक बातचीत में कैसी भाषा का इस्तेमाल करता है, शब्दों के अर्थ किस रूप में ग्रहण करता है आदि का विश्लेषण किया जाता है। 'स्त्रीवादी दृष्टि से शैली विज्ञान का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि दो व्यक्तियों, समूहों, समाजों की बातचीत में क्या अन्तर है। भाषा के विश्लेषण का एक सामान्यीकृत पैमाना जो उन्होंने दिया है वह है लैंगिकता। इसी के आधार पर भाषा का विश्लेषण किया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समाज में पितृसत्ता किस प्रकार काम करती है अथवा स्त्रियों पर पुरुषों का वर्चस्व किस प्रकार काम करता है? इसके समझने के लिए पैतृकवाद और पैतृकवादी आधिपत्य, यौनिकता व श्रम पर नियन्त्रण जैसी महत्त्वपूर्ण अवधारणाएं महत्त्वपूर्ण हैं। उसी प्रकार साहित्य में जेण्डर की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है। डेल के अनुसार कोई भाषा पुरूषवाद है, उसे बतलाने के लिए शब्द और अर्थ दो प्रमुख आधार हैं। 'रॉबिनलैकॉफ ने यह दिखाया है कि रूपक और अलंकार जब पुरुषों के लिए प्रयोग किए जाते हैं, तो उनका दायरा बड़ा होता है जबकि वे स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होकर संकीर्ण अर्थ व्यक्त करने लगते हैं। जब हम किसी पुरुष के लिए कहते हैं कि 'वह एकदम पेशेवर है।' और जब हम किसी स्त्री के लिए कहते हैं कि 'वह एकदम पेशेवर है।' तो दोनों के अर्थ एक नहीं होते। जबकि दोनों ही वाक्य पूरी तरह से अर्थ के स्तर पर एक हैं लेकिन लिंगभेद से अर्थ बदल जाता है। स्त्री के लिए इसका एक कामुक और हेय अर्थ द्योतित होता है।'[9]

स्त्रीवादियों ने यह भी माना कि भाषा में न केवल लिंग भेद होता है बल्कि वह स्त्री के सन्दर्भ में कामुक होती है। इस सन्दर्भ में डेल मानती हैं कि 'अर्थगत नियमों को बदलना चाहिए, शब्दों को नहीं। कामुक शब्दों को भाषा से हटा देने से समस्या का समाधान नहीं होगा। शब्द हमारे वस्तुजगत को निर्मित करते हैं और शब्द एक कामुक दुनिया के निर्माण में मदद करते हैं जिसमें स्त्री को रहना होता है। शब्द भावुकता, रूढ़ियाँ और अरुचि को प्रदर्शित करने वाले होते हैं, उस समाज की संस्कृति को दर्शाते हैं जो उनका व्यवहार करता है। वे उस रवैये की शिक्षा देते हैं, उसे स्थायी बनाते हैं जो उसे जन्म देती हैं।'[10] इस सन्दर्भ में जगदीश्वर चतुर्वेदी मानते हैं कि 'शब्दों की कामुक प्रकृति से जूझने या उनका विकल्प तैयार करने के लिए जरूरी है कि भाषा का ज्यादा से ज्यादा सैद्धान्तिक ज्ञान हासिल किया जाए। शब्दों को सरलीकृत रूप में ग्रहण न करके उनका पुनर्निर्धारण भी करना होगा। यह सोचना गलत होगा कि शब्दों का स्वाभाविक अर्थ वही हो सकता है जो पितृसत्ता हमें देती है। लिंगभेदीय समस्या भाषा में न होकर समूचे रवैये से जुड़ी है। भाषा में शब्द बदलने से रवैया नहीं बदलता बल्कि रवैया बदल जाने से भाषा पर मूलगामी असर होता है। अतः किसी शब्द के बहिष्कार या अपदस्थ या अस्वीकार से मामला सुलझने वाला नहीं है। रवैया अगर लिंगभेदीय चेतना से मुक्त है तो इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि किस शब्द का इस्तेमाल किया गया है।' [11]

इस प्रकार यह स्पष्ट करने के लिए कोई भाषा पुरूषवादी है 'पाठ' में निम्नलिखित बिन्दुओं को रेखांकित किया जा

सकता है।

1. स्त्री और पुरुष के चरित्रों को की निर्मिति में पाठ में किस प्रकार की भाषा का इस्तेमाल किया गया है। 2. भाषा के कामुक शब्द व कामुक रूपों की अभिव्यक्ति को रेखांकित किया जाए। 3. स्त्री से जुड़े स्टीरियो टाइप जो स्त्री विमर्श से पहले साहित्य में अभिव्यक्त किये जाते हैं उन्हें किस हद तक बनाए रखा गया है। जैसे 'स्त्री विमर्श से पहले साहित्य में स्त्रियों के रूप सौन्दर्य के बखान के अतिरिक्त, उनके सतीत्व, शुचिता, पतिपरायणता अथवा कुशल गृहिणी, ममतामयी बहन या माँ, समर्पित व मूक पत्नी अथवा सर्वस्व न्योछावर कर देने वाली प्रेमिका के चर्चे होते थे या फिर उसका रोता-बिलखता बेबस रूप प्रस्तुत किया जाता था। जैसे एक गुलाम अपनी गुलामी का आनन्द लेता है, उसी प्रकार भारत की बहुसंख्यक स्त्रियाँ परम्पराओं के कारण यह महसूस नहीं कर पाती थीं कि उनके साथ अन्याय हो रहा है। गांवों में तो आज भी यदि कोई महिला सुविधाजनक कपड़े भी पहन ले तो उसे परम्परा का उल्लंघन माना जाता है।'[12] रासो रचनाओं में रचनाकारों ने जिन स्त्री छवियों को गढ़ा है। उस पर पुरुषवादी दृष्टि का पूरा आग्रह दिखता है। पुरुष मानसिकता के ही अनुरूप वह दो खण्डों में विभक्त हमारे सामने आई है। 'कमर से ऊपर की स्त्री और कमर से नीचे की स्त्री। ऊपर की स्त्री तो महिमामयी, करूणामयी, सुन्दरता और शील की देवी बनी पर कमर से नीचे वह काम कंदरा, कुत्सित, अश्लील और ध्वंसकारिणी और राक्षसी बन गई।' इसे रासो रचनाओं के सन्दर्भ में कहें तो वहाँ कमर के ऊपर की स्त्री परफैक्ट मैरिज मैटीरियल है। जब यह अपने अधिकारों की बात उठाती हैं तो वह राक्षसी व कुत्सित ध्वंसकारिणी बन जाती हैं। जैसाकि मैंने पहले भी लिखा है 'साधारण परिस्थितियों का जैसा प्रभाव भावों और विचारों पर पड़ता है, वैसा ही प्रभाव उनके व्यक्त करने वाली शैली, व्यंजना के ढंग, शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास आदि पर भी पड़ता है।'[13] तद्युगीन समाज में स्त्री भोग व मनोरंजन का माध्यम थी। साहित्य में उसके इसी रूप पर अधिक बल दिया गया।पुरुष की पहली नजर में स्त्री है शरीर। 'स्त्रियों के, विशेषकर सुन्दर स्त्री के सौन्दर्य की चर्चा से तो ग्रंथ रंगे पड़े हैं। ृंगार के साहित्य ने तो श्लील-अश्लील की हदें तोड़ दी हैं, स्त्री को यौनिक श्रेणियों तक में बांट दिया गया है काम-शास्त्र में। यह सब पुरुषों द्वारा रचा गया साहित्य है, जिसमें रस ले लेकर स्त्री के सौन्दर्य और उसकी यौनिकता का बखान है और कालजयी कहलाता है यह साहित्य। कोई वर्जना नहीं, कोई प्रतिबंध नहीं, कोई कटाक्ष नहीं।'[14] 'रासो रचनाओं के सन्दर्भ में इसका पहला प्रमाण है। स्त्री के शरीर के अंगों का सांगोपाक वर्णन। यूँ तो नखशिख वर्णन शृंगारपरक रचनाओं में अपनाई जाने वाली एक कथानक रूढ़ि का रूप है जिसका प्रयोग रचनाकार कथा के भाग को गति देने के लिए नायक के मन में नायिका के प्रति अनुराग उत्पन्न कराने के लिए, किसी अन्य पात्र के मुख से नायिका का नखशिख वर्णन कराता है। लेकिन इसके मूल में पुंसवादी मानसिकता ही है। इस तथ्य को नहीं भुलाया जा सकता। न ही आज इसे केवल रुढ़ि मान कर नजरअंदाज किया जा सकता है। यहाँ स्त्री सम्पूर्ण भोग्या के रूप में प्रस्तुत की जाती है। यहाँ भाषा भी कामुकता के स्तर पर भूमिका निभाती है। यह न केवल स्त्रियों को कामवस्तु के रूप में पेश करती है बल्कि यह भी सूचना देती है कि वे कामवस्तु के रूप में उपलब्ध है। इससे न केवल उसकी कामुक इमेज निर्मित होती है बल्कि निष्क्रिय छवि का भी निर्माण होता है। ऐसा चित्रण समाज में मौजूद स्त्री के प्रति पुरुषवादी मानसिकता को पुख्ता करता है। 'स्त्री की कसौटी एक नाजुक, पतली-दुबली, गोरी, बड़े उरोज, गुदगुदे और बड़े-बड़े नितंब, लंबा कद, पतली कमर, लंबी उंगलियाँ, छोटे पांव, लंबी गर्दन, लंबे व चमकदार बालों वाली छवि के प्रति सम्मोहन क्यों हैं? पुरुष एक ऐसी ही कमनीय स्त्री की कामना करता है और ऐसी ही स्त्री को अपनी अंकशायिनी बनाने के काबिल समझता व मानता है। ऐसी ही स्त्री उसे आकर्षित करती है। ऐसी स्त्री उसकी अंकशायिनी तो बनती है, पर प्रायः वह उसके आदर की पात्र नहीं होती। पुरुष भोगने के पहले और बाद में भी ऐसी सुन्दर स्त्री के चरित्र को प्रायः शंकालु और हेय नजरों से देखता है। इससे साफ जाहिर है कि पुरुष एक कमजोर स्त्री की ही कामना करता है, जिस पर वह हावी हो सके, जिसे वह अपने वश में रख सके।'[15] इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि महिलाओं के ृारीर की बनावट भी सामाजिक बंधनों और सौन्दर्य के मानकों द्वारा तय की जा रही है। यानि'शरीर' का स्वरूप जिस हद तक 'प्रकृति' से निर्धारित हुआ है उससे कहीं ज्यादा संस्कृति से भी। ऐसा चित्रण समाज में यह धारणा पुख्ता करता है कि 'सौन्दर्य ही स्त्री' के लिए प्रथम आवश्यक मानक है। यह हमारी सामाजिक सच्चाई को भी प्रतिबिम्बित करता है। आज भी यही स्थिति है। विश्व भर की स्त्रियाँ अपने को पुरुषों द्वारा निर्धारित सौन्दर्य मानकों में फिट करने की होड़ में ृामिल हैं।

सीमोन द बोउवा, जर्मेनगियर, केटमिलेट आदि पश्चिमी नारीवादी चिंतकों ने अपने शोधकार्यों से सिद्ध किया है कि औरत जन्म से ही औरत नहीं होती बल्कि हमारा समाज

उसे इस रूप में परिणत करता है। रासो रचनाओं में आए स्त्री चरित्रें के माध्यम से हम इस सच्चाई से रूबरू होते हैं। इस सत्य से भी कि स्त्रियाँ पुरुष निर्मित सभी निर्णय सिर झुका कर स्वीकार करती हैं तो उनकी क्या दुर्दशा होती है? और जब उसका प्रतिरोध करती है तो तब स्थिति क्या हो सकती है? इन दोनों छवियों की अभिव्यक्ति हमें रासो रचनाओं में होती है।[16]

रासो रचनाओं में स्त्री की जिन छवियों को दिखाया गया है वह स्वयं ही इनमें निहित स्त्री विरोधी दृष्टिकोण को व्यक्त कर देता है। जैसे पतिव्रता औरत, सौन्दर्य की मूर्ति, चरित्रहीन औरत ध्वंसकारिणी विनाशकारिणी, सती होती औरत। ये अन्ततः ऐसी छवियाँ हैं जो स्त्री की लिंगीय पहचान को व्यक्त करती हैं। या तो वह केवल ृारीर है या समस्त नैतिकता का स्रोत अथवा सामाजिक पारिवारिक विकास की बाधा। ये स्त्री की ऐसी स्टीरियोटाइप इमेज है जो हमारे जेहन में रची हुई है। जिसका कारण है पितृसत्तात्मक व्यवस्था। समाज की तरह साहित्य में भी उसकी बेबाक छवि को धूमिल करने की कोशिश की जाती है।[17]

'केटमिलेट ने पितृसत्ता की विचारधारा की आलोचना करते हुए लिखा है कि रूढ़िगत रूपों एवं लिंगभेदीय मानसिकता के निर्माण में विचारधारा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विचारधारा के जरिए स्त्री और पुरुष की स्टीरियोटाइप इमेजों को बरकरार रखा जाता है।' [18]

संदर्भ ग्रंथसूची

1. ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, सुधा सिंह, पृ. 135
2. भाषा और समाज, रामविलास शर्मा, पृ. 65
3. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृ. 267
4. नारीवादी राजनीति संघर्ष व मुद्दे, संसाधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, पृ. 1
5. ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, सुधा सिंह, पृ. 140
6. स्त्रीत्व का मानचित्र, अनामिका, पृ. 53
7. ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, सुधा सिंह, पृ. 145
8. ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, सुधा सिंह, पृ. 221
9. ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, सुधा सिंह, पृ. 145
10. वही, पृ. 146
11. वही, पृ. 145-146
12. ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, सुधा सिंह, पृ. 146
13. वही, पृ. 147
14. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृ. 275
15. स्त्री-मुक्ति संघर्ष और इतिहास, रमणिका गुप्ता, पृ. 67
16. कांटे की बात, राजेन्द्र यादव, तीसरा भाग, पृ. 140
17. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृ. 275
18. स्त्री मुक्ति संघर्ष और इतिहास, रमणिका गुप्ता, पृ. 67

डा. धीरेन्द्र कुमार पाण्डेय
सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग,
संघटक राजकीय महाविद्यालय, रिछा, बरेली

डा. गीता
सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग,
संघटक राजकीय महाविद्यालय, रिछा, बरेली

भारत की शैक्षिक नीतियों में वर्णित उच्च शिक्षा संबंधी प्रावधानों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

—धर्मेन्द्र कुमार
—डा. सरिता शर्मा

सारांश

उच्च शिक्षा, मनुष्य और सामाजिक कल्याण के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। उच्च शिक्षा से समाज एवं देश सशक्त और ाक्ति संपन्न तथा लोकतन्त्र सुदृढ़ होता है। एक राष्ट्र के आर्थिक विकास एवं रोजगाार स्थायित्व देने में उच्च शिक्षा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वर्तमान समय में उच्च शिक्षा प्रणाली की प्रमुख समस्याओं में सीमित संस्थागत स्वायत्ता, संकीर्ण मूल्यांकन प्रणाली, विषयों का कठोर विभाजन, शोध पर कम बल, अप्रभावी विनियामक प्रणाली, स्नातक शिक्षा के निम्न मानक, सीमित पहुँच, करियर प्रंबधन की असफलता, निम्न गर्वेनेंस के साथ-साथ बोझिल शिक्षण-अधिगम प्रणाली का प्रचलन विद्यमान है। शिक्षा की प्रमुख नीतियों का प्रमुख ध्यान मुख्य रुप से शिक्षा की पहुँच सभी को उपलब्ध करवाना रहा है। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करना आज भी उच्चा शिक्षा की एक प्रमुख चुनौती है। चूँकि शिक्षा के सफल संचालन एवं क्रियान्वयनएवं तथा इसके निर्देशन की जिम्मेदारी शिक्षा नीतियों पर निर्धारित होती है। अतः भारत की उच्च शिक्षा प्रणाली के वर्तमान स्वरुप को सवांरने हेतु देश की शिक्षा नीतियों का विश्लेषण किया जाना समाचीन प्रतीत होता है जिससे प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर भविष्य में बेहतर उच्च शिक्षा प्रणाली की व्यवस्था की जा सके।

कुंजी शब्द : उच्च शिक्षा, नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986, राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020, ग्रेडेड ऑटोनॉमी, यू.जी.सी.।

प्रस्तावना

शिक्षा मानवीय चेतना का वह ज्योर्तिमय संस्कृत पक्ष है जिससे मानव के व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास होता है। यदि किसी देश की प्रगति एवं संस्कृति को मापना है तो उसकी शैक्षिक प्रगति को सबसे पहले देखा जाना चाहिए क्योंकि

शिक्षा की आधारशिला पर ही कोई देश विकास की चरम सीमा तक पहुँचता है। अतः कोई देश शिक्षा का सम्यक् विकास किये बिना अपने नागरिकों का विकास नहीं कर सकता है। जैसा की हम सब जानते है की आज के समय में शिक्षा और समाज दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। शिक्षा के बिना समाज अधूरा है, और समाज के बिना शिक्षा। यदि किसी देश की प्रगति एवं संस्कृति को मापना है तो उसकी शैक्षिक प्रगति को सबसे पहले देखा जाना चाहिए क्योंकि शिक्षा की आधारशिला पर ही कोई देश विकास की चरम सीमा तक पहुँचता है।

अतः कोई देश शिक्षा का सम्यक् विकास किये बिना अपने नागरिकों का विकास नहीं कर सकता है। किसी भी राष्ट्र का सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक विकास उस देश की शिक्षा प्रणाली पर निर्भर करता है। राष्ट्र निर्माण में वहाँ उपलब्ध ज्ञान शक्ति का अहम् योगदान होता है। ज्ञान एवं कौशल से युक्त मानवीय शक्ति की प्रचुरता उस राष्ट्र के आर्थिक विकास का महत्वपूर्ण आधार होती है। शिक्षा राष्ट्र के नागरिकों के बौद्धिक निर्माण का कार्य करके उनके विकास में अद्वितीय योगदान प्रदान करती है। औपचारिक शिक्षा व्यवस्था के स्तरों में प्राथमिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा एवं **उच्च शिक्षा** प्रमुख है। उच्च शिक्षा नवीन तकनीक, खोज एवं नवाचार हेतु आधार प्रस्तुत करती है। उच्च शिक्षा के निर्गतों के द्वारा समाज में आधुनिकता का प्रचलन होता है और यह सामाजिक एवं आर्थिक गतिशीलता को जन्म देती है। **उच्च शिक्षा** कक्षा 12 के उपरांत प्रारम्भ होती है। उच्च शिक्षा, शिक्षा का वह स्तर है जिसमें मनुष्य को कार्यगत एवं विशिष्ट अनुभव प्राप्त होते है। यह मुख्यतः किशोरावस्था से प्रारम्भ होकर युवावस्था तक चलती है। उच्च स्तर के शिक्षण का स्तर चिंतन स्तर का होता है जिससे व्यक्ति में विकेन्द्रित चिंतन की क्षमताएं विकसित होती है। यह शिक्षा विश्वविद्यालयों, कॉलेजों एवं उच्च शिक्षण संस्थानों में प्रदान की जाती है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरांत उच्च शिक्षा से संबधित प्रमुख अयोगों में राधाकृष्णनन् आयोग(1948-49), कोठारी कमीशन(1964-66) के सुझावों के आधार पर भारत की प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1968 का सूत्रपात होता है तदुपरांत कालान्तर में नई शिक्षा नीति-1986, संशोधित शिक्षा नीति-1992, राष्ट्रीय ज्ञान आयोग-2005 एवं वर्तमान में राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 अस्तित्व में आती है। देश की उच्च शिक्षा प्रणाली को वैश्विक स्तर का बनानें में शिक्षा नीतियाँ ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उत्कृष्ट उच्च शिक्षा प्रदान करने में राष्ट्रीय शिक्षा नीतियों में समसामायिक विविध संस्तुतियां एवं सुझाव दिये गये जिससे वैश्विक स्तर पर शिक्षा के क्षेत्र में बराबरी कर भारत को पुनः विश्व गुरु के रुप में पुनर्स्थापित करके विकास के बहुआयामी लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकें। भविष्य में शिक्षा नीतियों की प्रभावकारिता इस बात पर निर्धारित होती है कि इसका क्रियान्वयन धरातल पर किस प्रकार किया गया था।

अध्ययन की पृष्ठभूमि

उच्च शिक्षा, मनुष्य और सामाजिक कल्याण के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। उच्च शिक्षा से समाज एवं देश सशक्त एवं शक्ति संपन्न और लोकतन्त्र सुदृढ़ होता है। एक राष्ट्र के आर्थिक विकास एवं रोजगार स्थायित्व देने में उच्च शिक्षा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वर्तमान समय में उच्च शिक्षा प्रणाली की प्रमुख समस्याओं में सीमित संस्थागत स्वायत्ता, संकीर्ण मूल्यांकन प्रणाली, विषयों का कठोर विभाजन, शोध पर कम बल, अप्रभावी विनियामक प्रणाली, स्नातक शिक्षा के निम्न मानक, सीमित पहुँच, करियर प्रंबधन की असफलता, निम्न गर्वेनेंस के साथ-साथ बोझिल शिक्षण-अधिगम प्रणाली का प्रचलन विद्यमान है। शिक्षा की प्रमुख नीतियों का प्रमुख ध्यान मुख्य रुप से शिक्षा की पहुँच सभी को उपलब्ध करवाना रहा है। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करना आज भी उच्चा शिक्षा की एक प्रमुख चुनौती है। चूँकि शिक्षा के सफल संचालन एवं क्रियान्वयन एवं तथा इसके निर्देशन की जिम्मेदारी शिक्षा नीतियों पर निर्धारित होती है। अतः भारत की उच्च शिक्षा प्रणाली के वर्तमान स्वरुप को सवांरने हेतु देश की शिक्षा नीतियों का विश्लेशण किया जाना समाचीन प्रतीत होता है जिससे प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर भविष्य में बेहतर उच्च शिक्षा प्रणाली की व्यवस्था की जा सके।

सम्बन्धित साहित्य का पुनरावलोकन

प्रस्तावित शोध अध्ययन से सम्बन्धित पूर्व में किए गये शोध कार्यो का विवरण निम्नवत् है-

1. पाण्डेय, संजय कुमार (2017) ने ''राष्ट्रीय ज्ञान आयोग की संस्तुतियों के परिप्रेक्ष्य में भारत में उच्च शिक्षा का विकासः एक विश्लेषण'' विषय पर शोध कार्य काशी विद्या पीठ, वाराणसी, उ.प्र. में किया।
2. जैन,सविता रानी (2002) ने ''उत्तर प्रदेश में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद गठित आयोगों द्वारा प्रतिपादित नीतियों तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986 का तुलनात्मक अध्ययन'' विषय पर शोध कार्य किया।

3. देवी, त्रिवेणी (2013) ने ''A Study of Educational policy in India since Indepandance with special reference to school education'' विषय पर शोध कार्य किया।
4. Haokp,Thenkhogin (2011) ने '' Status of Higher Education in Hill area of Manipur: A critical study'' विषय पर. ोध कार्य किया।
5. J, Haque M. (2001) ने ''Evaluation of National Adult Education Programme (NAEP) in the State of Assam in respect of Planning, Organisation, Implimentation and Impact'' विषय पर शोध कार्य किया।

शोध अध्ययन का औचित्य

यदि किसी देश की प्रगति एवं संस्कृति को मापना है तो उसकी शैक्षिक प्रगति को सबसे पहले देखा जाना चाहिए क्योंकि शिक्षा की आधारशिला पर ही कोई देश विकास की चरम सीमा तक पहुँचता है। अतः कोई देश शिक्षा का सम्यक् विकास किये बिना अपने नागरिकों का विकास नहीं कर सकता है। किसी भी राष्ट्र का सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक विकास उस देश की शिक्षा प्रणाली पर निर्भर करता है। राष्ट्र निर्माण में वहाँ उपलब्ध ज्ञान शक्ति का अहम् योगदान होता है। ज्ञान एवं कौशल से युक्त मानवीय शक्ति की प्रचुरता उस राष्ट्र के आर्थिक विकास का महत्वपूर्ण आधार होती है। उच्च शिक्षा राष्ट्र के नागरिकों के बौद्धिक निर्माण का कार्य करके उनके विकास में अद्वितीय योगदान प्रदान करती है। समाज अपने नागरिकों के सर्वागींण विकास के लिए शिक्षा की औपचारिक व्यवस्था करता है। इसी कारण से मानव सभ्यता के उदय से लेकर वर्तमान युग तक शिक्षा प्रणाली का विकास अनवरत जारी है। इसी क्रम में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारत के नीति निर्माताओं नें भारतीय शिक्षा प्रणाली को सुदृढ़ करने हेतु प्रयास किये जिसमें शिक्षा नीतियों को लागू करना प्रमुख है जिससे गुणवत्ता पूर्ण शिक्षा सभी नागरिकों को सुलभ हो सके। शिक्षा नीतियों के क्रियान्वयन के आधार पर सरकारें विभिन्न कार्यक्रम एवं योजनाएं लागू करती है जिसके परिणामस्वरुप विभिन्न आयामों में शिक्षा का परिदृश्य बदलता है। परन्तु वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में हम आशानुरुप विकास नहीं कर पायें है। आज भी पर्याप्त विश्वविद्यालय खुलने एवं सम्बद्ध कॉलेजों की संख्या में वृद्धि के बाद भी सभी इच्छुक छात्रों को प्रवेश सुगमता से नहीं मिल पाता है। AISHE रिर्पोट (2017-18) के अनुसार देश में उच्च शिक्षा में सकल नामांकन अनुपात (GER) 25.8% है। विश्व के शीर्ष 200 विश्वद्यिालयों में भारत का एक भी विश्वद्यिालय नहीं है। पी.एच.डी. कोर्स केवल 3.6% कॉलेजों में उपलब्ध है और केवल 37.7% कॉलेजों में स्नातकोत्तर स्तर की पढ़ाई उपलब्ध है। कुल छात्रों में से केवल 0.5% ही शोध में पंजीकृत होते है। योजना आयोग की रिर्पोट के अनुसार भारत में उच्च शिक्षण संस्थानों से उत्तीर्ण होने वाले स्नातकों में केवल 17.5% ही रोजगार योग्य है। AISHE रिर्पोट (2017-18) के अनुसार देश के विभिन्न राज्यों में उच्च शिक्षा की पहुँच में अन्तर है। 18-23 आयु वर्ग में प्रति लाख पात्र जनसंख्या वाले कॉलेजों की संख्या बिहार में केवल 07 है, जबकि कर्नाटक और तेलांगाना में 51 और पूरे देश में 28 है। जनसंख्या के दृष्टि से भारत में युवाओं की आबादी अधिक है किन्तु केवल 2% श्रमशक्ति ही कुशल है जबकि चीन की 45% द. कोरिया की 96%, जर्मनी की 74%, और अमेरिका की 50-55% है। भारत में शिक्षा पर केवल सकल घरेलू उत्पाद का 2.5% ही व्यय किया जा रहा है जबकि कोठारी आयोग(1964-66) ने 6% का सुझाव दिया था। उच्च शिक्षा में रिसर्च एवं नवाचार निवेश GDP का केवल 0.69% जबकि USA में 2.5%, इजराइल में 4.3% और दक्षिण कोरिया में 4.2% है। भारतीय भाषाओं के समुचित शोध एवं उन्नयन के अभाव में विगत 50 वर्षों में 220 भारतीय भाषाओं को UNESCO ने 'लुप्तप्राय' घोषित कर दिया है। 12वीं पंचवर्षीय योजना के अनुसार 19-24 आयु वर्ग के केवल 5 प्रतिशत से कम लोगों ने औपचारिक व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त की जबकि USA में यह 52%, जर्मनी में 25%, दक्षिण कोरिया में 96% है। जे.एस. वर्मा आयोग (2012) के अनुसार stand alone teachers training institute जिनकी संख्या 10000 से अधिक है शिक्षक प्रशिक्षण के प्रति गंभीर नही है और यह पैसों पर डिग्रियाँ बेच रहे हैं।

उपरोक्त तथ्य शिक्षा नीतियों की असफलताओं की कहानी बयाँ कर रहे है। वर्तमान समय में उच्च शिक्षा प्रणाली में अनेक दोष है। आज हम देखते है कि पाठ्यक्रम बच्चों के बौद्धिक स्तर के अनुरूप नहीं है। आज के विद्यालयों में अनुशासनहीनता बढ़ती जा रही है। छात्रों में वर्तमान शिक्षा प्रणाली के प्रति असंतोष दिखाई पड़ रहा है। फलस्वरूप वे असमाजिक व्यवहार करते दिखाई पड़ रहे हैं। शिक्षा में हुई प्रगति के बावजूद भी आज के छात्र व अभिभावक असंतुष्ट हैं। वर्तमान समय में भारत में उच्च शिक्षा की जो

स्थिति है उसके परिप्रेक्ष्य में शैक्षिक नीतियों का विश्लेषण करना अनिवार्य हो गया है। क्योंकि शिक्षा नीतियों के क्रियान्वयन के आधार पर सरकारें विभिन्न कार्यक्रम एवं योजनाएं लागू करती है जिसके परिणामस्वरुप विभिन्न आयामों में शिक्षा का परिदृश्य बदलता है। शिक्षा नीतियों की प्रभावकारिता इस बात पर निर्धारित होती है कि इसका क्रियान्वयन धरातल पर किस प्रकार किया गया था। यहीं पर शोधकर्ता के मन में यह प्रश्न उठते है कि क्या देश में उच्च शिक्षा नीतियों के लक्ष्यों का निर्धारण सही प्रकार से नहीं किया गया था ?

क्या विभिन्न शैक्षिक नीतियों की संस्तुतियाँ व्यापक नहीं थी ?

क्या विभिन्न आयोगों एवं नीतियों द्वारा निर्धारित मानको के आधार पर हम उच्च शिक्षा का विकास कर पाए हैं ?

क्या शिक्षा नीतियों का क्रियान्वयन धरातल पर सही प्रकार से नहीं किया गया था ? अतएव उपरोक्त परिस्थितियों के आलोक में अपनी जिज्ञासाओं को शान्त करने के लिए शोधकर्ता द्वारा **''उच्च शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में भारत की शैक्षिक नीतियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन''** शोध विषय पर शोध कार्य करने का निर्णय लिया गया है।

शोध का उद्देश्य

शोध का मुख्य उद्देश्य स्वतंत्र भारत में उच्च शिक्षा के उन्नयन हेतु गठित विभिन्न समितियों, आयोगों एवं शिक्षा नीतियों द्वारा संस्तुत उच्च शिक्षा के लक्ष्यों एवं उद्देश्यों, उच्च शिक्षा संस्थानों की स्थापना के क्षेत्र में हुई प्रगति, पाठ्यचर्या संशोधनों की समीक्षा एवं उच्च शिक्षा के क्षेत्र में मूल्यांकन प्रणाली में हुए सुधारों का विश्लेषण करना है ।

अध्ययन की विधि : प्रस्तुत शोध अध्ययन के लिए द्वितीयक स्रोतों से आंकड़े संकलित किए गए है। द्वितीयक स्रोतों में विभिन्न आयोगों एवं शिक्षा नीतियों के प्रतिवेदनों, जनगणना प्रतिवेदन, ऐतिहासिक अभिलेख एवं शोध पत्र सम्मिलित हैं। स्वतन्त्रता उपरांत भारत में उच्च शिक्षा के विकास के अध्ययन में ऐतिहासिक शोध विधि एवं विषयवस्तु विश्लेषण विधि का उपयोग किया गया है।

विभिन्न आयोगों एवं भारत की शिक्षा नीतियों में वर्णित उच्च शिक्षा संबधी प्रावधान : स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात देश में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए। बदलते सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य में शिक्षा की उपादेयता को सुनिश्चित करने हेतु सुझावों को प्राप्त करने के लिए समय-समय पर विभिन्न अयोगों एवं समितियों का गठन, इनकी सिफारिशों के आधार पर शिक्षा नीतियों का निर्धारण, विभिन्न स्तरों पर शिक्षा के प्रसार के लिए शिक्षण संस्थानों की स्थापना एवं विभिन्न वर्गों के कल्याण के लिए कार्यक्रमों एवं योजनाओं का क्रियान्वयन किया गया है। विभिन्न आयोगों एवं भारत की शिक्षा नीतियों में वर्णित उच्च शिक्षा संबधी प्रावधानों का विशद् विवेचन निम्नवत् है-

- **विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग(1948-49) :** इसे राधाकृष्णन आयोग भी कहा जाता है इसका गठन उच्च शिक्षा के विकास के लिए किया गया था। इस आयोग द्वारा अनेक सुझाव दिए गए जिनमें विश्वविद्यालयों के शिक्षकों के वेतनक्रमों में सुधार, ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना, शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषाएं, परीक्षा, प्रणाली में व्यापक सुधार, स्नातक पाठ्यक्रमों की अवधि 03 वर्ष, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की स्थापना आदि प्रमुख है।
- **शिक्षा आयोग(1964-66) :** इसे कोठारी आयोग भी कहा जाता है। इस आयोग ने शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर विस्तृत अध्ययन किया और 10+2+3 शिक्षा प्रणाली, कंप्रीहेंसिव स्कूल, त्रिभाषा सूत्र, पत्राचार पाठ्यक्रम, परीक्षा प्रणाली में सुधार, शिक्षकों हेतु रिफ्रेशर कोर्स, सांध्यकालीन कॉलेज, कॉलेजों को स्वायत्ता एवं 06 वरिष्ठ विश्वविद्यालयों (Major Universities) की स्थापना एवं शिक्षा पर जी.डी.पी. का 06प्रतिशत व्यय करने जैसे कई महत्वपूर्ण सुझाव दिए।
- **राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1968 :** कोठारी आयोग के सुझावों एवं संस्तुतियों के आधार पर भारत की प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति सन् 1968 में लागू की गई। इस नीति में कुल 17 आधारभूत सिद्धान्तों का निर्धारण कर नीतियों का क्रियान्वयन किया गया था। 10+2+3 की एक समान शैक्षिक संरचना को सम्पूर्ण देश में लागू करना, व्यावसायिक पाठ्यक्रम, त्रिभाषा सूत्र, अल्पकालिक एवं पत्राचार कोर्स लागू करना साथ ही राष्ट्रीय सेवा योजना, कॉमन स्कूल प्रणाली, नैबरहुड स्कूल जैसी अवधारणाएं राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1968 में ामिल थी।
- **नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986 :** नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986 जिसे 1992 में संशोधित किया गया, उच्च शिक्षा संबधी निम्नलिखित प्रावधान किए गए हैं–

1. एकेडमिक स्टॉफ कॉलेजों की स्थापना एवं सेवाकालीन प्रशिक्षण का प्रावघान।
2. दूरस्थ एवं मुक्त शिक्षा प्रणाली का प्रसार करना।

3. उच्च शिक्षा से जुड़ी ऐसी गतिविधयां बढ़ाना जिससे समाज एवं स्वमंसेवी संस्थओं की सहभगिता बढ़ाई जा सके।
4. उन्न्त शिक्षण विधियों एवं तकनीक का प्रयोग शिक्षण-अधिगम में करना।
5. विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों को स्वायत्ता एवं अनुसंधानों को बढ़ावा देने के लिए आर्थिक अनुदान।
6. भारतीय शिक्षा सेवा को अखिल भारतीय सेवा के रुप में गठित किया जाए।
7. डिग्री को सेवा से अलग करना।
8. शिक्षा के प्रंबधन में विकेन्द्रीकरण को लागू करना।
9. ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना।
10. शिक्षा का आधुनिकीकरण एवं व्यवसायीकरण एवं मूल्य आधारित शिक्षा पर बल।
11. भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद को कानूनी अधिकार प्रदान कर तकनीकी उच्च शिक्षा का सशक्तीकरण।
12. परीक्षा एवं मूल्यांकन प्रणाली में सुधार एवं ग्रेड पद्धति को लागू करना।
13. शिक्षक शिक्षा में डायट को सी.टी.ई. में उन्नत करना एवं कुछ को $CASE_s$ में अपग्रेड करना तथा छण्ब्ण्ज्ण्म्ण् को स्वायत्ता प्रदान करना।

- **राष्ट्रीय शिक्षा नीति (कार्ययोजना)-1992 :** नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986 में यह प्रावधान था कि प्रत्येक 05 वर्ष बाद इसके क्रियान्वयन और परिणामों की समीक्षा की जायेगी। वर्ष 1992 में इसे आचार्य राममूर्ति समीक्षा समिति एवं जर्नादन रेड्डी समिति के सुझावों के आधार पर National Policy on Education 1986 with modification Undertaken in 1992 से प्रकाशित किया गया तथा सरकार ने इसे Plan of Action-1992 का नाम दिया। Plan of Action-1992 में उच्च शिक्षा संबधी निम्न प्रावधान किए गए है जिसमें शिक्षा को राष्ट्रीय महत्व की वस्तु बताना, समग्र शिक्षा पर बल, व्यावसायिक शिक्षा पर बल, मुक्त शिक्षा प्रणाली की सुदृढ़ता, राष्ट्रीय मूल्यांकन संगठन का गठन NTA-National Testing Agency इसी का परिणाम है) एवं भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद का और सशक्त बनाना प्रमुख है।
- **राष्ट्रीय ज्ञान आयोग-2005 :** राष्ट्रीय ज्ञान आयोग-2005 में उच्च शिक्षा संबधी निम्न अनुशंसाएं दी थी-बहुअनुशासनिक पाठ्यचर्या, उच्च शिक्षा में प्रवेश करने वाले अनुपात को 07 प्रतिशत से बढ़ाकर 15 प्रतिशत तक करना एवं इस लक्ष्य के लिए वर्ष 2015 तक विश्वविद्यालयों की कुल संख्या 1500 करना, भारत में विदेशी विश्वविद्यालयों के खोलने देने की अनुमति, सकल घरेलू उत्पाद का कम से कम डेढ़ प्रतिशत व्यय उच्च शिक्षा पर करना, उच्च शिक्षा के रेगुलेशन के लिए Independent regulatory Authority for Higher Education की स्थापना करना, संबद्धक विश्वविद्वालयों के संबद्धता के बोझ को कम करना।
- **राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 :** राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में उच्च शिक्षा संबधी निम्नलिखित प्रावधान किए गए है—

1. राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 का लक्ष्य प्राचीन एवं सनातन ज्ञान प्रणाली की संकल्पनाओं से युक्त एवं भारतीय मूल्यों से पोषित शिक्षा प्रणाली का निर्माण कर सभी को गुणनत्तापूर्ण उच्च शिक्षा प्रदान करना है।
2. 21वीं सदी की आवश्यकताओं के दृष्टिगत उच्चतर शिक्षा प्रणाली में बहु-विषयक विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालय स्थापित किए जाएगें।
3. संकाय एवं संस्थागत स्वायत्ता पर बल।
4. अनुसंधान को बढ़ावा देने के लिए 'राष्ट्रीय अनुसंधान फाउडेंशन (N.R.F.) का गठन किया जाएगा।
5. वर्ष 2030 तक देश के प्रत्येक जिले में या उसके नजदीक कम से कम 01 बड़ा बहु-विषयक उच्चतर शिक्षा संस्थान (HEI_s) स्थापित किया जाएगा।
6. एक स्ट्रीम वाले HEI_s में विभिन्न विषयों के संकायों को जोड़ा जाएगा।
7. राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में ग्रेडेड ऑटोनॉमी की तरफ बढ़ना है जिससे 15 वर्षों के अन्तराल में धीरे-धीरे सम्बद्ध कॉलेजों की प्रणाली समाप्त होगी।
8. प्रत्यायन प्रणाली को सुदृढ़ किया जाएगा।
9. उच्च शिक्षा में समता एवं समावेशन के लिए स्कालरशिपों की संख्या में बढ़ोत्तरी, मुक्त एवं दूरस्थ शिक्षा प्रणाली एवं दिव्यांग विद्यार्थियों के लिए बुनियादी संस्थागत ढॉचें को मजबूत किया जाएगा।
10. उच्चतर शिक्षा संस्थान (HEI_s) उच्च शिक्षा के साथ-साथ सामुदायिक सहभागिता और सेवा संबधी भूमिकाओं का निर्वहन करेंगें।
11. स्नातक उपाधि 3-4 वर्ष की अवधि की होगी जिसमें उपयुक्त प्रमाण-पत्र के साथ निकास (Exit) के विकल्प होगें।

12. बहुविषयक शिक्षा और शोध विश्वविद्यालय (Multidisciplinary Education and Research Universities-MERU) स्थापित किए जायेंगें।
13. उच्चतर शिक्षा संस्थान (HEI) को विभिन्न उपनामों के स्थान पर केवल 'विश्वविद्यालय' के नाम से संबोधित किया जायेगा।
14. उच्च शिक्षा में विदेशी विद्यार्थियों की संख्या में बढ़ोत्तरी के लिए क्रेडिट ट्रांसफर की व्यवस्था लागू की जाएगी।
15. कोर्स एवं पाठ्यचर्या को नवीन तरीके से पुर्नसंगठित किया जाएगा।
16. कक्षा-कक्षों को तकनीक से लैस किया जाएगा।
17. संकाय सदस्यों को कार्य की स्वायत्ता होगी एवं इनकी भर्ती पारदर्शी एवं मानकों को स्पष्ट किया जायेगा।
18. उच्च शिक्षा में 'जेंडर संतुलन' को बढ़ावा दिया जायेगा।
19. 2030 तक बहुविषयक HEI_s द्वारा प्रदान किया जाने वाला 4वर्षीय एकीकृत बी.एड. प्रोग्राम अनिवार्य योग्यता बन जाएगा।
20. उच्च शिक्षा की नियामक प्रणाली में बदलाव कर 'मेटा अक्क्रेडिटिंग निकाय' स्थापित किया जायेगा।
21. राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 के अन्य फोकस क्षेत्रों में प्रौढ़ शिक्षा, जीवन पर्यन्त शिक्षा, भारतीय भाषाओं, कला और संस्कृति का संवर्द्धन, प्रौद्योगिकी का उपयोग और एकीकरण, ऑनलाइन और डिजीटल शिक्षा प्रौद्योगिकी का न्यायसंगत उपयोग सुनिश्चित करना तथा इनके क्रियान्वयन हेतु CABE का सशक्तिकरण करना प्रमुख है।

निष्कर्ष

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात देश में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए। बदलते सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य में शिक्षा की उपादेयता को सुनिश्चित करने हेतु सुझावों को प्राप्त करने के लिए समय-समय पर विभिन्न अयोगों एवं समितियों का गठन, इनकी सिफारिशों के आधार पर शिक्षा नीतियों का निर्धारण, विभिन्न स्तरों पर शिक्षा के प्रसार के लिए शिक्षण संस्थानों की स्थापना एवं विभिन्न वर्गों के कल्याण के लिए कार्यक्रमों एवं योजनाओं का क्रियान्वयन किया गया है। स्वतन्त्रता उपरांत भारत सरकार ने उच्च शिक्षा की प्रगति की ओर ध्यान दिया वर्ष 1951 में देश में कुल 27 विश्वविद्यालय थे जिनकी संख्या वर्ष 2018 में बढ़कर 904 हो गयी है। उच्च शिक्षा सुधार हेतु गठित आयोगों की रिपोर्टों एवं सिफ़ारिशों के आधार पर कई नवीन योजनाओं एवं प्रशासनिक सुधार किए गए है। वर्ष 1925 में गठित अन्तरविश्वविद्यालय परिषद को 1973 से भारतीय विश्वविद्यालय संघ कहा जाने लगा की स्थापना, राधाकृष्णन आयोग की सुझाव पर वर्ष 1953 में यू.जी.सी. का गठन, 1961 में NCERT का गठन, राष्ट्रीय महत्व के संस्थानों की स्थापना, नैक एवं एन.सी.टी.ई. जैसी महत्वपूर्ण संस्थाओं का गठन विभिन्न शिक्षा नीतियों का परिणाम है। वर्ष 1968-69 में 18-22 आयु वर्ग में उच्च शिक्षा में नामांकन भारत में केवल 03 प्रतिशत था जो वर्तमान में 27.1 प्रतिशत है जो शिक्षा नीतियों की सफलता बयां कर रहा है। 11वीं पंचवर्षीय योजना में उच्च शिक्षा एवं तकनीकी शिक्षा पर व्यय कुल शिक्षा परिव्यय का क्रमशः 11.83 प्रतिशत और 5.33 प्रतिशत था। तकनीकी शिक्षा पर व्यय का अंश 2006-07 में 3.8 प्रतिशत से बढ़कर वर्ष 2007-08 में 5.33 प्रतिशत हो गया। परन्तु वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में हम आशानुरुप विकास नहीं कर पायें है। आज भी पर्याप्त विश्वविद्यालय खुलने एवं सम्बद्ध कॉलेजों की संख्या में वृद्धि के बाद भी सभी इच्छुक छात्रों को प्रवेश सुगमता से नहीं मिल पाता है। AISHE रिर्पोट (2017-18) के अनुसार देश में उच्च शिक्षा में सकल नामांकन अनुपात (GER) 25.8% है। विश्व के शीर्ष 200 विश्वद्यिालयों में भारत का एक भी विश्वद्यिालय नहीं है। पी.एच.डी. कोर्स केवल 3.6% कॉलेजों में उपलब्ध है और केवल 37.7% कॉलेजों में स्नातकोत्तर स्तर की पढ़ाई उपलब्ध है। कुल छात्रों में से केवल 0.5% ही शोध में पंजीकृत होते है। योजना आयोग की रिर्पोट के अनुसार भारत में उच्च शिक्षण संस्थानों से उत्तीर्ण होने वाले स्नातकों में केवल 17.5% ही रोजगार योग्य है। AISHE रिर्पोट (2017-18) के अनुसार देश के विभिन्न राज्यों में उच्च शिक्षा की पहुँच में अन्तर है। उपरोक्त तथ्यों से यह भी स्पष्ट है कि अभी भी उच्च शिक्षा में सुधारों एवं नीतियों के बेहतर क्रियान्वयन एवं मॉनीटरिंग की आवश्यकता है।

संन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सारस्वत,मालती एवं बाजपेयी, बी. एल. (1996) भरतीय शिक्षा का विकास एवं समस्याएं, आलोक प्रकाशन,लखनऊ
2. मदान, पूनम. (2015) भारत में शिक्षा व्यवस्था का विकास तथा समस्याएँ, आर.लाल. बुक डिपो, मेरठ
3. सिंह, वी. बी. एवं पहुजा, सुधा, (2011)भारत में शिक्षा

व्यवस्था का विकास, आर.लाल. बुक डिपो, मेरठ
4. ओड़, एल. के. (2010) शैक्षिक प्रशासन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, दी डायमण्ड प्रिटिंग प्रेस, जयपुर
5. राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 का प्रतिवेदन
6. योजना, मई 2001
7. लाल, रमनबिहारी (1972); शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, रस्तोगी प्रकाशन, मेरठ
8. एच. के., कपिल (2007) अनुसंधान विधियाँ, एच. पी. भार्गव बुक हाउस, आगरा
9. राय., पारसनाथ (2008) अनुसंधान परिचय, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा
10. पाण्डेय, बी. बी. (2001) शैक्षिक एवं सामाजिक अनुसंधान एवं सर्वेक्षण, त्रिपाठी प्रिटिंग वर्क्स, गोरखपुर
11. Lal & Sinha (2011). Development of Indian education and its problems, Meerut: R.Lall Book Depot.
12. Government of India (1966). Report of the education commission: Education and national development. Ministry of Education. Govt of India.
13. Rajput,J.S.(2009).Contemporary concerns in Education, Delhi: Yash Publications.
14. Ravi, S.(2016). AComperhensive study of Education. Delhi: PHI Learning Pvt Limited.
15. Prasad V.S. and Pillai Latha (ed. 2004) : Quality Higher Education and Sustainable Development, NAAC Decennial lectures, NAAC, Bangluru.
16. Sunderarajan, N.(2019). Achieving excellence in higher education institutions. in University News, 57(33 August 19-25, 2019) .
7. Tilak Jandhyala B.G. (ed.) (2013): Higher education in India in search of Equality, quality and quantity, Orient Blackswan, Delhi.

धर्मेन्द्र कुमार
शोधार्थी, शिक्षा संकाय,
उच्च अध्ययन शिक्षा संस्थान (I.A.S.E) (मानित विश्वविद्यालय)
गाँधी विद्या मंदिर, सरदार शहर-331403(राजस्थान)

डा. सरिता शर्मा
शोध निर्देशिका एवं रीडर सी.टी.ई., उच्च अध्ययन शिक्षा संस्थान (I.A.S.E) (मानित विश्वविद्यालय)
गाँधी विद्या मंदिर, सरदार शहर-331403 (राजस्थान)

बिहार के मगही सांस्कृतिक प्रदेश में पर्यटन

—डा. रत्नेश शुक्ल
—डा. अनिल कुमार शर्मा

सार

बिहार की प्राचीन समृद्ध गौरवशाली संस्कृति भोजपुरी, मैथिली, मगही, तिरहुत और अंग संस्कृतियों का सम्मिश्रण है। बिहार के सांस्कृतिक प्रदेशों में मगही सांस्कृतिक प्रदेश का विशिष्ट स्थान है। सांस्कृतिक प्रदेश के धरोहरों का सूक्ष्म अवलोकन किया जाए तो यह सांस्कृतिक प्रदेश भारत की सांस्कृतिक विशेषताओं का वास्तविक प्रतिनिधित्व करता है। वर्तमान मगही सांस्कृतिक प्रदेश को यदि प्रशासनिक सीमाओं से आबद्ध करने का प्रयास किया जाय तो इसका विस्तार वर्तमान बिहार के साथ-साथ झारखण्ड (पूर्व में बिहार का अंग) में भी सुविस्तृत मिलता है। प्रस्तुत शोधपत्र बिहार के मगही सांस्कृतिक प्रदेश के अन्तर्गत पर्यटन का विवरण प्रस्तुत करता है जिसके अन्तर्गत बिहार के दक्षिणी पटना, नालन्दा, जहानाबाद, गया, अरवल, नवादा, शेखपुरा, लखीसराय, जमुई और औरंगाबाद जिलों को सम्मिलित किया जाता है। मगही सांस्कृतिक प्रदेश हिन्दू, सूफी, सिक्ख, जैन एवं बौद्ध धर्म वालों के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण है। यह सांस्कृतिक प्रदेश विविधता में एकता को प्रकट करता है अतः मगही सांस्कृतिक प्रदेश सामाजिक समरसता का वह हृदय स्थल है जहां पर पर्यटन का भविष्य विभिन्न पर्यटन सर्किटो के अंतर्गत यथा हिन्दू, सूफी, बौद्ध, जैन एवं ईको के अंतर्गत स्वर्णिम है। यह क्षेत्र विदेशियों को पर्यटन हेतु सदैव आकर्षित करने की सम्भावनाओं से युक्त है।

शब्द कुंजी : सांस्कृतिक प्रदेश, पर्यटन, सामाजिक समरसता ।

रूपरेखा

किसी भी सांस्कृतिक प्रदेश से भली भांति परिचित होना पर्यटन का प्रमुख उद्देश्य रहा हैं। मानव और प्राकृतिक वातावरण के मध्य अंतर्क्रिया के फलस्वरूप एक सांस्कृतिक प्रदेश का उद्‌भव होता है जो भौतिक संस्कृति तथा भाषा

इत्यादि में समानता प्रकट करते हैं परन्तु संस्कृति की गत्यात्मकता किसी सांस्कृतिक प्रदेश के अंतर्गत विभिन्न उपप्रदेशों का सहज निर्माण करती है। भारतीय संस्कृति की विविधता रूपी गत्यात्मकता के संदर्भ में कहा गया है कि चार कोस पर पानी बदलें, आठ कोस पर बानी। यह विविधता बिहार के मगही सांस्कृतिक प्रदेश में अत्यन्त जीवन्त रूप से प्रकट होती है। बिहार का यह वही सांस्कृतिक प्रदेश हैं जहां नालन्दा के रूप में ज्ञान का अथाह रत्नाकर हिलोरे मारता रहा है, यह वही प्रदेश जिसमें गया है, जहां स्थित विष्णु पद में समस्त पितृ शान्ति पा जाते है। यह वही प्रदेश हैं जहां (गया में) बुद्ध को ज्ञान और महावीर को निर्वाण प्राप्त हुआ था। यह वही प्रदेश जो हज़रत सर्फुद्दीन याह्या मुनेरी की तपोभूमि भी है, कर्मभूमि भी और चिरकाल तक कयामगाह भी। यह वही प्रदेश हैं जहां सिक्ख धर्म के दसवें गुरू, श्री गुरू गोविन्द सिंह जी महाराज का जन्म (पटना में) हुआ था। अतः स्पष्ट रूप से यह सांस्कृतिक प्रदेश हिन्दू, सूफी, बौद्ध, जैन सर्किटों में पर्यटन की महत्ता रखने के साथ-साथ ईको पर्यटन की भी विशेष सम्भावनाएं रखता हैं।

शोध पत्र के उद्देश्य

प्रस्तुत शोधपत्र के अधोलिखित उद्देष्य है-

1. मगही सांस्कृतिक प्रदेश में हिन्दू सर्किट के अन्तर्गत पर्यटन का विवरण प्रस्तुत करना।
2. मगही सांस्कृतिक प्रदेश में सूफी सर्किट के अन्तर्गत पर्यटन का विवरण प्रस्तुत करना।
3. मगही सांस्कृतिक प्रदेश में बौद्ध सर्किट के अन्तर्गत पर्यटन का विवरण प्रस्तुत करना।
4. मगही सांस्कृतिक प्रदेश में जैन सर्किट के अन्तर्गत पर्यटन का विवरण प्रस्तुत करना।
5. मगही सांस्कृतिक प्रदेश में ईको सर्किट के अन्तर्गत पर्यटन का विवरण प्रस्तुत करना।

विधितंत्र

बिहार के मगही सांस्कृतिक प्रदेश के अंतर्गत बिहार के दक्षिणी पटना, नालन्दा, जहानाबाद, गया, अरवल, नवादा, शेखपुरा, लखीसराय, जमुई और औरंगाबाद जिलों को सम्मिलित किया जाता है। उल्लिखित क्षेत्रों के भ्रमण द्वारा सांस्कृतिक महत्ता वाले पर्यटन स्थलों को सूचीबद्ध किया गया है। पर्यटन स्थलों के सम्बन्ध में द्वितीयक सूचनाएं जिला वेबसाईट से प्राप्त की गई हैं। प्रस्तुत शोध पत्र वर्णनात्मक उपागम द्वारा निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति करता हैं।

पूर्व साहित्य का पुनरावलोकन

बिहार को पर्यटन गंतव्य के रूप में प्रत्यक्षीकरण एवं सन्तुष्टि स्तर का अध्ययन कुमार सुधीर (2022) द्वारा किया गया। सिंह, अजीत कुमार, त्यागी, पंकज कुमार एवं त्यागी, प्रियंका (2021) के द्वारा बिहार राज्य में सम्पोषणीय पर्यटन का मूल्यांकन किया गया। बिहार के मिथिलांचल प्रदेश में पर्यटन उद्योग की समस्याओं एवं सम्भावनाओं का अध्ययन रंजन, प्रभात (2020) द्वारा किया गया। मलिक (2020) द्वारा बिहार में पर्यटन प्रोत्साहन के आर्थिक लाभों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया। बौद्ध धर्म के तीर्थस्थानों का पर्यटन नीति के परिपेक्ष्य में अध्ययन उपाध्याय, कुमार एवं विज (2020) द्वारा प्रस्तुत किया गया। कपूरी, सिंह और गुप्ता (2020) द्वारा ईको पर्यटन की चुनौतियों एवं अवसरों का अध्ययन डालमा वन्य जीव अभ्यारण के सन्दर्भ में किया गया। राजगीर क्षेत्र में भौगोलिक पर्यटन के स्वरूप का अध्ययन कुमारी, सीमा (2019) द्वारा किया गया। कपूरी, श्वेता (2019) ने झारखण्ड में पर्यटन और उसकी सम्भावनाओं का अध्ययन सम्पोषणीयता के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया। झारखण्ड में ईको पर्यटन के प्रभावों एवं अवसरों का अध्ययन सा, पवन कुमार (2019) द्वारा किया गया। कुमार, विकास (2018) द्वारा बिहार में पर्यटन के विकास का अध्ययन किया गया। बोरा, स्रोतस्विनी (2017) ने बिहार में जैन धर्म की विरासतों का अध्ययन किया। बिहार के ही सन्दर्भ में पर्यटन एवं सम्पोषणीयता का अध्ययन कुमार प्रभात (2016) द्वारा किया गया।

विवेचना

बिहार के मगही सांस्कृतिक प्रदेश में पर्यटन की विवेचना विभिन्न सर्किटों में यथा हिन्दू, सूफी, बौद्ध, जैन, ईको तथा अन्य पर्यटन कोटि के अन्तर्गत क्रमबद्ध रूप से अधोलिखित प्रस्तुत किया गया है-

(क) मगही सांस्कृतिक प्रदेश में हिन्दू सर्किट के अन्तर्गत पर्यटन : बिहार के मगही सांस्कृतिक प्रदेश में हिन्दू धर्म से सम्बन्धित पर्यटन स्थलों में पटना का महावीर मन्दिर, औरंगाबाद का उगमा मन्दिर, देव मन्दिर तथा देवकुण्ड, गया का विष्णुपद मन्दिर, सूर्य मन्दिर, मंगला गौरी, दुखहरनी मन्दिर, ब्रह्मयोनि मन्दिर, सीताकुण्ड, कोटेश्वरनाथ मन्दिर, प्रेतशिला राजगीर का शीतला माता मन्दिर, ब्रह्मकुण्ड, जरादेवी, जरासंध अखाड़ा, जमुई में मां नेतुला मन्दिर, पैटनेसवार मन्दिर, काली मन्दिर, गिद्धेश्वर मन्दिर

लखीसराय में सूर्य मन्दिर, श्रृंगी ऋषि आश्रम, जगदम्बा मन्दिर, अशोक धाम मन्दिर, जहानाबाद में विष्णु मन्दिर, बाबा सिद्धनाथ मन्दिर, बराबर गुफाएं, अरवल में फखरपुर मन्दिर, बेलसार सूर्यमन्दिर, नवादा में इन्द्रासल गुफा, सूर्यनारायण मन्दिर, बुधौली मठ, शेखोदेवरा आश्रम, शेखपुरा में अरघौटी पोखर, गिरिहिंडा पहाड़ पर शिव मन्दिर, विष्णुधाम (सामस), तेरहपुरा मन्दिर आदि प्रमुख है। मगही सांस्कृतिक प्रदेश के हिन्दू सर्किट में एक तरफ गया में विराजमान सर्वविदित विष्णुपद मन्दिर है जहां जाकर पितरों को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है तो वही दूसरी तरफ शेखपुरा के सामस में स्थिति वह नौवीं शताब्दी की 7.5 फीट ऊंची वह मूर्ति जिसके चतुर्भुज शंख, चक्र, गदा एवं पद्म से सुशोभित है परन्तु यह स्थल अभी तक प्रचार प्रसार से दूर है।

(ख) मगही सांस्कृतिक प्रदेश में सूफी सर्किट के अन्तर्गत पर्यटन : सूफी सर्किट के अंतर्गत पर्यटन स्थलों के विवरण से पूर्व यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि सूफी वह सम्प्रदाय है जो कि मुस्लिम धर्म की शरीयत से पृथक होकर तरीकत, हकीकत और मारीफत के माध्यम से सामाजिक सहिष्णुता, समरसता एवं समानता का संदेश देता है। अतः इस श्रेणी में मस्जिदों के स्थान पर सूफी खानकाह एवं दरगाहों को ही सम्मिलित किया जा रहा है जिसके अन्तर्गत पटना में दरगाह शाह अरजान, दरगाह मख्दूम रास्ती, दरगाह पीर मुजीबुल्लाह कादरी, छोटी दरगाह, कच्ची दरगाह, खानकाह बल्खिया, खानकाह फैयाज़िया, अरवल में खानकाह शम्सिया, दरगाह मख्दूम शाह, औरंगाबाद में अमझर शरीफ, खानकाह कादरिया अब्दालिया, गया में बीथो शरीफ दरगाह, जमुई में अमरथ हजरत अहमद खान जाजमेरी, जहानाबाद में बीबी कमाल दरगाह, अमथुआ शरीफ दरगाह, नालन्दा में बड़ी दरगाह, मख्दूम कुण्ड, खानकाह बल्खिया फिरदौसिया, लखीसराय में खानकाह जाजमेरी, शेखपुरा में मटोकर शरीफ, दरगाह पिण्ड शरीफ, दरगाह हजरत जमालुद्दीन, दरगाह सैय्यद यूसुफ हैदर बाघ आदि प्रमुख है। मगही सांस्कृतिक क्षेत्र को सदैव से सूफी सन्तों का सानिध्य प्राप्त रहा है। मूलतः यह क्षेत्र 13 वीं शताब्दी के सूफी सन्त हज़रत सर्फुद्दीन याहिया मुनेरी के नामे पाक से रौशन है। आपकी पैदाईश पटना के पास मनेर नामक स्थान पर हुई तथा आपकी दरगाह बिहार शरीफ में है। राजगीर का मख्दूम कुण्ड आज भी आपकी तपोभूमि के रूप में जाना जाता है। मनेर, राजगीर एवं बिहार शरीफ क्षेत्र मगही सांस्कृतिक प्रदेश के अन्तर्गत समाहित हैं।

(ग) मगही सांस्कृतिक प्रदेश में बौद्ध सर्किट के अन्तर्गत पर्यटन : बुद्ध सर्किट के प्रमुख केन्द्रों में राजगीर और गया विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। बुद्ध सर्किट के अन्तर्गत पटना में बुद्ध स्मृति पार्क, स्तूप एवं संग्रहालय गया में महाबोधि मन्दिर, महान बुद्ध की प्रतिमा, सुजाता स्तूप, तिब्बत मठ, भूटानी मठ, थाई मठ, जापानी मन्दिर, चीनी मन्दिर, डूंगेश्वरी मन्दिर, राजगीर में गृद्धकूट पहाड़ी, जापानी मन्दिर विश्वशान्ति स्तूप (रोप वे सुसज्जित), सप्तपणह्न गुफा, वेणु वन महत्वपूर्ण है। गया के महाबोधि मन्दिर को यूनेस्को द्वारा विश्व धरोहर घोषित किया गया है। राजगीर भी बौद्ध धर्म हेतु अत्यन्त महत्वपूर्ण है, इसी धरती पर बुद्ध के उपदेशों को लिपिबद्ध किया गया तथा प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन भी इसी स्थान पर हुआ था। यह वही स्थान हैं जहां पर महात्मा बुद्ध कई वर्षों तक निवास किया था। राजगीर में गृद्धकूट पर्वत भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, यही पर आपने उपदेश प्रदान किए थे। इसी के शिखर पर जापानी बौद्ध संघ द्वारा विश्व शान्ति स्तूप का निर्माण करवाया गया है। शिखर पर रोप-वे की सहायता से भी जाया जा सकता हैं।

(ड़) मगही सांस्कृतिक प्रदेश में जैन सर्किट के अन्तर्गत पर्यटन : जैन सर्किट का प्रमुख केन्द्र राजगीर है जहां की पांचो पहाड़ियां विपुलगिरि, रत्नागिरी, उदयगिरि, स्वर्णागिरि, वैभारगिरि का जैन धर्म में विशेष महत्व है। साथ ही साथ महावीर स्वामी के निर्वाण स्थल पावापुरी का जलमन्दिर तथा नौलखा मन्दिर आज भी राजगीर में जैन धर्म के प्रमुख पर्यटन केन्द्र है। नवादा में श्री गुनावां जी तीर्थ तथा जमुई में जैन मन्दिर (लछुआर) भी प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। मगही सांस्कृतिक प्रदेश में जैन पर्यटन सर्किट में राजगीर का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। राजगीर की विपुलगिरि, रत्नागिरि, उदयगिरि, स्वर्णगिरि और वैभारगिरि नामक पंच पहाड़ियों पर जैन मन्दिर बहुलता से पाए जाते है। वैभारगिरि नामक पहाड़ी पर श्री पार्श्वनाथ भगवान, श्री महावीर स्वामी, श्री मुनिसुब्रत स्वामी, श्री बासुपूज्य भगवान, श्री धन्नाशाली भद्र एवं श्री गौतम स्वामी जी के मन्दिर है।

(च) मगही सांस्कृतिक प्रदेश के ईको सर्किट के अन्तर्गत पर्यटन : एक सर्किट के अंतर्गत पटना में इको गार्डन, संजय गांधी जैविक उद्यान तथा राजगीर में वाइल्डलाइफ सफारी, ग्लास ब्रिज, घोड़ा कटोरा, जमुई में भीमबंद विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राजगीर की पांचो पहाड़ियो (विपुलगिरि, रत्नागिरि, उदयगिरि, स्वर्णगिरि और वैभारगिरि) का प्राकृतिक सौन्दर्य और हरे-भरे जंगलों के मनोरम दृश्य निश्चित रूप से देश-विदेश के पर्यटकों

को आकर्षित करने क्षमता रखते हैं। साथ ही साथ राजगीर में पाए जाने वाले ब्रह्म कुण्ड जैसे गर्म पानी के कुण्ड धार्मिक महत्व के साथ-साथ भौगोलिक एवं पारिस्थितिकी पर्यटन को भी प्रोत्साहित करते हैं।

(*छ) अन्य पर्यटन :* पटना का तख्त हरमिन्दर साहब सिक्ख धर्म हेतु तथा ईसाई धर्म से सम्बन्धित कुछ चर्च भी विशेष रूप से दर्शनीय है। मुस्लिम धर्म की कुछ मस्जिदें एवं मकबरें भी स्थापत्य कला को प्रदर्शित करते है। साथ ही साथ पटना का गोलघर, अगम कुआं, बिहार संग्रहालय, पादरी की हवेली, कुम्हरार, किला हाउस आदि ऐतिहासिक महत्व के पर्यटन केन्द्र है। ऐतिहासिक महत्व के पर्यटन केन्द्रों में नालन्दा में नालन्दा विश्वविद्यालय के अवशेष, सोन भण्डार तथा जहानाबाद में बराबर की गुफाएं भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

उपसंहार

मगही सांस्कृतिक प्रदेश देश विदेश के पर्यटकों को आकर्षित करने की क्षमता से युक्त है। निश्चित रूप में इस सांस्कृतिक प्रदेश में पर्यटन एक उद्योग के रूप में विकसित होकर आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान कर सकने में सक्षम है परन्तु वर्तमान में आवश्यकता है बिहार की नकारात्मक छवि को सकारात्मक रूप में यर्थाथ प्रस्तुत करने की। अज्ञानतावश जनमानस हेतु बिहार एक निषिद्ध क्षेत्र के रूप में प्रस्तुत किया जाता है परन्तु यह भी प्रत्यक्ष प्रमाणित है कि यह भूमि सभी प्रमुख धर्मों का संगम स्थली है जिसका महत्व हिन्दू, सूफी, बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि हेतु अत्यन्त व्यापक है। उल्लिखित स्थलों में कतिपय स्थल प्रचार-प्रसार के अभाव में जनमानस के मध्य लोकप्रिय नही हैं जैसे कि शेखपुरा का विष्णुमन्दिर। प्रचार-प्रसार द्वारा अप्रचलित स्थलों को लोकप्रिय बनाने का कार्य सर्वप्रथम करना होगा।

सन्दर्भ

- Borah, S. (2017). Jaina Religion and their Heritage in Bihar, *Research Journal Humanities and Social Sciences,* Vol. 8, No.2, pp. 223-224.
- Kapure, S. (2019). Tourism and Its Prospects in Jharkhand – An Analytical Study Towards Impacts and Sustainable Approach, *Journal of Emerging Technologies and Innovative Research,* Vol. 6, No.5, pp. 194-197.
- Kapure, S., Singh, M. and Gupta, R.K. (2020). Challenges And Opportunities For Eco-Tourism Development in Dalma Wildlife Sanctuary, *International Journal of Scientific & Technology Research,* Vol. 9, No.3, pp. 3581-3587.
- Kumar, P. (2016). Tourism and Sustainability, *International Journal of Applied Research,* Vol. 2, No.4, pp. 763-767.
- Kumar, S. (2022). Perception and Satisfaction of Tourist towards the Bihar as a Tourism Destination, *Journal of Tourism & Hospitality,* Vol. 11, No.2, pp. 1-6.
- Kumar, V. (2018). Growth and Development of Tourism in Bihar, *International Journal of Management, Technology and Engineering,* Vol. 8, No.7, pp. 1143-1147.
- Malik, M. (2020). Tourism Pramotion of Bihar: An Economic Game Changer, *Global Journal for Research Analysis,* Vol. 9, No.10, pp. 69-70.
- Ranjan, P. (2020). Prospects and Problems of Tourism industry in Mithilanchal of Bihar, International Journal of Creative Research Thoughts, Vol. 8, No.6, pp. 1140-1147.
- Saw, P.K. (2018). Ecotourism in Jharhkand: Change Impact and Opportunity, *Journal of Management Research and Analysis,* Vol. 5, No.1, pp. 63-67.
- Singh, A.K., Tyagi, P.K. and Tyagi, P. (2021). Evaluation of Sustainable Tourism Practices in the State of Bihar, India, *EDP Sciences*, pp. 01-07.
- Upadhya, A., Kumar, M. and Vij, M. (2020). Buddhist Pilgrimage in Bihar India: A Tourism Policy Perspective, *International Journal of Religious Tourism and Pilgrimage,* Vol. 8, No.3, pp. 130-143.
- कुमारी, सीमा (2019) राजगीर क्षेत्र में भौगोलिक पर्यटन एवं स्वरूपः एक भौगोलिक अध्ययन, *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एप्लाइड रिसर्च,* अंक 5, संस्करण 11, पृ. 271-275

डा. रत्नेश शुक्ल
असिस्टेंट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर भूगोल विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय आरा, बिहार

डा. अनिल कुमार शर्मा
पूर्व शोधार्थी, स्नातकोत्तर भूगोल विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय आरा, बिहार

उत्तराखण्ड में स्थायी स्वास्थ्य सेवा : बुनियादी सुविधा का वित्तपोषण

—गरिमा पाण्डेय

सारांश

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।

भारत में राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ मिशन के आने के 13 वर्षों के पश्चात् भी भारत में एक बड़ी संख्या में लागों में अभी भी स्वास्थ्य सेवाओं का समावेश एक अछूते लक्ष्य की तरह है। प्रदेश में ''व्यापक स्वास्थ की देखभाल'' को चलाने के लिए योजनाओं के संदर्भ में, यह शोध पत्र उत्तराखण्ड में सार्वजनिक अस्पतालों के सामने प्रमुख चुनौतियों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारणों की उत्पत्ति का विश्लेषण करता है तथा इनमें देश के सत्तारुढ़ वर्गों की श्रेणी, प्रकृति और उनके द्वारा किए गए विकास प्रतिमान को बनाए रखने के तर्को का व्यवहारिक रूप से विश्लेषण करता है एवं उत्तराखंड के पहाडी क्षेत्रों में स्वास्थ्य सेवाओं की गुणवत्ता और संभावनाओं के मुद्दों को सम्बोधित करता है और दोनों सरकारों और नागरिक समाज के लिए आर्थिक एवं व्यवहारिक दोनों तरह के समाधान विकसित करने की जरूरतों पर बल देता है फिर यह पत्र वर्तमान परिस्थितिओं के कारण पहाड़ के सार्वजनिक अस्पतालों को कौन-कौन सी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा, पर गंभीर विश्लेषण के पश्चात् इन समस्याओं का व्यवहारिक सुझाव प्रस्तुत करता है।

कुंजी शब्द : व्यापक स्वास्थ्य सेवा, उत्ज्ञाराखण्ड, स्वास्थ्य सेवा, पहाड़ी जिलों में स्वास्थ्य सेवा।

उत्तराखण्ड की अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि आधारित है और राज्य की 10 प्रतिशत जनसंख्या कृषि कार्यों में लगी हुई है। उत्तराखण्ड का एकल घरेलू उत्पाद वर्ष 2004 के लिए वर्तमान मूल्यों के आधार पर अनुमानित 26032 अरब रु.

(6 अरब डॉलर) था। उत्तर प्रदेश से अलग होकर बना यह राज्य पुराने उत्तर प्रदेश के कुल उत्पादन का 6 प्रतिशत उत्पन्न करता है। उत्तराखण्ड, खनिजों जैसे चूना पत्थर, रॉक फॉस्फेट, डोलोमाइट, मैग्नेसाइट, कॉपर ग्रेफाइट, सोप स्टोन, जिप्सम इत्यादि के मामले में एक धनी राज्य हैं। यहाँ पर लघु-उद्योग की संख्या 41216 है और कुल सम्पत्तियाँ 3.1466 अरब के लगभग हैं। अधिकांश उद्योग वनाधारित हैं। 2003 की औद्योगिक नीति के कारण जिसमें यहाँ निवेश करने वाले निवेशकों को कर राहत दी गई है, यहाँ पूँजी निवेश में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। सिडकुल, उत्तराखण्ड औद्योगिक विकास निगम ने राज्य के दक्षिण छोर पर सात औद्योगिक भूसंपत्तियों की स्थापना की है, जबकि ऊथले स्थानों पर पनबिजली बाँधों का निर्माण चल रहा है।

शोध समस्या

1. उत्तराखण्ड में सार्वजनिक अस्पतालों की सामाजिक आर्थिक एवं राजनितिक समस्या।
2. उत्तराखण्ड में व्यापक स्वस्थ्य सेवा का लक्ष्य प्राप्ति में अवरोध की समस्याएँ।
3. पर्वतीय क्षेत्रों में चिकित्सकों के अभाव की समस्या।

साहित्य की समीक्षा

भारत में सार्वजनिक अस्पतालों की समस्याएं एवं चुनौतियां, उनके समाधान श्री विकास भाजपाल (2014) के शोध पत्र में भली प्रकार से दर्शाये गये हैं। उनके अनुसार सार्वजनिक अस्पतालों में समस्याओं का मुख्य कारण समाज के विशेष वर्ग का स्वास्थ्य सेवाओं में जरूरत से ज्यादा हस्तक्षेप है। यह शोध पत्र कुमार, लिकिन, चेन, एम् चौधरी 2011[3] के शोध कार्य को भी समीक्षा करता है। उनके अनुसार स्वास्थ्य सेवा का वित्तपोषण एवं स्वस्थ्य समाज के लिए चुनौती से कम नहीं है। समाज में फैली स्वास्थ्य सम्बन्धी भेद-भाव, स्वास्थ्य सेवा में कमी तथा महंगी स्वास्थ्य सेवा व्यापक स्वास्थ्य सेवा के लिए बडी चुनौती है। व्यापक स्वास्थ्य सेवा के वित्तपोषण में एम. गोविंदा राव एवं मिला चौधरी 2012 का कार्य पत्र की भी समीक्षा करते है। स्वास्थ्य सेवा का समाज में व्यापक समावेश बहुत जरूरी तत्व है एक अच्छे समाज की जो कि समाज एवं देश की उन्नति को प्रोत्साहन देता है। अच्छे समाज में विभिन्न खुशियाँ आती हैं।

शोध की विधि

यह शोध पत्र एप्लाइड तथा गुणात्मक शोध पद्धति का उपयोग करता है इस शोध पत्र में उत्तराखण्ड में स्वास्थ्य सेवाओं की बुनियादी सुविधाओं का वित्तपोषण में सामना करने वाली प्रचलित समस्याओं को हल करने के लिए नयी प्रणाली के विकास तथा नए तरीकों से इन समस्याओं के समाधान के वैज्ञानिक ज्ञान के नए अनुप्रयोग कर उनका विश्लेषण शामिल है। यह पत्र उपयोग में आये चरों के मध्य गैर-मात्रात्मक सम्बन्धों को खोजने का भी प्रयास करता है।

उत्तराखण्ड में स्वास्थ्य क्षेत्र का विश्लेषण

(क) **सार्वजनिक अस्पतालों का प्रकार :** प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा समुदाय को निवारक, उपचारात्मक और प्रोत्साहन सेवाएं प्रदान करता है, जिसमें इस स्तर पर केवल, सामान्य और सरल बीमारियों का ध्यान रखा जाता है। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र और उप स्वास्थ्य केन्द्र देखभाल का निर्माण करते हैं। माध्यमिक स्वास्थ्य सेवा का मतलब समुदाय के रोगी को विशेष सेवा प्रदान करने के लिए है। सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र उप-विभागीय अस्पताल, जिला-अस्पताल स्वास्थ्य सेवा के माध्यमिक स्तर के रूप में कार्य करते हैं। तृतीयक स्वास्थ्य सेवा जटिल बीमारियों के लिए समुदाय को विशेषीकृत के साथ-साथ व्यापक स्वास्थ्य देखभाल सेवाएं प्रदान करती हैं। चिकित्सा महाविद्यालयों और शीर्ष स्वास्थ्य देखभाल के रूप में कार्य करते हैं।

(ख) **उत्तराखण्ड के विभिन्न अस्पतालों की संख्या :** उत्तराखण्ड में स्वास्थ्य सेवा केन्द्रों की कमी एक बड़ी समस्या है। वर्ष 2011 की राष्ट्रीय जनगणना 1,01,16,752 है, परन्तु उत्तराखण्ड में सार्वजनिक अस्पतालों की संख्या उतनी नहीं है जो कि सभी मनुष्यों के लिए पर्याप्त हो। वर्तमान में उत्ज्ञाराखण्ड में सिर्फ 3 आधार एवं यूनानी अस्पताल हैं। केवल 6 महिला अस्पतालों एवं 12 जिला अस्पताल है। टी0बी0 के निवारण के लिए प्रदेश में 13 टी.बी. अस्पताल है। संयुक्त अस्पतालों की संख्या 15 है तथा 23 रक्त कोश सरकार द्वारा स्थापित किये गये हैं। 55 सामुदायिक स्वास्थ्य सेवा केन्द्र संचालित हैं तथा 107 होम्योपैथिक दवाखाने हैं। प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा केन्द्रो की संख्या 239 है एवं राज्य एलोपैथिक दवाखाने की संख्या 322 है, राज्य में आयुर्वेद को बढ़ावा देने के लिय 583 आयुर्वेदिक अस्पताल एवं दवाखाने खोले गए हैं। प्रदेश में

प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा ज्यादा से ज्यादा मनुष्यों तक पहुंच सके इसके लिए राज्य सरकार ने प्रत्येक जिलों में ब्लॉक स्तर में उप स्वास्थ्य केन्द्रों को संचालित किया हुआ है। वर्तमान में 1,765 उप स्वास्थ्य केन्द्र उत्तराखण्ड में प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा प्रदान कर रहे हैं। वर्तमान में टिहरी गढ़वाल में सबसे अधिक प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा केन्द्र संचालित हैं जबकि चम्पावत में सबसे कम हैं।

पहाड़ के सार्वजनिक अस्पतालों की चुनौतियाँ

बुनियादी ढांचे में कमी डी.एल.एच.एस-4 2012-2013 की रिपोर्ट के अनुसार केवल 31.7 अस्पतालों में बिजली की सुचारू रूप की व्यवस्था है 61.4 अस्पतालों में पीने के पानी की व्यवस्था है 84.2 अस्पतालों में शौचालय है 48.3 अस्पतालों में लेबर कक्ष सुचारु रूप से उपयोग किये जा रहे हैं।

1. **श्रम शक्ति में कमी :** सार्वजनिक अस्पतालों में श्रमशक्ति में कमी उत्तराखण्ड में एक बडी समस्या है। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों में सहायक दाई की संख्या तकरीबन 11 है परन्तु पुरुष स्वास्थ्य कर्मचारी तथा अतिरिक्त सहायक दाई के करीबन 80 रिक्त है। तृतीयक स्वास्थ्य केन्द्रों की बात करें तो प्रत्येक जिले में फार्मासिस्टों की संख्या अपने पदों की 80 से 100 है जबकि महिला चिकित्सा अधिकारी की संख्या अन्य चिकित्सा अधिकारियों में न्यूनतम है। आयुश डॉक्टरों की संख्या अपने पदों के करीब 40 से 80 है। ये दर्शाता है कि पहाड़ी जिले के अस्पतालों में महिला चिकित्सा अधिकारी कम हैं, क्योंकि वहाँ यातायात व्यवस्था सुस्त है, यहाँ कठिन कुदरती परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। सरकार द्वारा सकारात्मक प्रयासों के बावजूद अधिकांश पहाड़ी जिलों में चिकित्सकों एव स्वास्थ्य कर्मचारियों की कमी स्वस्थ्य स्वास्थ्य व्यवस्था बनाने में एक बड़ी रुकावट बनी हुई है।
2. **असहनीय रोगी भार :** उत्तराखण्ड में स्वास्थ्य केन्द्रों कि कमी बढ़ती आबादी के लिए एक बड़ी चुनौती है। 1,01,16,742 है जबकि समस्त सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा संस्थानों कि संख्या 6,086 है जिनमें से अधिकांश प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा केन्द्रों के उप केन्द्र हैं जो कि यह दिखता है कि 6,282 मनुष्यों के लिए सिर्फ एक स्वास्थ्य केन्द्र है जो कि स्वयं चिकित्सकों एवं स्वास्थ्य कर्मचारियों कि कमी की समस्या से ग्रसित हैं। वर्तमान में डी.एल.एस-4 (2012-2013) की आख्या के अनुसार सबसे अधिक रोगियों का भार उधमसिंह नगर में है जहाँ केवल 7 तृतीयक स्वास्थ्य सेवा केन्द्र हैं परन्तु 1,78,077 रोगी इन स्वास्थ्य केन्द्रों में आश्रित है जो कि बहुत अधिक है इसके अलावा जो बात इस पत्र में सामने आयी है वह यह है कि टिहरी गढ़वाल में प्रदेश के सबसे अधिक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित हैं परन्तु ये 66 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र केवल 2710 रोगियों को आवरण देते है। उत्तराखण्ड सरकार द्वारा तय मानकों में प्रत्येक उप स्वास्थ्य केन्द्र मैदानी क्षेत्रों में 5,000 मनुष्यों को आवरण देता है एवं पहाड़ी क्षेत्रों में एक उप केन्द्र 3,000 मनुष्यों के आवरण के लिए बनाया जाता है प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र मैदानी क्षेत्रों में 30,000 मनुष्यो एवं पहाड़ी क्षेत्रों में 20,000 लोगों को स्वस्थ्य स्वास्थ्य जीने में आवरण देता है। सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्रों के लिए तय मानकों में मैदानी क्षेत्रों के लिए तय मानकों में मैदानी क्षेत्रो के लिए 1,20,000 मनुष्यों एवं पहाड़ों के लिए 80,000 मनुष्यों पर एक सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्रों की व्यवस्था आवश्यक है। स्वास्थ्य सेवाओं में अगर गुणवत्ता की कमी हो तो कितने भी अधिक स्वास्थ्य सेवाओं के लिए उपकरण हो सब बेकार होते हैं। स्वास्थ्य सेवा की गुणवत्ता स्वास्थ्य चिकित्सा एवं स्वास्थ्य कर्मचारियों से निर्धारित होती है तो इसका प्रभाव यह होगा की उस शहर के लोगों को बेहतर स्वास्थ्य केन्द्र में चिकित्सकों का आभाव रहेगा तो वहाँ के निवासियों को दूसरे शहरों अथवा निजी अस्पतालों से अधिक खर्चे में इलाज करना पड़ेगा। वर्तमान में उत्तराखण्ड की स्वास्थ्य सेवाओं की गुणवत्ता अच्छी नहीं है।
3. **रूढ़िवादी सोच :** आधुनिकता अतीत से स्व-प्रेरित पृथकता और नवीन भावों के अन्वेषण की प्रक्रिया हैं। प्राचीन समाज अंधविश्वासी, रुढ़िवादी परम्पराबद्ध व्यक्तियों और दूसरों ओर प्रगतिवादी विचारधारा वाले बना था। विभिन्न युगों में रुढ़िवादी और आधुनिक दोनों प्रवृत्तियों के विकास का कारण यह है कि मनुष्य अलग-अलग सामाजिक दायरों में सोचता व कार्य करता है। आज जिसे हम रुढ़ि कहते हैं, वह प्राचीन काल में आधुनिकता सूचकता रही होगी। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है आधुनिक तिथियों पर नहीं, बल्कि दृष्टिकोण पर आधारित हैं। रुढ़िवादी सोच समाज के बेहतर स्वास्थ्य के लिए एक रुकावट से कम नहीं है। रुढ़िवादी अंधविश्वास को आधार बना कर आधुनिक इलाज पद्धति से बचने का प्रयास

करती है। अतः आधुनिक इलाज के दुष्परिणाम गिना कर उसकी निंदा करती है। पहाड़ी जिलों में यह समस्या अत्यन्त चिंताजनक है क्योंकि वहाँ चिकित्सक खासकर महिला रोगों का खुल कर इलाज नहीं दें पाते क्योंकि रुढ़िवादी सोच आधुनिक इलाज पर हजारों प्रश्नचिन्ह लगा देने के साथ-साथ चिकित्सकों एवं स्वास्थ्य कर्मचारियों पर भी बरस जाते हैं जिसके कारण चिकित्सकों को सुदूर पहाड़ के गावों में कार्य करने में संकोच बना रहता है।

4. **व्यापक स्वास्थ्य सेवा का वित्तोपोषण, चुनौतियाँ एवं संभावनाए :** हमारे यहाँ स्वास्थ्य सेवाएं अत्यधिक महंगी हैं जो गरीबों की पहुँच से काफी दूर हो गयी है। स्वास्थ्य, शिक्षा, भोजन, आवास जीवन की मूलभूत आवश्यकताएं हैं। हमारे देश में गरीबों और अमीरों के बीच खाई बहुत चौड़ी हो चुकी है। संविधान में इस बात का प्रावधान होते हुए भी कि नागरिकों को स्वास्थ्य व शिक्षा प्रदान करने की जिम्मेदारी राज्य सरकार की होगी, सरकार इसे पूरा करने से अक्सर मुकरती रही है। स्वास्थ्य सेवाओं का निजीकरण जारी है। आम लोग आज जहाँ बुनियादी स्वास्थ्य सुविधाओं की कमी से जूझ रहें हैं तो वहीं दूसरी ओर हमारा देश मेडिकल टूरिज्म के नाम पर विदेशी अमीरों के स्वास्थ्य की सैरगाह बनता जा रहा है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति 2002 में कहा गया है कि सार्वजनिक स्रोतों का उपयोग समाज के सभी वर्गों के लिए नहीं, बल्कि कुछ विशेष पात्रता वाले वर्गों के लिए ही किया जाएगा। जो लोग सक्षम हैं, उनमें यह आशा की जाती है कि वे निजी क्षेत्रों से स्वास्थ्य सेवाओं को खरीदें। स्वास्थ्य पर हमारे देश में जो स्थितियां हैं उससे यह भी निकलता है कि देश में जनस्वास्थ्य की स्थितियां कमोबेश बेहतर नहीं हैं। खासकर मध्यमवर्गीय और निम्नवर्गीय समाज में बेहतर स्वास्थ्य रखना और बिगड़े हुए स्वास्थ्य को दुरुस्त करना खासा मुश्किल हो रहा है। भारत जैसा विकासशील देश जहां मात एवं शिशु म त्यु दरों का प्रतिशत दुनिया के तमाम छोटे व विकासशील देशों से भी बदतर है, में अब तरकीबन 80 प्रतिशत स्वास्थ्य सेवाओं पर निजी क्षेत्रों का कब्जा है। सरकार स्वास्थ्य सेवाओं के लगातार दैत्याकार होते बाजार को खत्म करने की बात नहीं कर रही, जिसका निशाना शहरी संपन्न तबके और विदेशी पर्यटक हैं। ये लोग हैं जो 70 हजार रुपये में हो सकने वाली हार्ट सर्जरी के लिए 7-10 लाख रूपये चुकाने को तैयार हैं। आंकड़े बताते हैं कि भारतीय ग्रामीण को हमेशा कर्ज में डूबे रहने का सबसे बड़ा कारण स्वास्थ्य पर होने वाला आकस्मिक खर्च है। सार्वजनिक और निजी चिकित्सालयों में भर्ती होने वाले कुल मरीजों में से 40 प्रतिशत कहीं से भी कर्ज लेने या अपने घरों के जरूरी सामानों को बेचने को मजबूर होते हैं ताकि उन्हें उनके परिवार और बच्चों को सही इलाज मिल सके। तकरीबन 25 प्रतिशत लोग तो पैसा न होने के कारण इलाज कराने की हैसियत से बाहर रह जाते हैं। सरकार ने स्वास्थ्य सुविधाओं को बेहतर बनाने के लिए तमाम योजनाओं की शुरुआत की लेकिन हकीकत यह है कि देश में अधिकांश स्वास्थ्य सुविधाएं निजी क्षेत्र के द्वारा वित्तपोषित हैं। कुल मिलाकर भारत अपने सकल घरेलू उत्पाद यानी जीडीपी का 4.1 फीसद हिस्सा स्वास्थ्य सेवाओं पर खर्च करता है लेकिन एनआइपीएफपी के एक अध्ययन के मुताबिक अगर जलापूर्ति और सफाई को भी शामिल कर लिया जाए तो स्वास्थ्य सेवाओं पर सरकार खर्च महज 1.5 फीसद है। जबकि इन्हें निकाल देने पर खर्च 1.1 फीसद और रक्षा तथा रेलवे जैसे विभागों के स्वास्थ्य सेवा क्षेत्र को इससे अलग कर देने पर यह एक फीसद से भी कम हो जाता है। इसे बदलकर कम से कम जीडीपी के 3 फीसदी के स्तर पर लाना होगा ताकि प्रभावी और सस्ती दरों पर सबको स्वास्थ्य बीमा आदि प्रदान किया जा सके। ऐसा कोई भी हस्तक्षेप गरीबी के स्तर पर होने वाले कुल खर्च का 10 फीसदी अथवा निर्वहन के लिए होने खर्च का 40 फीसदी हिस्सा स्वास्थ्य पर खर्च हो जाता है। यह बात गरीबी रेखा के इर्द-गिर्द रहने वाले लोगों पर बहुत बुरा असर डालती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा किए गए हालिया सर्वेक्षण के मुताबिक भारत में लोग अपने कुल घरेलू खर्चे का औसतन 10 फीसदी स्वास्थ्य पर खर्च करते हैं। तकरीबन 24 फीसद लोगों कों स्वास्थ्य सुविधाओं पर अपनी क्षमता से आगे बढ़कर खर्च करना पड़ता है। इसका असर उनकी अन्य जरूरतों पर पड़ता है। ऐसे तमाम खर्चों में यात्राओं पर किया जाने वाला वह खर्च शामिल नहीं है जो ग्रामीण लोग शहरी इलाकों में स्वास्थ्य सेवा केंद्रों की ओर जाने में कतराते है। इस दौरान उन्हें अपनी आजीविका के कामों से भी हाथ धोना पड़ता है। अगर खर्च के ब्योरे को बांटकर देखा जाए तो 60-70 फीसदी खर्च दवाओं पर होता है।

निष्कर्ष एवं सुझाव

यह शोध पत्र उत्तराखण्ड में स्थायी स्वास्थ्य सेवाओं के प्रकार, उनकी समस्या एवं उनके बुनियादी वित्तपोषण को सम्बोधित करता है। इस पत्र में हमने उत्तराखण्ड के पहाड़ों के सार्वजनिक अस्पतालों की विभिन्न समस्याओं पर प्रकाश डाला जिसने उत्तराखण्ड में स्वास्थ्य सेवा की छवि खराब की है हमने यह पाया की पहाड़ों के स्वास्थ्य केन्द्रों में बुनियादी ढ़ाचे के कमी होने के साथ-साथ विशेष चिकित्सकों एवं स्वास्थ्य कर्मचारियों की भी कमी है। चिकित्सकों की कमी के सन्दर्भ में यह सामने आया की पहाड़ी भौगोलिक परिस्थितियाँ एवं रुढ़िवादी सोच पहाड़ों में चिकित्सकों को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पायी, परन्तु अगर हम यूरोप के देशों के बारे में सोचें तो वहाँ भी सामान भौगोलिक परिस्थितियाँ है परन्तु वहाँ के पहाड़ी सार्वजनिक अस्पतालों में न ही चिकित्सकों की, न ही स्वास्थ्य कर्मचारियों की कमी होती है अतः कमी कहीं न कहीं हमारे ही सरकारी शासन प्रबंध में प्रतीत होती है। विभिन्न रिपोर्ट्स बताती हैं कि भारत सरकार का स्वास्थ्य सेवा में खर्चा अन्य पड़ोसी देशों से भी कम है जो कि दुर्भाग्यपूर्ण है परंन्तु अत्यन्त चिन्ता का विषय है क्योंकि भारत के लोग इस बात का सरकार पर जोर नहीं बनाते कि स्वास्थ्य सेवा स्वस्थ समाज के लिए अति आवश्यक तत्व है, क्यों सरकार वित्तीय समावेशन की बात करती है परन्तु स्वास्थ्य सेवा के समावेशन को नजरअंदाज करती है क्यों सरकार सेवाओं के निजीकरण कर करीब 70 प्रतिशत भारतीयों के साथ धोखेबाजी कर रही है क्यों सरकार सस्ते जीवन बीमा की बात करती है परन्तु सस्ता स्वास्थ्य बीमा का जिक्र नहीं करती, क्या हम ऐसी स्थिति को एक सुन्दर विकसित भारत वर्ष का निर्माण करने की स्थिति समझें या फिर यही सोचे के भारत के 1947 में आजाद होने के बाद आसमान से गिरे और 70 वर्शों के बाद भी खजूर पर ही अटके हुए हैं? अंत में हम अपने शोध पत्र के माध्यम से निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत करते हैं :-

1. स्वास्थ्य केन्द्रों के बुनियादी ढांचों का आधुनिकीकरण।
2. पहाड़ी क्षेत्रों में स्वास्थ्य सेवा केन्द्रों में विशेष ध्यान की आवश्यकता है।
3. चिकित्सकों एवं स्वास्थ्य कर्मचारियों को अपने व्यवसायिक अभ्यास के कम से कम 20 वर्ष सार्वजनिक अस्पतालों में देना अनिवार्य हो।
4. सरकार सकल घरेलू उत्पाद का 2.5 प्रतिशत से अधिक स्वास्थ्य सेवाओं पर खर्च करे।
5. सरकार स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण करे परन्तु सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं को भी समानता से बढ़ाए एवं सभी वर्गों को समान एवं व्यापक स्वास्थ्य सेवा का आवरण दे।
6. सरकारी एवं निजी बीमा कम्पनीज सस्ते स्वास्थ्य बीमा से उन आय वर्गों को आवरण दे जो अर्थव्यवस्था में सबसे नीचे हैं।
7. सरकार महंगे होते स्वास्थ्य सेवाओं को देखते हुए महंगे इलाज के लिए सस्ते ब्याज पर ऋण की भी योजना आरम्भ करे।
8. सरकार के साथ-साथ गैर सरकारी संगठन भी सुदूर पहाड़ी क्षेत्रों में लोगों को आधुनिक स्वास्थ सेवाओं के लिए जागरुक करें।

संदर्भ

- http://hindi.mapsofindia.com/uttarakhand/.
- कुमार, ए. के. शिव, लिंकन सी चेन, मीता चौधरी, शिबन गनजू, विजय महाजन, अमरजीत सिन्हा और अभिजीत सेन। ''सभी के लिए स्वास्थ्य देखभाल के लिए वित्तपोषण : चुनौतियाँ और अवसर'' लैनसेट 377, न. 9766 (2001): 668-679
- राव, एम गोविन्दा, और अभिजीत सेन : सभी के लिए स्वास्थ्य देखभाल के लिए वित्तपोषण : चुनौतियाँ और अवसर लैनसेट 377,'' न. 9766 (2011): 668-679
- राव, एम गोविंदा और मीता चौधरी, भारत में स्वास्थ्य देखभाल वित्तपोषणः सुधार राष्ट्रीय लोक वित्त और नीति संस्थान, 2012 चौहान, शैलेन्द्र, ''स्वास्थ्य. सेवाओं, गरीबों की पहुँच से दूर''
- http://www.humsamvet.in/umsamvet/?=k2931
- चोपड़ा, रवि, उत्तराखण्ड : विकास और परिस्थितिकी स्थिरता, ऑक्सफैम इंडिया, नई दिल्ली (2014): 53 के लिए रिपोर्ट की गई
- मित्तल, सुरभि, गौर व त्रिपाठी और दिप्ती सेठी, उत्तराखण्ड के पहाड़ी जिलों के लिए विकास रणनीति, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों पर अनुसंधान के लिए भारतीय परिषद 2008

गरिमा पाण्डेय

सहायक प्राध्यापिका (इतिहास),

राजकीय महाविद्यालय तल्ला सल्ट, अल्मोडा,

उत्तराखण्ड

रामचरित मानस में वर्णित प्रसंगों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन

—डा. गिरीश कुमार वत्स

वेद, शास्त्र, ग्रन्थ, पुराण, आदिकाल से ही मनुष्य के लिए प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। मनुष्य को अपने जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक प्रश्न का समाधान महापुरूषों द्वारा रचित इन ग्रंथों से सहजता से प्राप्त हो जाता है। परन्तु संतो की ये वाणियाँ केवल आध्यात्मिक, मौलिक व नैतिक शिक्षा का ही केन्द्र नहीं है, इनमें वैज्ञानिक विचारों का भी भंडार है। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए इस बार हम गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा रचित महान ग्रंथ-रामचरित मानस से कुछ ऐसे प्रसंगों को लेकर आए है जिसमें भौतिक विज्ञान की झलक स्पष्ट दिखाई देती है।

घर्षण (Friction)

सन् 1840 में, भौतिकी वैज्ञानिक जेम्स पी.जूल ने एक प्रयोग के द्वारा सिद्ध किया कि दो पदार्थों या सतहों के घर्षण से उनमें निहित गतिक ऊर्जा (Kinete Energy) ऊष्मा (Heat) में परिवर्तित हो जाती है। वैज्ञानिक शैली में घर्षण (Friction) को निम्न प्रकार से परिभाषित किया गया- "Friction is the force resisting the relative mation of Solid Surfaces, Fluid Layers and material elements sliding against each other. When Surfaces in Contact move relative to each other, the friction between the two surfaces Converts Kinete energy into heat" अर्थात् घर्षण वह बल है, जो सतहों के परस्पर गमन में अवरोध उत्पन्न करता है और जब सतहें एक दूसरों के सम्पर्क में आकर परस्पर गमन करती है, तो उनके मध्य उत्पन्न हुआ घर्षण गतिक ऊर्जा को ऊष्मा में परिवर्तित कर देता है। आधुनिक विज्ञान में घर्षण का यह सिद्धान्त वैज्ञानिक जूल के प्रयोग के बाद समाज के समक्ष उजागर हुआ परन्तु आपको जानकर अत्यंत आश्चर्य होगा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने कई वर्षों पूर्व ही इस सिद्धान्त को रामचरित मानस में अंकित कर दिया था। मानस के उत्तराकाण्ड में जहाँ काक भुशुण्डि जी और गरूड़ जी का संवाद चल रहा है, वहाँ इसका वर्णन आता है। गरूड़ जी की जिज्ञासा को शांत करने के लिए काक भुशुण्डि जी अपने विभिन्न

जन्मों का वर्णन करते है और बताते हैं कि अंत में उन्हें ब्राह्मण का शरीर प्राप्त हुआ। उस समय उनकी सगुण ब्रह्म में अटूट प्रीति थी और उन्हें निर्गुण मत नहीं सुहाता था। इसलिए वे समेरू पर्वत के शिखर पर आसीन लोमश मुनि के पास पहुँचे और उनसे सगुण ब्रह्म की आराधना करने की प्रक्रिया बताने की विनय की। काकभुशुण्डि जी के इस आग्रह पर लोमश मुनि ने पहले श्री रघुनाथ जी कथाओं का गान किया और फिर बाद में निगुर्ण ब्रह्म का उपदेश दिया। तब काकभुशुण्डि जी ने निर्गुण मत को काटकर, सगुण का निरूपण किया। जब मुनिवर के बार-बार समझाने पर भी काकभुशुण्डि जी नहीं माने, तो उन्हें क्रोध आ गया। मुनिवर की इस क्रुद्ध अवस्था का वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में लिखा—*सुनु प्रभु बहुज अवग्या किएँ/उपज क्रोध ग्यानिन्ह के हिएँ/अति संघरषन जौं कर कोई/अनल प्रगट चंदन ते होई।। (मानस उ.का. 110 (8)*

अर्थात् बहुत अपमान करने पर ज्ञानी के हृदय में क्रोध उत्पन्न हो जाता है। ठीक वैसे ही, जैसे यदि कोई चन्दन की लकड़ी को बहुत अधिक रगड़े, तो उससे भी अग्नि प्रकट हो जाती है। चन्दन की लकड़ी के घर्षण से अग्नि प्रकट होना वैज्ञानिक जूल द्वारा किए गए प्रयोग से मेल खाता है। भावार्थ तुलसीदास जी भी घर्षण (Friction) के विज्ञान से परिचित थे। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने नैतिक सिद्धान्त को मानवीय व्यवहार के स्तर तक उतार दिया था। अतः हम मानस की चौपाइयों में विज्ञान की स्पष्ट झलक देख सकते हैं।

चरम शून्य की स्थिति

विज्ञान में -273^0 तापमान की स्थिति एक बहुत महत्वपूर्ण तथ्य (Phenomenon) को प्रदर्शित करती है। इस तापमान पर पदार्थ के अणु पूरी तरह स्थिर हो जाते हैं और उनमें किसी प्रकार की हलचल नहीं रहती। इसी तथ्य के तहत थर्मोडाएनमिक्स के तीसरे नियम को परिभाषित किया गया—"The entropy (a measure of disorder or randomness in a closed system) of a perfect Crystal at absolute zero is exactly equal to zero." अर्थात् चरम शून्य की स्थिति में उत्तम क्रिस्टल की एंट्रापी (सिस्टम की हलचल और अव्यवस्था को मापने का मापदड शून्य हो जाती है। इस अवस्था में किसी प्रकार की कोई हलचल कोई स्पंदन नहीं होता। परन्तु थर्मोडाएनमिक्स के इस तीसरे नियम के साथ एक उपसिद्धान्त (Corollary) भी जुड़ा हुआ है। "It is im possible by any procedure to bring a system to absolute zero temperature in a finite number of steps अर्थात् किसी सिस्टम को किसी भी भौतिक प्रक्रिया द्वारा चरम शून्य की अवस्था में लाना असम्भव है। अब हम महापुरूषों द्वारा वर्णित परमपद की अवस्था पर दृष्टिपात करते हैं। शास्त्र-ग्रंथों के अनुसार परम पद वह अवस्था है, शून्यता की वह स्थिति है, जब मन के विचार, मन की उथल-पुथल व हलचल पूर्णतः समाप्त हो जाती है। बिल्कुल विज्ञान की चरम शून्य की स्थिति के समान। परन्तु परम पद की अवस्था की प्राप्ति करना अति दुर्लभ है। मानस के उत्तराकाण्ड में गोस्वामी जी इसका विवरण देते हैं। जिस समय गरूड़ जी काकभुशुण्डि जी के समक्ष प्रश्न रखते हैं कि 'ज्ञान और भक्ति में क्या अन्तर है? तब उत्तर स्वरूप काकभुशुण्डि जी ज्ञान मार्ग का उल्लेख करते हुए कहते हैं—*अति दुर्लभ कैवल्य परम पद/संत पुरान निगम आगम बद ॥(मानस उ. का. 118/2)* अर्थात् हे पक्षीराज गुरूड़! सुत, पुराण, वेद और शास्त्र कहते हैं कि कैवल्य रूप परमपद अत्यन्त दुर्लभ है।

कहने का भाव कि भौतिकवाद के सीमित दायरे में जैसे चरम शून्य (absolure zero), निरपेक्ष स्थिरता (absolute rest) की स्थिति को प्राप्त करना दुर्लभ है, वैसे ही अध्यात्म मार्ग में परम पद की अवस्था को प्राप्त करना भी कठिन है। परन्तु तुलसी आगे वर्णन करते है—*राम भजत सोइ मुकुति गोसाई/अनइच्छित आवइ बरि आई ॥* अर्थात्, श्रीराम को भजने से अत्यंत दुर्लभ मुक्ति-परम पद की भी प्राप्ति संभव है क्योंकि हमारे शास्त्रों में ब्रह्म को शून्य कहा गया है। जब मनुष्य ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर ध्यान-साधना द्वारा ब्रह्मस्थित हो जाता है, तब परमपद व चरमशून्य की दुर्लभ अवस्था भी उसे सरलता से प्राप्त हो जाती है। अतः अध्यात्म यहाँ भी विज्ञान से आगे हैं।

लेजर

बीसवीं शताब्दी में आविष्कृत लेजर (Laser) विज्ञान की एक ऐसी खोज है, जिसके द्वारा चिकित्सा और औद्योगिकी के क्षेत्र को एक नई दिशा मिली है। लेजर (Lsare) एक ऐसा उपकरण है, जो आप्टिकल एम्पिलीफिकेशन (प्रकाशन संबंधी विस्तारण) द्वारा प्रकाश को प्रेषित करता है। यह प्रकार का स्रोत अपने विशिष्ट गुणों के कारण अन्य प्रकाश स्रोतों से भिन्न है। जैसे कि लेजर द्वारा निकला प्रकाश एक-वर्णों, सामंजस्यपूर्ण और दिशात्मक होता है। साथ ही, लेजर किरणों में वस्तु को भस्म करने की शक्ति होती है। इन्हीं विशेषताओं के

कारण इस उपकरण का प्रयोग औद्योगिक कार्यों में किया जाता है, जैसे कि पदार्थों को काटकर उन्हें सही आकार देना। इसके अतिरिक्त लेजर किरणों द्वारा कोशिकाओं (Calls) को भस्म कर कई रोगों का भी उपचार किया जाने लगा है। विज्ञान के इस उपकरण की छवि हम रामचरित मानस के बालकाण्ड में निहित उस प्रसंग में देख सकते हैं, जब देवताओं के आग्रह पर कामदेव, ध्यान में लीन महादेव को विचलित करने का प्रयास करते है। परन्तु अपने सभी प्रयासों को विफल होता देख, अंततः कामदेव शिव जी पर तीक्ष्ण बाण छोड़ देते है। इसमें महादेव की समाधि टूट जाती है और वे कामदेव को देखकर क्रोधित हो उठते हैं। महादेव की क्रुद्ध अवस्था का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी कहते है—*सौरभ पल्लव मदनु बिलोका/भयउए कोपु कंपेउ श्रैलोका/ तब सिव तीसर नयन उधारा/ चितवत कामु भयउ जरि छारा ॥ (मानस बा. का. 86/3)* अर्थात् आम के पत्तों में छिपे हुए कामदेव को देखकर महादेव क्रोधित हो उठे, जिससे तीन लोक काँपने लगे। तत्पश्चात् महादेव ने अपना तीसरा नेत्र खोला, जिससे निकली अग्नि से कामदेव जल कर भस्म हो गए। अतः शिव जी के तीसरे नेत्र से निकली अग्नि की तुलना हम विज्ञान की लेजर किरणों से कर सकते हैं। जिस प्रकार लेजर किरणों द्वारा कोशिकाओं को भस्म कर शारीरिक रोगों का उपचार किया जाता है, ठीक उसी प्रकार शिव-नेत्र से प्रकट हुई अग्नि से काम-वासना रूपी विकास को भस्म कर मन के रोगों का उपचार संभव है।

रडार

रेडियों तरंगों का अनुसंधान एवं विस्तारण (त्ंकपव क्मजमबजपवद ंदक त्ंहपदह)। यह उपकरण द्वितीय महायुद्ध के समय बनाया गया था। जब से इसका प्रयोग वायुयानों, अंतरिक्षयानों, मिसाइल्स आदि की वास्तविक स्थिति जानने और मौसम सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने में किया जाता है। इस तकनीक के अंदर रडार तरंगों को प्रेषक (जतंदेउपजजमत) द्वारा प्रेषित (मउपज) किया जाता है। ये तरंगे अपने मार्ग में आने वाली वस्तुओं से परावर्तित (तमसिमबज) होकर दोबारा प्रेषक द्वारा प्राप्त की जाती है। इस तरह वायुयानो, अंतरक्षियानों की वास्तविक स्थिति ज्ञात हो जाती है।

ऐसी ही वैज्ञानिक तकनीक का वर्णन गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्रीराम चरित मानस के सुन्दरकाण्ड में किया जाता है। बात उस समय की है जब हनुमान जी, सीता जी की खोज में समुद्र को पार करते हुए जा रहे थे। तब उनका सामना समुद्र में निवास कर रही राक्षसी से होता है, उस राक्षसी द्वारा प्रयोग की गई माया का उल्लेख करते हुए गोस्वामी जी कहते है—*निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई/करि माया नभु के खग गहई /जीव जंतु जे गगन उड़ाही/जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं /(मानस सुन्दरकाण्ड 2/1-2)* अर्थात् समुद्र में एक राक्षसी रहती थी। वह माया करके आकाश में विचरण करते हुए पक्षियों को पकड़ लेती थी। वह उड़ते हुए जीव-जन्तुओं की परछाई को जल में देखकर, उस परछाई को पकड़ लेती थी, जिससे वे उड़ नहीं पाते थे और जल में गिर पड़ते थे। राक्षसी की इस माया में रड़ार तकनीक की झलक स्पष्ट दिखाई देती है।

अतः इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि हमारे ग्रंथों में वैज्ञानिक सिद्धान्तों के साथ-साथ वैज्ञानिक तकनीकों, उपकरणों का भी वर्णन किया गया है। यानी कि हमारे पुराणों, ग्रंथों और शास्त्रों में आध्यात्मिक रत्नों के साथ-साथ अनेक वैज्ञानिक रत्न भी निहित हैं। क्योंकि इनके रचयिता वे आध्यात्मिक पुरूष थे, जिनमें पूर्ण विवेक प्रकाशित था।

संदर्भ

1. आधुनिक वैज्ञानिक खोज की रामचरित मानस से प्रासंगिकता
2. विज्ञान और रामचरित मानस
3. रामचरित मानस के वर्णित प्रसंगों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उद्भव
4. रामचरित मानस की प्रगतिशील प्रेरणाएं
5. शिक्षा एवं विद्या
6. नमो राघवाय मासिक पत्रिका
7. मानस संदेश पत्रिका

डा. गिरीश कुमार वत्स

प्राचार्य, श्री द्रोणाचार्य स्नातकोत्तर महाविद्यालय

दनकौर (गौतम बुद्ध नगर)

माध्यमिक स्तर के शिक्षकों का सतत व्यावसायिक कार्यक्रमों के प्रति दृष्टिकोण का अध्ययन

—डा. सचिन कुमार
—डा. दीपशिखा सक्सेना

प्रस्तावना

शिक्षा जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है, जो मनुष्य के बाह्य एवं आन्तरिक विकास में सहयोग कर उसकी सांस्कृतिक चेतना को विकसित करते हुए आत्मनिर्भरता की योग्यता प्रदान करती है। शिक्षा में सांस्कृतिक, आत्मिक एवं सामाजिक उत्थान की क्षमता होती है। शिक्षा बालक के नैतिक, शारीरिक, संवेगात्मक बौद्धिक एवं आन्तरिक ज्ञान को बाहर लाने में सहयोग देने वाली क्रिया है। व्यक्ति के जीवन में शिक्षा ऐसा परिवर्तन लाती है, जिससे वह निरन्तर उत्कृष्टता की ओर अग्रसर हो सकता है।

इसीलिए भारतीय शिक्षा आयोग (1964-66) ने शिक्षा के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि-''भारत के भाग्य का निर्माण उसके शिक्षालयों के कक्षों में हो रहा है।''

प्रश्न यह उठता है कि क्या अध्यापक बनने के लिए विशेष शिक्षा प्राप्त करना या प्रशिक्षण लेना आवश्यक है? यदि गहराई से देखा जाए तो उत्तर मिलेगा ''हाँ''। जिस प्रकार किसी भी अन्य व्यवसाय जैसे अभियांत्रिकी, चिकित्सा, प्रशासन, प्रबन्धन आदि के लिए विशिष्ट शिक्षा या प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, उसी भाँति शिक्षकों को भी प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, इस शिक्षक प्रशिक्षण को ही आज अध्यापक शिक्षा की संज्ञा दी जाती है। अध्यापक शिक्षा व्यक्ति में अध्यापन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित आवश्यक ज्ञान, बोध, मूल्य, व्यवहार आदि को विकसित करती है। यह व्यवहार में परिवर्तन व परिमार्जन कर व्यक्तित्व के विकास पर बल देती हैं।

एक समय था जब यह धारणा थी कि शिक्षक बनने के गुण व्यक्ति में जन्मजात होते हैं। अतः इसके लिए किसी विशेष शिक्षा अथवा प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती अर्थात् शिक्षक पैदा होते हैं बनाए नहीं जाते। यघपि इस विचार

को आज कोई स्वीकार नहीं करता, परन्तु यदि हम इस बात को मान भी लें तो भी इससे इन्कार नहीं कर सकते कि जन्मजात शिक्षकों की संख्या अंगुलियों पर गिनी जा सकती है। प्राचीन काल में जब शिक्षा एक विशेष वर्ग तक सीमित थी और छात्रों की संख्या भी बहुत कम थी, जन्मजात शिक्षकों की अवधारणा कारगार थी। परन्तु शिक्षा प्रसार के साथ शिक्षकों के लिए बढ़ती माँग को जन्मजात शिक्षकों द्वारा पूरा करना सम्भव नहीं रहा और प्रशिक्षण द्वारा शिक्षकों को तैयार करने व माँग को पूरा करने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी।

प्रशिक्षण द्वारा व्यक्ति के उपयुक्त अभिवृत्ति, ज्ञान, कौशल व व्यवहार में क्रमवद्ध विकास एवं परिमार्जन कर शिक्षणोपयोगी गुणों को विकसित किया जाता है। इससे व्यक्ति की कार्यक्षमता व कुशलता में वृद्धि हो जाती है और कार्य में असफलता की सम्भावना कम हो जाती है जिससे कार्य सन्तुष्टि की मात्रा भी बढ़ जाती है।

भारतीय संस्कृति तथा गुरूकुल प्रणाली से अवगत विचारकों के लिए शिक्षक प्रशिक्षण की अवधारणा कोई नई बात नहीं है। हम सभी जानते हैं कि अनौपचारिक रूप से शिक्षक की व्यवसायिक शिक्षा का जन्म ''श्रेष्ठ व ज्येष्ठ विघार्थियों द्वारा कनिष्ठ विघार्थियों के अध्यापन'' के रूप में प्राचीन काल में भारत के गुरूकुलों में हुआ था। इस प्रणाली को देखकर मद्रास के प्रेसिडेंट चैपलिन डा. बेल ने इसे ''मोनीटोरियल सिस्टम'' की संज्ञा दी जो बाद में इंग्लैण्ड व अन्य देशों में भी काफी लोकप्रिय हुई।

अध्यापक शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में अध्यापन व्यवसाय एवं बालकों के प्रति सकारात्मक अभिवृत्ति विकसित करना एवं शिक्षा व अध्यापन सम्बन्धी नियमों, सिद्धान्तों, तथ्यों, विधियों व प्रविधियों का ज्ञान कराकर उन्हें प्रयोग में लाने की क्षमता विकसित करना है। शिक्षा का क्षेत्र पूर्व-प्राथमिक स्तर से लेकर उच्च शिक्षा तक तथा सामान्य से लेकर विशिष्ट व व्यवसायिक शिक्षा तक है। यों तो हर प्रकार की शिक्षा के लिए शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के कुछ प्रमुख विशिष्ट उद्देश्य होते हैं परन्तु उनमें अन्तर होते हुए भी आधारभूत रूप में काफी समानता देखी जा सकती है। निम्नलिखित कुछ बिन्दु ऐसे हैं जो हर क्षेत्र की अध्यापक शिक्षा के लिए आवश्यक हैं-

- बालक के विकास सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक आधारभूत सिद्धान्तों, व्यक्तिगत भिन्नता एवं समानता को समझना।
- बालक के प्रति रूचि व सकारात्मक अभिवृत्ति को विकसित करना।
- बालक के शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, सामाजिक, नैतिक आदि विकास के लिए उचित वातावरण प्रदान करने की क्षमता विकसित करना।
- दृश्य-श्रव्य सामग्री के निर्माण व उचित ढंग से प्रयोग करने का कौशल विकसित करना।
- विषय सम्बन्धी नवीन ज्ञान, खोज प्रवृत्तियों आदि से परिचित कराना व उचित विधियों द्वारा शिक्षण की क्षमता पैदा करना।
- तकनीकी शिक्षा का ज्ञान देना व प्रयोग की क्षमता व दक्षता विकसित करना।
- आवश्यकतानुसार वैयक्तिक, शैक्षिक व व्यवसायिक समस्याओं सम्बन्धी परामर्श व निर्देशन देने की क्षमता व कौशल विकसित करना।

सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन

अमनदीप और गुरप्रीत (2022) ने निष्कर्ष निकाला कि (1) पुरुष अध्यापकों (1) पुरुष अध्यापकों की तुलना में अपने शिक्षकों में महिला शिक्षक अधिक प्रभावी हैं (2) जहां तक उनकी शिक्षण क्षमता का संबंध है, पुरुष और महिला शिक्षक अलग-अलग नहीं होतेय (3) इस तरह शिक्षकों की शिक्षक की प्रभावशीलता में शिक्षण की योग्यता में परिवर्तन महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

विजयलक्ष्मी (2021) ने पाया कि केवल 35 साल या उससे अधिक उम्र वाले शिक्षकों के बीच महत्वपूर्ण अंतर मौजूद है। लिंग, वैवाहिक स्थिति, योग्यता, अनुभव, शिक्षण विषय, पद, कॉलेज की स्थिति, कॉलेज और प्रबंधन का प्रकार का शिक्षक प्रभावशीलता पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं था।

शोध समस्या

''माध्यमिक स्तर के शिक्षकों में सतत व्यावसायिक विकास कार्यक्रमों के प्रति दृष्टिकोण का अध्ययन।''

शोध में प्रयुक्त शब्दों का पारिभाषिकरण

1. **माध्यमिक स्तर :** माध्यमिक स्तर से तात्पर्य कक्षा 9-10 तक की शिक्षा प्रदान करने वाले, उ.प्र.मा. शिक्षा परिषद द्वारा संचालित विद्यालय, केन्द्रीय मा.शि. परिषद तथा सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त विद्यालय।
2. **शिक्षक :** माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में सेवारत शिक्षक।
3. **सतत व्यावसायिक विकास :** शिक्षण व्यवसाय में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों एवं नवीन जानकारियों से हर समय अद्यतन रहना।

4. **उपलब्ध कार्यक्रम :** शासन एवं विभिन्न संस्थाओं द्वारा शिक्षकों के सतत् व्यावसायिक विकास हेतु चलाये जाने वाले विभिन्न प्रशिक्षण कार्यक्रम।

अध्ययन के उद्देश्य

1. माध्यमिक स्तर के शिक्षकों में उनके सतत् व्यावसायिक विकास हेतु उपलब्ध कार्यक्रमों के प्रति सामान्य जानकारी का अध्ययन करना।
2. माध्यमिक शिक्षकों के सतत् व्यावसायिक विकास हेतु उपलब्ध प्रशिक्षण कार्यक्रमों की वर्तमान परिस्थितियों मे प्रासंगिकता का अध्ययन करना।
3. माध्यमिक शिक्षकों के सतत् व्यावसायिक विकास हेतु उपलब्ध प्रशिक्षण कार्यक्रमों के प्रति शिक्षकों की जागरूकता का अध्ययन करना।

शोध की परिकल्पनाएं

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध हेतु निम्न परिकल्पनाएं निर्धारित की गयी है-

1. माध्यमिक स्तर पर सेवारत शिक्षक सतत व्यावसायिक विकास हेतु चलाये जाने वाले प्रशिक्षण कार्यक्रमों से परिचित हैं।
2. माध्यमिक स्तर पर सेवारत शिक्षक सतत व्यावसायिक विकास हेतु चलाये जाने वाले प्रशिक्षण कार्यक्रमों की प्रासंगिकता से परिचित हैं।
3. माध्यमिक स्तर पर सेवारत शिक्षकों के सतत व्यावसायिक विकास हेतु चलाये जाने वाले प्रशिक्षण कार्यक्रम पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है।

न्यादर्श

प्रस्तुत अध्ययन के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु गाजियाबाद जनपद में स्थापित उच्चतर माध्यमिक व माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में से कुल 20 विद्यालयों का चयन स्तरीकृत न्यादर्श चयन विधि व यादृच्छिक चयन विधि के समन्वित प्रयोग द्वारा किया गया। इसमें 10 विद्यालय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय है जो उ.प्र. प्राथमिक शिक्षा परिषद से सम्बंधित है तथा 10 विद्यालय UP बोर्ड से लिए गये। चयनित माध्यमिक स्तर के विद्यालयों की सूची तालिका संख्या 3.1 मे प्रस्तुत की गयी है।

अध्ययन हेतु प्रयुक्त उपकरण

प्रस्तुत अध्ययन के उद्देश्य की पूर्ति से सम्बन्धित उपलब्ध उपकरणों पर दृष्टिपात करने पर पाया कि इनकी पूर्ति से सम्बन्धित कोई भी उपकरण उपलब्ध नहीं है। अतः अध्ययन की आवश्यकता को दृष्टिगत रखते हुए शोधकर्ता द्वारा अपने शोध पर्यवेक्षक के निर्देशन में ''शिक्षक सतत व्यावसायिक विकास कार्यक्रम जागरूकता एवमं प्रतिभाग प्रश्नावली'' निर्मित करने का निर्णय लिया गया।

शोध विधि

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य 'माध्यमिक स्तर के शिक्षकों में सतत व्यावसायिक विकास कार्यक्रमों के प्रति दृष्टिकोण का अध्ययन। ''समस्या की प्रकृति को दृष्टिगत रखते हुये, इस अध्ययन के लिए शोधकत्री द्वारा सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया।

सांख्यिकी विश्लेषण

प्रस्तावित शोध में आंकड़ों के विश्लेषण हेतु मध्यमान, प्रमाणिक विचलन व टी-टैस्ट आदि समुचित सांख्यिकीय प्रविधियों का प्रयोग गया।

अध्ययन का सीमांकन

प्रस्तुत शोध अध्ययन को जनपद गाजियाबाद के माध्यमिक स्तर के शिक्षकों तक सीमित रखा गया है। इस अध्ययन में गाजियाबाद जनपद के माध्यमिक स्तर के उन्हीं विद्यालयों के शिक्षकों को लिया गया है, जो उ.प्र. मा. शि. परिषद् एवं केन्द्रीय मा.शि. परिषद से सम्बद्ध हैं।

उपर्युक्त अध्ययन से ज्ञात होता है कि सतत व्यावसायिक विकास हेतु चलाये जाने वाले विभिन्न सेवारत प्रशिक्षण कार्यक्रमों के विषय में उ.प्र.प्रा.शि. परिषद से सम्बद्ध विद्यालयों में कार्यरत 75 प्रतिशत शिक्षक जानकारी रखते है, जबकि मा.शि. परिषद से सम्बद्ध विद्यालयों में कार्यरत 100 प्रतिशत शिक्षक इन कार्यक्रमों के विषय में जानकारी रखते है। विभिन्न प्रशिक्षण कार्यक्रमों के विषय मे जानकारी नहीं रखने वाले शिक्षकों में उ.प्र.प्रा.शि. परिषद से सम्बद्ध विद्यालयों में कार्यरत शिक्षक 25 प्रतिशत है। दोनों परिषदों से सम्बद्ध विद्यालयों में कार्यरत कुल शिक्षकों में से 87.5 प्रतिशत शिक्षक विभिन्न प्रशिक्षण कार्यक्रमों के विषय में जानकारी रखते है, जबकि 12.5 प्रतिशत शिक्षक जानकारी नहीं रखते हैं।

इस विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि उ. प्र.प्रा.शि. परिषद से सम्बद्ध विद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों में से अधिकांश शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों के विषय में जानकारी रखते हैं जबकि कुछ शिक्षक जानकारी नहीं रखते है वहीं मा.शि. परिषद से सम्बद्ध विद्यालयों में कार्यरत

सभी शिक्षक सतत् व्यावसायिक विकास हेतु चलाये जाने वाले विभिन्न सेवारत प्रशिक्षण कार्यक्रमों की जानकारी रखते है। इस प्रकार उ.प्र.प्रा.शि. परिषद से सम्बद्ध विद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों में से विभिन्न प्रशिक्षण कार्यक्रमों के विषय में जानकारी नहीं रखने वाले शिक्षकों को जानकारी दिये जाने की आवश्यकता है।

सेवारत प्रशिक्षण कार्यक्रमों की जानकारी

उत्तर प्रदेश प्राथमिक शिक्षा परिषद के सम्बद्ध विद्यालयों में कार्यरत 75 प्रतिशत शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों की जानकारी रखते हैं जबकि उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा परिशद के 100 प्रतिशत शिक्षक इन कार्यक्रमों की जानकारी रखते हैं। उत्तर प्रदेश प्राथमिक शिक्षा परिषद के 25 प्रतिशत शिक्षकों को अन्य प्रशिक्षण कार्यक्रमों की जानकारी नहीं है जबकि उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा परिषद के 12.5 प्रतिशत शिक्षक इन काल कार्यक्रमों की जानकारी नहीं रखते हैं। प्राथमिक शिक्षा से सम्बन्धित शिक्षकों को इन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के बारे में जानकारी दिये जाने की आवश्यकता है।

अध्ययन के निष्कर्ष

1. उच्चतर माध्यमिक के विद्यालयों में सेवारत शिक्षकों में सतत् व्यावसायिक विकास हेतु उपलब्ध कार्यक्रमों के प्रति जागरूकता का स्तर संतोषजनक नहीं है।
2. उच्चतर माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में सेवारत शिक्षकों द्वारा विभिन्न प्रशिक्षण कार्यक्रमों में सहभागिता का स्तर सामान्य है।
3. अधिकाँश शिक्षकों ने माना कि विभिन्न प्रशिक्षण कार्यक्रमों में प्रशिक्षण प्रदान करने वाले प्रशिक्षकों की योग्यता का स्तर सामान्य है।

सन्दर्भ सूची

- *गुप्ता, एम. (2021), शाहजहांपुर जनपद के माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों की सन्तुष्टि के कारकों का उनकी शिक्षण प्रभावशीलता पर प्रभाव का अध्ययन,* शोध प्रबन्ध
- *दैनिक जागरण (2020), आज का विचार,* दैनिक समाचार पत्र (20.07.2020) प्रकाशित बरेली, पृ. 11
- *पाण्डेय, आर.एस. (2017), भारत में शिक्षा व्यवस्था का विकास,* आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर
- *भगेलीवाल, जे. (2016), अ स्टडी ऑन परसनैलिटी करैक्टिरिस्टिक्स असोसिएटेड विद टीचर इफेक्विनेस एज सीन थ्रो रिसर्च टेक्नीक,* सर्वेक्षण शोध (अप्रकाशित) सागर विश्वविद्यालय, मध्य प्रदेश।
- *भार्गव, एम, (2013), आधुनिक मनोवैज्ञानिक परीक्षण एवं मापन,* लखनऊ, लखनऊ पब्लिकेशन
- *भटनागर, ए.बी. (2012), शिक्षा में मापन एवं मूल्यांकन,* मेरठ, सूर्या प्रकाशन
- *मंगल, एस. के. (2011), समाज-शिक्षा के आधार,* नई दिल्ली, आर्य बुक डिपो
- *रीति, एस. (2010), विद्यालय संगठन, वातावरण तथा विद्यालय प्रशासन व्यवहार का शिक्षण प्रभावशीलता पर प्रभाव का अध्ययन,* लघु शोध प्रबन्ध (अप्रकाशित), कुमाऊं विश्वविद्यालय, उत्तराखण्ड

डा. सचिन कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर (बी.एड.)
श्री माधव कॉलेज ऑफ एजूकेशन एण्ड टेक्नोलॉजी
केशव नगर, मोदीनगर रोड, हापुड़

डा. दीपशिखा सक्सेना
विभागाध्यक्ष (आई. इ. आर.),
मंगलायतन विश्वविद्यालय बेसवान, अलीगढ़
उत्तर प्रदेश

भारत के संदर्भ में महिला पत्रकारिता का विकास क्रम

—डा. आलोक कुमार पाण्डेय

भूमिका

29 जनवरी, 1780 को बंगाल गजट के प्रकाशन के साथ ही भारत में आधुनिक पत्रकारिता की शुरूआत मानी जाती है। 242 सालों की इस अंनत विकास यात्रा में भारतीय पत्रकारिता ने समय-समय पर नए कलेवर धारण किए हैं, इसमें दो राय नहीं है। स्वतंत्रता से पहले जहां भारतीय पत्रकारिता का उद्देश्य स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ-साथ आम जन मानस के भीतर जागरूकता जगाना था वहीं स्वतंत्रता के बाद समाज में मानव मूल्यों की स्थापना के साथ जन जीवन को विकासोन्मुख बनाना पत्रकारिता का दायित्व है। हांलाकि, अब इसके साथ व्यवसायिकता भी जुड़ गयी है। आधी दुनिया या यूं कहें महिलाओं ने पुरातन काल से ही जीवन के विविध क्षेत्रों में अपनी जिम्मेदारियों का बखूबी निर्वहन किया है। पत्रकारिता का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं है। विपरीत परिस्थितियों के बावजूद आज मीडिया के क्षेत्र में कई सशक्त महिला हस्ताक्षर मौजूद हैं तो निसंदेह इसके पीछे पत्रकारिता जगत में महिलाओं के अवदान की लंबी परम्परा का योगदान है। प्रस्तुत लेख भारतीय पत्रकारिता में महिला पत्रकारों की सहभागिता, योगदान और चुनौतियों का सिंहावलोकन है। भारत में प्राचीन समय से ही अनेक विदुषी महिलाएं हुई हैं जिन्होंने अपने बहुमूल्य लेखन से सारे विश्व को कृतार्थ किया है। उदाहरण स्वरूप रामशा, अपाला, उर्वशी, विश्ववारा, एवं लोपमिद्र आदि। महिला शिक्षा की जो जागृति वैदिक काल से प्रारंभ हुई थी वह कालांतर में धीरे-धीरे मंद पड़ती गई। महिलाओं के पढ़ने लिखने पर प्रतिबंध लगा दिए गए। उन पर तरह-तरह के अत्याचार होने शुरू हो गए, बावजूद इसके महिला लेखन में हमें अनेक ऐसी कृतियां मिली हैं जिन पर संपूर्ण मानव जाति गर्व की अनुभूति कर सकती है। 19वीं शताब्दी में जब भारत को स्वतंत्र कराने के लिए जन आंदोलन शुरू हुआ उस समय भारतीय महिलाएं अपने घरों में स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत थी। विभिन्न धार्मिक सुधार आंदोलनों जैसे ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज और आर्य समाज से महिलाओं को यह फायदा मिला कि उन्हें पढ़ने लिखने की सहूलियत मिलनी शुरू हो गई। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भोपाल की बेगम, अलीगढ़ के सैयद अहमद तथा लखनऊ में करामात हुसैन के प्रयासों से बड़ी संख्या में महिलाओं से संबंधित शोध पत्र व किताबें प्रकाशित हुई, इससे मुस्लिम महिलाओं में

शिक्षा के प्रति जागरूकता पैदा हुई। हिंदू जनमानस में यह कार्य ईश्वर चंद्र विद्यासागर, गोविंद जी रानाडे, स्वामी दयानंद सरस्वती और महात्मा गांधी आदि के द्वारा किया गया। अवलोकन की दृष्टि से भारतीय पत्रकारिता में महिला पत्रकारों के विकास क्रम को अग्रिम लिखित काल खंडों में बांटा जा सकता हैः

1. शुरुआत से सन 1900 तक
2. 1900 से स्वतंत्रता प्राप्ति तक
3. स्वतंत्रता प्राप्ति से आज तक

शुरुआत से सन 1900 तक : भारतीय पत्रकारिता के परिप्रेक्ष्य में महिला पत्रकारों के योगदान की शुरुआत सर्वप्रथम एक अंग्रेज महिला श्रीमती प्रिंट चार्ट के 'इंग्लिश मैन' के मालिक बनने से प्रारंभ होती है। इस तरह के अनेक उदाहरण हमें मिल जाते हैं जब पति के निधन या जेल जाने पर उनकी पत्नियों ने पत्र-पत्रिकाओं का कार्य पूरी जिम्मेदारी के साथ संभाला है। यह सर्वविदित है कि बंगाल को भारत में अंग्रेजी पत्रकारिता, भाषाई पत्रकारिता और हिंदी पत्रकारिता को शुरू करने का श्रेय प्राप्त है, ''आधी दुनिया की पूरी पत्रकारिता'' किताब हमें बताती है कि भारत में महिला पत्रकारिता की शुरुआत भी बंगाल से ही हुयी जब मोक्षदायिनी देवी ने सन 1848 में ''बांग्ला महिला'' नामक पत्र निकाला था। हालांकि उनके बारे में बहुत अधिक जानकारी प्राप्त नहीं हो पाती। बंगाल की धरती से आरंभ हुई इस महिला सहभागिता में दूसरा नाम श्रीमती मुखोपाध्याय का आता है जिन्होंने ''बांग्ला पाक्षिक ज्ञान दर्शन'' का संपादन किया। यह पत्र 1851 ई. में प्रकाशित हुआ था जो अल्पजीवी रहा। इसी कड़ी में बांग्ला भाषा की पत्रकार गिरींद्र मोहनी देवी का नाम भी प्रकाश में आता है जिन्होंने 1884 ई. में ''मासिक चुनार'' निकाला। बंगाल की धरती पर जन्मी और पली-बढ़ी महिला पत्रकारिता में टैगोर परिवार की प्रसिद्ध पत्रिका 'भारती' (1877) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसका संपादन सुवर्णकुमारी देवी ने सन 1884 से 1920 तक कुछ समय छोड़कर किया। यह पत्रिका रवींद्रनाथ और दूजेंद्रनाथ ठाकुर की देखरेख में निकला करती थी। सुवर्ण कुमारी देवी के संपादन कार्य से पृथक होने के बाद उनकी पुत्री सरला देवी घोषाल ने इस पत्रिका का सम्पादन किया। हिंदी पत्रकारिता में पहली महिला पत्रकार होने का श्रेय हेमंत कुमारी देवी को जाता है। उन्होंने भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा निकाली गई हिंदी भाषा की पहली महिला पत्रिका ''बाला बोधिनी'' का संपादन कुछेक वर्षों तक किया। बाद में सन 1888 में इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाली महिलाओं की पत्रिका 'सुग्रहणी' की वह संपादक बनीं। पत्रिका के प्रथम अंक के संपादकीय में उन्होंने एक विशेष लेख लिखा। प्रस्तुत है उसके कुछ अंश... ''ओ मेरी प्रिय बहन, अपने दरवाजे को खोलो और देखो कि कौन आया है? यह आपकी बहन सुग्रहणी है। यह आपके पास आई है इसलिए आई है क्योंकि आप पर अत्याचार हो रहा है, आप अशिक्षित हो और एक बंधन में बंधे हो...इसका स्वागत करो और इसे आशीर्वाद दो। मां तुम्हारी और सुग्रहणी की सहायता करें।'' हिंदी क्षेत्र उन दिनों में पिछड़ा हुआ इलाका था जहां महिलाओं में निरक्षरता बहुत ज्यादा थी। कुलीन घरों की महिलाओं में भी साक्षरता की कमी थी। अधिकांश औरतों को कोई औपचारिक शिक्षा नहीं मिलती थी। हेमंत कुमारी देवी ने इस विषय पर अपनी पत्रिका में खूब लिखा। हेमंत कुमारी देवी का नाम इसलिए भी उल्लेखनीय है कि उनकी मातृभाषा बंगाली थी जबकि उन्होंने संपादन हिंदी पत्रिका का किया। कन्नड़ पत्रकारिता में पहली महिला पत्रकार चेनम्मा तुमरि को माना जाता है जिन्होंने बेलगांव से मासिक ''सालामठ'' पत्रिका का संपादन किया। 1884 में बंबई (मुंबई) से मराठी साप्ताहिक ''प्रतोद'' निकला इसकी संपादक मालती बाई तेंदुलकर थी उन्होंने स्वयं का प्रेस ना होते हुए भी 4 वर्षों तक पत्र को पूरी कुशलता के साथ चलाया। मुंबई से ही बिल्कीस जहाँ बेगम 'नाज' ने शेरो-शायरी की मासिक ''गुलदस्ता-ए-नाज'' का प्रकाशन 1884 में शुरू किया जिसकी संपादक नाजिमा बेगम थी, इस पत्रिका के मुखपृष्ठ पर अग्रलिखित पंक्तियां छपा करती थी—*नकद दिल नकद सुखन दे के जियारत कर लें/हैं कहाँ नाज हसीनों के उठाने वाले॥*

दिल्ली से 1 अगस्त, 1884 को ही महिलाओं के लिए ''अखबार-उल-निशां'' निकाली गई। यह महीने में 3 बार निकला करती थी जिसमें घर गृहस्थी की बातें, विशेषकर ऐसे लेख जिनसे महिलाओं को शिक्षा मिले, छपा करती थी। लाज तथा शील बनाए रखने की शिक्षा के साथ-साथ घरेलू झगड़ों से बचने की सलाह भी दी जाती थी इसमें विभिन्न महिला लेखकों के लेख हुआ करते थे। लाहौर में 1898 को ''तहजीब-ए-निश्वा'' का प्रकाशन हुआ जिसकी संपादक मोहम्मदी बेगम थी। महिलाओं के लिए निकाले गए इस साप्ताहिक में अधिकांश लेख स्त्रियों द्वारा ही लिखे जाते थे। इसके लेखक मंडल में जोहरा अख्तर, आतिया बेगम, फातिमा बेगम, हमीदा खातून जैसी महिलाएं थी। इस पत्रिका ने महिला लेखन को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से पुरस्कार देना शुरू किया। सबसे अच्छा लिखने वाली

महिलाओं को कुछ राशि और किताबें पुरस्कार स्वरूप दी जाती थी। इस पत्रिका में केवल महिलाओं के लिए लाभप्रद चीजों के विज्ञापन ही छापे जाते थे। 22 पृष्ठ कि इस पत्रिका का वार्षिक शुल्क 5 रुपये था जिसमें देश विदेश की खबरें छपा करती थी। कालांतर में उर्दू महिला पत्रकारिता की अजीम शख्सियत आसिफ जहां बेगम इसकी संपादक बनी। उपरोक्त कालखंड का अवलोकन करने पर हम पाते हैं कि यह युग भारतीय पत्रकारिता में महिला पत्रकारों के योगदान के हिसाब से शैशवकाल था। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि पत्रकारिता के क्षेत्र में महिलाओं का आगमन हालांकि शुरू हो गया था लेकिन पत्रकारिता के विविध क्षेत्रों में उनकी लेखनी हाल-फिलहाल सीमित ही थी।

1900 से स्वतंत्रता प्राप्ति तक : इस कालखंड में सबसे पहले मैडम भीकाजी कामा का नाम लिया जा सकता है। 1907 में उन्होंने भारत से बाहर पेरिस से ''वंदे मातरम'' नामक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। यह पत्र प्रवासी भारतीयों में काफी लोकप्रिय था। अपने पत्र के माध्यम से उन्होंने भारतीयों के भीतर स्वतंत्रता की अलख जगाने का काम किया। 1907 में जर्मनी में हुई अंतरराष्ट्रीय सोशलिस्ट कांग्रेस में मैडम कामा ने कहा था ''भारत में ब्रिटिश शासन जारी रहना मानवता के नाम पर कलंक है। एक महान देश भारत के हितों को इससे भारी क्षति पहुंच रही है।'' वंदे मातरम के संपादकीय में उन्होंने लिखा ''आगे बढ़ो, हम हिंदुस्तानी हैं और हिंदुस्तान हिंदुस्तानियों का है।'' 1907 में कुमुदिनी मित्र ने ''सुप्रभात'' नामक पत्र शुरू किया। इस पत्र का नाम उन्होंने रविंद्र नाथ टैगोर की एक कविता से लिया था। कुमुदिनी मित्र ने 1908 के एक अंक में क्रांतिकारी प्रफुल्ल चाकी की बड़ी प्रशंसा की, जिन्होंने गिरफ्तारी के फौरन बाद आत्महत्या कर ली थी। उनके शव के चित्र के साथ एक कविता प्रकाशित की गई जिसमें राष्ट्रवादी क्रांतिकारियों को नश्वर और अमर का दर्जा दिया गया - मां पूछती है, हे यात्री ! तुम इस कष्टप्रद मार्ग में असमय ही क्यों मर गए?

अखिल भारतीय कांग्रेस की राष्ट्रीय अध्यक्ष रही एनी बेसेंट उस समय की बेहद जागरूक महिला थी। पठन-पाठन व लेखन में उनकी गहरी दिलचस्पी थी। उन्होंने सामाजिक जागरूकता के लिए बहुत सारे लेख लिखे। जनवरी 1914 में अंग्रेजी के साप्ताहिक पत्र ''कॉमनवील'' अर्थात लोकहित की स्थापना की। उन्होंने न्यू इंडिया का भी संपादन किया। भारत कोकिला के नाम से सुप्रसिद्ध सरोजिनी नायडू का नाम एक पत्रकार के तौर पर भले ही ना लिया जाता है और उनके नाम भले ही किसी अखबार के संपादक होने का उल्लेख ना हो। लेकिन उन्होंने अपने लेखन कार्य के चलते राष्ट्रीय स्तर पर अपनी विशिष्ट पहचान बनाई। उनके अतुलनीय योगदान के चलते ही उत्कृष्ट पत्रकारिता के लिए सरोजिनी नायडू अवार्ड दिया जाता है। होमी व्यारावाला को भारत की प्रथम महिला फोटो पत्रकार माना जाता है। मुंबई में पली-बढ़ी होमी ने फोटोग्राफी की शिक्षा जेजे स्कूल ऑफ आर्ट्स से ली। उनकी पहली तस्वीर बॉम्बे क्रॉनिकल में प्रकाशित हुई थी। सन 1942 में वह दिल्ली आ गई जहां उन्होंने ब्रिटिश सूचना सेवा की कर्मचारी के तौर पर काम करना शुरू किया। उन्होंने 15 अगस्त 1947 को लाल किले पर ध्वजारोहण समारोह की तस्वीरें खींची थी। उन्होंने लॉर्ड माउंटबेटन की विदाई, महात्मा गांधी जवाहरलाल नेहरू और लाल बहादुर शास्त्री के दाह संस्कार की तस्वीरें भी खींची थी। वह 1930 से 1970 के बीच एकमात्र प्रोफेशनल महिला फोटो पत्रकार थी जिन्होंने देश की सामाजिक और राजनीतिक जीवन को कैमरे में कैद किया। इस कालखंड में भी महिला पत्रकारों की बहुत महत्वपूर्ण या उल्लेखनीय भूमिका नहीं मिलती। जितने भी समाचार पत्र हुए उनमें अमूमन पुरुष संपादकों का ही कार्य दायित्व रहा। इस तरह का कोई पत्र या पत्रिका संज्ञान में नहीं है जो पूर्ण रूप से महिला पत्रकार या संपादकों पर केंद्रित हो। स्वतंत्रा के बाद महिला पत्रकारों का उदय - आजादी के बाद पत्रकारिता में महिलाओं की भागीदारी धीरे-धीरे बढ़नी शुरू हुई। इस समय की कुछ चुनिंदा महिला पत्रकारों का उल्लेख दृष्टव्य है—स्वतंत्रता के बाद शुरुआती महिला पत्रकारों में विद्यामुंशी का नाम लिया जाता है। मुंबई में जन्मी विद्या ने अनेक समाचार पत्र-पत्रिकाओं में अपनी सेवाएं दी। 1952 से 62 के बीच वह मशहूर अखबार "ब्लिट्ज" की कोलकाता संवाददाता रही। उन्होंने उस वक्त सरकार की नीतियों पर प्रभावी लेखन किया। विमला पाटिल संभवतः पहली महिला थी जिन्होंने ''द टेलीग्राफ'' से जुड़कर स्तंभ लिखना और पत्रकार के तौर पर अपना करियर शुरू किया। 1959 से 1993 तक वे लगातार संपादकीय पदों पर रही। टाइम्स ग्रुप की पत्रिका ''फेमिना'' को एक ब्रांड के तौर पर स्थापित करने में विमला पाटिल का बहुत बड़ा योगदान है। प्रभादत्त 1965 के भारत-पाक युद्ध में कवरेज करने वाली प्रथम महिला थी जो अंग्रेजी अखबार हिंदुस्तान टाइम्स के लिए काम करती थी। ''स्टेट्समैन'' दिल्ली का पहला अखबार था जिसने 50 के

दशक में पूर्णकालिक महिला उप संपादक के रूप में राज चावला को रखा था। 50 के दशक में ही हिंदुस्तान टाइम्स में प्रोमिला कल्हन आयीं। 60 के दशक में मुंबई के ''हिम्मत अखबार'' से अपनी पत्रकारिता शुरू करने वाली नीरजा चौधरी महिला पत्रकारों में एक सशक्त नाम है। वह स्वयं को राजनैतिक पत्रकार के तौर पर स्थापित करने में सफल रही और आज भी सक्रिय हैं। हिंदुस्तान टाइम्स में 1972 से उनके लेख निरंतर छप रहे हैं देश-विदेश की पत्र-पत्रिकाओं में भी उनके कई लेख छपे हैं। 70 के दशक में जब स्त्री आंदोलनों ने जोर पकड़ा तो उनकी स्थिति में काफी बदलाव आया। पारंपरिक अवरोध जो उनकी लेखनी के साथ जुड़े थे अब ढीले पड़ने लग गए थे। इस समय की मशहूर महिला पत्रकारों में कूमी कपूर, उषा रॉय, दीना वकील, अमिता मलिक, इंद्राधर चौधरी आदि का नाम लिया जा सकता है। हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में मृणाल पांडेय एक ब्रांड के तौर पर उभरी। उन्होंने उस वक्त संपादक की कुर्सी संभाली जब इस पेशे में महिलाओं के लिए अवसर नगण्य था। देश के सबसे प्रतिष्ठित समाचार पत्रों में से एक ''साप्ताहिक हिंदुस्तान'' से लेकर ''दैनिक हिंदुस्तान'' के संपादकीय दायित्व को उन्होंने पूरी निष्ठा के साथ निभाया। इसके बाद भी उनका सफर रुका नहीं बल्कि पत्रकारिता के क्षेत्र में उन्होंने और कई कीर्तिमान रचे। वह 2008 में प्रेस ट्रस्ट ऑफ इंडिया बोर्ड की सदस्य बनीं। कालांतर में प्रसार भारती के चेयरमैन का दायित्व भी उन्होंने संभाला। मधु त्रेहान इस समय की प्रख्यात महिला पत्रकारों में से एक हैं जिन्होंने कोलंबिया विश्वविद्यालय से पत्रकारिता में मास्टर डिग्री ली। 1975 में इंडिया टुडे के अंग्रेजी संस्करण की उन्होंने नींव रखी, वह इसकी संस्थापक संपादक रहीं। 1986 में उन्होंने ''न्यूजट्रैक'' नाम की पहली वीडियो मैग्जीन की शुरुआत की। संप्रति आउटलुक, हिंदुस्तान टाइम्स जैसे पत्र-पत्रिकाओं में लेखन करती हैं। खोजी पत्रकारिता के क्षेत्र में चित्रा सुब्रमण्यम का नाम बड़ी ही इज्जत के साथ लिया जाता है जिन्होंने अपनी खोजी पत्रकारिता से पत्रकारिता में महिला प्रभुत्व के मानदंड को स्थापित किया। द हिंदू, इंडियन एक्सप्रेस, स्टेट्स मैन जैसे नामचीन प्रकाशनों से जुड़कर उन्होंने बोफोर्स कांड उजागर किया। यह भारतीय राजनीति का बहुचर्चित स्कैंडल रहा जो तोपों की खरीद में अवैध तरीके से भुगतान से जुड़ा मामला था। इस अवधि में सत्या शरण, शोभा डे और अरुंधती राय जैसे महिला लेखकों का नाम भी लिया जा सकता है जिन्होंने विभिन्न समाचार पत्र-पत्रिकाओं में स्तंभ लिखें। 90 के दशक तक इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के क्षेत्र में भारत में सिर्फ और सिर्फ दूरदर्शन था। दूरदर्शन में सलमा सुल्तान, रिमी सिमोन खन्ना, शोभना जगदीश, अविनाश कौर सरीन, शारदा माहेश्वरी और नीलम शर्मा जैसे मशहूर महिला पत्रकारों का नाम लिया जा सकता है। हालांकि इनमे से अधिकांश ने समचारवाचक की भूमिका का निर्वहन किया।

आज का समय : मुक्त बाजार की अवधारणा के साथ भारत में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के क्षेत्र में प्राइवेट चौनलों की आमद शुरू हुई। परिणाम यह हुआ की इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में महिला पत्रकारों की संख्या प्रिंट मीडिया से तुलनात्मक रूप में ज्यादा बढ़ी। आज इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में बरखा दत्त, रिचा अनिरुद्ध, मीमांसा मलिक, अनुराधा प्रसाद, श्वेता सिंह, अंजना ओम कश्यप, नेहा पंत, कादंबिनी शर्मा, रुबिका लियाकत, ईसार रोमाना खान, चित्र त्रिपाठी, निधि राजदान जैसे कई नाम हैं जिन्होंने अपनी अलग एवं विशिष्ट छाप छोड़ी है जबकि प्रिंट मीडिया के क्षेत्र में मालिनी पार्थ सारथी, आरती जेरथ, शोभा चौधरी, वर्तिका नंदा, सागरिका घोष, भाषा सिंह, छिप्रा माथुर, स्मिता मिश्र और सुनीता नारायण जैसी महिलाएं मोर्चे पर डटी हैं।यह दौर डिजिटल क्रांति का है हालांकि सूचना संप्रेसण के इस आधुनिक स्वरूप में हाल फिलहाल कोई नया नाम उभर कर सामने नहीं आया है। जो भी चेहरे, आवाज और लेख हम देखते, सुनते और पढ़ते है उनमें से अधिकांश अन्य माध्यमों के स्थापित चेहरे ही है। वैसे भी ये शुरुआती दौर है और हम सब डिजिटल माध्यम के भावी हस्ताक्षरों के इंतजार में है।

संदर्भ ग्रंथ

- डा. अनुजा मंगला, आधी दुनिया की पूरी पत्रकारिता, प्रभात प्रकाशन 2019, नई दिल्ली
- शुक्ला, सुधा, महिला पत्रकारिता, प्रभात प्रकाशन, 2016, नई दिल्ली
- मीडिया मीमांसा त्रैमासिक शोध पत्रिका, भोपाल
- www.webduniya.com
- www.aajtak.in
- www.quora.com
- www.ignou.ac.in
- www.sarcajc.com
- www.shethepeople.tv

डा. आलोक कुमार पाण्डेय
अतिथि व्याख्याता,
माखनलाल चतुर्वेदी पत्रकारिता विश्वविद्यालय
(रीवा परिसर) म.प्र.

कश्मीर केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में चित्रित निर्वासन की त्रासदी

–सौम्या वर्मा

कश्मीर केन्द्रित हिन्दी कथा साहित्य में चित्रित महत्वपूर्ण विषय है विस्थापन की पीड़ा। कश्मीर में उपजे आतंकवाद के कारण लाखों लोग कश्मीरी धरती से विस्थापित होकर देश-विदेश में बसने को मजबूर हो गये। 1990 से लगातार घाटी से लोगों का विस्थापन जारी रहा। सरकार द्वारा समुचित सुरक्षा व्यवस्था न उपलब्ध कराये जाने के कारण और मुस्लिमों की तुलना में कम संख्या में होने की वजह से वे विस्थापन हेतु विवश हुए। यह एक साधारण घटना नहीं थी। अपनी जमीन से कट जाने का दर्द असह्य है और वह तब और बढ़ जाता है जब वापस अपनी जमीन पर पहुंचने की कोई उम्मीद भी न दिखे। असुरक्षा की भावना से आहत कश्मीरियों ने दिल्ली, उत्तर प्रदेश आदि राज्यों में शरण ली। इस प्रकार अपनी जन्मभूमि से कटकर एक नए स्थान पर अपनी रोजी-रोटी कमाना, अपनी पहचान बनाना और उससे भी कहीं अधिक उस दर्द को भुलाना जो अपनी जड़ों से कटने का था, नितांत मुश्किल था। कहा जाता है या तो परिस्थितियों के अनुसार ढल जाओ और जीवन जियो या ना ढलो और नष्ट हो जाओ, कश्मीरी नई जगहों पर ढल तो गए पर उनका अंतर्मन न ढल पाया। इसका कारण स्पष्टतः ही वह अनिश्चितता का भाव है जिसने उनके दिलों में घर कर लिया। किसी स्थान से अपने आप हटना और वहां से जबरन हटाया जाना, इन दोनों परिस्थितियों में काफी फर्क है। पहली स्थिति में आप के वहीं वापस जाने की प्रत्याशा है परन्तु दूसरी में नहीं। यह दर्द तब और भी त्रासद है, जब वह स्थान कोई सामान्य स्थान न होकर मातृभूमि हो। वह भूमि हो जिसने आप को रूप व आकार दिया है, आप को काटा-छांटा है, आप को वह आधार दिया है जिस पर आज आप हैं–*आम्यन टाक्यन पोन्य जन श्रमान/जब द्युम प्रमान गुर गछता* ।

यह वाक्य कश्मीर की संत कवयित्री ललद्यद का है जिसका अर्थ है, ''कच्चे सकोरा के से ज्यों पानी रिस रहा हो, मेरा जी कसक रहा है, कब अपने घर चली जाऊं।'' आज यह वाख कश्मीरी निर्वासितों की पीड़ा को व्यक्त करता प्रतीत होता है। कश्मीर में यह निर्वासन अनेक चरणों में हुआ। निःसन्देह 1990 का यह विस्थापन इतनी भारी मात्रा में हुआ कि वह स्थिति प्रकाश में आयी परन्तु इससे पहले भी विस्थापनों की एक क्रमिक परम्परा कश्मीर का हिस्सा रही है।

मुस्लिम आक्रमणकारी तैमूरलंग के समय विस्थापन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। इतिहास में अब तक हुए 6 बड़े विस्थापन और 11 छोटे विस्थापन दर्ज हैं। भारत के विभाजन के बाद भी 1986 तक धीरे-धीरे विस्थापन होता रहा। सन् 1947 में होने वाले क्रूर कबाइली आक्रमण के फलस्वरूप तीस प्रतिशत तक कश्मीरी हिन्दुओं का विस्थापन हुआ। 1235 ई. में राजदेव के काल में ब्राह्मणों पर भयावह अत्याचार हुआ। 'ना भोहम (मैं ब्राह्मण नहीं हूँ) के नारे गूंजे। कश्मीरी पंडितों के लिए सुल्तान सिकन्दर का राज्यारोहण घातक साबित हुआ। वह मंदिरों के ध्वंस और जबरन धर्म परिवर्तनों का दौर रहा। निश्चित ही ब्राह्मणों के प्रभाव का ह्रास हुआ। 1586 ई. में कश्मीर में मुगल शासन का आधिपत्य स्थापित होने से पंडितों की वापसी दरबार में हुई परन्तु सत्ता संघर्ष जारी रहा। उनका राजस्व विभाग में दबदबा बनने के साथ-साथ अलग-अलग रजवाड़ों में भी प्रवेश करने लगे। मुहम्मद शाह के दौर में कश्मीर से आए राजा जयराम भान के आवेदन पर कश्मीरी ब्राह्मणों के लिए 'कश्मीरी पंडित' सम्बोधन प्रयोग में लाया गया। सन् 1753 से 1820 तक कश्मीर पर अफगानों का शासन रहा। राजस्व विभाग में पंडितों का कब्जा बरकरार रहा लेकिन आम हिन्दू और मुसलमान उत्पीड़न और लूट के शिकार हुए। सन् 1824 से 1846 के मध्य सिख साम्राज्य स्थापित रहा और लाहौर दरबार तक कश्मीरी पंडितों की पकड़ हुई। ब्रिटिश भारत के अनेक रजवाड़ों तक वे ऊँचे पदों पर पहुँचे।

सन् 1912 में कश्मीरी पंडितों द्वारा नौकरियों में पंजाबियों और अन्य बाहरी लोगों के प्रभुत्व के खिलाफ कश्मीर कश्मीरियों के लिए आन्दोलन की शुरुआत हुई और पहली बार राज्य नागरिक की परिभाषा तय की गई परन्तु स्पष्टता का अभाव होने के कारण आन्दोलन जारी रहा। अक्टूबर 1947 से 1948 के दौरान कबायली हमले की आड़ में कश्मीर पर पाकिस्तान द्वारा आधिपत्य प्राप्ति का प्रयास हुआ। महाराजा हरि सिंह का श्रीनगर से पलायन हो गया और सुरक्षा हेतु उन्होंने भारत के साथ संधि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए।

10 फरवरी, 1984 को जस्टिस नीलकांत गंजू द्वारा मकबूल भट्ट को विमान अपहरण और हत्या के आरोप में फांसी की सजा सुनाई गई। फरवरी, 1986 में राम मन्दिर का ताला खुलने की घटना के बाद अनन्तनाग जिले में साम्प्रदायिक हिंसा के अनेक मामले प्रकाश में आये। 1988 से 1989 के बीच घाटी में असन्तोष का माहौल रहा और हिंसक घटनाएँ आम हो गयीं। 21 अगस्त, 1989 को यूसुफ हलवाई को गोली मारी गई और 14 सितम्बर, 1989 को भाजपा नेता टीकालाल टपलू की हत्या हो गयी। 4 नवम्बर को नीलकांत गंजू की हत्या के बाद पंडितों में भय व्याप्त हो गया। 18 जनवरी, 1990 को फारूक का इस्तीफा और जगमोहन के कश्मीर के राज्यपाल बनने के साथ ही हिंसा का तांडव प्रारंभ हुआ। भारी जुलूस निकाले गये। गोलीबारी व हत्याएँ अपने चरम पर रहीं। पंडितों का भारी संख्या में विस्थापन हुआ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि निर्वासन का एक ज्वलंत इतिहास है। इस पीड़ा को हिन्दी उपन्यासकारों ने अनुभव किया और अपनी कलम से रेखांकित भी किया। हिन्दी साहित्य में चन्द्रकान्ता, मनीषा कुलश्रेष्ठ, क्षमा कौल, संजना कौल आदि लेखकों व लेखिकाओं के उपन्यास विस्थापन की पीड़ा समेटे हुए हैं। 'कथा सतीसर', 'दर्दपुर', 'शिगाफ', 'कश्मीर 370 किलोमीटर', 'पाषाण युग' आदि अनेक उपन्यास निर्वासन की त्रासद स्थिति को व्यक्त करने में सफल रहे हैं।

कश्मीरी पंडितों के निर्वासन के दंश को समझने में जो कृतियाँ सहायक हैं, उनमें क्षमा कौल का उपन्यास 'दर्दपुर' प्रमुख है। यह उपन्यास कश्मीरी पंडितों पर हमले और महिलाओं पर बर्बरतापूर्ण अत्याचार की महागाथा है। दरअसल यह दर्दपुर जंक्शन है, जहां सभी दर्द और दुःखों का संयोग है। यह स्त्रियों के दुःख-दर्द और उनके प्रेम, त्याग और समर्पण की कथा है। क्षमा कौल की बेबाकी उद्वेलित करती है तो उनकी कोमल भाषा हमारे दुःखों पर मरहम लगाती है। उनकी दार्शनिकता हमें कहीं गहरे ज्ञान लोक में उतारती हैं। इसे पढ़ते वक्त आप न केवल कश्मीर को जी रहे होते हैं बल्कि आप उनकी पीड़ा को महसूस कर रहे होते हैं– ''हमारे ईश्वर बंदी बना लिए गए हैं? क्या यह सच है? क्या यह भी सच हो सकता है? क्या वास्तव में बिलकिस का ईश्वर, ईश्वर है और मेरा ईश्वर? सुधा के इस प्रश्न का कोई जवाब नहीं है हमारे पास, जब उन्हें अपने ही देश में अपनी ही मातृभूमि, जन्मस्थली से रातों-रात खदेड़ कर बाहर कर दिया गया, आखिर उनका जुर्म क्या था? बस यही कि वे एक हिंदू थे, कश्मीरी पंडित भट्ट और इस्लाम की नजर में काफिर थे।''[2]

मनीषा कुलश्रेष्ठ का उपन्यास 'शिगाफ' अपने सपनों को टूटते हुए देखते, निर्वासित कहलाते, कश्मीर में रहते हुए भी निर्वासन भोगते लोगों की कथा है। इस उपन्यास में समस्या नहीं बल्कि कई सारी जिंदगियां हैं– ''वे जिंदगियां जो आतंक और निर्वासन की भेंट चढ़ गई हैं। इस उपन्यास में हर एक कहानी के साथ एक जिंदगी खुलती है और

साथ ही खुलता जाता है उसे जीनेवालों का दर्द, वह दर्द जो उसे कभी आतंक की कैद से मिला है तो कभी निर्वासन की त्रासदी से, शिगाफ का अर्थ होता है दरार। वह दरार जिसे वर्षों से साथ रह रहे, साझी संस्कृतियों में जी रहे कश्मीरियों के बीच डालकर उन्हें अलग कर दिया गया। इसी उपन्यास से, ''विस्थापन का दर्द महज एक सांस्कृतिक, सामाजिक विरासत से कट जाने का दर्द नहीं है बल्कि अपने खुली जड़ें लिए भटकने और कहीं जम न पाने की भीषण विवशता है, जिसे अपने निर्वासन के दौरान सैंसबेस्टियन (स्पेन) में रह रही अमिता लगातार अपने 'ब्लॉग' में लिखती रही हैं।''[4] कश्मीर से निर्वासित अमिता स्पेन में नौकरी करती हैं। कश्मीर उनकी स्मृतियों से विस्थापित नहीं हो पाया है। अपनी भाषा, अपनी जमीन के प्रति गहरा लगाव वह निर्वासन के इतने वर्षों बाद भी महसूस करती है, ''मैं स्पेनिश बोलते हुए सही तरह जीभ नहीं घुमाती हूँ। मेरा उच्चारण मेरे छूटे हुए देश की याद दिलाता है।...गैर-भाषियों के बीच अपनी भाषा का मोह कितना सालता है।''[5]

अपने उपन्यास में निरंजन रैणा के माध्यम से लेखिका ने निर्वासित कश्मीरियों के मन की उस उम्मीद को दिखाया है जिसका टूटना ही उसकी नियति थी. लेकिन उसे बनाए रखना उनके जीवन की एकमात्र आस थी। निरंजन अपनी खीझ, अपना क्रोध, अपनी बेबसी प्रकट करते हुए अमिता के 'ब्लॉग' की प्रतिक्रिया में लिखता है, ''वह बदकिस्मत दिन, जब हम चूल्हे गरम छोड़कर थोड़ा-बहुत सामान बांधकर घर को ताला लगाकर इस उम्मीद के साथ जा रहे थे कि एक दिन यह हिंसक तूफान थमेगा और हम ताले की चाभियां संभाल कर रखेंगे कि फिर लौट कर आना जो होगा, लेकिन मैंने देखा, झेलम आसुओं के साथ बह रही थी।''[6]

अमिता उन कारणों को भी बताती हैं जिन्होंने उसे और उसके जैसे कितनों को बेघर कर दिया। उसके बचपन की स्मृतियों में एक ऐसी भयानक याद अंकित कर दी जिसे वह कभी नहीं भूल सकती। अपने ब्लॉग में वह लिखती हैं, ''मैं आज निर्वासित हूँ...क्योंकि तुम ने चुना था निहत्थों को मारना। मैं आज निर्वासित हूँ...मैंने चुना सम्मान से जीना...हथियार ना उठाना। मैं आज निर्वासित हूँ...क्योंकि पूरा संसार चुप रहा... महज कुछ लोग ही तो मर रहे थे। मैं आज निर्वासित हूं...क्योंकि मेरा भारतीय होने में विश्वास था।''[7]

क्षमा कौल के उपन्यास 'दर्दपुर' की कथा कश्मीर से निर्वासित हुई सुधा के एक एनजीओ के साथ दुबारा कश्मीर जाने के साथ चलती है। कश्मीर से निर्वासित सुधा जब दुबारा कश्मीर जाती है तो उसके भीतर खोने का दबा हुआ उसका क्रोध, सब कुछ दुःख अपने घर के प्रति उसका मोह बार-बार बाहर आने की कोशिश करता है, उसे कचोटता है। वह सोचती है, ''वह गेस्ट हाउस क्यों जा रही है, घर क्यों नहीं जा रही है? और खुद को याद दिला रही थी कि क्या यह सच है कि इस घटना को हुए अरसा होने को आ रहा है।''[8] अपने उस घर जहाँ उसकी बचपन की यादें हैं, वहाँ देखे गए उसके सपने हैं, कई सारी स्मृतियां हैं, इतने पास जाकर भी वह वहाँ नहीं रह सकती। केवल उस घर को दूर से देख सकती है। इस पीड़ा को सहने के लिए वह और उस जैसे कई और निर्वासित अभिशप्त हैं। होटल के कमरे में बैठे-बैठे सुधा सोचती है, ''कितना पास है वह घर जहां से उसे उस रात निकाला गया था। वह आरामगाह... वह घर जहां उसने हमेशा मस्ती की, मां की छांव देखी, पिता का लाड़ पाया। वे कमरे, वे दीवारें, वह दहलीज, वे नल, वे बरामदे कितने पास हैं पर कहां हैं। उसे लगा सब निर्जीव वस्तुओं की आत्माएं उग आई हैं। प्राण फूंके गये हैं उनमें, ताकि वे भी तड़पें दोनों में विरह है। वह वहां नहीं जा सकती। वे इसके पास नहीं आ सकते।''[9]

मीराकांत का उपन्यास 'एक कोई था कहीं नहीं सा' कश्मीरी जीवन और समाज को समझने का एक जीवंत माध्यम है। इस उपन्यास की एक पात्र शबरी के माध्यम से लेखिका ने निर्वासन की उस पीड़ा को दिखाया है जिससे बने जख्म कभी नहीं भरे। ''यह उपन्यास मानव संबंधों की एक उलझी पहेली है...यहां अपने ही देश में लोग डायस्पोरा का जीवन जी रहे हैं।''[10] शबरी कश्मीर से अपना घर छोड़कर नहीं जाना चाहती, क्योंकि उसे लगता है कि यहाँ उसने एक ही जन्म में कई जीवन जिए हैं। इस घर में उसके माता-पिता की मृत्यु हुई, इसी घर से उसकी डोली उठी और पति की मृत्यु के बाद वह इसी घर में लौटकर आई। इसी घर में उसने अपने पिता समान दो बड़े भाइयों और अपनी भाभी को खोया। यह सारी स्मृतियां, उसके पूर्वजों का स्नेह और आशीर्वाद इस घर में बसा है। वह सोचती है, ''इस घर-आंगन में लगता है जन्म-जन्मांतर का नाता है। यहीं जन्म लिया, यहीं से व्याही गयी और अब लौटी भी तो यहीं। यहीं रहकर एक ही जीवन में ना जाने कितने जीवन जिए। तो क्या अब अंतिम पहर में चला चली की इस बेला में इसे छोड़ दूं? नहीं, किसी कीमत पर नहीं। हरगिज नहीं।''[11]

एक पूरी जिंदगी गुजार देने के बाद इतना आसान कहाँ रह जाता है अपनी जड़ों को अपने ही हाथों से काटना शबरी जब दूसरों को अपना घर छोड़ जाते देखती तो हमेशा

सोचती कि ''वह यहीं जायेगी। इसी आंगन में, इसी दहलीज पर इसी मिट्टी में, इसी हवा में, उम्र के लगभग 75 पड़ाव पार कर देने के बाद अब क्या अपनी छोड़ किसी और की देहरी पर जाना। फिर उसे भी अंततः अपनी वितस्ता का ही वरण करना था। अपने पुरखों की तरह[12] लेकिन शबरी और उस जैसे कई निर्वासितों की यह छोटी-सी इच्छा भी पूरी नहीं हो पाती आतंक के सामने बेबस शबरी को भी अपना घर छोड़ कर जाना पड़ता है। चन्द्रकांता के उपन्यास 'कथा सतीसर' के केंद्र में कश्मीर, कश्मीरियत और विस्थापन है। अपने इस उपन्यास के रचना के पीछे का कारण बताते हुए चन्द्रकांता लिखती हैं, ''इसे रचने के पीछे कई पीड़ादायक कारण रहे किसी की दया पर नहीं बल्कि सम्मान से जीना चाहते थे। कोई यूं ही किसी के कह देने भर से अपनी जन्मभूमि, अपना घर और अपने जीवन भर की पूंजी छोड़कर नहीं जाता।''[13] घर की कीमत वही बेहतर समझ सकता है जिसे जबरन उसके घर से निकाल दिया गया हो। चन्द्रकांता लिखती हैं, ''घर का अर्थ वही जानता है जिसका घर छूट गया हो। घर छीनना अपने भूगोल, अपने इतिहास, अपने स्मृति संसार से कट जाना होता है, घर कोई किसी के इशारे पर अकारण ही नहीं छोड़ सकता।''[14] हम केवल उस पीड़ा, उस बेबसी का अंदाजा लगा सकते हैं जिसमें जीते हुए कश्मीरी पंडितों ने अपना घर छोड़ा। उन्होंने वहाँ स्वयं को इतना असहाय महसूस किया होगा कि उन्हें लगा होगा, उन्हें बचाने वाला, उन्हीं की भूमि में बेखौफ रहने के लिए सुरक्षात्मक आश्वासन देने वाला कोई नहीं है। इस भय से भरकर इस उपन्यास का पात्र रमेश कश्मीर छोड़ जाना चाहता है।

ये उपन्यास निर्वासन झेलते कश्मीरियों की पीड़ा को आवाज देते हैं। कश्मीर को खोखला कर दिया गया है। कई अनसुनी आवाजें, अनकही पीड़ा, छटपटाहट, बेचैनी, द्वंद्व के साक्षी हैं ये उपन्यास। कश्मीरियों के निर्वासन की अवधि बहुत लंबी रही है। आतंक की पकड़ इतनी मजबूत है कि उनकी रिहाई की तमाम कोशिशें नाकाम होती रही हैं, लेकिन उम्मीद सबसे बड़ी ताकत है, हौसला सबसे बड़ा हथियार है। एक दिन निर्वासन की ये बेड़ियों जरूर टूटेंगी, यही उम्मीद इन उपन्यासों में निहित है।

संदर्भ ग्रंथ

1. कुलश्रेष्ठ, मनीषा शिगाफ, फ्लैप से, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2010, पृ. 12
2. वही, पृ. 10
3. वही, पृ. 18
4. वही, पृ. 69
5. वही, पृ. 22
6. वही, पृ. 79
7. वही, पृ. 89
8. कौल, क्षमा, दर्दपुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2004 पृ. 72-73
9. वही, पृ. 22
10. कांत, मीरा, एक कोई था कोई नहीं सा, फ्लैप से, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
11. वही, पृ. 181
12. वही, पृ. 205
13. वही, पृ. 196
14. चंद्रकांता कथासतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृ. 556

सौम्या वर्मा

शोधार्थी

हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय, हैदराबाद

सुख-मृत्यु : महात्मा गाँधी के विशेष संदर्भ में

—डा. शीलम भारती

सारांश

महात्मा गाँधी के जीवन दर्शन में अहिंसा का केन्द्रीय स्थान है। गाँधी का जीवन दर्शन, मनुष्य को अहिंसा की राह पर चलने के लिए प्रेरित करता है। गाँधी इस बात से भली भाँति परिचित थे कि विशुद्ध अहिंसात्मक जीवन-यापन साधारण मनुष्य के लिए असंभव है। व्यावहारिक जीवन में बहुत सी ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं जब अहिंसा, हिंसा जान पड़ती है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि गाँधी जिन्होंने अहिंसा को ही साध्य और साधन दोनों मान लिया था, उन्होंने सुख-मृत्यु को किस रूप में परिभाषित किया। यदि हम ऊपरी तौर से देखें तो सुख-मृत्यु एक प्रकार से हिंसात्मक व्यावहार है। हम यह जानते हैं कि गाँधी और हिंसा एक-दूसरे के विरोधात्मक है। इस शोध पत्र का मुख्य विषय यही है कि सुख-मृत्यु पर गाँधी के विचार क्या थे।

मुख्य शब्द : गाँधी, सुख-मृत्यु, अहिंसा, हिंसा, कष्ट या पीड़ा, निदानात्मक उपचार।

> *''अहिंसा मानव जाति के हाथों में सबसे बड़ी शक्ति है मनुष्य की बुद्धि ने जो प्रचंड से प्रचंड अस्त्र-शस्त्र बनाए हैं उनसे भी प्रचंडतर यह अहिंसा की शक्ति है''*
>
> मोहनदास करमचंद गाँधी
>
> [20 जुलाई 1935, खंड 61, पृष्ठ 286]

गाँधी एवं अहिंसा एक दूसरे के परिचायक हैं। गाँधी के समस्त विचार अहिंसा से प्रेरित हैं। गाँधी साधारण जनमानस को अहिंसा का पालन करने के लिए प्रेरित किया। गाँधी का मानना था कि अहिंसा कोई कोरी संकल्पना नहीं है, बल्कि यह मानसिक के साथ-साथ व्यावहारिक अवधारणा है। अहिंसा धर्म केवल ऋषि एवं संतों के लिए नहीं है। यह आम लोगों के लिए भी है। जैसे पशु जगत का नियम हिंसा है, वैसे ही मनुष्य जाति का नियम अहिंसा है (खंड 18, पृष्ठ 143)।

साधारण जीवन में अहिंसा का पालन करना कोई साधारण कार्य नहीं है। क्योंकि अहिंसा का पालन करने के मार्ग में अनेक जटिल समस्याएं आती हैं। साधारण जीवन में बहुत से ऐसे प्रसंग आते हैं, जब हिंसा का पालन करने में ही अहिंसा होती है। जो हिंसा अनिवार्य हो जाती है उसे व्यवहार शास्त्र पाप नहीं मानता है (खंड 31, पृष्ठ 506, 10-10-1926)। हिंसा और अहिंसा के बीच की लकीर इतनी पतली है कि यह निश्चित करना मुश्किल है कि कब हिंसा अनिवार्य और पुण्य है। किंतु अनिवार्य हिंसा की व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि यह देश, काल और पात्र के अनुसार बराबर बदलती रहती है। एक काल में जो बात क्षंतव्य मानी जाती है दूसरे काल में वही अक्षन्तव्य (खंड 31, पृष्ठ 506, 10-10-1926)। व्यवहारिक जीवन में अनेक ऐसे प्रसंग आते हैं जब हमें हिंसा का सहारा लेना होता है। हमेशा ही प्राण लेना हिंसा नहीं है या यूं कहें कि अनेक अवसरों पर प्राण ना लेने में अधिक हिंसा है (खंड 31, पृष्ठ 565)।

'मृत्यु' अपने आप में ही एक हिंसात्मक व्यवहार है। गाँधी अहिंसा के महान पुजारी थे। लेकिन यह जानकर आश्चर्य होता है कि गाँधी के जीवन में अनेक ऐसे प्रसंग आए जब गांधी ने दया मृत्यु अर्थात हिंसा का समर्थन किया। किसी प्राणी को दर्द से मुक्ति देने के लिए जानबूझकर उसकी जान लेना, दया मृत्यु या इच्छा मृत्यु है। 1928 में आश्रम में एक बछड़ा था। जो अपंग और दर्द से बेहाल था। बहुत सेवा एवं इलाज के बाद भी उसके कष्ट का निवारण नहीं हो रहा था। चिकित्सकों ने भी उसके ठीक होने की आस छोड़ दी थी। ऐसी स्थिति में गाँधी को उसका दर्द देखा नहीं गया। उन्होंने आश्रम के अन्य लोगों से सलाह करके उक्त बछड़े को दया मृत्यु देने का निश्चय किया। बछड़े को जहर की पिचकारी (इंजेक्शन, लगवा कर बछड़े का प्राण हरण किया गया। आश्रम के कुछ लोगों ने इसका विरोध किया। एक व्यक्ति ने तर्क दिया कि जो प्राण देने की शक्ति नहीं रखता वह प्राण ले भी नहीं सकता। गाँधी ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि जब हमने भी देखा कि वह कष्ट से छटपटा रहा है और करवट बदलने में भी उसे बड़ा कष्ट हो रहा है। तब मुझे लगा कि ऐसी स्थिति में इस बछड़े के प्राण लेना ही धर्म है, अहिंसा है। मुझे यह दलील इस जगह मौजूँ नहीं लगी। स्वार्थ भावना से किसी का प्राण हरण किया जाए तो यह दलील लागू हो सकती है। गांधी का मानना था कि अहिंसा, स्वार्थ भावना से रहित संप्रत्य है। अगर हम स्वार्थ भावना से प्रेरित होकर कोई कृत्य करते हैं तो वह अहिंसात्मक व्यवहार नहीं समझा जाएगा। बछड़े को दी गई दया मृत्यु स्वार्थ भावना से रहित निश्चल मन से दी गई। मैं जानता था कि लोकमत की आज जो स्थिति है, उसे देखते हुए यह काम लोगों को पसंद नहीं आ सकता। इसमें उन्हें हिंसा ही दिखाई देगी (खंड 37 : पृष्ठ 323, नवजीवन, 30-9-1928)।

गाँधी को अनेक पत्र प्राप्त हुए। कुछ पत्रों में लोगों ने पूछा कि बछड़ा तो एक जानवर है। लेकिन क्या यह सब आप मनुष्य के साथ भी करेंगे। गाँधी का दृढ़ विश्वास था कि सभी जीव समान है। इन सभी मामलों में एक ही न्याय लागू होता है (खंड 37, पृष्ठ 323)। अहिंसा की परीक्षा का आधार भावना पर रहता है (खंड 37, पृष्ठ 323)। नित्य प्रतिदिन के जीवन में हम जीवन यापन के लिए थोड़ी बहुत हिंसा का सहारा लेते हैं। देह धारी जीवमात्र हिंसा से ही जीते हैं। उसके परम धर्म को सूचित करने वाला शब्द आखिर नकारात्मक निकला। जगत यानी देहमात्र हिंसामय है और इसी कारण अहिंसा प्राप्ति के लिए देह के आत्यंतिक मोक्ष की तीव्र इच्छा पैदा होती है (खंड 37, पृष्ठ 323)। मनुष्य को अपना अस्तित्व बनाए रखने एवं जीवन यापन के लिए थोड़ी बहुत हिंसा करनी पड़ती है। विशुद्ध अहिंसात्मक जीवन यापन साधारण मनुष्य के लिए कोरी संकल्पना है। गांधी को इसका ज्ञान था इसलिए उन्होंने विशुद्ध अहिंसात्मक जीवन का समर्थन नहीं किया एवं अहिंसा की विस्तृत एवं व्यवहारिक परिभाषा दी। इस हिंसामय जगत में अहिंसा रूपी तीखी तलवार की धार पर चलना सहज काम नहीं है (खंड 31 पृष्ठ 506)। साधारण जीवन की परिस्थितियां इतनी उलझी एवं जटिल होती हैं कि मनुष्य को हिंसा का आश्रय लेना पड़ता है। इस धर्म के पालन में कितनी बार हिंसा, अहिंसा जान पड़ती है (खंड 31, पृष्ठ 506)।

गाँधी जीव मात्र के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों पक्ष के विषय में जागरूक थे। गाँधी का मत था कि भौतिक रूप से किसी को कष्ट ना पहुंचाना यदि अहिंसा है, तो जीव के आध्यात्मिक रूप को किसी भी प्रकार से कष्ट ना पहुंचाना भी अहिंसा है। जीवन में कई ऐसे प्रसंग आते हैं। जब जीव की आत्मा बहुत कष्ट में होती है और उसे कष्ट से मुक्ति दिलाना ही अहिंसा है। निस्वार्थ बुद्धि से, शांत चित् से किसी भी जीव की भौतिक या आध्यात्मिक भलाई के लिए दिया गया दुख या उसका प्राण हरण शुद्ध अहिंसा हो सकता है (खंड 37, पृष्ठ 323)।

गाँधी का मानना था कि साधारण जीवन में अहिंसा को लेकर कुछ भ्रम है। इस भ्रम का कारण यह है कि हम जीव के केवल भौतिक कष्टों या सुरक्षा की तरफ ही ध्यान देते हैं। उसके आध्यात्मिक पक्ष या आत्मा की पूरी तरह से

अनदेखी करते हैं। केवल मरण में से ही किसी आदमी को या पशु को थोड़े समय के लिए बचा लेने में अहिंसा है। यह मान्यता एक वहम है (खंड 37, पृष्ठ 323)। जीव मात्र की आत्मा को कष्टों से मुक्त करने में ही अहिंसा है। बछड़े को मारने में यदि भूल हुई भी हो तो भी मैं जानता हूं कि उनकी आत्मा तो कुशल ही है। उसके कष्ट में डूबे हुए शरीर का दो घड़ी पहले नाश करने में शामिल होने में अगर त्रुटि रही हो तो मुझे उसकी सजा भोगने की भी तैयारी रखनी चाहिए। किंतु बछड़े को जो दो घड़ी कम समय तक स्वांस लेने को मिला मुझे इसका अपार दुख नहीं होता। जो बात मैं बछड़े के बारे में कहता हूं वही अपने किसी प्रिय जन के बारे में भी कह सकता हूं (खंड 37, पृष्ठ 352)।

गाँधी का यह दृढ़ विश्वास था कि सभी जीव आत्मा युक्त है। मनुष्यों और अन्य जीवो में अंतर यह है कि मनुष्य अपनी बात अपने विचार अपनी भाषा के माध्यम से व्यक्त कर सकता है। लेकिन अन्य जीव भाषा विहीन है। जीव मनुष्य हो या पशु पक्षी अथवा कीट पतंग यदि उसमें संज्ञा है तो जिन परिस्थितियों में वह बछड़ा पड़ा हुआ था। उन परिस्थितियों में वह जैसा की मैंने बछड़े के बारे में भी माना कभी भी जीना नहीं चाहेगा और दूसरी यह कि उसका जीवन समाप्त कर देने के अलावा उसकी और कोई सेवा करना असंभव था (खंड 38, पृष्ठ 113, 28-11-1928)। गाँधी का मानना था कि आत्मा का एक अन्य गुण है, कष्ट सहन करना। मनुष्य होने के नाते हम कष्ट सहन करते हैं और कष्ट जब हमारी क्षमता के बाहर हो जाता है तब हम उसे व्यक्त कर देते हैं। लेकिन अन्य जीवों के संदर्भ में यह बात लागू नहीं होती है। अहिंसा के नाम पर किसी भी जीव को चाहे वह मनुष्य हो या अन्य जो अपनी बात ना रख सके उसकी आत्मा को जबरदस्ती कष्ट सहन करवाना अहिंसा नहीं बल्कि हिंसा है। अहिंसा अपने संप्रत्यत्मक रूप में ही दूसरों को कष्ट ना देने की बात कहती है। इस नाते किसी को भी कष्ट सहन करवाना हिंसा है। आत्मा खुद कष्ट सहन करे यह उसका स्वभाव ही है लेकिन दूसरे से कष्ट सहन कराना आत्मा के स्वभाव से उल्टी बात हो गई। अगर बछड़े के दुख से मुझे होने वाले दुख को दूर करने के लिए मैंने उसे मरवाया होता तो वहां अहिंसा नहीं होती, मगर बछड़े को होने वाला दुख दूर करना अहिंसा थी। अहिंसा के मूल में ही दूसरों को होने वाला दुख सहन ना करने की बात है। जहां लोगों की वृत्ति अहिंसा की तरफ हो वहां बछड़े के उदाहरण के दुरुपयोग की कम संभावना है क्योंकि हेतु बिल्कुल निस्वार्थ है और बछड़े का ही सुख देखने की बात है (खंड 63, पृष्ठ 414, 12-05-1932)।

तत्कालीन समाज पर लोगों के ऊपर जैन धर्म और बौद्ध धर्म का बड़ा ही व्यापक प्रभाव था। यह दोनों धर्म विशुद्ध अहिंसात्मक जीवन का समर्थन करते थे। गाँधी द्वारा बछड़े को दी गई दया मृत्यु से जनता के एक वर्ग में बड़ा रोष था। गाँधी को एक पत्र प्राप्त हुआ जिसमें लिखा था जैन धर्म के शुद्ध न्याय के अनुसार दया को भी राग ही समझा जाता है फिर उसका रूप कितना ही सात्विक क्यों ना हो। इसलिए आपने दया से प्रेरित होकर बछड़े के साथ जो हिंसा की है वह कोई वीतराग मनुष्य नहीं करेगा अर्थात वह राग रहित होने का लक्षण नहीं है (खंड 63, पृष्ठ 414, 12-05-1932)। गाँधी ने इस प्रश्न का उत्तर बहुत ही दार्शनिक रीति से दिया। गाँधी बुद्धि और हृदय की प्रकृति से पूर्ण रूप से परिचित थे। उनका मानना था कि बुद्धि का विषय तर्क है और हृदय के लिए भक्ति, श्रद्धा और अनुभवजन्य ज्ञान आवश्यक है लेकिन दैनिक जीवन की परिस्थितियां इतनी जटिल होती हैं की साधारण जीवन केवल तर्क से नहीं चलता है। लेकिन तर्क से कभी-कभी उल्टे निर्णय हो जाते हैं और भयंकर परिणाम निकलते हैं (खंड 63, पृष्ठ 414, 12-05-1932)। इसलिए दैनिक जीवन में समय और परिस्थिति को ध्यान में रखकर निर्णय लेने चाहिए। बछड़े की जो दयनीय परिस्थिति थी उसको देखते हुए गाँधी को अपना निर्णय बिल्कुल ठीक लगा और वह अपने निर्णय पर अडिग रहे।

गांधी व्यावहारिक चिंतक थे। इसलिए उन्होंने दया और अहिंसा को दो अलग संप्रत्यय नहीं माना बल्कि एक दूसरे का पूरक माना। इसलिए उन्होंने परिस्थिति अनुसार दया मृत्यु का समर्थन किया। दया और अहिंसा अलग चीजें नहीं है। दया, अहिंसा की विरोधी नहीं है और विरोध हो तो वह दया नहीं है। दया को अहिंसा का मूर्त स्वरूप मान सकते हैं। ''दयाहीन वीतराग पुरुष'' यह प्रयोग बिल्कुल गलत है। वीतराग पुरुष दया का सागर होना चाहिए और जहां करोड़ों के प्रति दया की बात है वहां यह कहना कि ऐसी दया सात्विक होने पर भी राग रहित नहीं है, दया का अर्थ ना समझना या दया का नया अर्थ करना है (खंड 63, पृष्ठ 414, 12-05-1932)।

1926 के आसपास एक घटना हुई। इस घटना को तात्कालिक समाचार पत्रों ने बड़ी प्रमुखता से छापा जिसमें एक पारसी अभिनेत्री ने अपने प्रेमी के निरंतर अनुरोध पर उसे गोली मार दी थी क्योंकि प्रेमी एक रोग के कारण घनघोर कष्ट में था। उसके पुनः स्वास्थ्य होने की कोई आशा नहीं दिख रही थी। अभिनेत्री से अपने प्रेमी की पीड़ा

नहीं देखी गई। समाज में इस विषय पर नैतिक बहस छिड़ गई। अभिनेत्री पर अपने प्रेमी की हत्या का मुकदमा चला। लेकिन सभी साक्ष्यों और परिस्थितियों को देखते हुए अभिनेत्री को छोड़ दिया गया। जिन परिस्थितियों में उस व्यक्ति की हत्या की गई उसमें ऐसा करना अपराध नहीं था। इस घटना ने भारत में भी बहस खड़ी कर दी। गाँधी से लोगों ने इस हत्या की नैतिकता पर प्रश्न किया। गाँधी ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि मेरी राय में इस तरह की हत्या यदि नेक नियति से की जाए तो वह निश्चित ही मेरी परिभाषा और समझ के अनुसार हिंसा नहीं मानी जाएगी (खंड 32, पृष्ठ 472)। गाँधी की दृष्टि में वह व्यक्ति असहनीय पीड़ा से गुजर रहा था और उसके ठीक होने की भी कोई संभावना नहीं थी। ऐसी परिस्थिति में यदि वह व्यक्ति और अधिक समय तक जीवित रहता तो उसकी आत्मा को और अधिक कष्ट मिलता। जो अहिंसा नहीं हिंसा होती। अतः ऐसी परिस्थिति में अमुक व्यक्ति की हत्या हिंसा नहीं बल्कि अहिंसा है, क्योंकि उसकी आत्मा घनघोर पीड़ा से मुक्त हो गई।

बछड़े को दी गई दया मृत्यु एवं पारसी अभिनेत्री द्वारा अपने प्रेमी की हत्या लाइलाज बीमारी के कारण की गई। उस समय तात्कालिक चिकित्सा विज्ञान में इसका कोई इलाज संभव नहीं था। लेकिन गाँधी के अनुसार कभी-कभी बीमारी का इलाज तो होता है। लेकिन परिस्थितियां ऐसी होती हैं कि अमुक व्यक्ति तक कोई मदद नहीं पहुंच सकती। मेरी सम्मति में अधिक अच्छा यह होगा कि जिस व्यक्ति के बारे में हम पक्की तौर पर जान ले कि वह जीवित नहीं बचेगा। उसका हमें साहस पूर्वक अंत कर देना चाहिए। ऐसा एक उदाहरण युद्ध क्षेत्र में घातक रूप से घायल सैनिक का है जिसकी चिकित्सा की सुविधा प्राप्त होने की कोई संभावना ना हो (खंड 32, पृष्ठ 474, 30-12-1926) जैसे युद्ध भूमि में एक सैनिक बुरी तरह से घायल हो जाए, परंतु वहां पर उस घायल तक किसी भी स्थिति में चिकित्सीय मदद नहीं पहुंच सकती है। चिकित्सीय मदद ना पहुंचने के कारण वह व्यक्ति मृत्यु आने तक घनघोर पीड़ा एवं कष्ट से गुजरेगा जिससे उसके शरीर और आत्मा दोनों को कष्ट मिलेगा। ऐसी परिस्थिति में दूसरे सैनिक द्वारा अमुक सैनिक की हत्या करना ही श्रेयकर है। यह हत्या, अहिंसा की शुद्ध अभिव्यक्ति है। क्योंकि साध्य और हेतु दोनों का उद्देश्य कष्टों से मुक्ति था।

गाँधी को 1928 मैं एक पत्र प्राप्त हुआ जिसमें एक पिता अपने अबोध बच्चे के लिए दया मृत्यु की नैतिकता पर प्रश्न करता है। उसका बालक केवल 4 महीने का था। जन्म लेने के 15 दिनों के बाद वह बीमार पड़ गया। डॉक्टरों और उसे ऐसा लग रहा था कि अब वह अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहेगा। उसका परिवार बहुत बड़ा था। उसके सर पर कर्ज का बहुत बड़ा बोझ था। उसे अपने बच्चे का दुख देखा नहीं जा रहा था उसने गाँधी से पूछा कि वह क्या करें, गाँधी का मत था कि इतने छोटे बालक की देखभाल करना माता-पिता एवं परिवार का उत्तरदायित्व है। भले ही चिकित्सक उस बालक के जीने की आस छोड़ दें। गांधी को पिता का स्वार्थ अधिक दिखाई देता है। यहां सेवा तो शक्य है ही, और उसके अलावा बाप अपनी दुखी स्थिति को आगे ला धरता है। वह आप बड़े कुटुंब वाला है, ऋणी है आदि बातें प्राणहरण का कारण कभी नहीं हो सकती। मुझे तो यहां बाप का स्पष्ट धर्म लड़के की सेवा करते ही जान पड़ता है (खंड 38, पृष्ठ 71)। इस घटना में गाँधी अबोध बालक को दया मृत्यु दिए जाने के पक्ष में नहीं थे। क्योंकि उनका मानना था कि बालक की सेवा एवं देखभाल करने के लिए परिवार में बहुत से लोग उपस्थित हैं। वैसे भी सामान्य बालक की देखभाल भी बड़े जतन और ध्यान से की जाती है। यहां इस घटना में बालक का हित कम एवं पिता का स्वार्थ अधिक दिखाई दे रहा है। पिता अपनी आर्थिक स्थिति और बड़े परिवार के कारण ऐसा करने के बारे में सोच रहा है। गाँधी दया मृत्यु के पक्ष में केवल उसी स्थिति में है जब साध्य और साधन दोनों निस्वार्थ हो।

उन्हीं दिनों अमेरिका में एक घटना घटी। अमेरिका के एक डॉक्टर हैरोल्ट ब्लेशर ने अपनी अर्ध विक्षिप्त कन्या को क्लोरोफॉर्म देकर मार डाला। इसके पीछे डॉक्टर का तर्क यह था कि वह अपनी मृत्यु के बाद अपनी बेटी को किसी पर बोझ की तरह नहीं छोड़ना चाहते थे। डॉक्टर को अदालत में निरपराध घोषित किया। इसके पीछे तर्क यह था कि लड़की मन और बुद्धि से विकसित होने के कारण 'आत्मा' से हीन थी। यंग इंडिया के एक नियमित पाठक ने गाँधी से इस विषय पर उनकी राय जाननी चाही। गाँधी का कहना था मेरा मत है कि डॉक्टर ब्लेशर छूट भले ही गए हो मगर मेरी समझ के अनुसार तो उन्होंने अपनी लड़की की जान लेकर भूल की। इससे प्रकट होता है कि उन्होंने अपने आसपास रहने वालों के मन में दया भाव होने का भरोसा नहीं था। यह मान लेने का कोई कारण ना था कि दूसरे उस लड़की की देखभाल ना करते। मैं यह भी मानने को तैयार नहीं हूं की अविकसित प्राणियों के आत्मा होती ही नहीं। मेरा विश्वास है कि नीची श्रेणी के प्राणियों में भी आत्मा होती है (खंड 32, पृष्ठ 394, 9-12-1926)।

दया मृत्यु को लेकर गाँधी पर कड़े आक्षेप किए गए।

एक पाठक आक्षेप लगाते हैं की यदि आप अहिंसा की यह व्याख्या करते हैं तो फिर अहिंसा और उपयोगितावाद जो ''अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख'' पर आधारित है, में क्या अंतर रह जाता है। क्योंकि उपयोगितावाद भी अधिकांश व्यक्तियों के अधिकतम सुख के लिए प्राण लेते हुए भी नहीं संकोच करता है। गाँधी इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि अहिंसावादी उपयोगितावाद का समर्थन नहीं कर सकता। वह तो 'सर्वभूतहिताय' यानी सबके अधिकतम लाभ के लिए ही प्रयत्न करेगा और इस आदर्श की प्राप्ति में वह मर जाएगा। इस प्रकार वह मरना इसलिए चाहेगा कि दूसरे जी सकें (खंड 32, पृष्ठ 394, 9-12-1926)। गाँधी के अनुसार प्रारंभ में अहिंसावाद और उपयोगितावाद दोनों ऊपर से एक जैसे लगेंगे लेकिन आगे चलकर दोनों अलग-अलग रास्तों पर चलने लगते हैं। अहिंसावादी दूसरे के लिए मर जाने को तैयार रहता है लेकिन उपयोगितावादी ऐसा नहीं कर सकता है। अहिंसावादी संपूर्ण जीव मात्र के लिए मन में आदर भाव रखता है। लेकिन उपयोगितावादी केवल अधिकतम व्यक्तियों के सुख तक ही स्वयं का ध्यान केंद्रित रखता है। तभी तो पश्चिम के देश महायुद्ध एवं चिकित्सीय विज्ञान के लिए पशुओं के चिरफाड को उचित ठहराते हैं। यहां तक कि उपयोगितावाद के मानने वाले तो जलियांवाला बाग हत्याकांड को भी उचित बताते हैं। इसके साथ ही अराजकतावादी भी हत्याओं को न्याय संगत सिद्ध करते हैं। लेकिन अहिंसावादी जो 'सर्वभूतहिताय' के सिद्धांत पर आधारित है, कभी भी इनमें से किसी भी सिद्धांत को उचित नहीं सिद्ध करेगा। सर्वभूतहितवादी हिंसा के क्षेत्र को सदा कम से कम बनाएगा। उपयोगितावाद के लिए हिंसा के क्षेत्र की कोई सीमा नहीं है (खंड 32, पृष्ठ 394, 9-12-1926)। जीवन में कभी-कभी ऐसे अवसर आते जाते हैं जब अहिंसावाद और उपयोगितावाद एक दूसरे के विरोध में खड़े हो जाते हैं। सच कहें तो उपयोगितावादी कभी अपनी बली नहीं दे सकता, किंतु अहिंसावादी तो हमेशा मिट जाने को तैयार रहेगा (खंड 32, पृष्ठ 394, 9-12-1926)।

1928 में श्रीनिवासन नामक व्यक्ति ने गांधी को एक पत्र लिखा जिसमें उसने बताया कि उसकी 20 वर्षीय बहन पक्षाघात से पीड़ित है एक क्षण के लिए उसके मन में विचार आता है कि वह अपने जीवन को समाप्त कर ले लेकिन ऐसा करने का मतलब है कि अपने कर्म कल फल से भागना। श्रीनिवासन की बहन का मानना था कि गाँधी ने बछड़े को मारकर ठीक नहीं किया। मर कर कर्म फल को कुछ समय के लिए स्थगित किया जा सकता है लेकिन टाला नहीं जा सकता है। गांधी ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि बछड़े के ठीक होने की सारी संभावनाएं समाप्त हो चुकी थी। इसलिए उसका जीवन समाप्त करने के अलावा और कोई दूसरा विकल्प नहीं था। यहां पर इस लड़की के विषय में यह बात लागू नहीं होती। गाँधी का मत था कि मनुष्य अपने पूर्व और वर्तमान कर्मों के अनुसार सुख दुख भोगता है। कर्मों के फल का यह सिलसिला निरंतर चलता रहता है। लेकिन कर्म फल का यह नियम मनुष्य को निर्मम बनाने के लिए नहीं है। साथ ही कर्म सिद्धांत, मशीनी सिद्धांत की तरह नहीं समझना चाहिए। कर्म का सिद्धांत निर्जीव, सख्त, अक्षम नहीं होना चाहिए। बल्कि सजीव एवं चहुमुखी विकास करने वाला होना चाहिए। अपना प्राणांत कर लेने की उसकी इच्छा विशुद्ध रूप से परमार्थ की भावना से प्रेरित थी (खंड 38, पृष्ठ 113, 28-11-1928)। क्योंकि इस लड़की ने क्षण भर के लिए यह सोचा कि अपना जीवन समाप्त कर लेने से उसकी सेवा करने वालों की परेशानी दूर हो जाएगी। लेकिन उसका सोचना गलत था क्योंकि उसकी सेवा करने वाले लोग विद्यमान थे और वह उसकी सेवा करने के लिए हर क्षण तत्पर थे। उसकी सेवा करने वाले लोग कभी भी उस लड़की की जीव नाश की इच्छा को पूरा नहीं होने देते। अगर वह ऐसा करते तो इसका अर्थ था कि अपने कर्तव्य से भागना।

निष्कर्ष

गाँधी के जीवन में अहिंसा का केंद्रीय एवं महत्वपूर्ण स्थान था। गाँधी को साधू सन्यासियों के जीवन एवं साधारण मानव के जीवन का अंतर स्पष्ट पता था। या यूं कहे कि गाँधी को व्यवहारिक जीवन की जटिलताओं एवं कठिनाइयों का स्पष्ट ज्ञान था। उनका मानना था कि व्यावहारिक जीवन कोरे सिद्धांतों के अनुसार नहीं चल सकता है। गांधी ने अहिंसा की व्यावहारिक व्याख्या प्रस्तुत की गाँधी ने दया मृत्यु को अंतिम विकल्प के रूप में स्वीकार किया। जब उपचार की समस्त संभावनाएं समाप्त हो जाए एवं असहनीय पीड़ा आत्मा पर एक बोझ लगे और असहनीय पीड़ा बर्दाश्त करना स्वयं में एक हिंसा हो जाए। उस समय दया मृत्यु में ही वास्तविक अहिंसा है। गाँधी की दया मृत्यु परिस्थिति जन्य थी यही कारण है कि बछड़े एवं फ्रांसीसी अभिनेत्री की घटना में गाँधी ने दया मृत्यु को सही माना एवं अबोध बालक, पक्षाघात से पीड़ित लड़की एवं डा. हैरोल्ट ब्लेशर द्वारा अपनी मानसिक विक्षिप्त बेटी को दी गई मृत्यु को गलत माना। गाँधी का मानना था कि इन घटनाओं में दया

मृत्यु के अलावा अन्य संभावनाएं विद्यमान थी।

गाँधी मानवी क्षमता की सीमा से भलीभांति परिचित थे। उनका पूर्ण विश्वास था कि मनुष्य सोचता है कि वह समस्त विश्व की गरीबी एवं दुख को समाप्त कर दे, लेकिन मानवीय क्षमता में यह संभव नहीं है। गांधी ने व्यावहारिक जीवन में अहिंसा की लचीली एवं मुक्त व्याख्या प्रस्तुत की। गांधी ने अहिंसा की संकुचित व्याख्या को अस्वीकार किया। क्योंकि उन्हें पता था कि व्यावहारिक जीवन में शुद्ध अहिंसा का पालन असंभव है। यहां तक कि गांधी ने कर्म सिद्धांत की भी बहुत ही व्यवहारिक एवं लचीली व्याख्या प्रस्तुत की।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

- एम. के. गाँधी, एन एंडियन पेट्रियट इन साउथ अफ्रीका, लेखक, जे. जे. डोक, प्राक्कथन, लार्ड एम्प्टहिल, द लंदन इंडियन क्रोनिकल, लंदन 1990
- एम. के. गाँधी, द कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाँधी इन हिंदी (वाल्यूम 1 से 97) इम्पोर्टेन्ट बुक्स, खण्ड-18 पृष्ठ 143, खण्ड-31 पृष्ठ, 506, 565, खण्ड-32 पृष्ठ 472, 474, 394, खण्ड-37 पृष्ठ, 323, 352 खण्ड-38 पृष्ठ 113, 71 खण्ड-61 पृष्ठ, 286 खण्ड-63 पृष्ठ 414,
- https://www-mkgandhi-org//bks/collected/-works-of-mahatma-gandhi&hindi&html-
- कंस्ट्रेक्टिव प्रोग्राम-इट्स मीनिंग एंड प्लेस, एम. के. गाँधी-नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1941 प्रयुक्त संस्करण, 1948
- गाँधी जी इन इंडियन विलेजन-महादेव देसाई, इस. गणेशन, मद्रास, 1927
- जे चालिहा, एण्ड ई. ली जॉली, द जॉय इन लविंग
- डाईम्मॉक मार्क (फिशर, एन्ड्रिव-चैप्टर 7) यूथनेशिया इन : एथिक्स फर ए-लेवल : फार, क्यू, फिलॉसोफी ए.ड ओसीआर रेलिजिअस स्टडीज (ऑन लाईन) कैम्ब्रिज : ओपन बुक पब्लिर्शस्, 2017 (जेनेरेटड 04 सेप्टेम्बर 2020). एविलेबल आन द इंटरनेट
- <http;//books-openedition-org/obp/4427>ISBN:9791036500787-
- नवजीवन (1919-1931), गुजराती साप्ताहिक, कभी-कभी सप्ताह में दो अंक भी, 7 सितंबर, 1919 को प्रथम बार प्रकाशित, गाँधी जी द्वारा संपादित और अहमदाबाद से प्रकाशित
- बोरमन, विलियम, गाँधी एंड नान-वायलेंस, एल्बें-स्टेट युनिवर्सिटी आँफ न्यूयार्क प्रेस, 1986
- रेचल, जेम्स. 'ऐक्टि एंड पैसिव यूथनेधिया : बायोमेडिकल एथिक्स एड ला, 5 (1979): 511-16,
- https://doi-org/10-1007/978-1-4615-6561-1_33/20
- हरिजन (1933-1956) गाँधी जी द्वारा संस्थापित अंग्रेजी साप्ताहिक, हरिजन सेवक संघ, पूना के तत्वावधान में प्रकाशित और 1942 से नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित 1940 में व्यक्तिगत सत्याग्रह के दौरान इसका प्रकाशन स्थगित रहा, जनवरी 1942 में प्रकाशित पुन : आरंभ हुआ, पर भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान बंद हो गया। 1946 से फिर प्रकाशित होना आरम्भ हुआ।
- हिन्द स्वराज आर इंडियन होम रूल, महात्मा गाँधी, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1938, प्रयुक्त संस्करण, 1958 http://www-education-gov-in
- वेलेमन, जे. डेविड, बेयोन्ड प्राईस : ऐसे आन बर्थ एंड डेथ (कैम्ब्रिज, ओपेन बुक पब्लिर्शस, 2015) http:/doi-org/10-11647/OBP-0061;Qzhyh, foyscy, sV https://www-openbookpublishers-com/reader/349DOI:10-11647/OBP-0061
- सिंगर, पीटर. प्रैक्टिकल एथिक्स (कैम्ब्रिज : यूर्निवसिटी प्रेस, 2011) http:/doi-org/10-1017/cbo9780511975950 DOI:10-17/cbo9780511975950

डा. शीलम भारती

असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शन शास्त्र विभाग

माता सुंदरी कॉलेज फॉर वीमेन्स

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

कॉर्पोरेट जगत में महिलाओं की भागीदारी का विश्लेषण

–डा. रेनू अग्रवाल

शोध सार

महिलाएं कॉर्पोरेट जगत और समाज के आर्थिक विकास में अहम भूमिका निभा रही हैं। विशेष रूप से आर्थिक क्षेत्र में उच्चतम क्षमता और प्रतिभा वाली महिलाएं कॉर्पोरेट के प्रबंधन और निर्णय लेने में भाग ले रही हैं। कंपनी अधिनियम 2013 में विधान ने सभी सूचीबद्ध कंपनियों और निर्धारित कंपनियों के लिए अपने बोर्ड में कम से कम एक महिला निदेशक की नियुक्ति को अनिवार्य बनाकर उनकी भागीदारी का दायरा बढ़ा दिया है। भारत में कॉरपोरेट्स की निर्णय लेने की प्रक्रिया में महिलाओं की भागीदारी अन्य देशों जितनी बड़ी नहीं है। महिलाओं को अपने करियर पथ पर कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है जिन पर ध्यान देने की जरूरत है। महिलाओं की पूरी क्षमता का उपयोग करने के लिए सरकार कॉरपोरेट और कानून जैसे सभी हितधारकों को मिलकर काम करना होगा। अधिक महिला अनुकूल नीतियां, नौकरी में लचीलापन, काम के अवसरों तक समान पहुंच, समावेशी संस्कृति का निर्माण, सुरक्षा के उपाय, पुनः प्रवेश योजनाएँ, सलाह सेवाएं प्रदान करना और महिला रोल मॉडलों का मार्गदर्शन कुछ ऐसे कारक हैं जहां कॉर्पोरेट और समाज में महिलाओं को सशक्त बनाने के लिए अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

मुख्य शब्द : कॉरपोरेट्स में महिलाएं, महिला नेताओं के अनुभव, महिला सशक्तिकरण, महिलाओं के लिए चुनौतियाँ, कॉरपोरेट बोर्ड में महिला निदेशक, कॉर्पोरेट जगत में महिलाओं की भागीदारी।

महिलाएं जीवन के सभी क्षेत्रों और समाज के आर्थिक विकास में अहम भूमिका निभा रही हैं। महिला सशक्तिकरण और निर्णय लेने की प्रक्रिया में उनकी पूर्ण भागीदारी किसी भी समाज की सफलता के लिए मौलिक है। महिलाएं हर क्षेत्र जैसे कॉर्पोरेट क्षेत्र, राजनीति प्रशासन, प्रबंधन, कला, विज्ञान, मनोरंजन, स्वास्थ्य, साहित्य और समाज के अन्य क्षेत्रों में योगदान दे रही हैं। विशेष रूप से आर्थिक क्षेत्र में उच्चतम क्षमता और प्रतिभा वाली महिलाएं संगठनों के प्रबंधन और निर्णय लेने में भाग ले रही हैं। संगठन में प्रबंधन के हर स्तर पर महिलाएं सेवा दे रही हैं। वे वरिष्ठ प्रबंधन स्तर, निदेशक

स्तर और शीर्ष प्रबंधन स्तर पर, मुख्य कार्यकारी अधिकारी और अध्यक्ष के रूप में भी कार्य कर रही हैं। कई अध्ययनों से पता चला है कि संगठन के प्रबंधन में महिलाओं की उपस्थिति ने कमाई क्षमता पर सकारात्मक प्रभाव डाला है।

मनुस्मृति से लिया गया प्रसिद्ध श्लोक यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता (जहाँ नारी का सम्मान होता है, वहाँ देवत्व खिलता है महिलाओं के महत्व पर प्रकाश डालता है। माना जाता है कि महिलाओं में अच्छा पारस्परिक कौशल होता है और वे अच्छे कामकाजी माहौल का नेतृत्व कर सकती हैं। इससे कामकाजी माहौल को अधिक सहयोगात्मक और कम निरंकुश बनाने में मदद मिलती है। इससे पूरे संगठन में टीम वर्क को बढ़ावा मिलता है और संगठन के भीतर अच्छी टीम भावना और समावेशी संस्कृति को प्रोत्साहित करने में भी मदद मिलती है। नारी अस्य समाजस्य कुशलवास्तुकार अस्ति अर्थात एक नारी एक आदर्श वास्तुकार की तरह अपने परिवार के साथ-साथ समाज का भी निर्माण करती है।

अध्ययन का उद्देश्य

इस अध्ययन का उद्देश्य कॉर्पोरेट जगत में महिलाओं की भागीदारी का वर्तमान परिदृश्य का विश्लेषण करना है। यह अध्ययन मार्गदर्शक साहित्य के रूप में सफल व्यवसायी महिलाओं के अनुभवों को संकलित करने का प्रयास करता है ।

कॉरपोरेट्स जगत में महिलाएं

दुनिया भर में कॉरपोरेट बोर्ड में महिला निदेशकों के प्रतिशत में बढ़ोतरी का रुझान देखा जा रहा है। कंपनी अधिनियम में विधान ने सभी सूचीबद्ध कंपनियों और निर्धारित कंपनियों के लिए अपने बोर्ड में कम से कम एक महिला निदेशक की नियुक्ति को अनिवार्य बनाकर उनकी भागीदारी का दायरा बढ़ा दिया है। भारत में कंपनियों के बोर्ड रूम में प्रबंधन प्रक्रिया और लिंग विविधता में महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने के लिए कंपनी अधिनियम 2013 ने कॉर्पोरेट बोर्डों पर महिला निदेशकों के लिए एक कोटा पेश किया। प्रत्येक सूचीबद्ध कंपनी और 100 करोड़ रुपये या उससे अधिक की शेयर पूंजी वाली सार्वजनिक कंपनियों और न्यूनतम 300 करोड़ रुपये के कारोबार वाली कंपनियों के बोर्ड में कम से कम एक महिला निदेशक होनी चाहिए। ऐसे कानूनों से कॉर्पोरेट बोर्डों में महिलाओं की संख्या बढ़ाने में मदद मिली। कॉर्पोरेट क्षेत्र विभिन्न नीतियों और कार्यक्रमों के माध्यम से महिलाओं के सशक्तिकरण में योगदान दे रहा है। ऐसे उपायों में से एक है : कॉर्पोरेट सामाजिक जिम्मेदारी माध्यम से महिलाओं की आवश्यकताओं के लिए धन आवंटित करना।

सरकार और समाज भी महिलाओं को सशक्त बनाने की दिशा में काम कर रहे हैं । भारत सरकार ने महिला सुरक्षा और समान अवसर के लिए कई कानून पारित किए हैं। भारत में मातृत्व लाभ 1928 में पेश किया गया था और 1946 में कानून द्वारा लागू किया गया था। महिलाओं को मातृत्व लाभ प्रदान करने के लिए भारत सरकार ने मातृत्व लाभ (संशोधन अधिनियम 2017 पारित किया जो 10 से अधिक कर्मचारियों वाले निजी क्षेत्र सहित किसी भी प्रतिष्ठान में कामकाजी महिलाओं के लिए 26 सप्ताह के सवैतनिक मातृत्व अवकाश की अनुमति देता है। संसद में 2019-20 के लिए केंद्रीय बजट पेश करते समय तत्कालीन वित्त मंत्री श्रीमती निर्मला सीतारमण ने नारी तू नारायणी योजना के माध्यम से महिलाओं की ओर ध्यान आकर्षित किया। भारत सरकार ने 2013 में एक अधिनियम पारित कियारू कार्यस्थल पर महिलाओं का यौन उत्पीड़न (रोकथाम निषेध और निवारण अधिनियम 2013 । समान पारिश्रमिक अधिनियम 1976 जिसे वेतन संहिता 2019 में जोड़ा गया है यह सुनिश्चित करता है कि किसी भी व्यवसाय या किसी इकाई के कर्मचारियों के बीच कोई लिंग-आधारित भेदभाव नहीं है और किसी कर्मचारी द्वारा किए गए समान कार्य के लिए समान वेतन है ।

कॉर्पोरेट जगत में महिलाओं के लिए चुनौतियाँ

वरिष्ठ प्रबंधन में महिलाओं की नियुक्ति किसी भी व्यावसायिक इकाई के लिए एक बड़ी चुनौती है। प्रवेश स्तर पर महिलाओं का प्रतिनिधित्व उचित है लेकिन उच्च प्रबंधन स्तर पर चढ़ने पर यह कम हो जाता है। चूंकि भारत एक पुरुष प्रधान समाज है इसलिए भारतीय महिलाओं पर घर और करियर के बीच संतुलन बनाए रखने की अधिक जिम्मेदारी है। भारत में कॉरपोरेट्स की निर्णय लेने की प्रक्रिया में महिलाओं की भागीदारी अन्य देशों जितनी बड़ी नहीं है। ग्रांट थॉमसन की वुमेन इन बिजनेस द पाथ टू लीडरशिप, 2015 के अध्ययन के अनुसार वरिष्ठ प्रबंधन में महिलाओं की 15 प्रतिशत भागीदारी के साथ भारत शीर्ष तीन निचले स्थान पर आता है (यह प्रतिशत रूस द्वारा दावा किए गए विश्व के सर्वोत्तम प्रतिशत 40 से काफी कम है। रूस वह देश है जहां वरिष्ठ प्रबंधन में महिलाओं का अनुपात सबसे अधिक है इसके बाद जॉर्जिया 38 प्रतिशत के साथ दूसरे स्थान पर है।

तालिका-1 : विभिन्न देशों में महिलाओं द्वारा निभाई गई वरिष्ठ प्रबंधन भूमिकाएँ

शीर्ष तीन देशों का प्रतिशत		*निचले तीन देशों का प्रतिशत*	
रूस	40	भारत	15
जॉर्जिया	38	जर्मनी	14
पोलैंड	37	जापान	04

स्रोत : ग्रांट थॉमसन की वुमेन इन बिजनेस द पाथ टू लीडरशिप 2015

संसदीय पैनल (2021 द्वारा किए गए एक अध्ययन के अनुसार सार्वजनिक उद्यम चयन बोर्ड (पीईएसबी द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों (पीएसयू) में शीर्ष प्रबंधकीय पद के लिए अनुशंसित महिला उम्मीदवारों का प्रतिशत बेहद कम है ।

तालिका-2 : शीर्ष प्रबंधकीय पदों के लिए पीईएसबी द्वारा अनुशंसित महिला उम्मीदवारों का प्रतिशत

वर्ष	*प्रतिशत*
2016	2.4
2017	7.7
2018	3.8
2019	2.7
2020	6.9

इस अध्ययन ने पीईएसबी को यह पता लगाने के लिए गहन अध्ययन करने की सिफारिश की कि क्या यह कम प्रतिशत प्रतिभाशाली महिला उम्मीदवारों की कमी के कारण है या ग्लास सीलिंग प्रभाव के कारण है इस अध्ययन ने महिलाओं के लिए एक समतापूर्ण कार्यस्थल बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया है।

कॉरपोरेट्स में महिला कार्यबल को मजबूत करने के लिए योजनाएं

बड़ी कंपनियाँ पारंपरिक रूप से महिलाओं की विशिष्ट समस्याओं जैसे मातृत्व अवकाश, शिशु देखभाल अवकाश, स्वास्थ्य समस्याएं, लचीला समय प्रदान करने का ध्यान रख रही हैं लेकिन ये वरिष्ठ प्रबंधन में महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। संगठन में महिला कार्यबल को मजबूत करने के लिए प्रबंधकों द्वारा निम्नलिखित नीतियों का मूल्यांकन किया जा सकता है।

नौकरी में लचीलापन

लचीले करियर का तात्पर्य एक महिला कर्मचारी के करियर या कामकाजी जीवन के दौरान लचीलेपन से है, जिसमें ऐसे प्रावधान शामिल हैं जो कर्मचारियों को कार्यबल में प्रवेश करने, बाहर निकलने और फिर से प्रवेश करने और उनके कार्यभार या गति को बढ़ाने और घटाने में सक्षम बनाते हैं। लचीलेपन की संस्कृति दर्शाती है कि क्या उनके बॉस लचीली प्रथाओं के बारे में जानकार हैं और उन्हें प्रभावी ढंग से बढ़ावा देते हैं और संवाद करते हैं।

महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने के लिए मानव संसाधन पेशेवरों द्वारा अपनाए गए उपायों में से एक महिला प्रबंधकों को विशेष रूप से त्योहार के समय और मातृत्व अवकाश के बाद जब उनके बच्चे छोटे होते हैं नौकरी में लचीलापन प्रदान करना है। चूँकि एक महिला को अपने पूरे परिवार और परिवार के बड़े सदस्यों की भी देखभाल करनी होती है, इसलिए उनकी नौकरी में कुछ लचीलेपन से उन्हें अपनी नौकरी और घर के बीच संतुलन बनाए रखने में मदद मिल सकती है। निम्नलिखित प्रकार के लचीलेपन पर विचार किया जा सकता है।

समय का लचीलापन : महिला कर्मचारियों को समय-समय पर अपने आगमन और प्रस्थान के समय को बदलने की अनुमति देना। समय प्रबंधन में लचीलापन उस डिग्री को दर्शाता है कि कर्मचारी कब काम करते हैं और इसके बारे में कुछ विकल्प चुन सकते हैं। घंटों और ओवरटाइम शेड्यूल करने से लेकर ब्रेक कब लेना है यह तय करने तक और काम पर उनका समय कैसे व्यतीत होता है इसके बारे में कुछ विकल्प चुन सकते हैं।

कम किए गए समय में अंशकालिक या अंश-वर्ष कार्यक्रम तक पहुंच जैसे विकल्प शामिल हैं।

देखभाल की छुट्टियाँ इस बात का ध्यान रखता है कि क्या संगठन बीमार परिवार के सदस्यों को देखभाल के लिए जन्म या गोद लेने या देखभाल के लिए छुट्टियाँ प्रदान करता है और क्या इनमें से किसी छुट्टी का भुगतान किया जाता है।

टाइम ऑफ में वे नीतियां और प्रथाएं शामिल हैं जो तब लागू होती हैं जब कर्मचारी काम से छुट्टी लेते हैं जिसमें निर्धारित अनुपस्थिति (जैसे छुट्टियां और प्रशिक्षण के लिए समय के साथ साथ बीमार दिनों और योजनाबद्ध और अनियोजित गतिविधियों के लिए औपचारिक नीतियां शामिल हैं।

मातृत्व अवकाश बाल देखभाल अवकाश और पुनः प्रवेश योजनाएँ

संगठित क्षेत्र में महिलाओं के लिए सबसे बड़ी समस्या मातृत्व अवकाश और बच्चों की देखभाल को लेकर आने वाली कठिनाई है। वैसे तो ज्यादातर बड़ी कंपनियां 3 से 6 महीने की मैटरनिटी लीव देती हैं, लेकिन यह प्रतिशत काफी बड़ा नहीं है। पीएचडी चैंबर ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्रीज द्वारा 2015 में किए गए एक अध्ययन(में केवल 39 प्रतिशत महिला कर्मचारियों ने स्वीकार किया कि उन्हें तीन से छह महीने का मातृत्व अवकाश मिलता है। असल दिक्कतें कंपनी में दोबारा एंट्री के वक्त आती हैं। मातृत्व अवकाश के दौरान महिला कर्मचारी अपनी नौकरी के विकास से लगभग अलग हो जाती है और परिणामस्वरूप उसे काम की मांगों के अनुरूप खुद को फिर से तैयार करना पड़ता है। यह उनमें नौकरी छोड़ने की दर को बढ़ाने में योगदान देता है। इस समस्या से निपटने के लिए कंपनियां अपनी महिला कर्मचारियों के साथ उनकी छुट्टी से पहले री-एंट्री योजना की रणनीति अपना सकते हैं। इसके अतिरिक्त निश्चित समय के लिए एक वर्ष के भीतर उन्हें कंपनी में हाल की घटनाओं से परिचित होने के लिए आमंत्रित किया जा सकता है। पुनः प्रवेश से पहले उन्हें परिवार और कार्य के व्यक्तिगत प्रबंधन से संबंधित सेमिनारों में भाग लेने की पेशकश की जा सकती है। इसके अलावा ऐसे प्रत्येक कर्मचारी और नए माता-पिता को बाल देखभाल अवकाश की पेशकश की जाती है। बच्चों की देखभाल को आसान बनाने के लिए विशेष सेवा कंपनियों की आवश्यकता है जो बच्चों की देखभाल और बुजुर्गों की देखभाल में सहायता प्रदान करें, परिवार और काम के मामलों में परामर्श दें और महिलाओं को मार्गदर्शन प्रदान करें।

महिला सुरक्षा के उपाय महिला सुरक्षा सभी मानव संसाधन पेशेवरों के लिए एक महत्वपूर्ण चिंता का विषय है। संगठन की ऐसी नीतियां होनी चाहिए जो महिलाओं के अधिकारों की रक्षा और उचित सुरक्षा प्रदान करें। महिलाओं की उचित सुरक्षा प्रदान करने वाली नीतियों जैसे यौन उत्पीड़न विरोधी नीतियां और महिला कर्मचारियों के लिए कार ड्रॉप को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। यदि संगठन अपनी महिला निदेशकों और प्रबंधकों को पिक एंड ड्रॉप सुविधाएं प्रदान करता है तो इन सुविधाओं को प्रदान करने वाली एजेंसियों की साख की जांच पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

कॉरपोरेट्स में महिलाओं के लिए सलाहकारों की व्यवस्था

समाज में महिलाओं को सशक्त बनाने के लिए ऐसे महिला रोल मॉडलों की कमी है जो महिलाओं को मार्गदर्शन और प्रोत्साहन दे सकें। इसलिए यह अध्ययन मार्गदर्शक साहित्य के रूप में सफल व्यवसायी महिलाओं के अनुभवों को संकलित करने का प्रयास करता है । इन्हें एक स्थान पर संकलित करना कॉर्पोरेट्स में संभावित महिला नेताओं के लिए सहायक हो सकता है।

सफल कॉर्पोरेट महिला नेताओं के अनुभवों से मार्गदर्शक सिद्धांत

- वह काम करें जो आप वास्तव में करना चाहते हैं।
- यदि कोई सिस्टम बदलना चाहता है तो उसे सिस्टम में शामिल होना होगा। केवल सिस्टम के बाहर बैठकर शिकायत करने से वांछित परिणाम नहीं मिल सकता।
- इतना भावुक न हों क्योंकि आप हर किसी को संतुष्ट नहीं कर सकते।
- आपको नेतृत्व की भूमिका निभाने के लिए आश्वस्त होने की आवश्यकता है।
- अपने धैर्य के स्तर में सुधार करें।
- अपनी सामाजिक सहायता प्रणाली को बनाए रखें और मजबूत करें।
- अपना सम्मान करें। यदि आप अपना सम्मान नहीं कर सकते तो कोई भी आपका सम्मान नहीं करेगा।
- अपने जीवन को अपने काम में शामिल करने के बजाय अपने काम को अपने जीवन में शामिल करें। यह इस बात पर प्रकाश डालता है कि व्यक्ति को काम के तनाव के कारण अपना जीवन जीना नहीं भूलना चाहिए।
- अपने आप को अपने संगठन और समाज के लिए अपरिहार्य बनाएं।

संदर्भ

- ग्रांट थॉमसन की वुमेन इन बिजनेस : द पाथ टू लीडरशिप, 2015

डा. रेनू अग्रवाल
सहायक प्रोफेसर,
आत्माराम सनातन धर्म कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली

महिला अधिकार : मुद्दा, चुनौतियाँ एवं संरक्षण

—डा. अनिल कुमार शर्मा

समसामयिक समय में महिला अधिकार एवं सशक्तीकरण की परिकल्पना विश्व समुदाय के समक्ष एक सर्वमान्य कसौटी के रूप में उभरकर सामने आयी है। इसी कसौटी के आधार पर आधुनिक समय में व्यक्ति, समुदाय व्यवस्था और राज्यों के स्तर को नापा जाता है। किसी समुदाय के सामाजीकरण, राजनीतिक विकास एवं आधुनिकीकरण का स्तर अधिकारों की स्थिति से लगाया जाने लगा है। प्रत्येक प्रकार के अधिकारों की आधारशिला इस धारणा पर आधारित है कि मानव सभी प्राणियों में श्रेष्ठ तथा विवेकशील प्राणी है। समाज एवं राज्य सभी संगठनों का मूल उद्देश्य व्यक्ति का हित है। मानव के विकास के लिये अधिकारों का होना आवश्यक है परन्तु जब किसी व्यवस्था में व्यक्ति स्वहित को ही जीवन एवं विकास का मूल केन्द्र समझ लेता है तथा लिंग, वर्ण, जाति, नस्ल के आधार पर भेद करने लगता है तब समाज में विचित्र स्थिति उत्पन्न होती है। यही मूल कारण है कि समाज में महिलाओं, बच्चों, कमजोर व अल्पसंख्यक वर्गों के अधिकारों के उत्पीड़न का मुद्दा समसामयिक समय में वैश्विक सरोकार का विषय बना हुआ है। किसी भी समाज का विकास वहाँ की महिलाओं की स्थिति एवं दशा पर निर्भर करता है। जिस समाज में महिलाओं की स्थिति सुदृढ़ और सम्मानजनक होगी, वह समाज उतना ही विकसित एवं मजबूत होगा। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है इसलिए वह अकेला नहीं रह सकता है, अतः वह अन्य व्यक्तियों के साथ रहता और जीता है। जीने के लिए हम दूसरे लोगों से अपनी आवश्यकताओं और सुविधाओं की मांग करते हैं, प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक अस्तित्व की कुछ मांगें होती हैं जिन्हें अधिकारों के नाम से अभिहित किया जाता है। इन्हें सामाजिक स्वीकृति मिलना भी आवश्यक है। अतः अधिकारों से अभिप्राय व्यक्ति की ऐसी मांग अथवा शक्ति है जिसका प्रयोग करते समय वह न केवल अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके बल्कि दूसरे व्यक्तियों के व्यक्तित्व के विकास में भी व्यवधान खड़ा न करे। अधिकार समाज द्वारा स्वीकृत होते है, ये परिवर्तनशील तथा असीमित नहीं हैं। अधिकार और कर्तव्यों का घनिष्ठ संबंध है। राज्य केवल अधिकारों को स्वीकृति प्रदान करता है, इनका आधार नैतिक है इसलिए अधिकार सब को समान रूप से दिये जाने चाहिए।[1] जब समाज द्वारा मान्यता प्राप्त दावे अधिकार का रूप ले लेते हैं तो यही मान्यता उन्हें अधिकार बना देती है। जब इन अधिकारों को राजनीतिक मान्यता मिल जाती है अर्थात जब वे राज्य द्वारा सुरक्षित हो जाते हैं तो वे वास्तविक अधिकार बन जाते है।

अतः अधिकारों की तिहरी प्रकृति है क्रमशः दावा, समाज द्वारा मान्यता एवं राज्य द्वारा मान्यता।[2] भारत में महिलाओं की स्थिति ऐतिहासिक रूप से संतोषजनक नहीं रही है। यद्यपि प्राचीन काल में कुछ भारतीय महिलाएं यथा गार्गी, विद्योत्तमा, सावित्री, सती आदि का नाम आदर के साथ लिया जाता है क्योंकि उन्होंने समाज में अपना स्थान स्वयं बनाया था। महिलाओं की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक दशा बदतर है क्योंकि उन्हें समान अवसर नहीं मिलते, समान प्रोत्साहन नहीं मिलता और समान पारिश्रमिक नहीं मिलता। पारम्परिक रूप से महिलाओं को बच्चे जनने, बच्चों का पालन-पोषण करने, पर्दा में रहने, पति, सास-ससुर आदि की सेवा करने, बिना भुगतान के घरेलू काम करने आदि की सीमित भूमिकाओं में ही देखने की परिपाटी रही है।[3]

लिंग भेद पर आधारित समाज में महिलाओं को दुनिया में अपनी आँखें खोलने से पूर्व गर्भावस्था से लेकर मृत्यु होने तक तरह-तरह की चुनौतियाँ, शोषण व अन्याय का सामना करना पड़ता है। इस दौरान उसे कन्या भ्रूण हत्या, कन्या शिशु हत्या, कुपोषण, बाल विवाह, अल्पायु में गर्भधारण, वधु हत्या, वृद्धावस्था की उपेक्षा, विधवा के रूप में नारकीय जीवन, वेश्यावृति, लैंगिक शोषण, शारीरिक व मानसिक पीड़ा जैसी चुनौतियों का सामना करना पड़ता है।

वैश्विक स्तर पर महिला अधिकार के चिंतन का आरम्भ सन् 1792 में प्रकाशित मेरी वाल्सटन क्राफ्ट की पुस्तक 'इंडिकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ वीमेन' से माना जाता है जो महिला अधिकारों की महत्वपूर्ण पुस्तक है। इसमें महिला अधिकारों पर बल दिया गया है जिसमें कहा गया है कि नैतिक रूप से स्त्री-पुरुष में भेदभाव नहीं किया जा सकता। महिला को अच्छा सामाजिक परिवेश और शिक्षा मिलनी चाहिए। इस बात को नकारा गया कि महिला बुद्धि के मामले में पुरुषों से कमजोर है तथा कोमलता उनका नैसर्गिक गुण है। स्त्री-पुरुष के समान अधिकार होने चाहिए। मेरी वाल्सटन क्राफ्ट उस समय की व्यवस्था की प्रखर आलोचना करती हैं जो आज्ञापरायण बन कर अन्य सभी चीजों को छोड़ कर अपने सौंदर्य के प्रति सजग होने के लिए स्त्रियों को प्रोत्साहित करती है। महिला अधिकार एवं सशक्तीकरण को समय-समय पर विचारकों ने भी अपने विचारों के माध्यम से सशक्त किया है। जिसमें प्रमुख विचारक मार्क्स और एंगेल्स, मेरी वेल्सटन क्राफ्ट, सीमोन द बूवा, बेही फ्रिडेन, शुलामिथ फायरस्टोन, केट मिलेट, रिबेका वाकर प्रमुख रूप से हैं। मार्क्स व एंगेल्स ने कहा है कि जैसे-जैसे महिलायें आर्थिक रूप से सशक्त आत्मनिर्भर होंगी, वैसे-वैसे उनकी मुक्ति होगी। मार्क्सवादियों का तर्क है कि जब पूंजीवादी व्यवस्था समाप्त हो जाएगी तब गृह कार्य सार्वजनिक उद्योग को सौंप दिया जाएगा और इसके पश्चात् महिलायें सार्वजनिक जीवन में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य कर सकेंगी।

महिलावादी आंदोलन को बढ़ावा देने के लिए पाश्चात्य स्त्रीवादी लेखिका सीमोन दी बूवो द्वारा लिखित पुस्तक 'दी सेकण्ड सैक्स' के माध्यम से महिलाओं पर होने वाले अन्याय, अत्याचार, दुख वेदना समाज के सामने रखने का प्रयास किया गया।[4] सीमोन ने आधुनिक नारीवादी विचारधारा की आधारशिला रखी। उनके अनुसार स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि बनाई जाती है। पूर्ण स्वाधीनता को उन्होंने स्वीकार किया तथा नारी मुक्ति के लिए नारी को अपने नारीपन से मुक्त होना आवश्यक बताया। इसी क्रम में पश्चिमी दुनिया में नये नारी अधिकारवाद ने जन्म लिया, जो नेही फ्रिडेन की पुस्तक 'दी फेमिनाइन मिस्टीक' में देखा जा सकता है। सन् 1960 में प्रकाशित इस पुस्तक में दूसरे विश्व युद्ध के बाद के अमेरिकी समाज में महिलाओं की स्थिति पर गहरा असंतोष व्यक्त करती है। शुलामिथ फायरस्टोन जैसी उत्कृष्ट नारीवादी लेखिका ने तर्क दिया कि आर्थिक परिवर्तन या आर्थिक शक्ति से ही स्त्रियों को बहुत ज्यादा लाभ होने वाला नहीं है। स्त्री शोषण को समाप्त करने का उचित उपाय यह है कि लिंग आधारित श्रम विभाजन को समाप्त कर दिया जाये। नारीवादी के समर्थक नारी शोषण, उत्पीड़न, अधीनता और अलाभ या हानि की स्थिति के कारणों और उनके दूर करने के उपायों के सम्बंध में आधारभूत अंतर रखते हैं तो कुछ अन्य मार्क्सवाद की उत्तर आधुनिक आलोचना को स्वीकार करते हैं, लेकिन समस्त नारीवादी विचारक एवं समर्थक यह मान्यतायें रखते हैं कि समसामयिक समाज में स्त्री पुरुषों की अपेक्षा अधिक लाभदायक या हानिकारक स्थिति में है तथा यह स्थिति प्राकृतिक या जीव वैज्ञानिक अंतर के कारण नहीं है बल्कि कृत्रिम रूप से निर्मित की गई है, जिसे बदला जा सकता है। समस्त नारीवादी विचारक स्त्री और पुरुषों के मध्य स्त्रियों की स्थिति और असमानताओं को केंद्रीय राजनीतिक मुद्दों के रूप में स्वीकार करते हुए इनमें परिवर्तन पर विचार करते हैं।

इसी क्रम में सन् 1975 में मैक्सिको, सन् 1980 में कोपेनहेगन, सन्1985 में नैरोबी और सन् 1994 में बीजिंग में अन्तर्राष्ट्रीय महिला सम्मेलन हुए। सन् 2000 में सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव अपनाया जिसमें सदस्य राज्यों से आग्रह किया गया कि वे क्षेत्रीय राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय

स्तरों पर कार्यरत संस्थाओं व व्यवस्थाओं में निर्णय-निर्मात्री निकायों में संघर्षों की रोकथाम, उनके प्रबंधन व समाधान के लिये महिलाओं की अधिकाधिक भागीदारी सुनिश्चित करें। अनिवार्य महिलावाद यह आग्रह करता है कि महिलाएँ पुरुषों से अभ्यांतरिक रूप से भिन्न हैं और इसलिये राजनीति में उनके योगदान में बड़ा अन्तर दिखाई देता है।

उदारवादी महिलावादी जीव वैज्ञानिक नियतिवाद को नकारता है, यह महिलाओं व पुरुषों में समानता पर बल देता है और इसलिये माँग करता है कि जो अधिकार व जिम्मेदारियाँ पुरुषों को प्राप्त हैं, वही महिलाओं को भी मिलनी चाहिये। उग्र महिलावाद महिलाओं के अपने अनुभवों पर आधारित एक नया परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करने का दावा करता है अर्थात् महिला पर पुरुष का वर्चस्व समाज में सत्ता का अत्यधिक आमूल रूप है और यह स्पष्टतया ऐसा है जिसका स्रोत जीवन के निजी क्षेत्र (जैसे परिवार व लैंगिक संबंध) से है। मार्क्सवादी महिलावाद पूँजीवादी व्यवस्था की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक संरचनाओं में महिला की हीन स्थिति का कारण ढूँढ़ता है।[5]

विश्व स्तर पर महिला मानवाधिकारों की स्थापना में संयुक्त राष्ट्र की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। संयुक्त राष्ट्र के घोषणा पत्र के अनुच्छेद प्रथम के बिन्दु 3 के अनुसार आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या मानव कल्याण सम्बंधी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना तथा मानव अधिकारों के लिए किसी प्रकार की जाति, लिंग, भाषा या धर्म पर आधारित किसी भेदभाव के बिना भावना को बढ़ावा और प्रोत्साहन देना संयुक्त राष्ट्र का ध्येय है। अनुच्छेद 8 के अनुसार संयुक्त राष्ट्र अपने मुख्य या सहायक अंगों में स्त्रियों और पुरुषों की किसी भी हैसियत से और समानता के आधार पर भाग लेने की पात्रता पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाएगा। अनुच्छेद 62 के अनुसार आर्थिक और सामाजिक परिषद मानवाधिकारों और सभी के लिए आधारभूत स्वतंत्रताओं के प्रति सम्मान बढ़ाने तथा उनके अनुपालन के लिए आधारभूत स्वतंत्रताओं के प्रति सम्मान बढाने तथा उनके अनुपालन के लिए सिफारिशें कर सकती हैं। संयुक्त राष्ट्र के घोषणा पत्र के अनुच्छेद सात के बिन्दु दो के अनुसार सन् 1946 में संयुक्त राष्ट्र के आर्थिक एवं सामाजिक परिषद द्वारा महिलाओं की स्थिति पर आयोग की स्थापना की गई। इस आयोग का उद्देश्य महिलाओं की स्थिति पर दृष्टि रखना तथा उनके अधिकारों का विकास करना है। आयोग महिलाओं से संबंधित प्रत्येक मुद्दे पर सिफारिश एवं रिपोर्ट तैयार करता है।[6]

विकासशील देशों में महिलाओं की दशा में सुधार से जनसंख्या की वृद्धि पर रोक लगेगी। इसका अंतर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र पर भी प्रभाव पड़ेगा। महिलाओं के आंदोलनों के कारण यह मान लिया गया है कि युद्ध में महिलाओं का बलात्कार युद्ध संबंधी अपराध माना जायेगा। सन् 1993 में ऐमनेस्टी इन्टरनेशनल ने लैंगिक आधार पर राजनीतिक अत्याचारों के बारे में अपनी सूची में महिलाओं के मानव अधिकारों को मान्यता दी। वर्तमान भूमण्डलीकरण के युग में महिलावादी संगठन यह पुरजोर माँग करते है कि सुरक्षा, कूटनीति व राजकाज के क्षेत्रों में महिलाओं की भूमिका को पहचान कर उनके साथ न्याय किया जाये साथ ही विश्व के सभी भागों में महिलाओं को कष्ट, आतंक, शोषण, दासता, अपमान आदि से बचाया जाये जिससे वे सुरक्षित व अच्छा जीवन व्यतीत कर सके। अतः विश्व के विभिन्न भागों में चल रहे इस प्रकार के आंदोलनों को अन्तर्राष्ट्रीय संबंध व राजनीति के विषय में स्थान दिया जाना चाहिये।

भारत के संविधान में महिलाओं के लिये विभिन्न अधिकारों की व्यवस्था की गयी है। साथ ही समय-समय पर विभिन्न विधिक प्रावधानों के द्वारा इन्हें पुष्ट करने का कार्य भी किया गया तथा न्यायपालिका ने भी अपने महत्वपूर्ण निर्णयों के माध्यम से महिलाओं के अधिकारों को शक्ति सम्पन्न किया है। महिला उत्थान विषयक विचारधारा के प्रभाव एवं स्वतंत्रता के पश्चात् आधुनिक भारतीय राजनीतिक व्यवस्था द्वारा राज्य के कल्याणकारी स्वरूप को स्वीकार करते हुये भारत में महिलाओं की दयनीय स्थिति को देखते हुये उनके लिये विकास के प्रावधान किये गये। भारतीय संविधान के अन्तर्गत महिलाओं एवं पुरुषों को समान दर्जा एवं अधिकार प्रदान किये गये है। सरकार द्वारा प्रत्येक स्तर पर महिला विकास के अनेक कार्य किये गये तथा वर्तमान में भी महिला विकास के लिये अनेक योजनायें व कार्यक्रम संचालित किये जा रहे हैं। महिलाओं के सशक्तीकरण एवं संरक्षण के संबंध में नये कानून बन रहे हैं, लेकिन उनकी क्रियान्विति न्यून है। वर्तमान में पिता, पति व पुत्र के संरक्षण के अतिरिक्त भी महिलाओं का स्वतंत्र अस्तित्व भी है ऐसी सोच शिक्षित व आधुनिक कही जाने वाली महिलाओं में भी विकसित नहीं हो सकी है।

भारतीय संविधान के अन्तर्गत महिलाओं के लिये अनेक अधिकारों की व्यवस्था की गयी है व समय-समय पर विभिन्न विधिक प्रावधानों से इन्हें पुष्ट करने का कार्य भी किया गया है व न्यायपालिका ने अपने निर्णयों के द्वारा महिलाओं के अधिकारों को मजबूत किया है। भारत में महिला-पुरुष को समान दर्जा व अधिकार प्रदान किये गये

है। महिला विकास के अनेक कार्य तथा योजनाओं व कार्यक्रम संचालित किये जा रहे हैं। संसद द्वारा महिला अधिकारों को मजबूत करने के लिये विभिन्न अधिनियम बनाये। भारतीय संविधान के भाग 3 के अन्तर्गत मौलिक अधिकार दिये गये है। ये अधिकार महिलाओं को भी समान रूप से प्राप्त है, जैसे समता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, शोषण के विरूद्ध अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, संस्कृति एवं शिक्षा संबंधी अधिकार, संवैधानिक उपचारों का अधिकार है। इसी प्रकार भाग-4 के अन्तर्गत नीति निर्देशक तत्वों का समावेश किया गया है, जिनके माध्यम से आर्थिक एवं सामाजिक लक्ष्यों को निश्चित किया गया है, जिन्हें सरकार द्वारा प्राप्त किया जाना चाहिए। इसके अन्तर्गत आय की असमानता दूर करना, पुरुष एवं महिलाओं को समान कार्य का समान वेतन, समान न्याय एवं निःशुल्क विधिक सहायता उपलब्ध करवाना, काम न्याय संगत एवं मानवोचित दशायें व प्रसूति सहायता, पोषण एवं उच्च जीवन स्तर। यद्यपि ये सिद्धांत न्यायिक प्रवर्तनीयता के अन्तर्गत नहीं आते थे, संवैधानिक दिशा निर्देश है, जिनसे राज्य बंधा हुआ है।[7] इन सिद्धांतों द्वारा आर्थिक व सामाजिक तत्वों का समावेश किया गया है। जिन्हें विभिन्न सरकारों (केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार) द्वारा प्राप्त किया जाना चाहिये। ये दिशा निर्देश निश्चित दिशा में सकारात्मक प्रयासों हेतु राज्य पर कुछ बाधायें आरोपित करते हैं, जो कि लोक कल्याण को प्रोत्साहित करें। इसी क्रम में भारत के संविधान के अनुच्छेद 51 क(द) में वर्णित मूल कर्तव्य को लिया जा सकता है। इसके अधीन भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होगा कि यह भारत के सभी लोगों के समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का विकास करें, जो धर्म, जाति, भाषा, प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो और ऐसी प्रथाओं का त्याग करें जो स्त्रियों के सम्मान के विरूद्ध हो।[8]

भारतीय संविधान के अतिरिक्त विभिन्न संहिताओं, अधिनियमों के अन्तर्गत भी महिलाओं को अधिकार प्राप्त हैं जैसे-कारखाना अधिनियम 1948, खान अधिनियम 1952, हिन्दू विवाह अधिनियम 1955, दहेज प्रतिषेध अधिनियम 1961, सती कार्य (प्रतिबंध) अधिनियम 1987 कानून सती होने अथवा उसको महिमामंडित करने को दण्डनीय अपराध मानता है। भारत में पुरुषों की तुलना में महिलाओं को कम भुगतान किया जाता है और असंगठित क्षेत्रों में यह समस्या ज्यादा दयनीय है, मुख्य रूप से दिहाड़ी मजदूरी जगहों पर तो यह सबसे खराब स्थिति में है। समान कार्य को समान समय तक करने के पश्चात् भी महिलाओं को पुरुषों की अपेक्षा काफी कम भुगतान किया जाता है और इस तरह का व्यवहार महिलाओं और पुरुषों के बीच शक्ति असमानता को प्रदर्शित करते हैं। संगठित क्षेत्र में कार्य करने वाली महिलाओं को अपने पुरुष समकक्षों की तरह समान अनुभव और योग्यता होने के बाद भी पुरुषों की अपेक्षा कम भुगतान किया जाता है, यद्यपि भारतीय संविधान में व्यवस्था दी गयी है कि महिला और पुरुष को समान कार्य के लिये समान वेतन दिया जाये। इस व्यवस्था को सख्ती से लागू करने के लिये एक कानून की आवश्यकता थी। इस हेतु समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976 निर्मित किया गया। घरेलु हिंसा से महिलाओं का संरक्षण अधिनियम 2005 यह अधिनियम घरेलु स्तर पर हिंसा या प्रताड़ना से महिला को सुरक्षा प्रदान करता है। बाल विवाह प्रतिबंध अधिनियम में बाल विवाह को रोकने के लिए अधिक सशक्त प्रयास किये है। इसके अन्तर्गत दण्ड के प्रावधानों को अधिक सशक्त किया गया है।

महिला अधिकारों के संरक्षण के लिए सन् 1992 में राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन किया गया है। महिलाओं के अपराध से जुड़ी कार्यवाही के लिए राष्ट्रीय महिला आयोग को दीवानी (सिविल) अदालत के अधिकार प्राप्त हैं। इसलिए आयोग में वकील और कानूनी सेल की सुविधा है। राष्ट्रीय महिला आयोग व राज्य महिला आयोग महिलाओं के अधिकारों के संरक्षण के लिये कार्य करता है। विगत 25 वर्षों के दौरान राष्ट्रीय महिला आयोग महिलाओं को जीवन के सभी क्षेत्रों में समानता का अधिकार दिलाने के लिए प्रयत्नशील रहा है। इसके लिए इस आयोग ने उन्हें समुचित अधिकार दिलाएं है और इन उद्देश्यों के लिए समुचित नीतियां और कानून बनाने तथा उन्हें लागू करने में मदद की है। आयोग महिलाओं के कानूनी, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विकास के लक्ष्य प्राप्त करने और उन्हें सशक्तीकरण के लिए वचनबद्ध है।[9]

महिलाओं को राजनीतिक रूप से सशक्त बनाने के लिए सन् 1993 में 73 वें और 74 वें संविधान संशोधन द्वारा भाग 9 में अनुच्छेद 243 (घ) तथा भाग 9 के अनुच्छेद 243 (न) के अन्तर्गत ग्राम पंचायतों एवं नगरपालिकाओं में एक तिहाई स्थान महिलाओं के लिये आरक्षित किये गये हैं जिससे देश के राजनीतिक सामाजिक जीवन में महिला सक्रिय भागीदारी कर सकें। इस व्यवस्था के कारण देश के सभी प्रान्तों में ग्रामीण व शहरी पंचायतों के सभी स्तरों पर महिला जनप्रतिनिधियों के रूप में लाखों महिलायें अपनी भूमिका को निभा रही है, साथ ही इसके अन्तर्गत अनुसूचित

जाति और अनुसूचित जनजाति की महिलाओं के लिए भी स्थान आरक्षित किये गये है जिससे पारम्परिक पुरूष प्रधान, निर्णय लेने वाले समाज में वर्तमान समय में निर्णय प्रक्रिया में महिलाओं की भागीदारी होने लगी है। भारत में पुरूष और महिलाओं को समान अधिकार प्रदान किये गये है। संविधान के अनुच्छेद 325 के अनुसार निर्वाचन नामावली में पुरूष व महिला को समान रूप से मत देने और चुने जाने का अधिकार प्रदान किया गया है।[10]

अतः निष्कर्षतः वर्तमान में महिलाओं को उक्त अधिकार होने के पश्चात् भी उनकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थिति विचारणीय है। वे पुरूषों से विकास के संकेतकों के संदर्भ में पीछे है। प्रौद्योगिकी के विकास से उनको घरेलू कार्यों में कुछ सुविधा प्राप्त हुई है, लेकिन उनके अस्तित्व पर एक अन्य तकनीक मादा भ्रूण की पहचान मशीन ने ग्रहण लगाया है। राजनीतिक भागीदारी के संदर्भ में भी महिलाओं की स्थिति शोचनीय है। यद्यपि आर्थिक रूप से बहुत कम महिलायें आत्मनिर्भर हो पाई है, परन्तु उन्हें भी अपने आर्थिक कार्य के अतिरिक्त घर के कार्य भी करने पड़ते है जिससे उन्हें दोहरी भूमिका का निर्वहन करना पड़ता है। इसके अलावा यह अत्यन्त चिंताजनक है कि महिलाओं के विरूद्ध कई प्रकार के अपराधों की संख्या बढ़ रही है जो निश्चित रूप से सभ्य समाज के विपरीत है। महिला अधिकार का प्रश्न समाज के स्थायी एवं संतुलित विकास के लिये नितांत आवश्यक है और यह पुरूष तथा महिलाओं की सार्थक सहभागीता से ही संभव है। देश व समाज को अपनी परम्परागत सामंती सोच में परिवर्तन एवं समता आधारित महिला-पुरूषों के आपसी संबंधों को व्यवस्थित तरीके से बढ़ाना होगा तथा उन्हें अधिक स्वतंत्रता, समानता व सम्मान देना होगा। इस प्रकार के प्रयासों से ही महिला अधिकारों की वास्तविक रूप से प्राप्ति होगी व समाज सशक्त होगा।

संदर्भ

1. ब्रजमोहन शर्मा एवं अनाम जैतली, राजनीतिक विज्ञान के मूल आधार, राजनीतिक विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, 1982, पृ. 288-289
2. जे.सी. जौहरी, आधुनिक राजनीतिक विज्ञान के सिद्धांत, स्टार्लिंग पब्लिशर्स प्रा. लि. नई दिल्ली, 2010 पृ. 139-140
3. सुभाष शर्मा, भारतीय महिलाओं की दशा, आधार प्रकाशन, पंचकुला (हरियाणा), 2006, पृ. 289
4. मनोज कुमार का लेख, ''भारत में महिलाओं की राजनीति में सहभागिता'' (सम्पादक चन्द्र प्रकाश बर्थवाल), राजनीति विज्ञान शोध पत्रिका, मेरठ, अंक द्वितीय, जुलाई-दिसम्बर 2015, पृ. 246
5. जे. सी. जोहरी, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध तथा राजनीति, स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2001, पृ. 217
6. एम. के. सिंह एवं आशुतोष कुमार, संयुक्त राष्ट्र संघ, कल्पना पब्लिशर्स, दिल्ली, 2003, पृ. 265
7. अंजली कांत, महिला एवं बाल कानून, सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन्स, इलाहबाद, 2005, पृ. 85
8. दीपा जैन, महिला सुरक्षा एवं महिला पुलिस, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2007, पृ. 36
9. ममता शर्मा का लेख, राष्ट्रीय महिला आयोग : सशक्तीकरण के बीस वर्ष, स्त्री सशक्तीकरण, योजना, नई दिल्ली, जून 2012, पृ. 17
10. आर.पी. जोशी, मानव अधिकार एवं कर्तव्य, अभिनव प्रकाशन, अजमेर, 2006, पृ. 129

डा. अनिल कुमार शर्मा
सहायक आचार्य राजनीति विज्ञान
राजकीय महाविद्यालय राजगढ़ (अलवर)

मीरा और महादेवी का तुलनात्मक अध्ययन

–मनिशा ठाकुर (शोधार्थी)
–डा. संजु झा

महादेवी का नाम लेते ही मीरा की छवि याद आ जाती है, ठीक उसी तरह जैसे कश्मीर की तुलना स्वर्ग सेहोती है। भक्तिकालीन कवयित्री संत मीराबाई तथा छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा की तुलना व्यक्ति वेदना के साथ काव्य वेदना की भी है। ये दोनों अपने समय की सृष्टि रचयिता हैं। मीरा और महादेवी हिंदी साहित्य के दो भिन्न युगों की प्रसिद्ध कवयित्रियाँ हैं। वर्तमान में भी दोनों का जीवन आदर्श के योग्य है। फलतः दोनों की तुलना करना निश्चित ही एक महत्त्वपूर्ण विषय है। किन्हीं दो वस्तुओं या व्यक्तियों को कतिपय समान गुणों के आधार पर पूर्णतया जानने के लिए परीक्षण ही तुलना का सामान्य अर्थ है। रेनवे लेक के मतानुसार–'तुलना में वस्तुओं को कुछ इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें उनमें साम्य या विषमता का पता लग सकें।' तुलना के लिए सत्य की खोज करना आवश्यक होता है। साथ ही निष्पक्षता भी उतना ही महत्त्वपूर्ण पहलु है। मीरा और महादेवी के काव्य व जीवन में भी पर्याप्त समानता और विषमता है। संत मीराबाई बचपन से ही धार्मिक थी और महादेवी का स्वभाव बचपन से अंतर्मुखी था। छोटेपन से ही मीरा के जीवन में मातृ-प्रेम का अभाव रहा है। धार्मिक पितामह दूदा ने उनकी परवरिश की थी। मीरा के संस्कारों के साथ परिवार की धार्मिकता का अच्छा मेल था। इन संस्कारों में उनकी शिक्षा विशेष महत्व रखती है। वहीं अपनी माता से महादेवी को बहुत दुलार नसीब हुआ। घर में नाना व माता-पिता धार्मिक प्रवृत्ति के थे। पारिवारिक संस्कारों के कारण उनके जीवन को विशेष आकार मिला। उनके व्यक्तित्व को शिक्षा-दीक्षा ने बखूबी निखारा।

बाल्यावस्था में मीरा का श्रीकृष्ण की मूर्ति पाने की जिद व पड़ोस के विवाह में उन्हें गिरिधर की दुल्हन बताकर उनकी माता ने मजाक किया। इसका बालिका मीरा के मन पर बहुत असर हुआ एवं वह जीवन भर कृष्ण को अपना पति मानती रही। वहीं बचपन में अजनबियों के घर बिना इच्छा के ब्याही जाने के कारण महादेवी का हृदय कुटुंब के प्रति जहर से भर गया। अतः सांसारिक जीवन से उन्होंने सदा-सदा के लिए मुख मोड़ लिया। सामान्यतः मीरा अपने पति संग खुश थी, वहीं महादेवी अपने कौटुंबिक जीवन से नाखुश। अपने जिद्दी प्रवृत्ति के कारण महादेवी ने दांपत्य जीवन के लिए कभी कोशिश ही नहीं की। बाल्यावस्था से ही उनके मन में पति के प्रति विद्रोह की भावना विद्यमान थी। शादी के कुछ समय

बाद ही पति की मृत्यु के कारण मीरा अनुरक्त हो गई। मीरा में विरक्ति की भावना एवं वैराग्य उनके वैधव्य तथा उन्हें दी जानेवाली पारिवारिक प्रताड़नाओं के उपरांत ही प्रतिफलित हुआ। वहीं सरलता, मनन व वैराग्य प्रवृत्ति के चलते वैवाहिक जीवन से महादेवी की दूरी बनती गई। उनके दांपत्य जीवन को कभी स्वीकृति नहीं मिल पाई, जिससे उनके स्त्रीत्व को और शक्ति मिली।

दोनों का जीवन बोध कटु सत्यों पर आधारित है। असीम यातनाओं के कारण मीरा की आध्यात्मिकता प्रतिफलित हुई, तो आक्रोश जन्यता के चलते महादेवी की आध्यात्मिकता उपजी थी। परंतु पीड़ा तो दोनों के हृदय में थी। मीरा की प्रस्तुति लौकिक के साथ आध्यात्मिक भी है, वहीं महादेवी की अभिव्यक्ति सिर्फ आध्यात्मिक है। मीरा के युग में भारत में विदेशी शासक थे, लेकिन राजपरिवार आजाद थे तथा महादेवी के काल में पूरे भारत पर अंग्रेजों की हुकुमत थी। अतः राजनीतिक दृष्टि से दोनों का युग पराधीन था, जिसका दोनों पर भिन्न असर हुआ। महादेवी के काल में नारी को श्रद्धा पात्र माना गया जो कभी मीरा के काल में तिरस्कृत हुआ करती थी। मीरा सामंती समाज में रहकर स्त्री मुक्ति का स्वप्न देखती हैं, वहीं महादेवी परतंत्र भारत में रहकर नारी मुक्ति की आशा रखती हैं। इस प्रकार दोनों के काव्य में स्त्री की आजादी के लिए तीव्र इच्छा दिखाई देती है। मीरा और महादेवी के युगीन परिस्थिति में स्त्री दशा में काफी अंतर था। दोनों युग की सामाजिक दशा अलग थी। मीरा का युग सामंतवादी था, जिसका कारण तत्कालीन समाज में नारी जीवन की विकल्पहीन दशा और अंधकार पूर्ण भविष्य था। वहीं महादेवी का युग नवोत्थान का था।

मीरा के गीतों में जो विसर्जन, विरीहता एवं विषमता है, महादेवी के गीतों में इन सब की कमियों को महसूस किया जा सकता है। मधुर भावना दोनों कवयित्रियों के गीतों में समान रूप से है। परंतु महादेवी का प्रणय निवेदन मीरा की तरह चंचल नहीं है। आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी ने लिखा है-''जहाँ पूर्ववर्ती भक्तिकाव्य में जीवन के लौकिक और व्यवहारिक पहलुओं को गौण स्थान देकर उनकी उपेक्षा की गई थी, वहीं छायावादी काव्य प्राकृतिक सौंदर्य और सामयिक जीवन परिस्थितियों से मुख्यतः अनुप्राणित है।''[1] स्पष्टतः भक्तिकाल की अपेक्षा छायावाद में सौंदर्य को अधिक गरिमा प्राप्त हुई है। दोनों युग के धार्मिक परिवेश में भिन्नता थी। भक्तियुग में धर्म के मूल्य महत्वहीन थे तथा छायावादी युग में धर्म व संस्कृति के पुनरोत्थान का बोलबाला था। दोनों की जीवन पद्धति में हमें धर्म के बाह्यचरों की अपेक्षा धर्म के आंतरिक स्वरुप के दर्शन मिलते हैं। सामान्यतः दोनों का रचना संसार तुलना के योगय है। मीरा ने कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष को अधिक महत्व दिया है। मीरा ने अपनी अनुभूतियों को काव्यात्मक साँचे में कभी नहीं ढाला, क्योंकि वे कवयित्री नहीं थी। अतः वह अपनी पीड़ा को ज्यों-की-त्यों पाठकों के सामने रखती है। परंतु महादेवी की अभिव्यक्ति काव्य कला की बारीकियों से सराबोर है। फलतः उनकी अभिव्यक्ति में काँट-छॉट के चिन्ह् भी मिलते हैं। महादेवी का काव्य सत्य बोध, भावना औदात्य, जीवन सौंदर्य एवं विश्व कल्याण की दृष्टि से भी महान है। मीरा के गीतों में शाश्वत प्रेम साधना के भाव स्तरों की अनुभूतिगम्य अभिव्यंजना हुई है। दोनों कवयित्रियों की अनुभूति अलग-अलग है। दोनों की रचनाओं में मानव अनुभूति एवं विरहयुक्त प्रेमाभिव्यक्ति हुई है, वहीं संयोग श्रृंगार वर्णन अत्यल्प हुआ है।

स्वप्न को माध्यम बनाकर दोनों ने अपना संयोग वर्णन किया है। 'मीरा की पदावली' में मीरा कहती हैं– 'माई म्हाँणे सुपणा माँ परव्याँ दीननाथ। छप्पन कोटाँ जवां पधारयाँ दूल्हो सिरी ब्रजनाथ।' वहीं महादेवी 'नीहार' में लिखती हैं–'कैसे कहती हो सपना है, अलि? उस मूक मिलन की बात।' इस प्रकार वे दोनों अपनी प्रेम भावनाओं को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त करती हैं। दोनों की रचनाओं मेंव्यापक मानवीय प्रेम की भरमार है। 'प्रेम' दोनों की काव्यानुभूती, जीवनानुभूति एवं भक्ति अनुभूती का केंद्रीय तत्व है। मीरा को अपने लौकिक प्रेम में यश की प्राप्ति होती है और महादेवी को अपयशकी। अतिशय बौद्धिकता के कारण महादेवी ने अपनी अभिव्यक्ति को लौकिकता का जामा पहना दिया है। वहीं मीरा की अभिव्यक्ति में भी लौकिक विरह की तीव्रता है। दोनों का प्रेम वासना की दुर्गंध से परे है। अपने सात्विक प्रेम प्रदर्शन में महादेवी मीरा के समान अस्थिरता एवं व्यग्रता से अपनी रक्षा करने में पूरी तरह से सफल एवं सक्षम है। महादेवी को मिलनके नाम से भी कष्ट है। इसके प्रतिकूल मीरा मिलन के लिए सारी तकलीफें झेलने को तैयार हैं,पर दोनों कवयित्रियों के मिलन भाव में समानता दिखाई देती है।

व्यग्रता के साथ उत्कंठा जैसी मनोभावनाओं का चित्रण भी दोनों ने समान रूप से किया है। दुर्भाग्यवश दोनों के प्रिय उन्हें सिर्फ कल्पना में ही मिले हैं, प्रत्यक्ष रूप में नहीं। अतः दोनों के पास विरह की अगाध राशि है। दोनों ने अपने प्रणय भावना की अभिव्यक्ति अत्यंत मर्यादित ढ़ंग से की है, पर महादेवी में मीरा-सी तन्मयता का सर्वथा अभाव ही देखने को मिलता है। महादेवी का प्रणय भाव रहस्यात्मक, तो मीरा का प्रणय भाव माधुर्य है। दोनों के काव्य में प्रेयसी का मान, मीठा उपालंभ एवं दैन्य भाव मिल गया है।

'मीराबाई की पदावली' के अनुसार-'विरह समॅद में छोड़ गया छो, नेह री नाव चलाय। मीराँ रे प्रभु कबरे मिलोगे, थे विणा रहयाँ ना जाय।' उसी प्रकार महादेवी वर्मा अपने 'नीहार' में लिखती हैं-'फिर भी इस पार ना आवे, जो मेरा नाविक निर्मम, सपनों से बाँध डुबाना, मेरा छोटा-सा जीवन।' मीरा की विरहानुभूति में कष्टों की तीव्रता एवं विवशता है, वहीं महादेवी में छटपटाहट एवं बैचेनी का अभाव है। विरह भावना की तीव्रता दोनों के गीतों में इलकती है। मीरा ने श्रृंगार त्याग दिया है। महादेवी भी कष्टों से जूझती हैं।

महादेवी मीरा की भाँति प्रेम करके पछताती नहीं है, बल्कि प्रिय आगमन का आभास होते ही वह भी मीरा जैसी ही अस्थिर हो जाती है। मीरा का काव्य दिव्य प्रेम एवं विरह पर आश्रित है, जो एक ओर उसे हृदग्राही बनाता है तो दूसरी ओर उनके काव्य विषय को अत्यंत विस्तिर्ण कर देता है। वहीं महादेवी के काव्य में वैराग्य भावना का प्राधान्य है। मीरा की वेदना जीवन से संबंधित है तथा महादेवी की वेदना कल्पना से। फलतः मीरा कीपीड़ा आत्मा के तारों को झकझोर देती हैं, वहीं महादेवी की पीड़ा केवल कौतुहल भर उत्पन्न कर पाती है। मीरा वेदना से मुक्ति के अनेक प्रयत्न करती हैं और महादेवी निःचेष्ट हैं। दोनों के गीतों में वेदना की अभिव्यंजना अपनी चरम स्थिति में हैं। महादेवी की शैली आधुनिक है व मीरा ने पद शैली का प्रयोग किया है। मीरा की वेदना पाठकों को रूला देती है। फलतः पाठक मीरा की वेदना से शीघ्र ही तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वहीं महादेवी की वेदना पाठकों के ह्रदय में कुतुहल की भावना का प्रादुर्भाव कराती है। मीरा की वेदनाभिव्यक्ति स्थूल है, तो महादेवी की सूक्ष्म है । निष्कर्षतः मीरा की वेदना सर्वग्राह्य है और महादेवी की वेदना अल्पग्राह्य है।

संत मीराबाई के गीतों में स्पष्टता है। उनकी स्वयं की शिल्प विधि कुछ भी नहीं थी। वहीं विरह की पीड़ा एवं मिलन की उत्कंठा जैसी माधुर्य भावनाओं को गोपनीय रखने का प्रयास कवयित्री महादेवी के शिल्प की अनुठी विशेषता रही है। मीरा के काल की काव्यभाषा ब्रज थी तथा महादेवी के काल की खड़ी बोली। मीराबाई की काव्य भाषा में विलियता है एवं जटिल अनुभूतियों के कारण महादेवी के काव्य भाषा में क्लिष्टता आ गई है। मीरा के पद सांकेतिक है और महादेवी के गीत प्रतीकात्मक। महादेवी ने अपनी भाषा की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया है। व्याकरण के नियमों से वे जकड़ी हुई है। अतः वे मीरा की भाँति शब्दों को तोड़-मरोड़कर प्रयोग में लाने का साहस नहीं कर सकी। गेय पद दोनों ने रचे हैं। महादेवी के गीति काव्य में अनेक भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। उनके गीत मीरा की भाँति हृदयग्राही अवश्य है, किंतु सर्वग्राही नहीं है। मीरा का दैन्य भाव भगवान-भक्त एवं पति-पत्नी के संबंध को दर्शाता है, जिसमें एक की स्थान सतत ऊंचा बना रहता है, वहीं महादेवी की मानावस्था उनके और प्रियतम के समान महत्व को दर्शाता है।

मीरा ने लौकिक रूप में अपने अलौकिक गिरिधर के प्रेम का वर्णन किया है। वहीं महादेवी ने प्रतीकों के माध्यम से अपने प्रेम को अभिव्यक्त किया है। अतः उनकी अलौकिक वेदना रहस्यात्मक बन गई है। यद्यपि मीराबाई व महादेवी जी के काव्याभिव्यक्ति और रहस्य भावना में बड़ा अंतर है, पर हमें उनकी विरह भावना, पीड़ा, माधुर्य भावना एवं प्रिय के प्रति अखंड़ समर्पण की भावनाओं में अद्भुत समानता मिलती है। महादेवी के रहस्यवाद में वैयक्तिकता एवं भावात्मकता है और संत मीराबाई की रहस्य साधना में बौद्धिकता है। मीरा में अनुभूति की गहराई है, तो महादेवी में विचारों और कल्पनाओं की ऊँचाई । मीरा घट-घट में वास करनेवाले भगवान को अपने से भिन्न नहीं समझती—''तुम बीच अंतर नाहीं। जैसे सूरज गामा।''[2]

उसी प्रकार महादेवी वर्मा कण-कण में बसनेवाले सर्वव्यापी ईश्वर को खुद से अलग नहीं मानती—'मैं तुमसे हूँ एक-एक है, जैसे रश्मि प्रकाश।' दोनों संसार की शोभा एवं सौंदर्य का निमित्त कारण ईश्वर को स्वीकार करती है। कामनाओं से लेकर आत्म त्याग तक के सभी तत्व छायावादी महादेवी तथा भक्तिकालीन मीरा के काव्य में विद्यमान है। केवल उनके साधना में यह भिन्नता दिखाई देती है कि मीरा ने प्रेम और साधु संगत को आधार बनाकर साधना की है तथा महादेवी ने तृष्ण मुक्ति और करुणा को अपने साधना सिध्दि के लिए मुख्य माना है।

मीरा ने रहस्यात्मक अभिव्यक्ति को यदा-कदा ही अपनाया है और महादेवी ने प्रारंभ से ही अपनी अभिव्यक्ति को अत्यंत रहस्यपूर्ण बना दिया है। अलौकिक प्रियतम के प्रति माधुर्य भाव की उपासना दोनों के गीतों में समान रुप से मिलती है, परंतु दोनों के प्रेम आलंबन में अंतर है। पुरुष द्वारा बनाए गए रुढ़ियों को दोनों ने तोड़ा है। अतएव मीरा कहती हैं- 'भाई मैं तो सांवरे रंग रांची, साजि सिंगार बांधि पग घुँघरु, लोकलाज तजि नाची।' वहीं महादेवी का कहना है- 'तोड़ दो यह क्षितिज, मैं भी देख लूँ उस पार क्या है?'

मीराबाई का विद्रोह प्रत्यक्ष, निर्भय एवं निर्द्वंद्व आत्माभिव्यक्ति है जब कि महादेवी का विद्रोह प्रतीक रूपी एवं एक शालीन सा रोब-दाब रुप में प्रकट है। मीरा के गीतों में आत्मोसर्ग की अभिव्यंजना बहुलता के साथ हुई

है। इसके विपरीत महादेवी के गीतों में आत्म समर्पण की भावना का नितांत अभाव-सा है। अपने व्यक्तित्व को मिटाना उन्हें इष्ट नहीं है। वेदना और करुणा का सघन प्रसार दोनों के गीतों में समान रूप से व्याप्त है। मीरा अपनी वेदना से संत्रस्त होकर उससे मुक्त होने के लिए तड़पती हैं। वहीं महादेवी अपनी वेदना से मीरा की भाँति ही दुःखी हैं, किंतु वे उससे मुक्ति नहीं चाहतीं।

महादेवी के गीतों में सौंदर्य भावना की अभिव्यंजना उनकी कलात्मक संवेदनशीलता का परिचायक है। इसके प्रतिकूल मीरा ने इस प्रकार अपने गीतों में सौंदर्य चित्रण नहीं किया है। सौंदर्य अभिव्यक्ति के कारण महादेवी के गीतों में सजीवता आ गई है, जिसका हमें मीरा के गीतों में सर्वथा अभाव ही दिखाई देता है। समसामायिक परिस्थितियों से दोनों कवियित्रियों के सर्जन पर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रभाव पड़े हैं, मीरा और महादेवी वर्मा के आरंभिक जीवन की स्थितियाँ यद्यपि भिन्न थीं, परंतु उन्हें अलौकिक सत्ता की ओर उन्मुख करनेवाली परिस्थितियों में समानता थी।

दोनों ही ने वर्णगत, जातिगत, भेद-भावों, सामाजिक रुढ़ियों एवं अधर्म का विरोध किया है। महादेवीजी मीराबाई की मान्यताओं का पिष्टपेषण तो नहीं करती, परंतु अपनी एक नई परंपरा का निर्माण करती हैं। दोनों ने ही अपनी परोक्ष अभिव्यक्ति में आत्मा और परमात्मा का वर्जन किया है। प्रिय को रिझाने हेतु मीरा श्रृंगार के लिए भौतिक प्रसाधनों का सहारा लेती हैं, जबकि महादेवी अलौकिक प्रसाधनों का उपयोग करती हैं। मीरा के काव्य में उनकी भावनाओं का आलंबन श्रीकृष्ण है तो महादेवी का रहस्य पुरुष है। अतः दोनों के प्रिय अलौकिक होते हुए भी इस लोक से जुड़े हुए हैं।

मीरा के गीतों में आसक्ति की भावना अन्य भावनाओं का केंद्र है, जिसके कारण उनके गीतों में कृष्ण के प्रति दृढ़ अनुराग की भावना अभिव्यांजित होती है। स्वप्न में भी वे अपने गिरिधर की छवि को देखती हैं। उसे वे पल भर के लिए भी विस्मृत नहीं करना चाहतीं। उनकी इस आसक्ति में उत्तेजना है। उसी प्रकार महादेवी की भी किसी से आसक्ति है। किंतु वह अज्ञात है, जिसके साथ 'कौन?' का प्रश्न जुड़ा है। इस अनजानेपन के बावजूद उनकी आसक्ति में दृढ़ता एवं मजबूती है। वे नीर भरी बदली का रूप धारण कर अपने को मिटा देना चाहती हैं।

मीराबाई की परोक्ष अभिव्यक्ति में स्वाभाविकता है, जबकि महादेवीजी की परोक्ष अभिव्यक्ति में कृत्रिमता दष्टिगोचर होती है। मीरा के पदों में प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति अपनी चरम सीमा लाँघ चुकी है। उनका प्रेम लौकिक धरातल पर अलौकिक मूर्ति की स्थापना करता है। प्रत्यक्ष होते हुए भी परोक्ष एवं परोक्ष होते हुए भी वह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। वहीं महादेवी खुलकर अपनी पीड़ा को अभिव्यक्ति करने में असफल रही हैं। अतएव उनकी अभिव्यक्ति में स्पष्टता का अभाव है। फलतः महादेवी का काव्य क्षेत्र असमतल व मीरा का काव्य क्षेत्र समतल है।

मीरा का काव्य निश्छल प्यार का सफल सुमधुर उद्‌गार है और महादेवी का गान निर्गुण निराकार के रूपांकन का प्रेममय प्रयास है। महादेवी में कला की निपुणता है व मीरा में भावना का पारदर्शीपन। महादेवी में गौरव का एक स्थिर गंभीर भाव है और मीरा सर से पैर तक सरल और तरल है। वस्तुतः दोनों कवियित्रियों ने प्रत्यक्ष भौतिक जगत की क्षणभंगुरता को महसूस कर लिया था। फिर भी दोनों ही में जीवन त्याग की भावना कभी भी प्रतिफलित नहीं हुईं। दुःख, पीड़ा, शोषण एवं प्रतिकूल परिस्थितिओं के बाद भी दोनों ने जीवन को पूर्णतः स्वीकार किया है।

मीरा का उत्सर्गमय जीवन ही साहित्य, संगीत एवं कला है, जबकि महादेवी ने कला को ही अपना जीवन बनाने की भरपूर चेष्टा की है। दर्शनिक विचारधाराओं के आधार परदोनों कवियित्रियाँ संसार को मायारूपी कहती हैं। मीरा प्राणों में गा उठती है व महादेवी हृदय के तारों की छूकर झंकृत कर देती है। महादेवी एक प्रश्न हैं और मीरा प्रश्न व उत्तर दोनों से परे हैं। दोनों का एक ही लक्ष्य है— 'ईश्वर की अनुभूति और उसकी प्रीति।' मीरा की तरह महादेवी न तो विलाप करती हैं और न ही लोक मर्यादा का उल्लंघन करती है।

दोनों के काव्य में हमें आध्यात्मिक प्रेम की प्रमुखता मिलती है। मीरा ने श्रीकृष्ण के गिरिधर नागर स्वरूप को अपनी भावनाओं का आलंबन बनाया। वहीं महादेवी वर्मा ने निगुर्ण निराकार को आलंबन के रूप में ग्रहण किया। महादेवी की अभिव्यक्ति अस्पष्ट है और मीरा की अभिव्यक्ति साफ व स्पष्टता की द्योतक। मीरा के लौकिक-अलौकिक प्रेम के लिए किसी खोज की जरूरत नहीं है, जबकि अत्यंत गुह्य होने के कारण महादेवी के प्रेम निवदेन की स्पष्टता के लिए अनेक प्रकार के प्रयास आवश्यक हैं।

मनिशा ठाकुर (शोधार्थी)
डा. संजु झा
(शोध निर्देशिका)
महाराज विनायक ग्लोबल विश्वविद्यालय
जयपुर

उत्तर-छायावाद और गोपाल सिंह 'नेपाली'

—डा. हेमंत कुमार हिमांशु

"छायावाद और उत्तर-छायावाद के बीच कुछ वैसा ही संबंध दिखता है, जैसा मध्यकाल में भक्तिकाव्य और रीतिकाव्य के बीच था। दोनों स्थितियों में पूर्ववर्ती युग की प्रवृत्तियों में से एक प्रवृत्ति बलवती हो उठती है। और यह संयोग से कुछ अधिक है कि जहाँ भक्तिकाव्य और छायावाद में जीवन को व्यापक रूप से ग्रहण किया गया, वहाँ रीतिकाव्य और उत्तर-छायावाद में शरीर के अनुभवों को अधिक महत्व मिला। जायसी-सूर-तुलसी के बाद जैसे बिहारी-मतिराम-देव का क्रम है, कुछ वैसे ही प्रसाद-निराला-पंत के बाद बच्चन-दिनकर-नरेन्द्र का। ... कविता में जो छायावाद युग है, नाटक के क्षेत्र में वह प्रसाद युग है, कथा साहित्य में प्रेमचंद युग है और आलोचना में शुक्ल युग है। प्रसाद-निराला-प्रेमचंद-रामचन्द्र शुक्ल एक सम्पूर्ण और समृद्ध साहित्य की नाम-माला है। उत्तर-छायावाद स्पष्ट ही इस तुलना में हल्का पड़ता है।"[1]

यह सही बिंदु है जहाँ से हम उत्तर-छायावादी साहित्य की पड़ताल आरंभ कर सकते हैं और साथ ही गोपाल सिंह 'नेपाली' जैसे भुला दिए गए रचनाकार के काव्य का भी अवलोकन कर सकते हैं। निश्चय ही छायावाद काव्य और उसके समानान्तर लिखा गया गद्य साहित्य आधुनिक सृजनशीलता की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। छायावाद की बुनियादी सांस्कृतिक चिंताएँ उत्तर-छायावादियों के योग्य न थीं। इनकी रुचि तात्कालिक समाधानों में अधिक थी, संदर्भ चाहे प्रेम के हों, राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के, या फिर मानव क्रांति के। लेकिन क्या विचार का दृष्टिकोण हमेशा तुलनात्मक ही होना चाहिए? इस आधार पर ही किसी कालखंड की रचना और रचना-प्रवृत्ति को उपेक्षित कर दिया जाना चाहिए कि उससे पहले या बाद का कालखंड उस कालखंड से अधिक समृद्ध रहा है। क्या सचमुच में रीतिकाल और उत्तर-छायावाद का हिन्दी साहित्य के विकास में कोई योगदान नहीं रहा है। कहना नहीं होगा कि रीतिकाव्य ने हिन्दी साहित्य के बाग में रसिकता और शास्त्रीयता के मोहक फूल उगाकर उसमें इन्द्रधनुषी छटा बिखेर दी है। भूलना नहीं चाहिए कि बिहारी-मतिराम-देव ने हमें 'शब्दों की तराश' की नई कला सिखाई। इसी तरह उत्तर-छायावादी कवियों ने गहन और संश्लिष्ट भाव को सीधी भाषा और सीधे छंदों में प्रकट कर 'अभिव्यक्ति की मुखरता' का नया सौंदर्यशास्त्र गढ़ा तथा जिससे हिन्दी की परवर्ती कविता बहुत दूर तक प्रभावित हुई। इसलिए हमारे लिए भक्तिकाव्य और छायावाद वरेण्य है तो रीतिकाव्य और उत्तर-छायावाद भी।

हिन्दी आलोचना में आधुनिक हिन्दी कविता पर विचार करने की एक आम धारणा यह दिखाई देती है कि द्विवेदी

युग की स्थूलता और इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध छायावाद का जन्म हुआ। यानी 'छायावाद स्थूलता के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है' तथा छायावाद की सूक्ष्मता और कल्पनाशीलता के विरुद्ध प्रगतिवाद आया। यह धारणा इतनी बद्धमूल हो चुकी है कि इसके कारण उन कवियों का बड़ा नुकसान हुआ, जो छायावाद से विद्रोह करते हुए नयी काव्यभाषा और नयी काव्यभूमि लेकर पहले-पहल हिन्दी कविता के मैदान में आए। ये न तो छायावादी थे और न प्रगतिवादी। 'इनकी हालत' सैण्डविच जैसी हो गई है, जिसके एक ओर छायावाद था तो दूसरी ओर प्रगतिवाद। आलोचकों ने प्रायः इन्हें फुटकल खाते का कवि माना। कभी इन्हें 'स्वच्छन्द धारा' का कवि माना गया, तो कभी 'मौज और मस्ती' का। कुछ लोगों ने इन्हें 'उत्तर-छायावादी' कहा तो कुछ के लिए ये कवि 'छायावादोत्तर युग' के लोकप्रिय काव्य के प्रणेता भर रहे। निष्कर्ष यह कि ये कवि जिस काव्य संसार का निर्माण कर रहे थे, उसकी कोई स्वतंत्र और मुकम्मल पहचान ठीक से नहीं हुई। इनका अपना मिजाज है, अपनी जमीन है, अपने सामाजिक मूल्य हैं और अपनी भाषा-शैली है; यह गंभीरतापूर्वक आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास और आलोचना के विचार का विषय न रहा। यह काव्य-प्रवृत्ति गोपाल सिंह 'नेपाली', हरिवंश राय 'बच्चन', भगवतीचरण वर्मा, रामधारी सिंह 'दिनकर', नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगल सिंह 'सुमन' जैसे कवियों से जन्म ले रही थी। इनमें से कुछ को आलाचकों ने छायावाद का ही अवशिष्ट मान लिया, तो कुछ को प्रगतिवादी काव्यधारा के अंतर्गत गिना दिया।

आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रंथ में आधुनिक काल के काव्य को तीन उत्थानों में बाँटा है। 'प्रथम उत्थान' में उन्होंने मुख्य रूप से भारतेन्दु काल की कविता को रखा है, 'द्वितीय उत्थान' में श्रीधर पाठक की स्वच्छंदतावादी काव्यधारा और द्विवेदी युग के काव्य को आधार बनाया है तथा 'तृतीय उत्थान' में छायावाद, रहस्यवाद और दूसरी तत्कालीन काव्य प्रवृत्तियों को रखा है। नेपाली, बच्चन, दिनकर आदि कवियों को आचार्य शुक्ल ने तृतीय उत्थान में ही स्थान दिया है। उन्होंने अपने विवेचन में स्पष्ट किया है कि ये कवि मुख्य रूप से छायावाद के गौण कवि हैं और इनका स्वर छायावादियों से किंचित भिन्न है। वे 'स्वच्छंद धारा' शीर्षक से अपने इतिहास के अंतिम पृष्ठ पर लिखते हैं- ''छायावादी कवियों के अतिरिक्त वर्तमान काल में और भी कवि हुए हैं जिनमें से कुछ ने यत्र-तत्र ही रहस्यात्मक भाव व्यक्त किए हैं, उनकी अधिकांश रचनाएँ छायावाद के अंतर्गत नहीं आतीं। ऐसे कवियों में समष्टि रूप में 'स्वच्छंद धारा' प्रवाहित होती है।'' आचार्य शुक्ल के इस उद्धरण से इन कवियों की किसी खास काव्य-प्रवृत्ति का पता नहीं चलता। लेकिन यह पता जरूर चलता है कि ये कवि छायावाद से भिन्न जमीन पर खड़े हैं और भिन्न मिजाज की कविताएँ लिख रहे हैं। वैसे उन्होंने स्वच्छंद धारा नाम लेकर इन कवियों की मूल प्रवृत्ति को रेखांकित करने की कोशिश जरूर की है।

इस काव्य-प्रवृत्ति के मूल स्वर को पहचानने की एक बड़ी कोशिश आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने इतिहास ग्रंथ 'हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास' में की है। आचार्य द्विवेदी छायावाद के उत्तरार्द्ध में जन्म ले रही काव्य-प्रवृत्ति को रेखांकित करते हुए इस युग के कवियों को मस्ती, मौज, उल्लास, यौवन आदि का कवि कहते हैं और साथ ही इस काल की कविता की सामाजिकता की खोज करते हुए वे इसे 'घोर मंथन' और 'उथल-पुथल' का काल कहते हैं। वे इन कवियों के सामाजिक स्रोत की छानबीन करते हुए लिखते हैं-''इस काल में भारतवर्ष ने पूरी ताकत लगाकर अंग्रेजी शासन को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया। यह प्रयत्न दस-ग्यारह वर्ष बाद सफल हुआ। परंतु इस समय तक विदेशी प्रभाव की जड़ें हिल गईं। देश के युवकों में कभी आत्मविश्वास की मात्रा इतनी अधिक नहीं थी, जितनी इस काल में रही। धीरे-धीरे 'व्यक्ति मानव' का महत्व प्रतिष्ठित होता गया। यह काल एक ओर सामाजिक आंदोलन में विश्वास करता है, तो दूसरी ओर सामाजिक उत्थान के प्रति आकृष्ट होने में भी विश्वास रखता है। भारतवर्ष का शिक्षित चित्त अब अनुभव करने लगा था कि कल्याण का मार्ग व्यक्ति की सुख-सुविधा के प्रयत्नों के भीतर से निकला है। ऐतिहासिक घटनाएँ बड़ी तेजी से सोचने-समझने की योग्यता रखने वाले मनुष्य के दिमाग पर आघात करती गईं और क्रमशः वह व्यक्ति-संस्कार की कमजोरियों को समझता गया और सामाजिक मंगल की साधना की ओर अग्रसर होता गया।''[2]

आचार्य द्विवेदी घोर मंथन और उथल-पुथल के काल के रूप में जिस काल को रेखांकित करते हैं, वह 1930 का पूर्वार्द्ध है। ध्यान में रखना चाहिए कि भारतीय इतिहास में यह वह काल है जब भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद, रामप्रसाद 'बिस्मिल' आदि नौजवान क्रांतिकारी देश के लिए हँसते हुए कुर्बान हो गए थे। इन क्रांतिकारियों की शहादत ने पूरे राष्ट्र की चेतना में यौवन और उल्लास भर दिया था। देश के लिए शहीद होने का काम लोग हँसते-गाते कर रहे थे। ऐसे समय में देश का युवा मानस मौज-मस्ती और उमंग-उल्लास के ऐसे फक्कड़पन अंदाज से भर गया था, जिसमें बेहद दिवानगी थी और हँसते हुए अपना सबकुछ

लुटाकर देश के लिए शहीद हो जाने का युवकोचित जोश था। आचार्य द्विवेदी ने विवेच्य काल को समझने का जो प्रयत्न किया है, वह कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। वे इस काल की कविता के मूल स्वर को पहचानने की कोशिश करते हैं और उसके सामाजिक आधारों की खोज करते हैं। उस काल की गतिशील चेतना को ध्यान में रखकर उसे 'घोर उथल-पुथल' और 'मंथन' का काल भी कहते हैं। लेकिन वे कोई ठोस नाम इसके लिए प्रस्तावित नहीं करते। बहुत स्पष्ट ढंग से तो नहीं, लेकिन विवेचन के क्रम में इसे वे छायावाद का 'दूसरा उन्मेष' कहते हैं।

इस काल को समझने का एक बड़ा प्रयास इस काल के महत्वपूर्ण कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपने 'छायावादोत्तर काल' निबंध में किया है जो उनकी 'काव्य की भूमिका' में संकलित है। दिनकर के अनुसार यह छायावादोत्तर काल है। वे लिखते हैं कि ''छायावादी कवियों की पीठ पर आने वाले कवियों में बच्चन, नरेन्द्र, नेपाली, आरती, केसरी, अंचल, प्रभात, जानकी वल्लभ शास्त्री, सोहनलाल द्विवेदी, श्याम नारायण पाण्डेय, रामदयाल पाण्डेय, रामगोपाल शर्मा 'रुद्र' आदि के नाम प्रमुख हैं। और इसी काल में एक छोटा नाम मेरा भी जुड़ जाए। तो इनमें से कौन कवि प्रगतिवादी धारा का प्रतिनिधित्व करता है? काल-क्रम की दृष्टि से देखें तो सुमन और नागार्जुन इस समूह के बाद आने वालों में से हैं। इन कवियों की विशिष्टताओं पर विचार किया जाए तो छायावाद की धूमिल रंगीनी और रोमांटिक हिलोर केवल अंचल और प्रभात की कविताओं में मिलेगी और इन दो कवियों में भी भाषा की छायावादी परंपरा केवल प्रभात जी में शेष है। बाकी सभी कवियों में कई ऐसे लक्षण समान रूप से मिलते हैं, जिन्हें देखते हुए इन कवियों का युग न तो छायावादी युग कहा जा सकता है, न उसे हम प्रगतिवाद शीर्षक के अंदर लपेट सकते हैं। असल में इनका काल छायावादोत्तर काल है।''[3]

दिनकर ऊपर के उद्धरण में न सिर्फ अपनी और अपने काल के कवियों की कविता को छायावाद और प्रगतिवाद से अलग करते हैं, बल्कि उस काल की काव्य-प्रवृत्ति को अधिक स्पष्टता के साथ रेखांकित भी करते हैं और उस काल का नामकरण 'छायावादोत्तर' काल के रूप में करते हैं। दिनकर आगे कहते हैं- ''कभी-कभी ऐसा भी भासित होता है मानो छायावादोत्तर काल के रूप में कुछ-कुछ द्विवेदी काल का प्रत्यावर्तन हुआ। छायावादोत्तर कालीन भाषा द्विवेदीयुगीन भाषा की याद दिलाती है। दोनों युगों की भाषाएँ सफाई और हिंदी के बोलचाल वाले रूप के अधिक समीप है। भेद केवल यह है कि छायावाद काल में भाषा के क्षेत्र में कोमलता के जो प्रयोग हुए, उनकी शिक्षाएँ छायावादोत्तर काल के कवियों को याद रहीं, क्योंकि द्विवेदी युग वालों को इस प्रयोग का लाभ नहीं मिला।''[4] दिनकर के इस कथन से स्पष्ट है कि उत्तर-छायावादकालीन कविता की भाषा द्विवेदीयुगीन कविता की सफाई लिए हुए है, किंतु उसमें छायावादी काव्य की कोमलता भी आ गई है। छायावाद में अतिशय कल्पनाशीलता के साथ कोमलता और सूक्ष्मता भी थी। द्विवेदीयुगीन कविता की भाषा बोलचाल के करीब तो थी ही लेकिन उसमें स्थूलता अधिक थी। उत्तर-छायावादी कवियों ने द्विवेदी युग की सफाई और छायावाद की सूक्ष्मता की ओर से नई काव्य-भाषा विकसित की। उत्तर-छायावादी कविता का गंभीर अध्ययन नई कविता के कवि और समीक्षक विजयदेव नारायण साही ने अपने प्रबंधात्मक आलेख 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' में किया है। साही ने इस काल की कविता को 'जवानी और खुमारी का काव्य' कहा है जिसमें आध्यात्मिक मुद्रा और दार्शनिकता का अभाव है। उन्होंने छायावादी 'महामानव' और नई कविता के 'लघु मानव' के वजन पर उत्तर-छायावादी मनुष्य को 'साधारण मानव' कहा और इस काल की विशेषता 'सहजता' बतलाई। साही अपने विवेचन-क्रम में आगे कहते हैं कि इस काल की कविता के मनुष्य के दो रूप हैं, एक उसका बाहरी रूप है, दूसरा उसका अन्तर है। इस बाहर और भीतर में सामंजस्य नहीं है। ऊपरी कलेवर ज्ञान-आदर्श-मर्यादा जैसे सामाजिक नियमों से बना है जो क्रूर, जड़, कठोर है। इस काल के मनुष्य का असली रूप तो उसके धड़कते दिल में है। इस असली मनुष्य को अभिव्यक्त करने की राह में बुद्धि या ज्ञान की मर्यादाएँ बंधन बनती हैं। इन्हीं बंधनों को तोड़ने पर इस काल की कविता जन्म लेती है।

नामवर सिंह उत्तर-छायावाद की जटिल मानसिकता को समझने की जरूरत पर बल देते हैं। उनका आग्रह है कि उस काल की साहित्यिक मानसिकता को समझने के लिए कविता के साथ-साथ दूसरी विधाओं को भी देखना चाहिए। उनके अनुसार- ''इस काल की कविता पर विचार करते हुए हमें उस काल में छपे 'त्यागपत्र', 'सुनीता', 'शेखर : एक जीवनी', 'दादा कामरेड', 'बाणभट्ट की आत्मकथा' जैसे उपन्यासों के साथ अनेक कहानियों पर भी विचार करना चाहिए। इनके आधार पर भी उस काल की साहित्यिक मानसिकता को समझा जा सकता है। हिन्दी के बाहर उर्दू में मजाज और फिराक गोरखपुरी जैसे शायर हैं जिनकी 'आवारा' और 'आधी रात का' जैसी नज्में हैं जो उस काल की साहित्यिक मानसिकता का पता देती हैं।

जब हम हिन्दी-उर्दू के कवियों को मिलाकर देखेंगे तब एहसास होगा कि कैसे हिन्दी-उर्दू की कविताएँ मिली हुई थीं। दोनों के भीतर एक ही तार था जो बज रहा था।'' (उत्तर-छायावाद काल, हिन्दुस्तान, दैनिक) उर्दू कविता के साथ ही नामवर सिंह इस काल को और वृहत्तर फलक पर देखने की सिफारिश करते हैं। उनका कहना है कि यह वही दौर है जब सोवियत संघ में पास्तरनाक, मारिना सुतकोवा और अन्ना अक्मतोवा जैसे कवि-कवयित्री सक्रिय हैं। इसी काल में फ्रांस में पाल एलुवार्ड और लुई अरागा जैसे कवि हैं तो दूसरी ओर बर्तोल्त ब्रेख्त, पाब्लो नेरूदा, टी.एस. एलिएट और अर्डेन जैसे कवि भी दुनिया की विभिन्न भाषाओं में कविता के क्षितिज पर सक्रिय हैं। इसलिए इस काल की कविता पर व्यापक परिप्रेक्ष्य में सोचने-विचारने की जरूरत है, अगर ऐसा नहीं करेंगे तो इस काल के साथ अन्याय होगा। कुल मिलाकर अगर उत्तर-छायावादीकालीन कविता की प्रमुख विशेषताएँ अति संक्षेप में प्रकट करनी हों तो कहा जाएगा कि सहजता, लोकप्रियता, मस्ती, फक्कड़पन आदि के साथ इस कविता का अनिवार्य संबंध देश के युवा मानस से है। इस काल की कविता में जो मस्ती और फक्कड़पन है वह उत्सर्ग भावना की देन है। यह उत्सर्ग भावना चौथे दशक की भारतीय राजनीति की फिजा में गूँजने वाली एक अनिवार्य आवाज है। इसी आवाज की प्रतिध्वनि उत्तर-छायावादी कविता में सुनाई पड़ती है। जैसा कि साही ने कहा है, छायावाद और नयी कविता के बीच उत्तर-छायावाद एक कड़ी है और उस कड़ी के बिखर जाने से हिन्दी कविता का विकास ठीक-ठीक नहीं दिखाई पड़ेगा। इसलिए उत्तर-छायावादी कविता का हिन्दी कविता के इतिहास में विशेष महत्व है। यह छायावाद का परिशिष्ट न होकर हिन्दी कविता का स्वतंत्र अध्ययन है।

गोपाल सिंह 'नेपाली' के अतिरिक्त उत्तर-छायावादी काव्यधारा को पुष्ट बनाने में अन्य कई कवियों का योगदान रहा है। ऐसे कवियों बच्चन, दिनकर, नरेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, आरसी प्रसाद सिंह, जानकीवल्लभ शास्त्री, अंचल आदि के नाम प्रमुख हैं। दिनकर और नेपाली इन कवियों में ऐसे हैं जिनकी कविताओं में राष्ट्रीय भावना चरम सीमा पर है। साथ ही इन दोनों कवियों की लेखनी प्रेम और मस्ती को भी अपना विषय बनाती रहीं। विशेषतः दिनकर में तो ये दोनों धाराएँ समानान्तर दीख पड़ती हैं। भगवती चरण वर्मा में भी दो प्रवृत्तियाँ साथ-साथ चलती हैं। एक तो उनका विद्रोही रूप है और दूसरा प्रेम और खुमारी से भरा हुआ व्यक्तित्व। बच्चन में भी खुमारी है, पर वह हालावाद की है, प्रेम की नहीं। बाद में इनका प्रेम-दर्शन भी प्रौढ़ हुआ और मधुशाला की लोकपरक व्याख्या उन्हें करनी पड़ी। अंचल में छायावाद का बचा हुआ अवशेष दीख पड़ता है, पर वे साहित्य में एक नवीनता लेकर आए। नरेन्द्र शर्मा में संघर्ष है, पर वह संघर्ष अस्तित्व को कायम रखने का है, व्यवस्था को बदलने का नहीं। जानकी वल्लभ शास्त्री की कविता का एक छोर शांति को छूता है तो दूसरा क्रांति को। नेपाली अपने समकालीन कवियों में कहाँ ठहरते हैं, यह विवेचन का विषय है। लोकप्रियता में बच्चन शीर्ष पर थे, तो सम्मान सबसे अधिक दिनकर को प्राप्त हुआ। साहित्य के महारथी आलोचकों की कृपा-दृष्टि से नेपाली वंचित रहे। उनकी दृष्टि में नेपाली का फिल्म जगत से संयुक्त होना ऐसा अक्षम्य अपराध था, जिसे वे किसी कीमत पर भूलने को तैयार नहीं थे। नेपाली उत्तर-छायावाद के श्रेष्ठ कवियों में हैं। उनका रचना काल काफी विस्तृत है। लगभग तीस वर्षों तक वे काव्य रचना में संलग्न रहे। विषय की विविधता और प्रभावान्विति में वे बेजोड़ हैं। वे सदैव सामान्य जन की हिमायत अपनी कविताओं के द्वारा करते रहे। इसी कारण उन्होंने समाज में आमूल परिवर्तन की चेष्टा की। शोषित और शोषक के बीच बढ़ती खाई को पाटने का प्रयास किया, राष्ट्रीय एकता के लिए सर्वधर्म एकता पर बल दिया और जब भी आवश्यकता पड़ी सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार रहे। नेपाली लिखते हैं– *''हिन्दू के साथ अगर मुसलमान न होगा/फिर साथ मुसलमान के क्रिस्तान न होगा/ संसार में आजाद हिन्दुस्तान न होगा/हर धर्म के इन्सान को सीने से लगा लो।''* नेपाली एकता का वह बिंदु ढूँढ़ निकालते हैं जहाँ हिन्दू-मुसलमान अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए एक होते हैं। नेपाली भारत की जनता को यह संदेश देना चाहते हैं कि अगर अपने अस्तित्व की रक्षा करनी है तो सभी भारतीयों को धर्म और जाति का भेद भुलाना होगा।

उत्तर-छायावादी कवियों पर बच्चन की 'मधुशाला' और 'प्याला' का प्रभाव भी रहा है। इसकी एक बड़ी वजह मस्ती के साथ 'लोकप्रियता' रही है। हालाँकि लोकप्रियता किसी कवि की श्रेष्ठता की कसौटी नहीं हो सकती, फिर भी जनकवि होने का दावा करने वाले इसे नकार भी नहीं सकते। कहना नहीं होगा कि नेपाली के 'यौवन और मस्ती' के मूल में बच्चन की तरह 'युवा हृदयों के सम्राट' बनने की लालसा रही होगी। इसी दृष्टि से बच्चन के हालावाद से प्रभावित नेपाली की प्रतीकात्मक शैली में लिखित इन पंक्तियों को देखा जा सकता है– *''दर्द बना है मन की हाला/दुख बना जीवन की हाला/प्यास बनी यौवन*

की हाला/अश्रु बने लोचन की हाला/दे दो मुझको तुम यह हाला/इस दुनिया को पिला-पिलाकर मैं रच लूँगा गीत।'' नेपाली ने व्यक्तिगत जीवन को यथासंभव कविता के माध्यम से व्यक्त नहीं होने दिया है। अधिकांशतः उनकी दृष्टि समाज पर ही रही है। गाँधीवाद की जब-तब आलोचना करते हुए भी उन्होंने गाँधी की मृत्यु पर 'अमर सेनानी गाँधी' शीर्षक कविता लिखी– *''तन पर खाई तीन गोलियाँ, सबको छलते चले गए/लिया स्वराज अहिंसा से, इतिहास बदलते चले गए/जैसे श्याम दे गए मुरली, राम खड़ाऊँ छोड़ गए/गाँधी टोपी पहना कर यह, अखिल राष्ट्र को जोड़ गए।''* दिनकर उत्तर-छायावाद के बड़े प्रभावशाली कवि के रूप में जाने गए। किंतु दिनकर में सदैव एक द्वंद्व नजर आता है। कुरुक्षेत्र में युद्ध और शांति का, उर्वशी में प्रेम और अध्यात्म का तथा उनकी पूरी काव्य-यात्रा में राष्ट्रीयता तथा प्रेम का। नेपाली की कविता में यह द्वंद्व कम है। उनकी कविता में संघर्ष नजर आता है और उसका समाधान भी। कठिन परिस्थितियों में भी वे विजय पथ देख लेते हैं और उस तक पहुँचने का मार्ग भी। दिनकर की दृष्टि में वही कविता श्रेष्ठ है जो पाठकों के मन को मोह ले। नेपाली मानते हैं कि जिस कविता में तन्मय करने की शक्ति होगी, उसके प्रति सम्मोहन की अपेक्षा आत्मानुभूति का अनुभव हम अधिक करेंगे। साधारणीकरण की दृष्टि से वही कविता उपयुक्त है जो काल-प्रवाह के साथ पाठकों और श्रोता वृंद की जिह्वा पर थिरकती रहे। चीनी आक्रमण की प्रतिक्रिया में दिनकर ने 'परशुराम की प्रतीक्षा' लिखी और नेपाली की 'हिमालय ने पुकारा' का प्रकाशन हुआ। ये दोनों कृतियाँ बहुचर्चित हुईं। दिनकर ने संकट की इस घड़ी में नये मानव की कल्पना की, जो अर्जुन और परशुराम से मिलता-जुलता था। लेकिन नेपाली किसी इतिहास पुरुष के हाथों भाग्य की डोर नहीं सौंप सकते। वे सारे भारतीयों को देश की रक्षा के लिए सन्नद्ध देखना चाहते हैं। वे 'हीरोवर्शिप' के खिलाफ थे। आजादी चाहिए तो गाँधी की तरफ निहारो, नेहरू को देखो। हर समाधान के लिए किसी-न-किसी को निहारने की प्रवृत्ति का विरोध करते हुए उन्होंने 'वन मैन आर्मी' की बात की।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद विनोबा ने 1951 में भूदान यज्ञ शुरू किया। उद्देश्य था- भूमिपतियों से भूमि दान में लेकर भूमिहीनों को देना। दिनकर ने इसके पक्ष में 1952 में कविता लिखी- 'भूदान'। लेकिन वे इस सत्य को नहीं देख पाए कि भूमिवादी अपनी अधिकांश जमीन सुरक्षित रखकर थोड़ी-बहुत ऊसर-बंजर जमीन दान में देते हैं। इस दान से प्राप्त प्रशंसा के बल पर वे अपनी जमीन भूमि हदबंदी से बचाने के प्रयास में रहते हैं। नेपाली ने इस सत्य को पहचाना और 1957 में 'भूदान के याचक' शीर्षक कविता लिखी, जो 'धर्मयुग' में छपी–''भीख बुद्ध ने माँगी ही/ कहाँ अमीरी लुट गई/ गाँधी ने भी अलख जगाई, कहाँ गरीबी उठ गई।''[5] इसके बाद उन्होंने सावधान किया–''जो भी देगा जूठन देगा/ मीठा-मीठा स्वयं चखेगा/धन-धरती सुख स्वयं चखेगा।'' यह लिखते हुए नेपाली का हाथ मरीज की नब्ज पर है। वे भारत में फैली गरीबी, असमानता और भ्रष्टाचार के रोग पहचानते हैं। इसलिए उनका सुझाया समाधान भी श्रेष्ठ है। विश्वनाथ प्रसाद 'भूदान के प्रति नेपाली और दिनकर की दृष्टियाँ' शीर्षक निबंध में दोनों की तुलना इन शब्दों में करते हैं- ''नेपाली और दिनकर समसामायिक होते हुए भी अपने दृष्टिकोण में अशेषतः स्वतंत्र हैं। दोनों दो वर्गों के बीच खड़े हैं। एक राजकवि हैं तो दूसरे जनकवि। नेपाली ऐसे ही जनकवि थे। इन्होंने जनता के हित को, शोषित-पीड़ित वर्ग को अपना आराध्य बनाया और उसकी पूजा में अपने व्यक्तित्व की आहुति दी।''[6]

संदर्भ

1. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ. 217-219
2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ. 277
3. रामधारी सिंह दिनकर, काव्य की भूमिका, पृ. 46-47
4. वही, पृ. 48
5. धर्मयुग, 1957
6. डा. दिवाकर (संपादक) दृष्टि, पृ. 181

डा. हेमंत कुमार हिमांशु
असिस्टेंट प्रोफेसर (हिंदी विभाग)
शहीद भगत सिंह कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

भारत के सामाजिक विकास में चीनी उद्योग की भूमिका

—डा. ज्ञान प्रकाश

सारांश

भारत में चीनी उद्योग केवल चीनी का उत्पादन नहीं करते हैं बल्कि बड़े पैमाने पर भारत में रोजगार के अवसर प्रदान करत हैं जिससे गन्ना किसानों एवं चीनी उद्योग से सम्बन्धित कर्मचारियों के जीवन स्तर में भी सुधार होता है। चीनी उद्योग भारतीय अर्थव्यवस्था की जी. डी. पी. में भी महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि भारत के सामाजिक विकास में चीनी उद्योग महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। भारत में वर्ष 2011-12 में चीनी का उत्पादन 26.3 मिलियन टन था जो वर्ष 2020-21 में बढ़कर 32.6 मिलियन टन हो गया। वर्ष 2011-12 में चीनों का उपभोग 22. 7 मिलियन टन था। जो बढ़कर वर्ष 2020-21 में 26 मिलियन टन हो गया। वर्ष 2011-12 में गन्ने का उत्पादन 5038 हजार टन था। जो बढ़कर वर्ष 2020-21 में 8220 हजार टन हो गया।

बीज शब्द : गन्ने का उत्पादन, चीनी का उत्पादन, चीनी का उपभोग स्तर, चीनी का निर्यात, एफ.आर.पी. एवं गन्ने का बकाया भुगतान।

परिचय

अथर्ववेद के अनुसार भारत को चीनी की गृह भूमि कहा जाता है। लेकिन प्राचीन समय में केवल गुड़ एवं खांडसारी वस्तुओं का ही उत्पादन किया जाता था। परन्तु वर्तमान समय में भारत में चीनी का उत्पादन बड़े पैमाने पर हो रहा है। वर्तमान समय में भारत का चीनी उत्पादन में विश्व में दूसरे स्थान पर है। वर्ष 1904 से पहले भारत में कोई चीनी मिल नहीं थी। सर्वप्रथम वर्ष 1904 में बिहार में चीनी मिल स्थापित हुई। इसलिए हम कह सकते हैं कि भारत में चीनी उद्योग का जीवन वर्ष 1904 से प्रारम्भ हुआ। इसके पश्चात भारत में नई चीनी मिलों की स्थापना होती चली गई एवं बड़ी संख्या में चीनी मिलें स्थापित हो गईं। वर्ष 2019-20 में चीनी मिलों की संख्या 461 थी जो चालू हालत में थी। हम यह देखते हैं कि चीनी मिलों की संख्या प्रत्येक वर्ष में समान नहीं रही है अर्थात परिवर्तित होती रही है। वर्ष 2015-16 चीनी मिलों

संख्या 526 थी वर्ष 2018-19 में बढ़कर 532 हो गई वर्तमान समय तक हम देखते हैं कि अधिकतर चीनी मिलों की संख्या 2018-19 में 532 थी। एफ. आर. पी. गन्ना किसानों के लिए हितकर होती है। यह ऐसी दर है जिस दर पर गन्ना की बिक्री प्रति क्विंटल गन्ने के हिसाब से की जाती है अर्थात एफ. आर. पी प्रति क्विंटल गन्ने की कीमत है। आवश्यकता यह है कि एफ. आर. पी. गन्ना किसानों को उचित दर से निर्धारित किया जाए अर्थात गन्ने की उत्पादन लागत को देखते हुए निर्धारित की जानी चाहिए जिससे गन्ना किसानों उचित लाभ प्राप्त हो सके।

प्रतिवर्ष एफ. आर. पी. में लगातार वृद्धि दिखाई पड़ती है जो गन्ना किसानों के लिए हितकर है। गन्ना किसानों का गन्ना बकाया भुगतान शीघ्र किया जाना चाहिए भारतीय गन्ना किसानों को अभिप्रेरित करने की आवश्यकता है जिससे आवश्यक मात्रा में गन्ने का उत्पादन हो सके। परिणामस्वरूप चीनी उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ चीनी निर्यात में भी वृद्धि होगी जो देश के भुगतान शेष के लिए हितकर होगा इसके पश्चात् भारत में नई चीनी मिलों की स्थापना होती चली गयी एवं बड़ी संख्या में चीनी मिलें स्थापित हो गयीं।

शोध कार्य प्रणाली : शोध पत्र वर्णनात्मक प्रकृति का है। इस शोध पत्र में शीर्षक से सम्बन्धित इकनॉमिक सर्वे ऑफ इंडिया, पुस्तकों एवं वेबसाइटस इत्यादि से प्राप्त सहायक आंकड़ों का विश्लेषण एवं निर्वचन किया गया है।

उद्देश्य : मेरे शोधपत्र के प्रमुख उद्देश्य निम्न है :

भारत में गन्ने के उत्पादन का विश्लेषण करना, भारत में चीनी के उत्पादन एवं उपभोग का विश्लेषण करना, भारत में बकाया गन्ने के भुगतान का विश्लेषण करना, विदेशों में चीनी के निर्यात का विश्लेषण करना, भारतीय चीनी मिलों की संख्या का विश्लेषण करना, भारत में उच्चतम और लाभकारी मूल्य का विश्लेषण करना।

भारतीय समाज में चीनी उद्योग का योगदान : भारतीय समाज को विकसित करने में चीनी उद्योग की सराहनीय भूमिका रही है क्योंकि यह बड़े पैमाने पर रोजगार प्रदान करता है जिसे लाखों गन्ना किसानों एवं उनके परिवार निर्भर होकर अपनी जीविका चलाते हैं एवं चीनी मिलों तथा गन्ना किसानों के खेतों में बड़ी मात्रा में अन्य श्रमिकों रोजगार दिया जाता है। चीनी मिलों में बड़ी मात्रा में कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती है जिससे हमारे देश के नागरिकों का जीवन स्तर ऊँचा उठता है। विशेष रूप से उन नागरिकों का जो चीनी मिलों एवं गन्ना उत्पादन के क्षेत्र में रहते हैं। चीनी मिलों में कर्मचारियों की नियुक्ति देश के किसी भी भौगोलिक क्षेत्र में किसी भी हिस्से से हो सकती है। भारत के सामाजिक विकास में चीनी उद्योग की भूमिका को निम्न शीर्षक के आधार पर समझा जा सकता हैं।

गन्ने के उत्पादन में वृद्धि : गन्ने के उत्पादन के वृद्धि से गन्ना किसानों को काफी लाभ प्राप्त होता है क्योंकि गन्ने के अधिक मात्रा में बिक्री से अधिक आय की प्राप्ति होती है जिससे सामाजिक जीवन स्तर ऊँचा उठता है एवं सामाजिक विकास में सहायक सिद्ध होता है। गन्ना किसानों की समृद्धि के लिए गन्ने के उत्पादन को बढ़ाना देश की समृद्धि को बढ़ाना है क्योंकि इसका प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से देश के सभी नागरिकों पर पड़ता है।

चीनी के उत्पादन में वृद्धि : चीनी के उत्पादन में परिवर्तन दिखाई पड़ता है क्योंकि जलवायु एवं गन्ना किसानों की अभिप्रेरणा चीनी उत्पादन को प्रभावित करती है। यदि गन्ने के उत्पादन की मात्रा घटती है तो चीनी का उत्पादन भी घट जाता है अन्यथा विपरीत दशा लागू होती है। कुल मिलाकर वर्ष 2011-12 से वर्ष 2020-21 तक औसतन चीनी उत्पादन में वृद्धि दिखाई पड़ती है जो सामाजिक विकास में सहायक है एवं भारत के प्रति व्यक्ति आय को भी बढ़ाती है।

चीनी उपभोग में वृद्धि : समाज में चीनी का उपभोग दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है जिसके कई कारण हैं जैसे जनसंख्या में वृद्धि, आय में वृद्धि, उच्च जीवन स्तर इत्यादि जो सामाजिक विकास के लिए हितकर सिद्ध हो सकता है। आवश्यकता के अनुसार चीनी का उपभोग भारतीय समाज के स्वास्थ्य को समृद्ध रखने में सहायता प्रदान करता है।

उच्चतम और लाभकारी मूल्य में वृद्धिः गन्ना किसानों के लिए एफ.आर.पी. वृद्धि सुखद समझी जाती है क्योंकि इससे गन्ना किसानों की आय में वृद्धि होती है क्योंकि उन्हें अपने गन्ने का उचित मूल्य प्राप्त हो जाता है परन्तु एफ. आर. पी. गन्ना किसानों की लागत के अनुसार निर्धारित होनी चाहिए वर्ष 2015-16 में एफ. आर. पी. 230 रुपये प्रति क्विंटल थी जो वर्ष 2020-21 में बढ़कर 250 रुपये प्रति क्विंटल हो गयी।

चीनी के निर्यात में वृद्धि : चीनी के निर्यात में काफी मात्रा में वृद्धि हुई है जो देश के भुगतान शेष के लिए लाभदायक सिद्ध होता है। वर्ष 2013-14 में भारत से चीनी का निर्यात 24.58 लाख टन किया गया जो वर्ष 2020-21 में बढ़कर 70 लाख टन हो गया जिससे भुगतान शेष अनुकूल करने में काफी सहायता मिली है।

भारतीय जी. डी. पी. में वृद्धि : भारत में चीनी उद्योग भारत के जी. डी. पी. को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है जिससे भारत में कुल उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ जीवन स्तर में भी वृद्धि होती है क्योंकि रोजगार में वृद्धि पायी जाती है।

राष्ट्रीय आय में वृद्धि : भारत में जी. डी. पी. बढ़ने से राष्ट्रीय आय भी बढ़ती है क्योंकि उत्पादन को खुले बाजार में विक्रय करके आय प्राप्त किया जा सकता है और यह राष्ट्रीय आय देश के सामाजिक विकास में उपयोग की जा सकती है।

भारत में चीनी उद्योग की समस्याएं

भारत के सामाजिक विकास में चीनी उद्योग महत्वपूर्ण योगदान दे रहा है परन्तु दूसरी ओर चीनी उद्योग में कुछ समस्याएं भी दिखाई पड़ती हैं जो निम्नलिखत हैं।

• भारतीय चीनी उद्योग में एक प्रमुख समस्या यह देखने को प्राप्त होती है कि गन्ना किसानों को गन्ना विक्रय करते समय अपने गन्ने की कीमत प्राप्त नहीं होती है उन्हें काफी समय तक इंतजार करना पड़ता है। • दूसरी समस्या यह है कि गन्ने की फसल जलवायु पर निर्भर करती है। यदि अनुकूल जलवायु होती है तो अच्छी गन्ने की उपज प्राप्त हो जाती है अन्यथा विपरीत दशा लागू हो जाती है। • भारत में बहुत अच्छी किस्म के गन्ने का उत्पादन नहीं हो पाता जिससे प्रति क्विंटल गन्ने से चीनी का उत्पादन कम प्राप्त हो पाता हैं। • गन्ना किसानों को गन्ने के उत्पादन में लागत अधिक लगानी पड़ती है जिससे कभी-कभी गन्ना किसानों को गन्ने के उत्पादन की लागत भी नहीं प्राप्त हो पाती है। • चीनी उत्पादकों के लिए एक यह भी समस्या है कि सौ प्रतिशत चीनी का उत्पादन खुले बाजार मे विक्रय नहीं कर सकते क्योंकि कुल चीनी उत्पादन का एक निश्चित अंश सरकार रोक कर रखती है जिसे सरकार अपने हिसाब से उपयोग करने के लिए आदेश देती है।

चीनी उद्योग के सुधार के लिए सुझाव

चीनी उद्योग के सुधार के प्रमुख सुझाव निम्न हैं :

• पहला सुझाव यह है कि गन्ना किसानों को अपने गन्ने की कीमत गन्ना विक्रय करते समय ही प्राप्त हो जानी चाहिए। • अच्छी किस्म की गन्ने की व्यवस्था की जाए जिससे अच्छी किस्म के गन्ने की बुआई हो सके एवं प्रति क्विंटल गन्ने से काफी मात्रा में चीनी का उत्पादन हो सके। • नई तकनीकि विकास में वृद्धि के साथ-साथ गन्ना किसानों को एवं चीनी उद्यमियों को नई तकनीकी विकास का लाभ प्राप्त एवं आधुनिक मशीनों से गन्ने का उत्पादन एवं चीनी का उत्पादन किया जा सके। • चीनी के उत्पादकों को खुले बाजार में सौ प्रतिशत चीनी उत्पादन का विक्रय करने का अधिकार प्रदान किया जाए जिससे चीनी उत्पादक उचित आय प्राप्त करके उचित लाभ प्राप्त कर सकें। • एफ.आर.पी.का निर्धारण गन्ना उत्पादकों के लिए गन्ने की उत्पादन लागत के अनुसार किया जाए जिससे गन्ना किसानों को उचित आय प्राप्त हो सके।

निष्कर्ष : भारत के सामाजिक विकास में चीनी उद्योग का महत्वपूर्ण योगदान दिखाई पड़ता है जिससे केवल राष्ट्रीय आय में ही वृद्धि नहीं होती बल्कि रोजगार के बड़े अवसर भी प्राप्त होते हैं जिससे चीनी का निर्यात करके अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत देश की पहचान बनती है एवं विदेशों से अच्छे सम्बन्ध भी निर्धारित होते हैं जो हमारे देश के सामाजिक विकास के लिए अत्यंत महत्पूर्ण एवं सराहनीय हैं। हम आशा करते हैं कि गन्ने एवं चीनी के उत्पादन के लिए सरकार के द्वारा आवश्यक सुविधाएं उपलब्ध करायी जाएगी एवं इन्हें अभिप्रेरणा प्रदान की जाएंगी।

सन्दर्भ

• भारतीय अर्थव्यवस्था, वी.के.पुरी, एस.के.मिश्रा
• भारतीय अर्थव्यवस्था, गौरव दत्त, अश्विनी महाजन
• इकोनॉमिक सर्वे ऑफ इंडिया (2021-22)
• आई.एस.एम.ए(भारतीय चीनी मिल्स संघ),लखनऊ
• आर.बी.आई हैण्डबुक स्टैटिक्स 2021-22

Websites

❖https://pib.gov.in
❖https://www.indiansugar.com>statics
❖https://www.investopedia.com

डा. ज्ञान प्रकाश
एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

समग्र विकास में महिला शिक्षा एवं सशक्तीकरण का प्रभाव : एक विश्लेषण

–डा. मनोज गुप्ता
–डा. नन्दन सिंह

21वीं सदी के समाज में आर्थिक सामाजिक व तकनीकी स्तर पर बड़े सुधार हुए जिससे पुरुषों के साथ-साथ महिलाओं ने भी अपना योगदान दिया। स्त्री और पुरुष जीवन रूपी गाड़ी के दो पहिए हैं, बिना दोनों के सहयोग के परिवार, समाज और राष्ट्र का विकास नहीं हो सकता है। दुनिया के तमाम मुल्कों में वहां के सामाजिक विकास का मापदंड स्त्रियों की समाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक भागीदारी से देखा जाता है। आज महिलाएं सभी क्षेत्रों में शिक्षा एवं सशक्तीकरण के प्रयास से निरंतर आगे बढ़ रही हैं, चाहे रक्षा का क्षेत्र हो या चिकित्सा का, विज्ञान का, अंतरिक्ष विज्ञान या खेलकूद या राजनीतिक सामाजिक जीवन सभी क्षेत्रों में अपनी उपलब्धियों से देश का गौरव बढ़ा रही हैं। शिक्षा महिलाओं को रोजगार के अवसर प्रदान कर गरीबी से बाहर निकलने का अवसर प्रदान करती है। महिलाओं के शिक्षित होने से व्यक्ति एवं समाज दोनों को लाभ प्राप्त होता है, शिक्षा महिलाओं को कौशल युक्त बनाकर उन्हें अच्छे अवसरों को प्राप्त करने में योग्य बनाती है। महिलाओं एवं बालिकाओं की शिक्षा के बिना किसी भी देश का मानव विकास सूचकांक बेहतर नहीं हो सकता है। शिक्षित महिलाएं अपने स्वास्थ्य के बारे में बेहतर निर्णय लेने में सक्षम होती हैं, शिक्षित महिलाएं ही शारीरिक स्वास्थ्य से लेकर व्यक्तिगत स्वास्थ्य पोषण एवं यौन स्वास्थ्य के बारे में अधिक जानकार एवं जागरूक होती हैं। उत्तम स्वास्थ्य ही एक स्वस्थ मस्तिष्क का निर्माण करता है, जो एक अच्छे स्वस्थ नागरिक देने में सक्षम होगा।

यह एक अनुभवात्मक एवं अनवेषणात्मक विष्लेशण है। विष्लेशण से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि समग्र विकास में महिला शिक्षा एवं नारी सशक्तीकरण की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

मुख्य शब्द : सशक्तीकरण, समग्र विकास, सामाजिक परिवर्तन, अनवेशणात्मक विष्लेशण, भूमिका, सकारात्मक प्रभाव, लैंगिक समानता, समान अधिकार एवं महिला शिक्षा।

नारी सशक्तीकरण में शिक्षा के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता की महत्वपूर्ण भूमिका होती है अर्थात शिक्षित महिला मात्र एक या दो परिवारों को नहीं बल्कि आने वाली पीढ़ियों को साक्षर करती है, इसी क्षमता के आधार पर अपने लिए सामाजिक एवं आर्थिक स्वतंत्रता के लिए भी अवसर बना लेती हैं। 21वीं सदी में जब महिलाएं प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ रही हैं उन्हें और सशक्त बनाना वास्तव में आवश्यक है। भारत एक विकसित देश बनने की ओर अग्रसर है। ऐसे में महिला सशक्तीकरण के संदर्भ में महिला शिक्षा के महत्व को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता।

प्रस्तुत शोध पत्र समग्र विकास के लिए महिला शिक्षा एवं सशक्तीकरण के लिए अब तक किए गए प्रयास का एक अनुभवात्मक अध्ययन है, जो अब तक की उपलब्धियों और योजनाओं का एक विश्लेषण प्रस्तुत करता है तथा यह जानने का प्रयास करता है कि अभी और क्या किया जा सकता है ?

महिला सशक्तीकरण एक मानसिक अवधारणा है, शिक्षा इस अवधारणा का विकास एवं प्रोत्साहन करती है। किसी भी राष्ट्र के समग्र विकास में महिलाओं की भूमिका को अनदेखा नहीं किया जा सकता। महिला एवं पुरुष दोनों समान रूप से समाज के दो पहियों की तरह कार्य करते हैं और समाज को प्रगति की ओर ले जाते हैं, दोनों की समान भूमिका को देखते हुए आवश्यक है कि उन्हें शिक्षा तथा अन्य सभी क्षेत्रों में समान अवसर दिए जाएं क्योंकि यदि कोई एक पक्ष भी कमजोर होगा तो सामाजिक प्रगति संभव नहीं हो पाएगी। महिला शिक्षा एवं सशक्तीकरण संपूर्ण मानवता के लिए महत्वपूर्ण है। स्वामी विवेकानंद जी के शब्दों में ''वे देश एवं राष्ट्र जो महिलाओं का सम्मान नहीं करते हैं वे कभी भी महान नहीं बने और ना ही भविष्य में कभी होंगे। यहां महिलाओं का सम्मान सशक्तीकरण से सीधे-सीधे संबंधित है।

महिला शिक्षा एवं सशक्तीकरण के लिए किया जा रहे प्रयासों के कारण जीवन, समाज, राजनीति, कारपोरेट जगत एवं प्रशासन सभी जगह महिलाओं की भूमिका में सकारात्मक प्रभाव देखने को मिला है। भारत एक महाशक्ति बनने की ओर अग्रसर है, इसलिए हम महिला सशक्तीकरण के संदर्भ में महिला शिक्षा के महत्व को नजर अंदाज नहीं कर सकते। शिक्षा आज के तकनीकी युग की चुनौतियों का सामना करने के लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी के ज्ञान के माध्यम से महिलाओं को सशक्त बनाने में मदद कर परिवार, समाज तथा देश के विकास का मार्ग प्रशस्त कर सकती है। महिला शिक्षा के द्वारा सशक्तीकरण पर होने वाले प्रभावों का अध्ययन निम्न प्रकारों से किया जा सकता है।

स्वास्थ्य सुधार से क्षमता परिवर्तन : शिक्षित होने का प्रभाव सबसे ज्यादा स्वास्थ्य पर पड़ता है क्योंकि आधी आबादी स्वास्थ्य समस्या से मुकाबला करती आ रही है। वर्तमान परिदृश्य में शिक्षित महिलाएं सार्वजनिक स्वास्थ्य से लेकर व्यक्तिगत स्वास्थ्य पोषण एवं यौन स्वास्थ्य के बारे में अधिक जानकार हो रही हैं। इससे खुद को स्वस्थ रखने के साथ परिवार को भी स्वस्थ रखने में उनकी भूमिका ज्यादा पाई जाती है। देश में उच्चतम महिला साक्षरता दर वाला राज्य केरल है। प्रजनन दर, शिशु और बाल मृत्यु दर कमी, सामाजिक व्यवस्था पर शैक्षिक प्रभाव का सार्वभौमिक संकेत है जो केरल में सबसे कम है।

आर्थिक सशक्तीकरण एवं आर्थिक विकास : शिक्षा आर्थिक सशक्तीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। शिक्षित बालिकाएं एवं महिलाएं सामाजिक आर्थिक एवं पारिवारिक जीवन को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं, अतः महिलाएं कौशल विकास एवं नवीन तकनीकी प्रौद्योगिकी का प्रयोग करके आर्थिक सशक्तीकरण में अपना योगदान प्रदान कर रही हैं। महिला शिक्षा की कमी आर्थिक विकास में सबसे बड़ी बाधा है, शिक्षा एवं तकनीकी ज्ञान के बढ़ने से रोजगार के अवसर उत्पन्न होते हैं जो गरीबी से बाहर निकलने का रास्ता प्रदान करता है। महिलाओं के शिक्षित होने का प्रभाव व्यक्ति, समाज एवं देश को प्राप्त होता है, जो परिवार शिक्षा में निवेश करते हैं उन्हें अपने पूरे जीवन में शुद्ध मौद्रिक लाभ प्राप्त होता है। महिलाओं के शिक्षा पर निवेश से पुरुषों की तुलना में 1.2 प्रतिशत अधिक रिटर्न मिलता है। महिलाओं की शिक्षा का प्रभाव देश की समग्र उत्पादकता पर पड़ता है। अनुमान है कि किसी देश की सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि में 0.4 से 4. 9 प्रतिशत का अंतर केवल शिक्षा में लैगिंक असमानता के कारण होता है।

सामाजिक एवं राजनीतिक भागीदारी में योगदान : महिलाओं को शिक्षित एवं सशक्त बनाने वाला समाज ही उन्नत समाज बन सकता है। शिक्षित पिता की तुलना में एक शिक्षित मां बच्चों की देखभाल ज्यादा अच्छे से कर सकती है, जिसके परिणाम अच्छे मिल सकते हैं। प्रजनन दर, मातृमृत्यु दर और शिशु मृत्यु दर में कमी, लैंगिक समानता, समान अधिकार और अवसर, कम घरेलू हिंसा एवं परिवार में महिलाओं का सम्मान आदि इसके उदाहरण लिए जा सकते हैं।

महिलाओं के राजनीतिक भागीदारी के लिए नीतियां

केवल पुरुषों की जरूरत के हिसाब से ही नहीं बल्कि वर्तमान परिस्थितियों एवं परिवर्तनों के आधार पर बनाई जायं, इस पर भी परिवर्तन के अच्छे परिणाम आ रहे हैं। शिक्षित एवं सशक्त महिलाओं के आने से राजनीति में भी परिवर्तन शाश्वत नजर आ रहें हैं, स्वतंत्रता आंदोलन से लेकर आज तक होने वाले परिवर्तनों को सफल बनाने में भाग लेने वाली महिलाएं जैसे—सरोजिनी नायडू, एनी बेसेंट, विजयलक्ष्मी पंडित, दुर्गाबाई देशमुख एवं सावित्रीबाई फुले आदि सभी सुशिक्षित महिलाएं थी, जिनके परिणाम एवं प्रभाव स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं।

बाल विवाह लैंगिक समानता : नए कानून एवं शिक्षा के प्रभाव से बाल विवाह पर काफी हद तक सफलता मिली है। लेकिन फिर भी सही जागरुकता के अभाव में अभी भी बड़ी संख्या में महिलाओं एवं लड़कियों की शादियां, अपरिपक्व अवस्था में 18 वर्ष से पहले हो जाती हैं। एक सर्वे के अनुसार दुनिया भर में हर पांच में से एक महिला की शादी 18 साल की उम्र से पहले हो जाती है, इस कारण अनपेक्षित गर्भधारण होने से स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पड़ता है, इसके प्रभाव को कम करने के लिए शिक्षित एवं जागरूक करना ही एक समाधान है। लैंगिक असमानता दूर करने के लिए शैक्षिक समानता अत्यंत आवश्यक है। लैंगिक समानता गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए आवश्यक है, जो संयुक्त राष्ट्र का चौथा सतत विकास लक्ष्य भी है।

वर्तमान में जहां पुरुष साक्षरता लगभग 84.7 प्रतिशत है, वहीं महिला साक्षरता मात्रा 70.3 प्रतिशत है। फिलहाल जागरुकता एवं शिक्षा के नए अभियान से साक्षरता दर में तेजी से परिवर्तन आ रहा है, जो लैंगिक असमानता को कम करने की दिशा में एक सकारात्मक कदम है

नई शिक्षा नीति में महिला शिक्षा : राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020, शिक्षा के सभी स्तरों पर प्री स्कूल से लेकर माध्यमिक और उच्च शिक्षा तक सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से वंचित समूह की एक समान सहभागिता करने पर जोर देती है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति में उन समस्याओं एवं बाधाओं को समझने का प्रयास किया गया है जो वास्तव में लड़कियों की शिक्षा के रास्ते में आती हैं। ग्रामीण क्षेत्र, पहाड़ी इलाकों, दुर्गम एवं दूरदराज इलाकों में जहां विद्यालय अधिक दूरी पर है वहां पर निःशुल्क छात्रावासों का निर्माण, बालिकाओं की शिक्षा हेतु सुरक्षा की उपयुक्त व्यवस्था, विद्यालयों में सकारात्मक वातावरण, भौतिक सुविधाएं विशेषकर स्वच्छता एवं शौचालय आदि का निर्माण, विद्यालयों में समावेशी एवं संवेदनशील संस्कृति का निर्माण, बालिकाओं एवं किशोरों द्वारा सामना किया जाने वाले गंभीर मुद्दों जैसे कई प्रकार के भेदभाव, उत्पीड़न एवं अनेक अधिकारों के सुरक्षा के खिलाफ किसी भी प्रकार की उल्लंघन पर कुशल तंत्र को विकसित करने की सिफारिश से की गई है। यह भी सिफारिश की गई है कि स्कूल या कॉलेज परिसर में भेदभाव उत्पीड़न के लिए बने हुए नियमों को सख्ती से लागू किया जाए।

शिक्षा व्यवस्था में मल्टीप्ल एंट्री एवं एग्जिट व्यवस्था यद्यपि सभी विद्यार्थियों के लिए है किंतु लड़कियों के लिए यह विशेष लाभकारी होगा। विवाह एवं पारिवारिक कारणों की वजह से उन्हें अपनी पढ़ाई बीच में छोड़नी पड़ती है, उनके लिए यह बदलाव पुनः शिक्षा से जोड़ने का अवसर देगा। व्यावसायिक शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए, प्रत्येक छात्र किसी कौशल से जुड़ सके उनके सुविधानुसार सीमित अवधि के कुछ पाठ्यक्रम विकसित किए गए हैं। केंद्रीय और राज्य सरकार के द्वारा नई शिक्षा नीति को लागू करते समय इस बार ऐसा प्रावधान किया गया है कि कोई भी विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के अवसर से दूर ना हो सके। विशेष कर लड़कियों तक स्कूली शिक्षा की पहुंच, भागीदारी और सीखने के प्रक्रिया में सामाजिक अंतर को समाप्त करने के लिए राज्यों द्वारा शिक्षा एवं पहुंच को सुनिश्चित करने के लिए मुफ्त पाठ्यक्रमों का प्रावधान, आठवीं कक्षा तक लड़कियों की यूनिफॉर्म, शिक्षकों द्वारा भागीदारी बढ़ाने के लिए अभिभावकों को प्रेरित करने के साथ उनकी समस्याओं को समझना आदि। समग्र शिक्षा एवं विकास को प्रोत्साहित करने के लिए कुछ नए प्राविधान किए गए हैं, जो इस प्रकार हैं :

- आत्मविकास एवं आत्मरक्षा हेतु प्रशिक्षण।
- गृह आधारित शिक्षा।
- लड़कियों और लड़कों के नामांकन एवं उपस्थिति में सुधार।
- स्कूलों में कमजोर छात्रों के लिए लर्निंग एक्सेल कार्यक्रम।
- नेतृत्व एवं कौशल प्रशिक्षण।
- छात्राओं के लिए कैरियर मार्गदर्शन कार्यक्रम।
- व्यावसायिक शिक्षा।
- खेल एवं शारीरिक शिक्षा।
- लैंगिक समानता।
- बालिका छात्रावासों में सेनेटरी पैड एवं वेंडिंग मशीने।
- स्मार्ट क्लासरूम एवं शौचालय।
- साइबर शिक्षा एवं मनोवैज्ञानिक उन्मुखीकरण।

इसी तरह महिला सशक्तीकरण के लिए भी कई योजनाएं चलाई जा रही हैं जो संक्षेप में इस प्रकार है :

- जननी एक्सप्रेस योजना।
- जननी सुरक्षा योजना।
- जननी शिषु सुरक्षा योजना।
- लाडली लक्ष्मी योजना।
- कन्या साक्षरता प्रोत्साहन योजना।
- निःशुल्क गणवेष (अध्ययन सामग्री) प्रदाय योजना।
- निःशुल्क साइकिल प्रदाय योजना।
- गांव की बेटी योजना।
- मुख्यमंत्री कन्या विवाह/निकाह योजना।
- उज्ज्वला योजना।
- मुख्यमंत्री महिला सशक्तीकरण योजना।
- बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ योजना।
- सुकन्या समृद्धि योजना।
- हर घर जल योजना।
- राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन।
- दीनदयाल उपाध्याय ग्रामीण कौशल योजना।
- मिशन शक्ति एवं आंगनबाड़ी सेवाएं।

भारत सरकार ने महिलाओं के सशक्तीकरण की दिशा में कई महत्वपूर्ण कदम उठाए हैं, जिससे महिलाओं की जीवन शैली बेहतर हो सके। सुरक्षा और सामाजिक आर्थिक समानता, ग्रामीण महिला सशक्तीकरण के लिए काफी अहम है। इसको ध्यान में रखते हुए महिला और बाल विकास मंत्रालय ने मिशन शक्ति की शुरुआत की है। इस योजना के अंतर्गत राष्ट्रीय, राज्य और जिला स्तर पर महिला सशक्तीकरण का हब बनाने, महिला हेल्पलाइन, बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ, कामकाजी महिलाओं के लिए छात्रावास (सखी निवास) एवं आश्रय विहीन महिलाओं के लिए आवास उपलब्ध कराने के बात की गई है। सामाजिक आर्थिक लाभ के अवसरों को बढ़ाने के लिए कृषि एवं विकास कल्याण मंत्रालय की विभिन्न योजनाओं के माध्यम से ग्रामीण महिलाओं की भागीदारी को प्रोत्साहित किया जा रहा है। महिला किसान सशक्तीकरण परियोजना ग्रामीण महिला किसानों को कौशल युक्त बनाने की सबसे प्रमुख पहल है। प्रधानमंत्री जनधन योजना से वित्तीय समावेशन और बैंकिंग तक पहुंच आसान हुई है, वित्तीय समावेशन से जुड़ी इस पहल से कोविड-19 संकट के दौरान ग्रामीण आबादी को बिना किसी व्यवधान के वित्तीय मदद उपलब्ध कराने में मदद मिली है। प्रधानमंत्री मुद्रा योजना, स्टैंड अप इंडिया योजना और प्रधानमंत्री रोजगार सृजन कार्यक्रम से भी ग्रामीण महिलाओं के वित्तीय सशक्तीकरण और उसके उद्यमिता कौशल को बढ़ावा देने में मदद प्राप्त हुई है।

महिला सशक्तीकरण और महिला शिक्षा एक दूसरे के कारक-पूरक और आत्मनिर्भर हैं, जिस प्रकार शिक्षा महिला सशक्तीकरण का महत्वपूर्ण उपकरण है उसी प्रकार सशक्त महिलाएं शिक्षा को बढ़ावा देने में प्रमुख भूमिका निभाती हैं। भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र है, 1.4 अरब की आबादी में लगभग आधी महिलाएं हैं इसलिए सशक्त और आत्मनिर्भर भारत की संकल्पना के मूल में देश की आधी जनसंख्या, शिक्षा, स्वास्थ्य, कार्य क्षेत्र में हिस्सेदारी, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक गतिविधियों में भागीदारी से महिला सशक्तीकरण और बेहतर समाज के निर्माण का मार्ग प्रशस्त होता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. ओमन, टी. के., 1998. *प्रोटेस्ट एण्ड चेंज.* नई दिल्ली : सेज
2. कौशिक, आशा, 2004. *'नारी सशक्तीकरण'* पोइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर
3. ग्रान्ट, जुडिथ, 1993. *फण्डामेन्टल फेमिनिज्म,* न्यूयार्क : रूटेज
4. सिंघी, नरेन्द्र के., 1996. *थयेरी एण्ड आइडियोलॉजी इन इण्डियन सोसाइटी,* जयपुर
5. नसरीन, तसलीमा, 1998. *औरत के हक़ में,* नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन
6. बोउवा, सीमोन द, अनु. पारस्ले एच. एम., 1972. *द सेकिन्ड सेक्स* लंदन : पेन्गिविन
7. राय, कल्पना, 1994. *महिला और उनका वातावरण,* रजत पब्लिकेशन, जयपुर
8. शर्मा, के. एल., 1989. *भारतीय समाज,* नई दिल्ली : एनसीईआरटी
9. योजना अक्टूबर, 2018

डा. मनोज गुप्ता
समाजशास्त्र विभाग, रमाबाई राजकीय महिला
स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
अकबरपुर, अम्बेडकरनगर (उ.प्र.)

डा. नन्दन सिंह
वाणिज्य विभाग, रमाबाई राजकीय महिला
स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
अकबरपुर, अम्बेडकरनगर (उ.प्र.)

RNI NO. : DELHIN/2008/27588
An International Peer Reviewed Journal
Website : www.bahurinahiawana.in

धोबिया घर का भया न बन का।
घाटै जाय धुबिनिया मारै, घर में मारे लरिका ॥
आज काल आपै फुटि जाई, जैसे ढेल डगर का ॥
भूला फिरै लोभ के मारे, जैसे स्वान सहर का ॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो, भेद न कहो नगर का ॥[1]

1. महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, डा. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002, प्रथम संस्करण, 2017, पृष्ठ संख्या 326, पद संख्या 230